1२८

आत्मा-प्रसिद्धि

માનનીય શ્રી [illegible]
શાસ્ત્રીના સન્માન સમારંભ પ્રસંગે
[illegible]
[illegible]

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
ग्रन्थ सं० १२९६
दि०
नरिया, (का. हि. वि. वि.) वाराणसी

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
क्र. सं. १८५
दिनांक
नरिया, (का. हि. वि.) वाराणसी-५

श्री सेठी दि० जैन ग्रन्थमाला पुष्प नं० ८

ॐ

हि०22

आत्म-प्रसिद्धि

[आत्माका अनेकांत स्वभाव और उसकी ४७ शक्तियों का वर्णन]

समयसार के परिशिष्ट ऊपर श्री कानजी स्वामी के
प्रवचनों में से

१८५

★

लेखकः—

ब्र० हरिलाल जैन, सोनगढ़

卐

अनुवादकः—

श्री मगनलाल जैन, ललितपुर

★

प्रकाशकः—

श्री सेठी दि० जैन ग्रन्थमाला
अन्तर्गत—मोठालाल महेन्द्रकुमार सेठी दि० जैन पारमार्थिक ट्रस्ट
६२ धनजी स्ट्रीट, बम्बई ३.

इस ग्रन्थ में २३×३६=४८ पौंड साइज का
६७ रीम ऑफसेट प्रिंटिंग (कागज) लगा
फार्म ८०, पेज ६४०

◆

◆

प्रथमावृत्ति
१६००

मूल्य ४) रु०

वीर नि० सं०
२४९०
श्रावण सुदी १५

◆

◆

मुद्रकः—
नेमीचन्द बाकलीवाल
कमल प्रिन्टर्स
मदनगंज-किशनगढ़ (राज०)

परम पूज्य सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी जो स्वयं
“आत्म-प्रसिद्धि” करके भव्यजीवोंको ‘आत्मप्रसिद्धि’
के पन्थ की ओर ले जारहे हैं।

अर्पण

परम कृपालु पूज्य

परमोपकारी सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी

के कर कमलों में

जिनके उत्कृष्ट अमृतमय उपदेशको प्राप्त कर इस पामर ने अपने अज्ञान अंधकार को दूर करने का यथार्थ मार्ग प्राप्त किया है, ऐसे महान महान उपकारी सत्-धर्म-प्रवर्तक पूज्य श्री कानजी स्वामी के कर कमलोंमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव की तपोभूमि पौन्नूर हिल का जीर्णोद्धार और ऐतिहासिक विराट तीर्थयात्रा के बाद बम्बई में आपकी ७५ वीं हीरक जयन्ती महा महोत्सव के पुनीत स्मरण के हर्षोल्लास द्वारा मंगल कामना पूर्वक, अत्यन्त आदर एवं भक्तिपूर्वक ४७ घाति कर्मक्षय के कारणरूप ४७ शक्तियोंके मंगल प्रवचनों की पुस्तक नम्र भाव से अर्पण करता हूँ और भावना करता हूँ कि आपके बताये मार्ग पर निश्चल रूपसे चलकर निःश्रेयस अवस्था को प्राप्त करूँ।

विनम्र सेवक—

महेन्द्रकुमार सेठी

आभार

इस ग्रन्थ की लागत कीमत ५)६० करीव है किन्तु विशेष संख्या में धर्म जिज्ञासु लाभ ले सकें इस हेतु से इस शास्त्र का मूल्य कम करने के लिये धर्म प्रेमियों द्वारा निम्न प्रकार रकम ज्ञान प्रचार में आई है, आभार ।

१०००)	श्री पूरणचन्द्रजी गोदीका, जयपुर (श्री कानजी स्वामी की ७४ वीं जन्म जयंती के उपलक्ष में)
१०००)	श्री जे० लालचन्दजी काला, इन्दौर (अपनी स्व० धर्मपत्नी श्री राजकुँवर वाई की पुण्य स्मृति में)
१०१)	श्री पूनमचन्दजी कटारा, इन्दौर (अपनी माताजी श्री कस्तूरी बाई की पुण्य स्मृति में)
२००)	श्री पं० इन्द्रचन्दजी लील्हा, रामगढ़
२५१)	श्रीमती भँवरीदेवी जैन, कलकत्ता (सुपुत्री श्री ताराचन्दजी गंगवाल, सुगन्धदशमी व्रत के उपलक्ष में)
२५५२)	

निवेदन

[गुजराती प्रति से उद्धृत]

अनेकान्तस्वरूप भगवान् आत्माको प्रसिद्ध करनेवाली यह महान लेखमाला पुस्तकरूपमें प्रगट हो रही है यह पूज्य स्वामीजीका ही उपकार है। बहुत कालसे आत्मप्रसिद्धिका रहस्य जो गुप्त था—प्रगट प्रकाशमें लाकर उन्होंने जिज्ञासुओंको समझाया है, जिससे अपूर्व आत्महितके अभिलाषी जीवों पर उनका महान उपकार है।

समयसारजी शास्त्रके परिशिष्टमें श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने 'अनेकान्त' सम्बन्धी सुन्दर विवेचन किया है, उन पर पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामीने अनेकबार प्रवचन किये हैं, उसमें ८ वीं बारके प्रवचनमें ४७ शक्तियोंपर प्रवचन बहुत विस्तृत और चिदानन्दमय चैतन्यकी मस्ती (मौज) से भरपूर थे। उन प्रवचनोंके लेखको मुख्य रखकर साथ साथ ६-७-९-१० वीं बारके प्रवचनोंका सार भी उनमें बढ़ा दिया है। इसप्रकार इस विषयके पूज्य स्वामीजी द्वारा पाँच बारके प्रवचनोंके ऊपरसे यह लेखमाला तैयार की है जो 'आत्मधर्म' मासिक अङ्क नं० ८६ से १७७ में प्रगट हो गई है।

आत्मस्वरूपको परम उत्साहके साथ प्रगट करनेवाली यह लेखमाला अद्‌भुत है, जैनशासनके अनेक रहस्योंके खास करके आत्मानुभवके उपायको गुरुदेवने इन प्रवचनोंमें बारम्बार ऐसा मंथन किया है कि शान्त चित्तसे उसकी स्वाध्याय करते चैतन्य परिणति मानों कि दिव्य चेतनाका रूप धारण करके आत्मस्वभावके चहुं ओर घूमती हो.... ऐसा लगता है। शुद्ध चैतन्यतत्त्वकी महिमा तो सारी लेखमालामें भरपूर है, अखण्डित है........चैतन्य महिमारूपी डोरीके आधारसे ही यह लेखमाला गुंफित है अर्थात् उनकी धाराप्रवाहरूप स्वाध्याय करते

करते आत्महितार्थी जीवोंको ऐसी चैतन्य महिमा जागृत होती है कि मानों उसमें तुरन्त ही गहराईसे घुसकर उसका साक्षात् अनुभव प्राप्त करलूँ।........अनेक जिज्ञासु आत्मसन्मुखता प्रेरक इस लेखमालाकी बारम्बार स्वाध्याय करते थे और पुस्तकाकार प्रगट करनेकी माँग करते थे वह कार्य पूर्ण हुआ, इन प्रवचनोंके द्वारा "आत्मप्रसिद्धि" का राह बताकर स्वामीजीने आत्मार्थी जीवोंके ऊपर बड़ा भारी उपकार किया है।

ऐसी महत्त्वपूर्ण विस्तृत लेखमाला पूज्य गुरुदेवके सान्निध्यसे पूर्ण हुई है इसके लेखनके उपयोगके समय उसमें दिखाया हुआ चैतन्य महिमाका बारम्बार मंथन होते होते मेरी आत्मिक रुचिको बहुत पुष्टि मिली है। और वह रुचि आगे बढ़कर भगवान् आत्माकी प्रसिद्धिके लिये मेरा प्रयत्न सफल बनाये ऐसी परम कृपालु गुरुदेवके चरणोंमें नम्रभावसे मेरी प्रार्थना है।

श्रावण सुदी १५, वात्सल्य दिन
वीर सं० २४९० : विक्रम सं० २०२१

ब्र० हरिलाल जैन
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

* * *

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
पुस्तक सं० ....
दिनांक ....
नरिया, (का. हि. वि.) वाराणसी-५

निवेदन

◆

सर्वज्ञ वीतराग कथित शास्त्रोंमेंसे यथार्थता, स्वतंत्रता और वीतरागता ही ग्रहण करनेका सुगम रास्ता ज्ञानी आचार्योंने बतलाया है। परमोपकारी पू० श्री कानजी स्वामीने अपनी निर्मल आत्मानुभूति सहित अकारण करुणावश भव्य जीवोंके हितार्थ उन सब रहस्यों को प्रगट कर दिया है। समयसार शास्त्रमें ४७ शक्तियोंका वर्णन आचार्य देवने अति संक्षेपमें दिया है। पू० स्वामीजी परमागम श्री समयसारजी शास्त्रमेंसे भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवकी सच्ची महिमा प्रगट करनेवाले प्रवचन १२ बार तो कर चुके हैं, जिस समय ४७ शक्तियोंके प्रवचन चलते थे तब उपस्थित श्रोतागण अपनेको विशेष भाग्यवान समझते थे, ब्र० हरिलालजी द्वारा इन प्रवचनोंका संकलन हुआ है और गुजराती भाषामें पुस्तकाकार हो जाय ऐसी मांग आने लगी। वह छप जानेसे, पढ़नेवालों द्वारा बड़े भारी प्रशंसा के पत्र आने लगे।

इस पुस्तकके लिये हिन्दी भाईयोंकी बारम्बार मांग आने लगी, उसमें मुख्य प्रेरणा दाता कोटा–(राजस्थान) निवासी धर्मरत्न श्री बाबू ज्ञानचन्द्रजी तथा सज्जनोंके द्वारा विशेष प्रशंसाके योग्य श्री युगलकिशोरजी एम. ए. साहित्यरत्न, जो हमेशा कोटामें शास्त्र सभामें आकर, पूज्य स्वामीजीने सर्वज्ञ वीतराग कथित मोक्षमार्ग पर जो प्रकाश फैलाया है उस बातका रोचक शैलीसे वर्णन करते हैं। उसमें आप दोनोंकी तीव्र भावना थी, 'परमोपकारी पूज्य स्वामीजीका यह प्रवचन हिन्दीमें भी शीघ्र छप जाय' ताकि समाजको विशेष मार्ग दर्शन मिलेगा, यह बात सुनते ही मेरे पू० पिताजी श्री मीठालालजीने उसको शीघ्र छपवानेकी इच्छा प्रगट की, पू० गुरुदेव तथा दि० जैन स्वा० मंदिर ट्रस्टकी अनुमति

लेकर यह ग्रन्थ तैयार हुआ है, उसमें सर्व प्रथम पू० स्वामीजीका परम उपकार मानकर विद्वान लेखक ब्र० हरिलालजी जैनका भी खास उपकार मानता हूँ। यह ग्रन्थ हिन्दीमें छपवानेके लिये अनुवादका संशोधनसे लेकर ग्रन्थ संपादन सम्बन्धी सब व्यवस्थाका निर्वाह मात्र धर्मवात्सल्य वश करनेवाले ब्र० गुलाबचन्दजी जैनका भी मैं आभार मानता हूँ।

श्री नेमीचन्दजी बाकलीवाल मालिक श्री कमल प्रिन्टर्सका भी आभार मानता हूँ कि जिन्होंने मन पसन्द काम शीघ्र कर दिया।

इस पुस्तकमें जो नय और प्रमाणके द्वारा शुद्धात्मतत्त्व प्राप्तिका मर्म प्रगट किया है उसको स्वाध्यायअर्थीजन अच्छी तरह आत्महितमें उपयोग लगाकर सार्थक करें ऐसी भावना करता हूँ।

श्रावण सुदी १५ वात्सल्य दिन
वीर सं० २४९० विक्रम सं० २०२१

क्षमा प्रार्थी—
महेन्द्रकुमार सेठी

विषय सूची

अनन्त धर्मस्वरूप अनेकांत मूर्ति आत्मा १
आत्माके ज्ञान मात्र भावमें उछलती अनन्त शक्तियाँ २८

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्माकी कुछेक शक्तियाँ :—

(१) जीवत्व शक्ति ३८
(२) चिति शक्ति ५२
(३) दृशि शक्ति ५७
(४) ज्ञान शक्ति ६७
(५) सुख शक्ति ७३
(६) वीर्य शक्ति ८१
(७) प्रभुत्व शक्ति ९५
(८) विभुत्व शक्ति १११
(९) सर्वदर्शित्व शक्ति ११९
(१०) सर्वज्ञत्व शक्ति १२६
(११) स्वच्छत्व शक्ति १३८
(१२) प्रकाश शक्ति १४६
(१३) असंकुचित विकासत्व शक्ति १६०
(१४) अकार्यकारणत्व शक्ति १६९
(१५) परिणम्य—परिणामकत्व शक्ति २०७
(१६) त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति २१९
(१७) अगुरुलघुत्व शक्ति २३२
(१८) उत्पाद–व्यय–ध्रुवत्व शक्ति २३८
(१९) परिणाम शक्ति २६३
(२०) अमूर्तत्व शक्ति २८४
(२१) अकर्तृत्व शक्ति २९४

(२२) अभोक्तृत्व शक्ति ३०८

(२३) निष्क्रियत्व शक्ति ३२१

(२४) नियतप्रदेशत्व शक्ति ३२८

(२५) स्वधर्मव्यापकत्व शक्ति ३४२

(२६) साधारण–असाधारण–साधारणासाधारणधर्मत्व शक्ति ३५२

(२७) अनन्तधर्मत्व शक्ति ३६०

(२८) विरुद्धधर्मत्व शक्ति ३७४

(२९-३०) तत्त्व शक्ति और अतत्त्व शक्ति ३८४

(३१-३२) एकत्व शक्ति तथा अनेकत्व शक्ति ३९६

(३३-३४) भाव शक्ति और अभाव शक्ति ४१०

(३५-३६) भावअभाव शक्ति और अभावभाव शक्ति ४२७

(३७-३८) भावभाव शक्ति और अभावअभाव शक्ति ४४४

(३९) भाव शक्ति ४५६

(४०) क्रिया शक्ति ४७७

(४१) कर्म शक्ति ४८८

(४२) कर्तृत्व शक्ति ५०८

(४३) करण शक्ति ५२१

(४४) संप्रदान शक्ति ५४२

(४५) अपादान शक्ति ५६२

(४६) अधिकरण शक्ति ५७४

(४७) संबंध शक्ति ५८६

ज्ञानलक्षणसे प्रसिद्ध अनेकांतमूर्ति भगवान आत्मा ६०४

* * *

आत्मप्रसिद्धि

卐

आत्मप्रसिद्धि

हे जीव ! अनन्तकालसे अप्रसिद्ध ऐसा जो तेरा आत्मा, वह किस तरह प्रसिद्धिको प्राप्त हो उसीकी यह बात है। अज्ञानीपनेसे व्रतादि करके अनन्तबार स्वर्ग गया परन्तु आत्माके ज्ञान लक्षणको तैंने नहीं पहिचाना, इससे तुझे आत्मप्रसिद्धि नहीं हुई किंतु रागकी ही प्रसिद्धि हुई। ज्ञानको आत्माकी ओर लगाकर आत्माकी प्रसिद्धि तैंने नहीं की, परन्तु ज्ञानको रागके साथ एकमेक मानकर तैंनें रागकी ही प्रसिद्धि की। रागसे जुदा ज्ञान कैसा है उसे जान; तो उस ज्ञानलक्षणके द्वारा आत्माकी प्रसिद्धि हो और तेरा भवभ्रमण टल जाय।

राग की प्रसिद्धि वह भटकनेका कारण है;
आत्मप्रसिद्धि वह सिद्धपदका कारण है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर आत्मा प्रसिद्ध होता है। राग वह आत्माकी प्रसिद्धिका साधन नहीं परंन्तु ज्ञानको अन्तरोन्मुख करे वही एकमात्र भगवान आत्माकी प्रसिद्धिका साधन है।

अहो ! यह तो आत्म तत्त्वकी अन्तरकी अपूर्व बात है। जिसने आत्म तत्त्वको अनादि कालसे नहीं जाना उसे आत्माका अनुभव कैसे हो, उसकी प्रसिद्धि कैसे हो, उसके आनन्द का वेदन कैसे हो उसकी यह बात है। आत्माके आनन्दके अनुभव-

पूर्वक जिसे आत्मप्रसिद्धि करनी हो उसे अन्तरमें इस बातकी महिमा आनी चाहिये कि अहो! यह मेरे आत्माकी कोई अपूर्व बात है........अनन्त शक्ति सम्पन्न मेरे आत्माको यह बात प्रसिद्ध करती है.........कि 'आत्मप्रसिद्धि' परम आनन्दका कारण है।

समयसारके परिशिष्टमें श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने अनेकांतका स्वरूप वर्णन किया है। उसमें प्रथम, आत्माको 'ज्ञानमात्र' कहनेके कारण उसे अनेकान्तपना कई प्रकारसे है व ज्ञान लक्षण द्वारा 'आत्मप्रसिद्धि' कई प्रकारसे होती है यह समझाया है, इसके बाद उस अनेकान्तस्वरूप आत्माकी ४७ शक्तियोंका सुन्दर वर्णन किया है। इस रीतिसे अनेकान्त स्वरूप भगवान आत्माको प्रसिद्ध किया है। इस विषय पर पूज्य गुरुदेवके आत्मसन्मुखताप्रेरक सुन्दर प्रवचन हुए, जो 'आत्मधर्म' मासिक-पत्र में लेखमाला रूपसे प्रगट हुये थे उन्हें अब इस पुस्तकरूपमें प्रकाशित किया जारहा है।

इस पुस्तकके प्रथम विभागमें, ज्ञान लक्षण द्वारा अनेकांतस्वरूप आत्माकी प्रसिद्धि कई प्रकारसे होती है इस सम्बन्धी प्रवचन हैं; और पीछे के विभागोंमें आत्माकी ४७ शक्तियों पर प्रवचन हैं।

ज्ञान लक्षण से प्रसिद्ध होनेवाला
अनंत धर्मस्वरूप
अनेकान्तमूर्ति आत्मा

श्री समयसार पृष्ठ ५५५ से ज्ञानमात्र पर पूज्य स्वामीजी के आत्मसन्मुखताप्रेरक सुन्दर प्रवचन

[समयसार के परिशिष्ट में आचार्यदेवने अनेकान्त के स्वरूप का वर्णन किया है, उसमें प्रथम आत्मा को ज्ञानमात्र कहा है, तथापि उसके भी अनेकान्तपना है—यह बात सिद्ध की है; तत्पश्चात् आत्मा की अनंत शक्तियों में से ४७ शक्तियों का वर्णन किया है। उनमें से यहाँ प्रथम विषय के प्रवचन दिये जा रहे हैं; ४७ शक्तियों के प्रवचन आगे क्रमशः दिये जायेंगे।]

*** वीर सं० २४७४ कार्तिक कृष्णा १४ ***

आत्मामें ज्ञानादि अनंतधर्म हैं; उन्हें परद्रव्यों और परभावों से भिन्न बतलानेके लिये आचार्यदेव 'ज्ञान मात्र' कहते आये हैं। वहाँ आत्मा को ज्ञान मात्र कहा है, तथापि एकान्त नहीं हो जाता; क्योंकि, 'आत्मा ज्ञान मात्र है'—ऐसा कहनेसे ज्ञान से विरुद्ध जो रागादि भाव हैं उनका तो निषेध हो जाता है, परन्तु ज्ञान के साथ रहनेवाले श्रद्धा, सुख आदि गुणोंका कहीं निषेध नहीं होता। इसप्रकार ज्ञानके साथ दूसरे अनन्त धर्म भी आत्मा में साथ ही होने से ज्ञान मात्र आत्मा को अनेकान्तपना है, वह बात यहाँ आचार्यदेव प्रश्न-उत्तर द्वारा स्पष्ट करते हैं।

प्रश्नः—आत्मा अनेकान्तमय है, तथापि उसे 'ज्ञान मात्र' क्यों कहते हो ? आत्मामें कहीं एक ज्ञानगुण ही नहीं है, परन्तु श्रद्धा, चारित्र, सुख, अस्तित्व, जीवत्व, प्रभुत्व आदि अनंतगुण उसमें विद्यमान हैं, तथापि 'ज्ञान मात्र आत्मा है'—ऐसा कहनेका क्या कारण ? 'आत्मा चैतन्यमूर्ति ज्ञान मात्र है, रागादि से पृथक् मात्र ज्ञायकभाव है'—ऐसा सारे समयसार में जोर देकर कहा है, तो आत्माको ज्ञान मात्र कहने से अन्य धर्मों का निषेध तो नहीं हो जाता न ? अनन्तधर्म युक्त होने पर भी आत्माको ज्ञान मात्र कहने का क्या प्रयोजन है ?—ऐसा शिष्यने प्रश्न किया है। यह प्रश्न करनेवालेने इतना तो लक्ष में लिया है कि आचार्यदेव आत्मा को पर–से और विकार से तो पृथक् ही बतलाते हैं; आत्मा ज्ञान मात्र है—ऐसा बतलाते हैं। इतना लक्ष में लेकर पूछता है कि प्रभो ! अनन्त धर्मात्मक आत्माको ज्ञान मात्र क्यों कहा ?

शिष्य के प्रश्न का आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि:—लक्षणकी प्रसिद्धि द्वारा लक्ष्यकी प्रसिद्धि करनेके लिये आत्माको ज्ञान मात्र कहा है। ज्ञान आत्माका असाधारण गुण है इसलिये वह आत्माका लक्षण है। उस लक्षणद्वारा आत्मा की प्रसिद्धि होती है।

ज्ञान लक्षण है और आत्मा लक्ष्य है। ज्ञान लक्षण आत्माकी प्रसिद्धि करता है। राग आत्माका लक्षण नहीं है। ज्ञान लक्षण आत्माको रागसे पृथक् जानकर शुद्ध आत्माको प्रसिद्ध करता है—कौन सा ज्ञान ? परोन्मुख हुआ ज्ञान नहीं परन्तु जो ज्ञान अंतर्मुख होकर आत्माको जानता है वह ज्ञान आत्माका लक्षण है। जो ज्ञान शुद्ध आत्माको न जाने और रागमें ही एकाकार हो जाये उसे वास्तव में ज्ञान ही नहीं कहते हैं, क्योंकि उसने आत्माकी प्रसिद्धि नहीं की किन्तु रागकी प्रसिद्धि की है। ज्ञानका कार्य आत्मवस्तु को प्रसिद्ध करना है; वह व्यवहारको–रागको या परको प्रसिद्ध नहीं करता। 'राग है सो मैं नहीं हूं, मैं शुद्ध आत्मा हूं'—ऐसा ज्ञान घोषित

करता है, परन्तु 'राग है सो मैं हूँ'—ऐसा वह घोषित नहीं करता। इसप्रकार आत्माको प्रसिद्ध करनेके लिये उसे 'ज्ञान मात्र' कहा गया है। 'ज्ञान मात्र' कहकर मात्र ज्ञानगुण नहीं बतलाना है, परन्तु पूर्ण आत्मा बतलाना है।

पहले ग्यारहवीं गाथामें कहा था कि शुद्धनयानुसार बोध होने मात्र से आत्मा और कर्मका भेदज्ञान होता है अर्थात् शुद्धनय द्वारा आत्माको जानने से कर्मसे भिन्न सहज ज्ञायकस्वभावरूपसे आत्मा अनुभवमें आता है। और यहाँ ऐसा कहा है कि ज्ञान लक्षण से आत्मा प्रसिद्ध होता है; उसमें भी 'ज्ञान लक्षण' कहनेसे शुद्धनयानुसार हुआ ज्ञान लेना चाहिये। जो ज्ञान स्वसन्मुख होकर आत्माको न जाने और पर को ही जाने वह ज्ञान आत्माका लक्षण नहीं है। जो ज्ञान आत्माको लक्ष्य करके उसे प्रसिद्ध करे–जाने–वह ज्ञान आत्मा का लक्षण है। रागसे भिन्न आत्माकी प्रसिद्धि करनेवाला ज्ञान रागको भी जाननेकी शक्तिवाला है।

यहाँ आचार्यदेवने व्यवहाराभासको उड़ाया है, अर्थात् मात्र परको ही जाननेवाला व्यवहारज्ञान वास्तव में आत्माकी प्रसिद्धिका साधन नहीं है; किन्तु अन्तरोन्मुख होकर शुद्धनयसे आत्माको जाने वह ज्ञान ही आत्मा की प्रसिद्धि का साधन है—ऐसा बतलाया है।

जगत में लक्षण द्वारा लक्ष्यकी पहिचान कराई जाती है। आत्मा का लक्षण ज्ञान है, उस ज्ञान लक्षण द्वारा ही आत्मा पहिचाना जाता है। शरीरादि तो आत्मासे अत्यन्त भिन्न हैं इसलिये शरीर आत्माका लक्षण नहीं है, और रागादिभाव भी आत्मा के स्वभाव से अत्यन्त भिन्न हैं, वे रागादि भी आत्माका लक्षण नहीं हैं। ज्ञान ही आत्माका असाधारण विशेष गुण है इसलिये वही आत्माका लक्षण है। ज्ञानगुण स्व–परको जानता है, आत्माके अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्यमें ज्ञानगुण नहीं है, और आत्माके अनन्त धर्मोंमें भी एक

ज्ञानगुण ही स्व-पर प्रकाशक है, इसलिये वह असाधारण है; ज्ञानके अतिरिक्त अन्य श्रद्धा चारित्रादि गुण निर्विकल्परूप हैं अर्थात् वे अपने को या परको नहीं जानते हैं, मात्र ज्ञानगुण ही अपनेको और परको जानता है; इसलिये 'आत्मा ज्ञान मात्र है' ऐसा कहकर उस ज्ञान गुण द्वारा आत्माकी पहिचान कराई जाती है।

अनेक पदार्थ एकत्रित हो उनमेंसे किसी एक पदार्थको पृथक् करके बतलानेका जो साधन है उसे लक्षण कहते हैं। 'आत्मा ज्ञानमात्र है'—ऐसा कहनेसे समस्त परद्रव्य और परभावोंसे पृथक् आत्मा जाना जाता है; पर्यायमें राग और आत्मा एकमेक दिखलाई देते हैं, वहाँ ज्ञान लक्षण आत्माको रागसे भी भिन्न बतलाते हैं; इसप्रकार ज्ञान लक्षण द्वारा आत्माकी प्रसिद्धि होती है, इसलिये आत्माको ज्ञान मात्र कहा गया है।

❀ ❀ ❀ ❀

अब शिष्य दूसरा प्रश्न करता है कि:—इस लक्षणकी प्रसिद्धि से क्या प्रयोजन है? मात्र लक्ष्य ऐसा आत्मा ही प्रसिद्ध करने योग्य है। लक्ष्य–लक्षणके भेद किए बिना सीधा आत्मा ही बतला दीजिये न? अन्तमें तो आप हमें आत्माकी पहिचान ही कराना चाहते हैं; तो फिर लक्षणका भेद किये बिना सीधा आत्मा ही बतलाइये। भेद करके किसलिये कहते हैं?

आचार्यदेव शिष्यके प्रश्नका उत्तर देते हैं कि:—जिसे लक्षण अप्रसिद्ध हो उसे लक्ष्यकी प्रसिद्धि नहीं होती। जिसे लक्षण प्रसिद्ध हो उसीको लक्ष्यकी प्रसिद्धि होती है।

देखो, इसमें दो बातें आ जाती हैं। प्रथम तो जिसे ज्ञानलक्षण द्वारा लक्ष्य ऐसे आत्माका भान और अनुभव वर्तता है उसे तो लक्ष्य–लक्षणके भेदका कुछ प्रयोजन नहीं है; परन्तु जिसे लक्ष्यकी खबर नहीं है उसे लक्षण द्वारा लक्ष्यकी पहिचान कराई जाती है। जिसे आत्माके लक्षणकी ही खबर नहीं है उसे आत्माका भान नहीं होता। 'शरीर

आत्माका लक्षण है अथवा शरीरको धारण कर रखना वह आत्माका गुण है'—ऐसा जो अज्ञानी मानता है उसे प्रथम आत्माका लक्षण बतलाते हैं कि—'देख भाई ! आत्मा तो ज्ञान स्वरूप है, जो जानता है वह आत्मा है ।'—इसप्रकार लक्षणको जानले तभी लक्ष्यको पकड़ सकता है ।

अज्ञानीको 'जो देह है वही मैं हूँ, अथवा जो राग है वही मैं हूँ'—ऐसी भ्रमणा है, इसलिये उसे तो आत्माके लक्षणका ही भान नहीं है । रागकी वृत्ति तो बाह्य में जाती है और उसमें आकुलता होती है, उसमें आत्माका अनुभव नहीं होता, और ज्ञान अन्तरोन्मुख होनेसे आत्माका अनुभव होता है तथा राग छूट जाता है; इसप्रकार राग और ज्ञान भिन्न भिन्न हैं; उनमें ज्ञान ही आत्माका लक्षण है ।—ऐसा जाने तब आत्माके लक्षणको जाना कहलाता है, और ऐसे लक्षणको जाने तभी आत्माका अनुभव होता है । अज्ञानी जन आत्माको अनेक प्रकारसे विपरीत लक्षण वाला मान रहे हैं, इसलिये उन्हें तो लक्षण ही अप्रसिद्ध है तब फिर लक्ष्यकी प्रसिद्धि कहाँ से हो ? लक्षण तो उसे कहा जाता है कि जो त्रिकाल लक्ष्यके साथ रहे और लक्ष्यकी पहिचान कराये। शरीरका पुण्य कहीं आत्माका लक्षण नहीं है, आत्माका लक्षण तो ज्ञान है ।

आत्मा ज्ञान स्वरूपी है; रागादि वास्तवमें आत्माका स्वरूप नहीं है । ऐसे ज्ञान लक्षणकी प्रसिद्धि बिना अज्ञानीको लक्ष्यकी प्रसिद्धि नहीं होती । जिसे ज्ञानस्वरूप लक्षणकी प्रसिद्धि हो उसीको लक्ष्य ऐसे आत्माकी खबर पड़ती है; इसलिये लक्ष्य-लक्षणका भेद करके अज्ञानीको ज्ञान लक्षण द्वारा आत्माकी पहिचान कराई जाती है । भाई ! ज्ञान ही तेरा लक्षण है, आत्मा ज्ञान स्वरूप है; ज्ञानके अतिरिक्त रागादि समस्त भावोंसे अपने आत्माको भिन्न समझ, ज्ञानको अन्तर्मुख करके आत्मस्वभावके साथ एकमेक कर तो तुझे आत्माकी प्रसिद्धि अर्थात् अनुभव हो ।—इसप्रकार लक्षण द्वारा लक्ष्यको ग्रहण करनेका उपदेश है ।

देखो, यह तो समयसारका परिशिष्ट है; सूक्ष्म अन्तरकी बात है । शरीरादि बाह्य क्रिया अथवा दयादिके स्थूल रागरूप व्यवहारको

तो निकाल दिया; यहाँ मात्र लक्ष्य–लक्षणके भेदरूप सूक्ष्म व्यवहार है। यह लक्ष्य–लक्षणके भेद भी अभेद आत्माका लक्ष करानेके लिये हैं। 'ज्ञान मात्र आत्मा है'—ऐसा कहने में भी लक्षण–लक्ष्यका भेद पड़ता है, परन्तु यदि समझने वाला स्वयं भेदका लक्ष छोड़कर अभेद आत्माको लक्षमें लेकर समझ जाये तो लक्ष्य–लक्षणके भेदको व्यवहार माना जाता है। अभेद आत्माको न समझे तो मात्र भेदको व्यवहार नहीं कहा जाता। उसीप्रकार अभेदको समझनेमें बीचमें लक्षण–लक्ष्यके भेद आते हैं उन्हें यदि सर्वथा न माने तो लक्षणके स्वीकार बिना वह लक्ष्यको भी नहीं पकड़ सकेगा।

यहाँ ज्ञान लक्षण द्वारा आत्माकी प्रसिद्धि होती है—ऐसा बतलाकर आचार्यदेवने एकान्त व्यवहाराभासी या एकान्त निश्चयाभासी इन दोनोंका निषेध किया है।

व्यवहाराभासी अज्ञानी कहता है कि—'मात्र ज्ञान–ज्ञान क्या करते हो? हम जो पुण्यकी और देहकी क्रिया करते हैं वही करने दो न! वह साधन करते करते किसी समय आत्माकी पहिचान हो जायेगी!' यहाँ 'ज्ञान लक्षण द्वारा आत्माकी प्रसिद्धि होती है'—ऐसा कहकर उस व्यवहाराभास को उड़ा दिया है। अरे मूढ! देहकी क्रिया या पुण्य की क्रिया आत्माको पहिचाननेका साधन नहीं है, किन्तु ज्ञान लक्षण द्वारा ही आत्माकी पहिचान होती है, ऐसा जान।

और निश्चयाभासी अज्ञानी कहता है कि 'ज्ञान वह साधन और आत्मा साध्य—ऐसे भेद किसलिये करते हो? सीधा अभेद आत्मा ही कहो न? लक्षण द्वारा लक्ष्यको बतलाते हो उसके बदले सीधा लक्ष्य ही बतला दो न!' 'जो लक्षणको न जाने वह लक्ष्यको भी नहीं जानता, लक्षणको पहिचाननेसे ही लक्ष्यको जाना जा सकता है'—ऐसा कहकर यहाँ उस निश्चयाभासीका भी निषेध किया है जिसने कभी आत्माको नहीं जाना है उसे मात्र 'आत्मा आत्मा'—इतना कहनेसे ही आत्मा लक्षमें नहीं आता, इसलिये प्रथम उसे आत्माका लक्षण बतलाना

पड़ता है कि—देख भाई ! यह शरीर तो कुछ जानता नहीं है और भीतर जो रागकी वृत्तियां होती हैं उनमें भी जाननेका सामर्थ्य नहीं है; जो इन सबको जानता है वह तो ज्ञान है, वह ज्ञान देहसे और रागसे पृथक् है और तेरे आत्माके साथ एकमेक है; ऐसा जो ज्ञान है सो आत्मा है।—इसप्रकार ज्ञान लक्षण द्वारा आत्माकी पहिचान कराई जाती है। अभेद आत्मामें ढलते हुए बीचमें इतना भेद आये बिना नहीं रहता। तथापि, 'ज्ञान ही आत्मा है'—ऐसा जो लक्ष्य–लक्षणका भेद है वह कहीं रागको प्रसिद्ध करनेके लिये नहीं है परन्तु आत्माको ही प्रसिद्ध करनेके लिये है। ज्ञान लक्षणका कार्य आत्माको प्रसिद्ध करना है, परन्तु वह रागको प्रसिद्ध नहीं करता अर्थात् 'मैं राग हूँ'—ऐसा ज्ञानलक्षण नहीं बतलाता, किन्तु 'मैं आत्मा हूँ'—ऐसा ज्ञान लक्षण बतलाता है। पहले लक्ष्य–लक्षणके भेदका विकल्प उठता है, तथापि उस विकल्पकी ओर ज्ञानका जोर नहीं है किन्तु अभेद आत्माको लक्षमें लेनेकी ओर ही ज्ञानका जोर है; अभेद आत्माको लक्षमें लेनेसे वह भेदका विकल्प भी टूट जायेगा और मात्र लक्ष्यरूप आत्माका अनुभव रह जायेगा;—इसप्रकार लक्षण द्वारा लक्ष्यकी प्रसिद्धि होती है।

कोई ऐसा कहे कि 'हमें तो मात्र लक्ष्यको ही जानना है, लक्षणको नहीं जानना चाहते; मात्र आत्माको पहिचानना है, किन्तु उसमें जो ज्ञानादि अनन्तगुण हैं और निर्मलपर्यायें प्रगट होती हैं—यह कुछ नहीं जानना चाहते; क्योंकि वह सब जाननेमें तो विकल्प आते हैं।'—तो ऐसा माननेवाला शुष्कज्ञानी है। जैसे—कोई कहे कि—मुझे गुड़ चाहिये है, किन्तु मिठासकी आवश्यकता नहीं है;—तो मिठासका निषेध करनेसे वहाँ गुड़का ही निषेध हो जायेगा; उसीप्रकार ज्ञान लक्षणको पहिचाननेसे इन्कार करे उसे आत्मा ही ज्ञात नहीं हो सकता। जो निर्विकल्प आत्मानुभवमें स्थिर हो गया हो उसे लक्ष्य–लक्षणके भेदका विकल्प नहीं होता। परन्तु जिसने अभी आत्माको लक्षमें नहीं लिया है उसे आत्माको पहिचाननेके लिये प्रथम उसका लक्षण जानना चाहिये। लक्षणको जानना कहीं विकल्पका कारण नहीं है, वह तो लक्ष्यको पहिचाननेका कारण है।

ज्ञान लक्षण आत्माको प्रसिद्ध करता है; जिसे आत्माके ज्ञान लक्षणकी ही खबर नहीं है उसे आत्माकी ही खबर नहीं है। ज्ञान लक्षण किसका है? ज्ञान लक्षण रागका या व्यवहारका नहीं है परन्तु आत्माका ही है। वह लक्षण शुद्ध आत्माका ही लक्ष कराता है। जिसे ऐसे लक्षणकी खबर नहीं है उसे लक्ष्यकी प्रसिद्धि नहीं होती। जो ज्ञान रागमें एकाकार हो गया उसे यहाँ ज्ञान ही नहीं कहते; यहाँ तो जो ज्ञान स्वोन्मुख होकर आत्माको लक्ष्य बनाये उसीको आत्माका लक्षण माना है और वह ज्ञान आत्माके ज्ञान सहित परको भी यथार्थरूप से जानता है। ज्ञान लक्षणसे आत्माको लक्षित न करे और मात्र जैनशासनमें कहे हुए व्यवहारका ही लक्ष रखे तो उसे भी आत्माके लक्षणकी खबर नहीं है, इसलिये उसे आत्माकी प्रसिद्धि नहीं होती।

ज्ञानका लक्ष्य आत्म द्रव्य है। ज्ञान क्या है?—उसीकी जिसे खबर नहीं है उसे आत्माका भान नहीं होता। जिसने लक्ष्यको नहीं जाना ऐसे जीवको लक्षण द्वारा ही लक्ष्यकी प्रसिद्धि होती है। इन इन्द्रियों द्वारा अथवा राग द्वारा आत्मा ज्ञात नहीं होता क्योंकि वे आत्माका लक्षण नहीं हैं; इसलिये जो निमित्त पर या व्यवहार पर जोर देते हैं उन्होंने आत्माके ज्ञानलक्षणको ही नहीं जाना है। यहाँ तो ऐसा कहनेका आशय है कि जो ज्ञान स्वोन्मुख होकर आत्माको न जाने और मात्र परोन्मुख या व्यवहारोन्मुख ही होता रहे वह ज्ञान भी आत्माका लक्षण नहीं है अर्थात् वह वास्तवमें ज्ञान ही नहीं है; क्योंकि उसने आत्माको प्रसिद्ध नहीं किया किन्तु व्यवहारको प्रसिद्ध किया है। जो ज्ञान व्यवहारका **निषेध करके (-स्वाश्रयद्वारा पराश्रय छोड़करके) स्वभाव सन्मुख होकर भगवान आत्माको प्रसिद्ध करे—उसका अनुभव करे—वह ज्ञान ही आत्माका लक्षण है। जो लक्ष्यके साथ एकता करे उसे लक्षण कहा, किन्तु लक्ष्यको छोड़कर परके साथ एकता करे उसे लक्षण नहीं कहा जाता। मात्र व्यवहारके ही आश्रय में रुकनेवाला जीव आत्माके लक्षणको नहीं जानता; ग्यारह अंगोंको**

जाननेवाला और व्यवहार रत्नत्रयको पालन करने वाला द्रव्यलिंगी साधु भी यदि उस व्यवहार रत्नत्रयके विकल्पसे लाभ मानता हो तो उसने आत्माके लक्षणको नहीं जाना है। ग्यारह अंगके ज्ञातृत्वमें या व्यवहार रत्नत्रयके शुभविकल्पमें ऐसा सामर्थ्य नहीं है कि वह आत्माकी प्रसिद्धि कर सके। स्वसन्मुख हुआ ज्ञान ही आत्माकी प्रसिद्धि करता है। चौथे पाँचवें-छट्ठे गुणस्थानमें भूमिकानुसार व्यवहार होता अवश्य है—विकल्प होता अवश्य है, परन्तु जो ज्ञान मात्र उस व्यवहारके सन्मुख रहकर उसीकी प्रसिद्धि करे और आत्मसन्मुख होकर आत्माकी प्रसिद्धि न करे वह ज्ञान मिथ्या है। उस मिथ्या ज्ञानका लक्ष्य आत्मा नहीं है किन्तु उसका लक्ष्य तो एकान्त व्यवहार है, इसलिये वह मिथ्याज्ञान आत्माका लक्षण नहीं है। आत्मा स्वसन्मुख ज्ञानसे लक्षित होने योग्य है, उसकी जिसे खबर नहीं है ऐसे जीवको यहाँ आत्माका लक्षण बतलाया है। उस लक्षणको पहिचाननेसे आत्माकी प्रसिद्धि हुए बिना नहीं रहती।

* * * *

वीर संवत २४७५ महावीर–निर्वाण–कल्याणक

आत्माको ज्ञानमात्र कहा गया है; वहाँ आत्मा रागादि स्वरूप नहीं है–ऐसा बतलानेके लिये उसे ज्ञान मात्र कहा है। 'ज्ञानमात्र' कहनेसे श्रद्धा, चारित्रादि धर्मोंका निषेध नहीं समझना; वे तो सब 'ज्ञानमात्र'में साथ ही आ जाते हैं। ज्ञानमात्र कहनेसे परका और विकारका तो निषेध होता है, परन्तु आत्माके अनन्त धर्मोंका निषेध नहीं होता। जिसे आत्माका भान नहीं है ऐसे जीवको लक्षण द्वारा आत्माकी पहिचान कराने के लिये आत्माको ज्ञानमात्र कहा है; ज्ञान आत्माका लक्षण है और उसके द्वारा आत्मा पहिचाना जाता है। यदि ज्ञान लक्षणसे आत्माको पहिचाने तो आत्माके साथ ज्ञानकी एकता प्रगट हो और विकार दूर हो जाये।

जो ज्ञान आत्माको लक्ष्य बनाए वह ज्ञान ही आत्माका लक्षण है। जो ज्ञान स्वलक्षको चूककर मात्र परको ही लक्ष्य बनाए वह ज्ञान परका लक्षण हो जाता है—अर्थात् मिथ्याज्ञान हो जाता है। जानने वाला ज्ञान तो आत्माका है, इसलिये आत्माके साथ एकता करके जाने उसीको सच्चा ज्ञान कहा जाता है, और ऐसा ज्ञान लक्षण ही आत्माकी प्रसिद्धि करता है। परभवमें कहाँ था वह भले जानता हो, नरक–स्वर्गको भी जानता हो; परन्तु यदि आत्माको न जाने तो उस ज्ञानने जानने योग्य आत्माको नहीं जाना अर्थात् आत्माको प्रसिद्ध नहीं किया इसलिये उस ज्ञानको आत्माका लक्षण नहीं कहा जाता। अज्ञानीको आत्माकी तो खबर नहीं है और आत्माके ज्ञान लक्षणकी भी खबर नहीं है; वह तो ऐसा मानता है कि—'इन समस्त परवस्तुओंको जानता है वह ज्ञान ही आत्माका लक्षण है,' इसलिये वह परका लक्ष छोड़कर स्वोन्मुख नहीं होता। वास्तवमें, परको ही जाने ऐसा ज्ञान लक्षण नहीं है; ज्ञान लक्षण तो ऐसा है कि आत्माको जानता है। यदि ज्ञान लक्षणको जाने तो आत्माको पहिचाने बिना न रहे।

ज्ञान लक्षण किसका ?—आत्माका। वह लक्षण आत्माको पररूप या विकाररूप तो नहीं बतलाता, और मात्र ज्ञानगुणको भी नहीं बतलाता, परन्तु अनन्त गुणके पिण्डरूप आत्मद्रव्यको वह बतलाता है।—ऐसे आत्माको लक्षमें न लेकर जो ज्ञान भेद—विकार या परके लक्षमें रुके वह ज्ञान आत्माका लक्षण नहीं है। जो ज्ञान आत्मोन्मुख होकर आत्माको लक्ष्य बनाए—ध्येय बनाये–साध्य करे वह ज्ञान आत्माका लक्षण है, और उस ज्ञानकी स्व-पर प्रकाशक शक्ति विकसित हो गई है, इसलिये वह परको भी जानता है।

अज्ञानी जीव द्रव्यलिंगी दिगम्बर जैन साधु हुआ और पंच-महाव्रतका पालन करके नवमें ग्रैवेयक तक गया, परन्तु उसीको आत्माके लक्षणकी खबर नहीं पड़ी; ज्ञान द्वारा उसने आत्माको प्रसिद्ध नहीं किया परन्तु ज्ञानको रागके साथ एकमेक मानकर उसने व्यवहारकी

ही प्रसिद्धि की। रागसे पृथक् ज्ञान कैसा होता है वह उसने नहीं जाना। यदि ज्ञान लक्षणको जाने तो आत्मा ज्ञात हुए बिना न रहे।

जिसे लक्षण अप्रसिद्ध है उसे लक्ष्य अप्रसिद्ध है। जिसे लक्षण प्रसिद्ध हो उसे लक्ष्य प्रसिद्ध हुए बिना नहीं रहता। इसलिये यहाँ ज्ञानलक्षण द्वारा आत्माकी प्रसिद्धि करानेके लिये आत्माको ज्ञानमात्र कहा है। लक्षण द्वारा लक्ष्यकी प्रसिद्धि होती ही है—ऐसी बात यहाँ की है।

पूर्वं अनंतकाल में जीव ने शास्त्राध्ययन किया और व्यवहार चारित्रका पालन किया परन्तु रागसे मेरा ज्ञान पृथक् है—इसप्रकार ज्ञान लक्षणकी प्रसिद्धि (प्र+सिद्धि=विशेषरूपसे निर्णय, पहिचान) नहीं की इसलिये आत्माको नहीं जाना और भवभ्रमणका अन्त नहीं आया। रागसे ज्ञानको पृथक् जानकर यदि अंतरोन्मुख करे तो उस ज्ञान लक्षण द्वारा भगवान आत्माकी प्रसिद्धि होती है और भवभ्रमण दूर हो जाता है।

* * * *

प्रत्येक आत्मा स्वयं अनंत शक्तिका पिण्ड चैतन्य परमेश्वर है, उसे बतलानेकी यह बात चल रही है। वह किसप्रकार ज्ञात होता है ?—ज्ञान लक्षणसे ही ज्ञात होता है। इसके अतिरिक्त अन्य चाहे जो करे तो वह आत्माको जाननेका उपाय नहीं है। ज्ञानको स्वोन्मुख करके द्रव्यका लक्षणरूप करना वह धर्म है।

देखो, इसमें व्यवहार क्या आया ?—कि 'ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा ज्ञात होता है'—इतना लक्ष्य-लक्षण भेदका व्यवहार यहाँ लिया है। इसके अतिरिक्त शुभरागद्वारा आत्मा ज्ञात होता है—ऐसा व्यवहार नहीं लिया; क्योंकि वह अनादिसे कर ही रहा है। ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा ज्ञात होता है ऐसे भेदरूप जो व्यवहार यहाँ कहा है वह व्यवहार अनादिसे नहीं किया है किन्तु नवीन प्रगट होता है। यह तो निश्चयपूर्वकका व्यवहार है। मात्र मंद कषाय तो अनादिकालसे कर रहा है,

उस मंद कषायका निषेध करके यदि उसे व्यवहार कहलाने वाला निश्चय स्वभाव जागृत नहीं हुआ तो उस मंद कषायको व्यवहार कौन कहेगा ? निश्चयके बिना व्यवहार किसका ? रागरहित निश्चय स्वभाव को जाना तभी मंदकषायरूप शुभरागमें व्यवहारका आरोप आता है। व्यवहारको व्यवहाररूप जाननेवाला ज्ञान स्वयं व्यवहारके साथ एकमेक होकर नहीं जानता किन्तु स्वयं रागसे (व्यवहारसे) पृथक् होकर व्यवहारको जानता है। जहाँ व्यवहारका निषेध करनेवाला निश्चय जागृत नहीं हुआ वहाँ व्यवहारको व्यवहाररूपसे कौन कहेगा ? अखंड परिपूर्ण आत्मद्रव्यका लक्ष करनेसे श्रद्धा आदि अनंतगुणोंकी प्रसिद्धि होती है। यदि ज्ञान द्वारा उस आत्मद्रव्यका लक्ष करे तो देव–गुरु–शास्त्रकी श्रद्धाको, नवतत्त्वोंके ज्ञानको अथवा मंदकषायको उपचारसे व्यवहार कहा जाता है।

यहाँ तो एकदम अन्तरोन्मुख करना है इसलिये स्थूल व्यवहार की बात न लेकर अपनेमें ही लक्ष्य–लक्षण भेदरूप व्यवहार लिया है।

आत्मप्रसिद्धिमें कहा है कि:—'त्याग वैराग न चित्तमाँ, थाय न तेने ज्ञान।' उसमें नास्तिसे मंदकषाय जितनी बात ली है।

और यहाँ कहते हैं कि:—'लक्षणने जाण्या विना, थाय न लक्ष्यनुं ज्ञान।' यहाँ तो आत्मस्वभावके अत्यन्त निकट लाकर बात की है। 'ज्ञान ही आत्मा है'—इतना भेद करके अभेद आत्माका लक्ष कराते हैं कि—देखो भाई ! यह तुम्हारा ज्ञान जानता है न ? यह ज्ञान ही आत्मा है। जो ज्ञान बाह्योन्मुख होता है उसे अन्तरोन्मुख कर, तो उस ज्ञान द्वारा आत्माकी प्रसिद्धि होती है। 'आत्मा ज्ञानमय है'—ऐसा कहनेसे ज्ञान लक्षण है और आत्मा लक्ष्य है—ऐसा जो भेद पड़ता है उसे व्यवहार कहा है; परन्तु उस भेदका भी निषेध करके अभेद आत्माका लक्ष हो जाये—ऐसी शैलीकी यह बात है।

* * * *

ज्ञान लक्षण द्वारा आत्माकी पहिचान करानेके लिये लक्ष्य–लक्षणके भेद करके समझाया कि—ज्ञान लक्षण आत्माको प्रसिद्ध करता है। वहाँ शिष्य पुनः प्रश्न करता है कि—'प्रभो! ऐसा कौन-सा लक्ष्य है कि जो ज्ञानकी प्रसिद्धि द्वारा उससे भिन्न प्रसिद्ध होता है? ज्ञानसे पृथक् ऐसा कौन-सा लक्ष्य है कि जिसे यह ज्ञान लक्षण प्रसिद्ध करता है? जिसे आप ज्ञान लक्षणसे समझाना चाहते हैं वह वस्तु क्या ज्ञानसे पृथक् है? ज्ञानकी प्रसिद्धि द्वारा आत्माकी प्रसिद्धि होती है—ऐसा कहा, तो क्या ज्ञानकी और आत्माकी प्रसिद्धि अलग–अलग है?' देखो, शिष्यको ज्ञान और आत्मा—लक्ष्य–लक्षणका भेद खटकता है इसलिये यह प्रश्न उठा है। अन्तर में एकदम निकट आये हुए शिष्यका यह प्रश्न है। आत्माको लक्षमें लेते हुए गुण-गुणी भेदका विकल्प उठता है, उसे भी छोड़कर अभेद आत्माके अनुभवके लिये यह प्रश्न है।

आचार्यदेव उसे उत्तर देते हैं कि—भाई! ज्ञानसे भिन्न लक्ष्य नहीं है, क्योंकि ज्ञान और आत्माको द्रव्यरूपसे अभेदता है। तुझे पहिचान करानेके लिये लक्ष्य–लक्षणके भेदसे कहा था; परन्तु वस्तुरूपसे तो अभेदता है। जहाँ ज्ञानको आत्मस्वभावकी ओर उन्मुख किया वहाँ वह ज्ञान और आत्मा अभेद ही हैं। ज्ञान पर्यायको अंतरोन्मुख करनेसे वह द्रव्यके साथ अभेद हो जाती है इसलिये ज्ञानको और आत्माको द्रव्यसे अभेदता है; नाम भेद, प्रयोजन भेद, लक्ष्यलक्षण भेद होने पर भी स्वभावसे भेद नहीं है। आत्मा रागादिसे तो भिन्न प्रसिद्ध होता है, किन्तु ज्ञान से भिन्न प्रसिद्ध नहीं होता। ज्ञानकी प्रसिद्धिसे आत्माकी प्रसिद्धि पृथक् नहीं है; जो ज्ञानकी प्रसिद्धि है वही आत्माकी प्रसिद्धि है। जिसे अभेद आत्माकी खबर नहीं है उसे लक्ष्य–लक्षणके भेद करके समझाते हैं, परन्तु वस्तुरूपसे ज्ञान और आत्मा पृथक् नहीं हैं। जब ज्ञान पर्याय स्वोन्मुख होकर एकाग्र हुई तब उसे लक्षण कहा गया और आत्मा उसका लक्ष्य हुआ; इसप्रकार लक्ष्य–लक्षण की प्रसिद्धि एक ही साथ है। ज्ञान आत्मामें एकाग्र हुआ वहाँ लक्ष्य

लक्षण भेदका विकल्प भी नहीं रहा और द्रव्य–पर्याय अभेद हो गये; इसलिये ज्ञान लक्षणसे पृथक् कोई लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य लक्षण अभेद हैं।

* * * *

शिष्य पुनः प्रश्न करता है कि यदि ज्ञान और आत्मा अभेद हैं, पृथक् नहीं हैं, तब फिर उनमें भेद करके क्यों कहा ? यदि दोनों पृथक् न हों तो ज्ञान लक्षण और आत्मा लक्ष्य—ऐसे भेद क्यों किये ?

उसका उत्तरः—प्रसिद्धत्व और प्रसाध्यमानत्वके कारण लक्षण और लक्ष्यका विभाग किया गया है। ज्ञान स्वयं प्रसिद्ध है और उस ज्ञान द्वारा आत्माको प्रसिद्ध किया जाता है। लोग ज्ञानमात्रको तो स्वसंवेदनसे जानते हैं। पेटमें दर्द होता है; सिरमें दर्द है—ऐसा किसने जाना ?—ज्ञानने जाना। इसप्रकार ज्ञान तो प्रसिद्ध है; परन्तु अज्ञानी उस ज्ञान द्वारा मात्र परकी प्रसिद्धि करता है इसलिये उस ज्ञानको स्वसन्मुख करके आत्माकी प्रसिद्धि करनेके लिये, आत्मा और ज्ञान का लक्ष्य–लक्षण भेद करके समझाया है।

झनझनी चढ़े और भीतर झमझमाट हो उसे किसने जाना ?—ज्ञानने जाना; वह ज्ञान किसका ? मेरा। तू कौन ?—आत्मा; इसलिये जो ज्ञान करे वह आत्मा है। राग–द्वेष आत्मा नहीं है।—ऐसा समझे तो ज्ञानका लक्ष आत्माकी ओर जाये और आत्माका अनुभव हो। भाई ! यह सब जानता है वह ज्ञान तो आत्माका है; इसलिये उस ज्ञानको आत्मोन्मुख कर ! आत्मोन्मुख रहकर स्व–परको जाने ऐसी ज्ञानकी शक्ति है। लोग सामान्यरूपसे ज्ञानको तो जानते हैं, इसलिये ज्ञान तो उन्हें प्रसिद्ध है, परन्तु ज्ञान जिसका लक्षण है ऐसे आत्माको वे नहीं जानते, इसलिये आत्मा अनादिसे अप्रसिद्ध है; इसलिये प्रसिद्ध ऐसे ज्ञान द्वारा, अप्रसिद्ध आत्मा को प्रसिद्ध करानेके लिये लक्षण और लक्ष्य—ऐसे विभाग करके समझाया है।

लोग कहते हैं कि हमें पैसा, मकान, पुस्तकादिका ज्ञान होता है, इसलिये ज्ञानको तो स्वीकार करते हैं, परन्तु उस ज्ञानका लक्ष्य परको ही बनाते हैं, मानों परोन्मुख होकर जाननेका ज्ञानका स्वरूप हो ऐसा मानते हैं। उन्हें यहाँ समझाते हैं कि ज्ञानका लक्ष्य तो आत्मा है, इसलिये ज्ञानको आत्मोन्मुख करके उस ज्ञान लक्षण द्वारा आत्माको प्रसिद्ध कर! इस टीकाका नाम 'आत्मख्याति' है, आत्मख्याति अर्थात् आत्माकी प्रसिद्धि, आत्माका अनुभव; वह आत्मप्रसिद्धि कैसे हो उसकी यह बात चलती है। ज्ञान लक्षण द्वारा ही आत्माकी प्रसिद्धि होती है।

प्रथम तो सत्समागम द्वारा ऐसे सत्यका श्रवण करना चाहिये। जहाँ सत्यका श्रवण भी नहीं है वहाँ ग्रहण नहीं है, जहाँ ग्रहण नहीं है वहाँ धारणा नहीं है, जहाँ धारणा नहीं है वहाँ रुचि नहीं है और रुचि नहीं है वहाँ परिणमन नहीं होता। जिसे आत्माकी रुचि हो उसे प्रथम उसका श्रवण, ग्रहण, धारण और रुचि पश्चात् अन्तरमें उसका परिणमन कैसे होता है उसकी यह बात है।

आत्माका सम्यक्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होनेसे आत्मा प्रसिद्ध हुआ ऐसा कहा जाता है। व्रत-तपादिका शुभराग आत्माकी प्रसिद्धिका साधन नहीं है, परन्तु ज्ञानको अंतरोन्मुख करना वह एक ही भगवान आत्माकी प्रसिद्धिका साधन है।

* * * *

ज्ञान लक्षण कैसे आत्माको प्रसिद्ध करता है? ज्ञानके साथ अविनाभूत ऐसे अनंत धर्मोंके समुदायरूप मूर्ति आत्मा है उसे ज्ञान प्रसिद्ध करता है। 'ज्ञान वह आत्मा' ऐसा कहनेसे अकेला ज्ञानगुण पृथक् होकर लक्षमें नहीं आता, किन्तु ज्ञानादि अनंतगुणोंका पिण्ड आत्मा लक्षमें आता है। आत्मा अनंत धर्मोंके समुदायरूप मूर्ति

है—ऐसा कहकर यहाँ अनेकान्त सिद्ध किया। अनंत धर्म कहनेमें ज्ञानकी बड़ी विशालता है।

देखो, यहाँ आत्माको अनंत धर्मात्मक कहनेसे त्रिकाल शुद्ध धर्म हीं बतलाना है; तीनों काल ज्ञानके साथ विद्यमान हैं—ऐसे निर्मल धर्मोंको ही यहाँ लेना है; विकारको यहाँ आत्माका धर्म नहीं गिना है। कभी एक समयकी पर्यायमें विकार हो उसे भी आत्माका अनित्य धर्म कहा जाता है; परन्तु यहाँ तो आत्माकी शुद्ध शक्तियोंका ही वर्णन है। ज्ञानलक्षण आत्माको विकारसे पृथक् बतलाता है, इसलिये यहाँ आत्माको अनंत धर्मात्मक कहा उसमें विकारी धर्म नहीं लेना चाहिए। यहाँ तो ज्ञान लक्षणसे शुद्ध आत्मद्रव्यका लक्ष कराना है। ज्ञानमें ध्येय किसे बनाना उसकी यह बात है। आत्मा ज्ञान मात्र है ऐसा कहनेसे ज्ञानके साथ विद्यमान रुचि, प्रतीति, स्थिरता, आनंद, प्रभुत्व, स्वच्छत्त्व आदि अनंत धर्मोंके पिण्डरूप आत्माको ध्येय बनाना चाहिए। ज्ञानको अन्तर्मुख करके ऐसे आत्माको ध्येय बनानेसे आत्माकी प्रसिद्धि होती है अर्थात् सम्यक् श्रद्धा ज्ञान प्रगट होते हैं।

'ज्ञान वह आत्मा'—ऐसा कहनेसे 'राग वह आत्मा नहीं है'—ऐसा सिद्ध हो जाता है, क्योंकि ज्ञान लक्षणसे राग लक्षित नहीं होता, परन्तु ज्ञान लक्षण द्वारा अनंत धर्मात्मक आत्मद्रव्य ही लक्षित होता है। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! जाननेमें रागकी ओर या परकी ओर वृत्ति जाये वह तेरा स्वलक्षण नहीं है, ज्ञानके साथ त्रिकाल अविनाभावी स्वभाववाला अनंतगुणके पिण्डस्वरूप आत्मा है उस ओर ज्ञानका लक्ष कर! रागादि तो वास्तवमें ज्ञानसे भिन्न हैं इसलिये उन रागादि भावोंको ज्ञानका लक्ष्य मत बना! आत्मोन्मुख ज्ञान ही तेरा स्वलक्षण है, और ऐसे स्वलक्षणसे ही आत्माका अनुभव होता है।

यहाँ तो आचार्यदेव लक्षण और लक्ष्यको अभेद बतलाते हैं।

जो लक्षण छूट जाये वह वास्तवमें वस्तुका शाश्वत लक्षण नहीं है। आत्मा रागी–द्वेषी है ऐसा कहना वह वास्तवमें आत्माका लक्षण नहीं है, वे रागादि भाव तो आत्मासे पृथक् हो जाते हैं। आत्मा त्रिकाल है, उसके साथ एकमेकरूप रहकर आत्माको बतलाये वही आत्माका लक्षण है; इसलिये यहाँ ज्ञान मात्र लक्षण द्वारा आत्माकी पहिचान कराई है। आत्मामें मात्र एक ज्ञान गुण ही नहीं है किन्तु अनंत धर्म हैं; आत्माके स्वभावमें दर्शन–ज्ञान–चारित्र–आनंद–स्वच्छत्व–प्रभुत्व आदि अनंत धर्म हैं; ऐसे आत्माको ज्ञान द्वारा बतलाते हैं। आत्मामें एक साथ अनंत धर्म हैं; काल अपेक्षासे तो अनंत हैं और संख्या अपेक्षासे भी अनंत शक्तियाँ एक साथ विद्यमान हैं। एक ही साथ विद्यमान अनंती शक्तियाँ और उनके क्रमशः होनेवाले अनंत निर्मल अंश– ऐसे अनंत धर्मोंकी मूर्ति आत्मा है उसे ज्ञान बतलाता है।

जिसप्रकार नकशेमें भिन्न–भिन्न प्रकारके रंगों द्वारा भिन्न–भिन्न राज्योंकी सीमा बतलाते हैं, उसीप्रकार यहाँ ज्ञान लक्षणसे आत्माको बतलाते हैं कि जहाँ जहाँ ज्ञान है वहाँ वहाँ आत्मा है। ज्ञानके साथ अभेदरूपसे जितने धर्म ज्ञात हों वह सब आत्मा है; रागादि भाव उस आत्माकी सीमासे बाहर हैं, क्योंकि उनमें ज्ञान व्याप्त नहीं होता। ज्ञान अनंत धर्मात्मक आत्माको प्रसिद्ध करता है; इसलिये उस ज्ञान मात्रमें अचलितरूपसे स्थापित दृष्टि द्वारा क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान, ज्ञानके साथ अविनाभावी ऐसा जो अनंत धर्म समूह लक्षित होता है वह सारा वास्तवमें एक आत्मा है।—ऐसा आत्मा बतलानेके लिये ही आत्माको ज्ञान मात्र कहा जाता है।

* * * *

वीर सं० २४७५, कार्तिक शुक्ला १

आत्माका लक्षण ज्ञान है; उससे आत्मा ज्ञात होता है। अनेक पदार्थोंमेंसे जो किसी एक मुख्य पदार्थको पृथक् करके बतलाये उसे लक्षण कहते हैं। ज्ञान आत्माको समस्त पर-द्रव्यों और पर-भावोंसे

पृथक् बतलाता है इसलिये वह आत्माका लक्षण है। रागादि भाव आत्माका नहीं किन्तु बन्धका लक्षण है। रागके सन्मुख देखनेसे आत्मा पहिचानमें नहीं आता इसलिये राग आत्मासे भिन्न है। ज्ञान लक्षण और आत्मा परमार्थतः अभेद हैं; इसलिये ज्ञान लक्षणको जाननेसे आत्माकी पहिचान भी हो जाती है। आत्मामें अनंत धर्म होने पर भी ज्ञान मात्र कहकर उसकी पहिचान कराई है। ज्ञानका स्वभाव स्व-परको जाननेका है, इसलिये वह समस्त जीवोंके प्रसिद्ध है, ज्ञानके अतिरिक्त जो श्रद्धा-सुख आदि अनंत धर्म हैं वे स्वयं अपनेको या परको नहीं जानते; इसलिये ज्ञानको ही लक्षण कहा है। उस ज्ञान लक्षण द्वारा अनंतगुणोंकी मूर्ति आत्माकी ही प्रसिद्धि करने योग्य—जानने योग्य—ध्यान करने योग्य—लक्ष्य करने योग्य है; ज्ञान अन्तर्मुख होकर ऐसे आत्माको ही जानता है—प्रसिद्ध करता है—ध्याता है—लक्षमें लेता है। अज्ञानी तो, रागको और परको जाननेमें रुके उसीको ज्ञान मानते हैं, इसलिये वे रागके साथ ज्ञानको एकमेक करके; मानों ज्ञान लक्षण रागका ही हो ऐसा मानते हैं इसलिये उन्हें रागकी ही प्रसिद्धि होती है, किन्तु रागसे भिन्न ज्ञानकी या आत्माकी प्रसिद्धि नहीं होती।— इसीका नाम अधर्म है। यदि ज्ञानको रागसे भिन्न जाने अर्थात् रागके साथ ज्ञानकी एकता छोड़कर स्वभावके साथ एकता प्रगट करे तो रागरहित ज्ञान लक्षणकी और आत्माकी प्रसिद्धि हो।— उसका नाम धर्म है। जो ज्ञान आत्माको रागसे भिन्न प्रसिद्ध करे वही सच्चा ज्ञान है; जो ज्ञान आत्माको तो प्रसिद्ध न करे और मात्र रागको ही प्रसिद्ध करे वह वास्तवमें ज्ञान ही नहीं है; क्योंकि वह तो रागमें तन्मय हो गया है इसलिये उसे ज्ञान ही नहीं कहते। ज्ञान आत्माका लक्षण है;—लेकिन कब ? जब कि वह आत्माको लक्ष्य बनाए तब। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञान द्वारा लक्षमें लेने योग्य आत्मा ही है।

जीवका लक्षण ज्ञान है, और ज्ञान स्वसंवेदनसे सिद्ध है, ज्ञान स्वयं अपनेको जानता है, ज्ञानको जाननेके लिये ज्ञानसे भिन्न किसी

पदार्थकी आवश्यकता नहीं होती, इसलिये ज्ञान प्रसिद्ध है। ज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी गुणमें स्वको या परको जाननेका सामर्थ्य नहीं है। ज्ञान स्व-परका ज्ञाता है। ज्ञान राग को जानता है परन्तु उसे करता नहीं है। ज्ञान स्वको जानता है और करता है—' इसप्रकार अपनेमें ही दोनों बोल लागू होते हैं। और ज्ञान परको जानता है किन्तु परका कुछ करता नहीं है;—इसप्रकार परमें एक ही बोल लागू होता है—ऐसे ज्ञान द्वारा परकी क्रियाकी या रागकी तो प्रसिद्धि नहीं होती, और मात्र परको जाननेकी भी प्रसिद्धि नहीं होती, किन्तु अनंत धर्मके चैतन्य पिण्ड ऐसे आत्माकी ही प्रसिद्धि होती है।—इसप्रकार जो आत्माकी प्रसिद्धि करे उसीने ज्ञानको ज्ञानरूपसे जाना कहा जाता है।

अज्ञानी जीव अपने स्वलक्ष्यको भूलकर ज्ञान द्वारा परकी प्रसिद्धि करने जाता है, उसे ज्ञानलक्षणकी ही खबर नहीं है। लक्षण तो ऐसा होता है कि जो अपने लक्ष्यको बतलाये। यदि लक्ष्यको न बतलाये तो वह वास्तवमें लक्षण नहीं है; किन्तु लक्षणाभास है। ज्ञान तो उसे कहते हैं कि जो आत्माको ही लक्ष्य करे–बतलाये! यदि अपने आत्माको न बतलाये तो वह ज्ञानाभास है। अपना ज्ञान वह अपने आत्माका ही लक्षण है, इसलिये अपने ज्ञान द्वारा अपने अनंत धर्म स्वरूप आत्माको ही लक्षित करना चाहिए, ज्ञानको स्वोन्मुख करके आत्माका अनुभव करना चाहिए।—यही लक्षण-लक्ष्यको जाननेका तात्पर्य है।

* * * *

ज्ञान आत्माको प्रसिद्ध करता है; वह आत्मा अनन्त गुणोंके समुदाय स्वरूप है। ज्ञानके साथ ही अनन्त गुण विद्यमान हैं, उस प्रत्येक गुणके लक्षण भिन्न भिन्न हैं, तथापि द्रव्यरूपसे उन समस्त गुणोंका एक ही भाव है; एक द्रव्य ही उन समस्त धर्मोंवाला है। आगे २७ वीं शक्तिमें कहेंगे कि विलक्षण अनन्त स्वभावोंसे भावित एक भाव जिसका लक्षण है ऐसी अनन्त धर्मत्व शक्ति है; अर्थात् गुण अपेक्षासे

प्रत्येक गुणका लक्षण भिन्न भिन्न होनेपर भी उन सबके अभेद पिन्डरूप द्रव्य एक ही है।

ज्ञानका लक्षण स्व–पर प्रकाशक पना,
सम्यक्त्वका लक्षण निर्विकल्प प्रतीति,
चारित्रका लक्षण एकाग्रता,
आनन्दका लक्षण आह्लाद,
अस्तित्वका लक्षण अपनी सत्तारूप होना,
प्रभुत्वका लक्षण प्रतापवंत स्वतंत्रतासे शोभायमान होना,

—इसप्रकार अनन्त गुणोंका लक्षण भिन्न है; इसलिये लक्षण भेदसे समस्त गुणोंको परस्पर भेद है, तथापि द्रव्य तो समस्त गुणोंका एकरूप पिण्ड है; ज्ञानमात्र आत्मामें समस्त धर्मोंका समावेश हो जाता है।' 'ज्ञान वह आत्मा' —ऐसा कहते ही अनन्त धर्मोंका एक एक समूह लक्षित होता है वह आत्मा है।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र इत्यादि अनेक भेदोंको ज्ञान जानता अवश्य है, परन्तु उस ज्ञान द्वारा लक्षित तो अनन्तधर्मोंसे अभेद ऐसा आत्मा ही है। भेदोंको जाननेवाला ज्ञान यदि मात्र भेदको ही लक्ष्य बनाए और अभेद आत्माको लक्ष्य न बनाए तो वहाँ वास्तवमें ज्ञानकी ही प्रसिद्धि नहीं है किन्तु अकेले भेदकी ही प्रसिद्धि है; ज्ञानकी प्रसिद्धिके बिना आत्माकी प्रसिद्धि भी नहीं होती। ज्ञान भेदको भी जानता है, किन्तु अभेद आत्माके लक्षपूर्वक भेदको जानता है।

ज्ञानका स्वभाव स्व–पर प्रकाशक होनेसे वह परको और रागादिको जानता अवश्य है; परन्तु परको या रागको जाननेसे ज्ञान लक्षण परका या रागका नहीं हो जाता; ज्ञान लक्षण तो आत्माका ही रहता है; अर्थात् परको जाननेवाला ज्ञान भी आत्माके साथ एकता रखकर परको जानता है, परके रागके साथ एकता करके नहीं जानता। ज्ञान रागको जाने वहाँ वह ज्ञान-रागका लक्षण नहीं हो जाता, और राग ज्ञानमें ज्ञात हो इसलिये कहीं वह राग ज्ञानका लक्षण नहीं हो

जाता, दोनों भिन्न ही रहते हैं। इसीप्रकार अपने गुणोंमें भी सूक्ष्म बात लें तो ज्ञान है वह श्रद्धादिके लक्षणको जानता अवश्य है, परन्तु श्रद्धा के लक्षण द्वारा ज्ञान लक्षित नहीं होता; और श्रद्धाको जाननेवाला ज्ञान उस श्रद्धाका लक्षण नहीं हो जाता; क्योंकि ज्ञानद्वारा मात्र श्रद्धा गुण ही लक्षित नहीं होता किन्तु ऐसे ऐसे अनन्तगुणोंकी मूर्ति आत्मा लक्षित होता है। ज्ञान दूसरेको जानता अवश्य है परन्तु दूसरेका लक्षण नहीं होता। अभेद आत्माके लक्षपूर्वक भेदको जाननेवाला ज्ञान भी अभेद आत्माकी ही प्रसिद्धि करता है। जहाँ ज्ञानने अभेद आत्माको लक्षमें लिया वहाँ लक्षण और लक्ष्य–दोनों एक हो गये—अभेद हो गये, और तभी वह ज्ञान आत्माका लक्षण हुआ, उस ज्ञान लक्षणने अनन्त धर्मवाले आत्माको प्रसिद्ध किया।—इसीका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, यही प्रथम धर्म है।

आत्मामें अनन्त शक्तियाँ हैं, उन सबको जाननेवाला तो ज्ञान है; वह ज्ञान प्रत्येक शक्तिको भिन्न भिन्न प्रसिद्ध नहीं करता परन्तु अनन्त शक्तिके पिण्डरूप आत्माको प्रसिद्ध करता है। भिन्न-भिन्न अनंत-धर्म होने पर भी वे समस्त धर्म एक आत्मद्रव्यके ही हैं; ऐसे अनंतधर्म स्वरूप आत्माको ज्ञान प्रसिद्ध करता है। ज्ञान लक्षणको जाने बिना ऐसा आत्मा अनुभवमें–लक्षमें नहीं आता। अभेद आत्माको लक्षमें लेते हुए 'ज्ञान वह आत्मा'—ऐसा लक्ष्य–लक्षण भेद बीचमें आ ही जाता है; जिसने आत्माको कभी नहीं जाना वह जीव ज्ञान लक्षणके बिना सीधा लक्ष्यको (आत्माको) नहीं जान सकता। इसीलिये आचार्यदेव कहते हैं कि हमने आत्माको ही प्रसिद्ध करनेके लिये ज्ञान लक्षण बतलाया है। ज्ञान लक्षण अनन्त धर्मवाले आत्माको प्रसिद्ध करता है—बतलाता है।

देखो, आज नूतन वर्षके प्रारम्भमें ज्ञानमूर्ति भगवान आत्माकी प्रसिद्धिकी अपूर्व बात आयी है। अहो ! सबको जाननेवाला ज्ञान है. . .परन्तु वह एक आत्माको ही प्रसिद्ध करता है। ज्ञान जानता

सबको है, परन्तु वह सभी का लक्षण नहीं है; सबको जाननेवाला ज्ञान आत्माका ही लक्षण है, अर्थात् आत्माको लक्ष्यमें रखकर सबको जाने ऐसा ज्ञानका स्वभाव है। इसप्रकार ज्ञान लक्षण अपने चैतन्यमूर्ति आत्माको ही प्रसिद्ध करता है।

अहो ! ज्ञानसे प्रसिद्ध होनेवाला अनन्तधर्मका समूहरूप यह आत्मा ही अपना स्वामी है; ऐसे चैतन्यमूर्ति अनन्त गुण, अनन्तशक्तिके स्वामी आत्माको देखते ही हमारे अनादिकालीन दुःख और दुर्भाग्य दूर हो गये। भगवान आत्मा स्वयं अपनी अनन्त प्रभुताका पिण्ड विमल स्वरूप है; उसे देखते ही सिद्ध भगवान जैसे सुखका अनुभव हुआ, इसलिये अनादिकालीन दुःख तो दूर हो गये और बाह्यमें दुर्भाग्यरूप प्रतिकूलता भी दूर हो गई। धर्मीको जगतमें ऐसी कोई प्रतिकूलता निमित्तरूप नहीं है कि जो उसे साधक भावमें विघ्न करे। जहाँ स्वसन्मुख होकर अन्तरके चैतन्य भगवान नित्य चिदानन्द स्वामीको श्रद्धाज्ञानमें धारण किया वहाँ बाह्य प्रतिकूलताओंकी चिन्ता ही कौन करता है ? देखो, यह नूतनवर्षका मांगलिक होता है। मंगल अर्थात् जो सुख दे और दुःखोंको दूर करे। अनन्त शक्तिसम्पन्न चैतन्यमूर्ति आत्माकी दृष्टि करनेसे अपूर्व सुख=सम्पत्तिकी भेंट हुए और दुःख दूर हुए वही सच्चा मंगल है।

* * * *

ज्ञानसे लक्षमें आनेवाला आत्मा कैसा है उसकी यह महिमा है। ज्ञानलक्षणसे उसे लक्षमें लिये बिना उसकी महिमा समझमें नहीं आती। जैसे—आठ अंकवाली कोई संख्या (८७६५४३२१) लिखी हो और उसमें एक नवमा अंक मिलादें (९८७६५४३२१) तो उसने करोड़ोंकी संख्या बढ़ाई है। जिसे गणितकी खबर नहीं है उसे ऐसा लगता है कि यह एक नवका अंक रखा; लेकिन वास्तवमें तो उस नवमें करोड़ोंका भाव समाया हुआ है। उसीप्रकार यहाँ 'ज्ञान आत्माका लक्षण है'—ऐसा आचार्य भगवानने कहा है उसमें अनेक सूक्ष्म न्याय

हैं, अत्यन्त गंभीरता है। अन्तर्मुख होकर ध्यानमें ले तो उसकी गंभीरता समझमें आसकती है। साधारण लोगोंको ऐसा लगता है कि जो शरीर, कपड़े लकड़ी आदिको जानता है उस ज्ञानकी बात है और वही आत्माका लक्षण है; परन्तु ऐसा नहीं है। यहाँ तो ज्ञानको अन्तरस्वभाव सन्मुख करके आत्माको जाने उसकी बात है, और वह ज्ञान ही आत्माका लक्षण है। अनन्तगुणोंसे परिपूर्ण अपना आत्मा ही ज्ञानका लक्ष्य है। ऐसे लक्ष्य–लक्षणको जो पहिचान ले उसे सम्यग्ज्ञान हुए बिना नहीं रहता।

गुणोंमें भेद डालना भी ज्ञानका लक्ष्य नहीं है; ज्ञान उन गुणोंको जानता अवश्य है, परन्तु उसका लक्ष्य तो एक आत्मा ही है। यहाँ भेदको सिद्ध करनेके लिये ज्ञान और आत्माका लक्षण–लक्ष्य भेद नहीं किया, परन्तु ज्ञान आत्मोन्मुख होकर अभेद आत्माको ही जानता है—इसप्रकार ज्ञान लक्षण द्वारा अभेद आत्माकी प्रसिद्धि करनेके लिये ही यह लक्षण–लक्ष्य भेद है। यद्यपि स्व–पर, द्रव्य–गुण–पर्याय, निश्चय–व्यवहार—इन सबको जानने वाला तो ज्ञान ही है, परन्तु ज्ञानमें स्व–पर प्रकाशकपना कब होता है? जब यह निश्चित् करके आत्माको लक्ष्य बनाए कि ज्ञान लक्षण आत्माका ही है, तभी उस ज्ञानमें स्व–पर प्रकाशकपना विकसित होता है, और वह ज्ञान ही स्व-परको या निश्चय–व्यवहार आदिको भलीभाँति जान सकता है।

ज्ञान लक्षण है और आत्मा लक्ष्य है,—परन्तु वे लक्षण और लक्ष्य कब होते हैं? ज्ञान लक्षणसे आत्माको लक्षमें लेते हुए ज्ञान अंतर्मुख होता है इसलिये अन्तर्मुख ज्ञान ही आत्माका लक्षण है। जब लक्षण और लक्ष्यकी संधि करे अर्थात् ज्ञानको आत्मोन्मुख करके उस ज्ञानके द्वारा अखण्ड आत्माको लक्षमें ले तभी आत्मा लक्ष्य और ज्ञान लक्षण होता है।

जहाँ ज्ञान लक्षण द्वारा आत्माको देखा कि तुरन्त ही केवलज्ञान होनेकी प्रतीति हो जाती है; क्योंकि आत्मामें वैसी शक्ति भरी हुई है। उस शक्तिकी प्रतीतिमें व्यक्तिकी प्रतीति भी साथमें हो ही

जाती है। आत्माका लक्षण ज्ञान है, वह ज्ञान स्व–पर प्रकाशक है और उसमें रागका अभाव है—ऐसा जिसने निश्चित् किया उसे आत्मोन्मुख होनेसे ज्ञानका स्व–पर प्रकाशक सामर्थ्य पूर्ण प्रगट हो जायेगा और रागादि बिलकुल दूर हो जायेंगे। ज्ञान ही आत्मा है—ऐसा निश्चित् किया वहीं श्रद्धामेंसे निमित्तका—रागका—व्यवहारका अवलम्बन उड़ गया और ज्ञान द्वारा अखण्ड आत्मा ही आदरणीय है—ऐसा निश्चित् हो गया। जो ज्ञान आत्माको न जाने वह ज्ञान आत्माका लक्षण नहीं होता। जो ज्ञानका लक्ष्य है उसे प्रगट किये बिना लक्षण किसका ?

प्रश्नः—पहले ज्ञान ज्ञात होता है या आत्मा ?

उत्तरः—दोनों साथ ही ज्ञात होते हैं। आत्माको लक्षमें लिये बिना ज्ञानको लक्षण किसका कहना ? आत्माको लक्षमें लेकर ज्ञान उसमें अभेद हुआ तब आत्मा लक्ष्य हुआ और ज्ञान उसका लक्षण हुआ। इसप्रकार लक्षण और लक्ष्यकी प्रसिद्धि एक साथ ही है।

प्रश्नः—यदि दोनों एक ही साथ ज्ञात हैं तो फिर ज्ञान और आत्माका भेद तो व्यर्थ ही गया ?

उत्तरः—अभेदकी ओर ढले वहाँ भेदको उपचारसे साधन कहा जाता है। अभेदके लक्ष रहित मात्र भेद तो वास्तवमें व्यर्थ ही हैं। अभेदमें जाते हुए बीचमें भेद आ जाते हैं, परन्तु उस भेदरूप व्यवहारका निषेध करके अभेदमें ढलता है इसलिये उस भेदको व्यवहार साधन कहा जाता है। परन्तु निश्चय रहित अकेला व्यवहार तो व्यर्थ ही है। पहले ज्ञानको जाना और पश्चात् आत्माको जाना—ऐसे भेद वास्तवमें नहीं है। यह लक्षण और लक्ष्य—ऐसे दो भेदों पर लक्ष रहे तब तक विकल्पकी प्रसिद्धि है किन्तु आत्माकी प्रसिद्धि नहीं है; आत्मोन्मुख होकर जहाँ आत्माकी प्रसिद्धि हुई—आत्माका अनुभव हुआ—उस समय तो लक्ष्य और लक्षण ऐसे दो भेदों पर लक्ष नहीं होता, उसे तो लक्ष्य और लक्षण दोनों अभेद होकर एक साथ प्रसिद्ध होते हैं।

दूसरोंको समझानेके लिये भेदसे ऐसा कहा जाता है कि यह जीव ज्ञान लक्षणसे आत्माको समझ,—यह व्यवहार है; परन्तु वह व्यवहार अभेद आत्माका प्रतिपादन करनेके लिये है।

ज्ञान किसका लक्षण ?...आत्माका ! ज्ञान वह लक्षण ऐसा लक्षमें लेनेसे उसका लक्ष्य भी साथ ही लक्षमें आ जाता है। 'ज्ञान वह आत्मा'—ऐसा कहनेसे लक्ष्य-लक्षणका भेद पड़ता है तथापि, आत्मा और ज्ञान दोनों को जाना तभी ज्ञानको लक्षण और आत्माको लक्ष्य कहा गया न ? लक्ष्यको पहिचाननेसे पूर्व 'यह लक्षण इसका है'—ऐसा किसप्रकार निश्चित् किया ?—इसलिये लक्षण और लक्ष्य (ज्ञान और आत्मा) यह दोनों एक साथ ही जाने जाते हैं।

* * * *

अहो ! यह तो आत्मतत्त्वकी अन्तरकी अपूर्व बात है। जिस आत्मतत्त्वको अनादिकालसे कभी नहीं जाना उस आत्माका अनुभव कैसे हो उसकी यह बात है। जिसे आत्माके अनुभवकी रुचि हो उसे यह बात क्लिष्ट नहीं लगना चाहिये, किन्तु इसकी महिमा आना चाहिए कि अहा ! यह मेरे आत्माकी कोई अपूर्व बात चलती है। समझनेमें कठिन लगे तो अंतर में उसकी महिमा लाकर समझनेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये; किन्तु समझमें न आनेसे प्रमाद लाये तो उसे आत्माकी अरुचि और द्वेष है। वास्तवमें यह क्लिष्ट नहीं है किन्तु अमृत जैसा है, परम आनन्दरूप है। जो अंतरमें लक्ष करके समझे उसे उसकी खबर पड़ती है।

आत्माको ज्ञान मात्र कहा; वहाँ उस ज्ञान मात्रमें अचलितरूपसे स्थापित दृष्टि द्वारा, जो क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तित अनंत धर्म समूह ज्ञात होता है वह सब वास्तवमें एक आत्मा ही है; इसलिये ज्ञान द्वारा अनंत धर्मवाला आत्मा ही प्रसिद्ध होता है। क्रमशः होनेवाली निर्मल पर्यायें और एकसाथ प्रवर्तित अनंतगुण—वे सब ज्ञान मात्रमें समा जाते हैं; इसलिये 'ज्ञान मात्र' भावको दृष्टिमें लेते हुए अनंतगुण-पर्यायोंसे

अभेद आत्मा ही दृष्टिमें आ जाता है। इसप्रकार ज्ञान द्वारा आत्मा ही प्रसिद्ध होता है। इसलिये ज्ञानको ढाल अपने द्रव्यमें...तो उस स्वोन्मुख हुआ ज्ञान लक्षण द्वारा लक्ष्य ऐसे आत्माकी प्रसिद्धि हो! 'आत्मा ज्ञान मात्र है'—ऐसा कहा वहाँ, ज्ञान मात्रको लक्षमें लेते हुए, अकेला ज्ञानगुण पृथक् होकर लक्षमें नहीं आता, किन्तु ज्ञानके साथ प्रवर्तमान अनंतधर्मोंके समूहरूप चैतन्यस्वभावका पिण्ड आत्मा ही लक्षित होता है।

जैसे 'मिश्री मीठी है'—ऐसा कहनेसे मिश्रीमें मैल, बर्तन आदिका अभाव सिद्ध होता है, परन्तु मीठेपनके साथ विद्यमान मिश्री की सफेदी, वजन आदिका अभाव नहीं होता; उसीप्रकार 'आत्मा ज्ञानमात्र है'—ऐसा कहनेसे आत्मामें परका और विकारका तो निषेध होता है, परन्तु ज्ञानके साथ आत्माके जो अनंतगुण विद्यमान हैं उनका कहीं निषेध नहीं होजाता! 'आत्मा ज्ञानमात्र है' ऐसा कहते ही अस्तित्व धर्म भी साथ आगया; ज्ञानके अतिरिक्त देहादि पररूपसे आत्मा नहीं है—ऐसा नास्तित्व धर्म भी साथ आगया; ज्ञान नित्य स्थायी है इसलिये नित्यपना भी आया और प्रतिक्षण बदलता है इसलिये अनित्यपना भी आया; ज्ञानके साथ स्वच्छता, प्रभुता आदि धर्म भी आये;—इसप्रकार ज्ञान कहते ही अनंतधर्मोंका पिण्ड लक्षमें आता है।

पर जीव बचे या न बचे वह तो उसकी स्वतंत्र क्रिया है, वह ज्ञानके आधीन नहीं है। परन्तु परकी दया पालन करनेका विकल्प उठे वह भी आत्मासे बाहर है, आत्माको 'ज्ञानमात्र' कहनेसे उस विकल्पका निषेध होजाता है, परन्तु आत्माके अनंत धर्मोंमेंसे किसी किसी भी धर्मका व्यवच्छेद नहीं होता।

ज्ञानमात्र भावके साथ जो भी लक्षित होता है वह सब आत्मा है, और जो लक्षित नहीं होता वह सब आत्मासे भिन्न है—ऐसा जानना...अर्थात् ज्ञानमात्र भावसे भिन्न ऐसे समस्त परद्रव्य और

पर भावोंका लक्ष छोड़कर ज्ञानादि अनंत धर्मके पिण्डरूप आत्मद्रव्यको लक्षमें लेना ।—यही आत्माको 'ज्ञानमात्र' कहनेका तात्पर्य है ।

'ज्ञानमात्र' कहनेसे अकेला ज्ञान ही लक्षमें नहीं आता परन्तु अनंत धर्मोंके समूहरूप पूर्ण आत्मा ही लक्षमें आता है । इसी कारण आत्माका ज्ञानमात्ररूपसे व्यपदेश किया है । ज्ञानमात्र कहनेसे एकमें अनेकपना आजाता है, इसलिये 'ज्ञानमात्र' कहनेसे भी अनेकान्तमूर्ति आत्मा ही प्रसिद्ध होता है—ऐसा सिद्ध हुआ ।

* * *

इसप्रकार आत्माको ज्ञानमात्र कहा है तथापि उस ज्ञानलक्षण द्वारा अनंतधर्मवाला आत्मा ही प्रसिद्ध होता है—ऐसा सिद्ध करके, अब आचार्यदेव उस अनंतधर्मवाले आत्माकी कुछ शक्तियोंका वर्णन करना चाहते हैं, इसलिये उसकी भूमिकारूपसे प्रथम शिष्य द्वारा प्रश्न कराते हैं और पश्चात् उसका उत्तर देते हुए ४७ शक्तियोंका वर्णन करेंगे ।

आत्माके ज्ञानमात्र भावमें उछलती अनंत शक्तियाँ

[पूज्य श्री कानजी स्वामीके प्रवचन]

[वीर सं० २४७५ कार्तिक शुक्ला ३]

आत्मामें ज्ञानादि अनंतधर्म हैं; उन्हें परद्रव्यों और परभावोंसे भिन्न बतलानेके लिये आचार्यदेव 'ज्ञानमात्र' कहते आये हैं। वहाँ ज्ञानलक्षण द्वारा अनंतधर्मवाला आत्मा ही प्रसिद्ध होता है इसलिये ज्ञानमात्र आत्माको अनेकान्तपना है—यह बात सिद्ध की।

अब आचार्यदेव उस अनंतधर्मवाले आत्माकी कुछ शक्तियोंका वर्णन करना चाहते हैं इसलिये उसकी भूमिकारूपसे प्रथम शिष्यके मुखमें प्रश्न रखते हैं और उसका उत्तर देते हुए 'ज्ञानमात्र आत्मामें अनंत शक्तियाँ उछलती हैं'—ऐसा सिद्ध करके फिर ४७ शक्तियोंका अद्भुत वर्णन करेंगे।

❀ ❀ ❀ ❀

प्रश्नः—जिसमें क्रम और अक्रमरूपसे प्रवर्तमान अनंत धर्म हैं ऐसे आत्माको ज्ञानमात्रपना किसप्रकार है? शिष्य अभेद आत्माको लक्षमें लेना चाहता है इसलिये ऐसा पूछता है कि प्रभो! आत्मामें अनंतधर्म होने पर भी उसे ज्ञानमात्रपना किसप्रकार है? शरीरादि परका और दया-हिंसादिक विकारी भावोंका तो आत्माके स्वभावमें अभाव है; आत्मामें अपने अनंतधर्म हैं;—इतना लक्षमें लेकर शिष्य पूछता है कि पर्याय अपेक्षासे क्रमरूप प्रवर्तमान और गुण अपेक्षासे एक साथ—अक्रम प्रवर्तमान ऐसे अनन्तधर्म आत्मामें विद्यमान हैं, तथापि उसे ज्ञानमात्रपना किसप्रकार है? एक ज्ञानमात्र भावमें अनंत धर्म कैसे समा जाते हैं?

उत्तरः—परस्पर भिन्न ऐसे अनंत धर्मोंके समुदायरूप परिणमित जो एक ज्ञप्तिमात्र भाव है वह आत्मा ही है; इसलिये ज्ञानमात्र एक भावमें जिनका समावेश हो जाता है—ऐसी अनन्त शक्तियाँ आत्मामें उछलती हैं। यहाँ आचार्यदेव अनन्त धर्मोंके परिणमनका ज्ञानमात्र भावके परिणमनमें समावेश करके, ज्ञान और आत्माको अभेद बतलाते हैं।

आत्मामें अनन्त गुण हैं, वे परस्पर भिन्न हैं। जिसप्रकार आत्मा कभी जड़रूप नहीं होता उसीप्रकार आत्माका ज्ञानगुण कभी दर्शनगुणरूप नहीं होता; कोई भी गुण किसी दूसरे गुणरूप नहीं हो जाता। जिसप्रकार एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यका अभाव है उसीप्रकार एक द्रव्यके अनन्त गुणोंमें भी एक गुणमें दूसरे गुणका अभाव है। आत्मद्रव्य तो परसे त्रिकाल स्वतंत्र है और उसका प्रत्येक गुण भी दूसरे गुणसे स्वतंत्र है। इसप्रकार अनन्त गुण परस्पर भिन्न हैं; गुणोंकी अपेक्षा अनन्तता और द्रव्यरूपसे एकता—ऐसा अनेकांत भी इसमें आ गया।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे भिन्न; द्रव्यके अनन्त गुणोंमें प्रत्येक गुण परस्पर भिन्न; और उस प्रत्येक गुणकी प्रतिसमयकी पर्यायें भी भिन्न भिन्न स्वतंत्र हैं। अनन्त गुणोंकी पर्यायें एकसाथ हैं परन्तु उनमेंसे किसी एक गुणकी पर्यायकी दूसरे गुणकी पर्यायके साथ एकता नहीं होती; और एक ही गुणकी क्रमशः होनेवाली पर्यायोंमें भी एक समयकी पर्याय पूर्व समयकी पर्यायरूप नहीं होती, और न पीछेकी पर्यायरूप भी होती है। इसप्रकार प्रत्येक गुणकी प्रत्येक पर्याय स्वतंत्र है। गुण परस्पर भिन्न हैं और पर्यायें भो परस्पर भिन्न हैं। एक गुणके कारण दूसरे गुणकी अवस्था नहीं होती। वीर्यगुणकी पुरुषार्थ पर्यायके कारण ज्ञानकी अवस्था नहीं होती और न ज्ञानके कारण पुरुषार्थकी अवस्था होती है। पुरुषार्थकी अवस्था वीर्यगुणसे होती है और ज्ञानकी अवस्था ज्ञानगुणसे होती है। प्रत्येक गुणकी अवस्थामें अपना स्वतंत्र सामर्थ्य है, इसलिये प्रत्येक पर्याय स्वयं अपने सामर्थ्यसे ही अपनी रचना करती

है। अहो ! पर्यायका कारण पर तो नहीं है और द्रव्य–गुण भी नहीं है, पर्याय स्वयं ही अपना कारण है। एक ही समयमें स्वयं ही कारण और कार्य है इसलिये वास्तवमें तो कारण–कार्यके भेद करना वह व्यवहार है। प्रत्येक द्रव्य अपने रूपसे सत्, प्रत्येक गुण अपने रूपसे सत् और एक–एक समयकी प्रत्येक पर्याय भी अपने अपने स्वरूपसे सत् है।—बस ! है उसीप्रकार जान लेना है, उसमें कारण–कार्यके भेदका विकल्प ही कहाँ है ?

देखो ! सम्यक्‌दर्शनकी निर्मल पर्याय अनादिकालमें नहीं थी और वह अपूर्व दशा प्रगट हुई; वहाँ उसका कारण किसे कहोगे ? यदि त्रिकाली द्रव्य–गुणको उसका कारण कहें तो, वे तो सम्यक्‌दर्शन प्रगट होनेसे पूर्व भी थे ! पूर्व पर्यायको कारण कहें तो, पूर्व पर्यायमें तो अनादिका मिथ्यात्व था—उसे कारण कैसे कहा जा सकता है ? त्रिकाली द्रव्य–गुणकी ओर उन्मुखता की तब सम्यग्दर्शनकी निर्मल पर्याय हुई, इसलिये द्रव्य–गुणकी उन्मुखता कारण और जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई वह कार्य—ऐसा कहें तो, वहाँ द्रव्य–गुणकी ओर उन्मुखता करने वाली पर्याय और निर्मल हुई वह पर्याय—यह दोनों कहीं भिन्न भिन्न पर्यायें नहीं हैं, एक ही पर्याय है, इसलिये कारण–कार्य अभेद हो जाते हैं अर्थात् कारण–कार्यके भेद उड़ जाते हैं, और प्रत्येक पर्यायकी निरपेक्षता सिद्ध हो जाती है। ज्ञानकी पर्याय स्वतंत्र और पुरुषार्थकी पर्याय स्वतंत्र; मोक्षमार्गरूप पर्याय स्वतंत्र और मोक्ष-पर्याय भी स्वतंत्र। अहो ! देखो, इसमें मात्र निरपेक्ष वीतरागभाव ही आता है। 'ऐसा क्यों ?' अथवा 'इसका कारण क्या ?'—ऐसे विकल्पको अवकाश नहीं रहता; मात्र ज्ञातापना ही रहता है।

आत्मा ज्ञानमात्र ही है। ज्ञान क्या करता है ?—मात्र जैसा हो वैसा जानता है। जाननेके कार्यमें तो शांति ही होती है। जाननेमें आकुलता क्यों होगी ?—नहीं होगी। यदि परमें हाँ या ना करे तो राग–द्वेष हो और ज्ञानकी स्थिरतारूप शांति न रह सके। मैं तो ज्ञान हूँ, इसलिये जाननेके अतिरिक्त मुझे परको अपना नहीं मानना है और

'ऐसा क्यों'—ऐसा राग-द्वेष विकल्प भी नहीं करना है;—ऐसा निर्णय करके ज्ञानमात्र भावरूप परिणमित होनेमें भी आत्माकी अनंत शक्तियाँ उसमें साथ ही हैं। ज्ञानके साथ सुख है, स्वच्छता है, प्रभुता है, जीवन है—ऐसी अनन्त शक्तियाँ ज्ञानमात्र भावमें साथ ही रहती हैं।

आत्मामें अनन्त गुण हैं, उस प्रत्येकका लक्षण भिन्न भिन्न है; परन्तु आत्माके ज्ञानमात्र भावमें वे सब आ जाते हैं। अनन्त गुणोंसे अभेद आत्माको दृष्टिमें लिया वहाँ अनन्तो शक्तियाँ एकसाथ निर्मल स्वरूपमें परिणमित होने लगती हैं। जहाँ ज्ञान अभेद आत्माको लक्षमें लेकर परिणमित हुआ वहाँ उस ज्ञप्तिमात्र भावके साथ अनन्त शक्तियाँ भी निर्मलस्वरूपमें उछलती हैं।

देखो, सर्वज्ञभगवान कहते हैं कि—आलूके एक राई जितने टुकड़ेमें असंख्यात औदारिक शरीर हैं; उस प्रत्येक शरीरमें अनन्त जीव हैं; वे सब जीव भिन्न भिन्न स्वतंत्र हैं; उनमेंसे प्रत्येक जीवमें अपनी अनन्त शक्तियाँ हैं; वे शक्तियाँ भी एक-दूसरेसे परस्पर भिन्न हैं और प्रत्येक शक्तिको क्रमशः होनेवाली अनन्त पर्यायें हैं; वह प्रत्येक पर्याय भी भिन्न भिन्न स्वतंत्र हैं; और प्रत्येक पर्यायमें अनन्त अविभागप्रतिच्छेद अंश हैं; वह एक अंश दूसरे अंशरूप नहीं है।— वस्तुस्वभावकी ऐसी स्वतंत्रता जैनदर्शन बतलाता है। सब अनेकान्तस्वरूप है। द्रव्यमें अनेकान्त, गुणमें अनेकान्त, पर्यायमें अनेकान्त और उसके प्रत्येक अविभागप्रतिच्छेद अंशमें भी 'स्व-रूपसे है और पररूपसे नहीं है'—ऐसा अनेकान्त है। प्रत्येक जीव अनन्त धर्मकी मूर्ति है। अनन्त गुण-पर्यायें होने पर भी वस्तुरूपसे वह सब एक ही द्रव्य है। अहो! प्रत्येक आत्मा एक ही समयमें अनन्त गुणोंके भिन्न-भिन्न परिणमनसे भरा है, तथापि उन अनन्त गुणोंके परिणमनमें कालभेद नहीं है। आत्माके परिणमनमें समस्त गुणोंका परिणमन साथ ही है। 'परस्पर भिन्न' कहकर अनेकपना सिद्ध किया और 'अनन्त धर्मोंके समुदायरूप परिणमित एक ज्ञप्तिमात्र भाव वह आत्मा है'—ऐसा कहकर ज्ञानमात्र आत्मामें अनन्त

धर्मोंको अभेद कर दिया । [यहाँ 'गुण' और 'धर्म' दोनों शब्द एकार्थवाची हैं ।]

द्रव्य स्वयं अनन्त गुणोंसे एकसाथ परिणमित हो रहा है । अनन्तगुणोंमें गुणभेदसे भेद होने पर भी द्रव्यसे वे अभेद हैं; गुणोंको परस्पर लक्षणभेद है परन्तु प्रदेशभेद नहीं है; परिणमनका कालभेद नहीं है; एक ही समयमें ज्ञानमात्र भावके भीतर समस्त गुण एकसाथ परिणमित होते हैं । यहाँ ज्ञानमात्र भाव कहनेसे मात्र ज्ञानगुणकी पर्याय नहीं समझना चाहिये, परन्तु अनन्तगुणके पिण्डरूप आत्माकी पर्याय समझना चाहिये; क्योंकि आत्माको ही 'ज्ञानमात्र' कहा है । आत्माकी एक ज्ञानक्रियामें अनंत धर्मोंका समावेश हो जाता है इसलिये आत्माको ज्ञानमात्रपना ही है; अनन्त धर्म होने पर भी आत्माको ज्ञानमात्रपना ही है—यह बात यहाँ आचार्यदेव सिद्ध करते हैं । अनन्त धर्मोंको सिद्ध करके उन्हें एक ज्ञानमात्र भावमें समा दिया और आत्माका ज्ञानमात्रपना बना रखा ।—इतनी स्पष्टता करके अब उस ज्ञानमात्र भावमें आ जानेवाली शक्तियोंका वर्णन करेंगे ।

आत्मामें पर्यायें क्रमशः होती हैं और गुण एकसाथ हैं । 'पर्यायें क्रमशः होती हैं' उसका अर्थ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि प्रथम एक गुणकी पर्याय होती है और फिर दूसरे गुणकी पर्याय होती है ।—क्योंकि यदि ऐसा हो तो, अनन्त गुण होनेसे, एक गुणकी पर्याय होनेका समय अनन्तकालमें आयेगा । समस्त गुणोंका परिणमन तो एकसाथ होता है, उसमें कहीं क्रम नहीं है, परन्तु उनकी पर्यायें एकके बाद एक—क्रमानुसार होती हैं, एकसाथ दो अवस्थाएँ नहीं होती । अनन्तगुणोंकी अवस्था एकसाथ है, परन्तु एक गुणकी दो पर्यायें एकसाथ नहीं होती । जैसे कि—श्रद्धागुणकी पर्यायमें मिथ्यात्वके समय सम्यक्त्व नहीं होता, सम्यक्त्वके समय मिथ्यात्व नहीं होता; मतिज्ञानके समय केवलज्ञान नहीं होता, सिद्धदशाके समय संसारदशा नहीं होती;—इसप्रकार अवस्थामें क्रम है और ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अस्तित्व, प्रभुत्व

आदि समस्त गुण अक्रम हैं।—ऐसे क्रम और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनन्त धर्म आत्मामें हैं।

प्रवचनसारके परिशिष्टमें ४७ नयों द्वारा आत्माके धर्मोंका वर्णन किया है; और यहाँ आत्माकी ४७ शक्तियोंका वर्णन किया है। उसमें अन्तर इतना है कि प्रवचनसारमें तो ज्ञानप्रधान वर्णन होनेसे वहाँ विकारको भी आत्माका धर्म माना है, क्योंकि वह भी आत्माकी पर्याय है; उस विकारी पर्यायको आत्मा एकसमय पर्यंत धारण कर रखता है; और यहाँ शक्तियोंके वर्णन में अभेददृष्टिप्रधान कथन होनेसे समस्त शुद्ध शक्तियोंको ही लिया है; विकारको आत्माका धर्म नहीं माना।

जैनधर्मके नामसे 'अनेकान्त...अनेकान्त' तो अनेक लोग करते हैं, परन्तु अनेकान्तमें कितना गूढ़ रहस्य है वह इस परिशिष्टमें आचार्यदेवने स्पष्ट किया है। आत्मामें अनन्त गुण हैं, उनमें एक गुणमें दूसरे गुणकी नास्ति है। गुणोंके क्षेत्रभेद नहीं है परन्तु लक्षणभेद है—इसप्रकार अनेकान्त है। ज्ञानके अतिरिक्त श्रद्धादि अनन्त शक्तियाँ हैं वे ज्ञानसे गुणभेदसे भिन्न हैं, परन्तु ज्ञानमात्र आत्मामें तो समस्त शक्तियाँ अभेदरूपसे आ जाती हैं। ज्ञान ज्ञानरूप है और श्रद्धारूपसे नहीं है, श्रद्धा श्रद्धारूप है और ज्ञानरूपसे नहीं है; इसप्रकार प्रत्येक गुण स्वरूपसे है और पररूपसे नहीं है।—ऐसा गुणभेद होनेपर भी आत्मा वस्तुरूपसे एकरूप है। प्रत्येक वस्तुमें अनन्त अस्ति-नास्ति घटित होते हैं। वस्तुके अनन्त गुणोंमें प्रत्येक गुण दूसरे अनन्त गुणोंरूप नहीं है; एक की अस्तिमें दूसरे अनन्तकी नास्ति है। इसीप्रकार प्रत्येक पर्यायमें भी अपनेरूपसे अस्ति और दूसरी अनंत पर्यायोंरूपसे नास्ति;—ऐसा अनेकान्त है। एक पर्यायके अनन्त अविभाग अंशोंमेंसे प्रत्येक अविभाग अंशमें भी इसीप्रकार अस्ति–नास्तिरूप अनेकान्त है।

आत्मा एक समयमें अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण है; वस्तुमें समस्त गुण एकसाथ विद्यमान हैं, तथापि कोई गुण कभी दूसरे गुणरूप नहीं

५

हो जाता। यदि एक गुण दूसरे गुणरूप हो जाये तो दूसरा तीसरेरूप हो जायेगा—ऐसा करते करते अनन्तगुण सब एक ही गुणरूप हो जायेंगे; इसलिये एक गुण स्वयं ही पूर्ण द्रव्य हो जायेगा, और गुणका अभाव हो जायेगा। गुणके बिना द्रव्यका ही अभाव हो जायेगा। इसीप्रकार प्रत्येक पर्याय और पर्यायका छोटे से छोटा अंश भी यदि पररूप हो जाये तो अन्तमें द्रव्यका ही अभाव हो जायेगा। कोई पदार्थ 'है'—ऐसा कहते ही, वह 'पररूप' नहीं है—ऐसा यदि न मानें तो उस वस्तुका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा।

अनेकान्त तो विश्वका प्रकाशक है; वह ऐसा प्रगट करता है कि विश्वमें प्रत्येक पदार्थ स्व-रूपसे है और पररूपसे नहीं है। पदार्थकी शक्तिका यदि छोटे से छोटा अंश लें तो वह अंश भी अपनेरूपसे है और अपने अतिरिक्त दूसरे अनन्त अंशोंरूप वह नहीं है,—ऐसा उसका अनेकान्तस्वरूप है। सब अनेकान्त है अर्थात् जो है वह स्व-रूपसे है और पररूपसे नहीं है,—इस सिद्धान्त पर तो सारी सृष्टिका चक्र चल रहा है।

जिसमें परस्पर भिन्न अनन्तधर्म हैं ऐसे अभेद आत्माको लक्षमें लेकर जहाँ ज्ञान परिणमित हुआ, वहाँ उस ज्ञप्तिमात्र भावके साथ अनंत गुणोंका परिणमन साथ ही है। ऐसी ज्ञप्तिक्रिया वह आत्माकी निर्विकारी धर्मक्रिया है। आत्मा ज्ञप्तिमात्र भावरूप है और उस ज्ञप्तिमात्र भावमें अनन्त शक्तियोंका परिणमन आजाता है; इसलिये ज्ञानमात्र आत्मामें अनन्तशक्तियाँ उछलती हैं। जहाँ पर्याय अन्तरमें अभेद होकर परिणमित हुई, वहाँ उस ज्ञप्तिक्रियारूपसे आत्मा ही परिणमित हुआ है इसलिये वह आत्मा ही है; और उस ज्ञप्तिक्रियामें अनंतधर्मोंका परिणमन साथ होनेसे, अनन्तधर्म वाले आत्माको ज्ञानमात्रपना ही है। ज्ञानमात्रभावमें ही अनन्तशक्तियाँ उछल रही हैं—परिणमित हो रही हैं। अनन्त सहभावी शक्तियोंके बिना अकेला ज्ञान रह ही नहीं सकता।

अनन्तशक्तियोंसे परिपूर्ण भगवान आत्मा किसप्रकार ज्ञात

होता है ? वह बात आगे कही जा चुकी है कि ज्ञानलक्षणको अंतरोन्मुख करनेसे आत्मा लक्षमें आता है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता। शरीरकी क्रियासे अथवा भक्ति-पूजा-उपवासादि शुभ क्रियाकाण्डसे ऐसा आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता; परन्तु ज्ञानको अन्तर्मुख करनेरूप जो ज्ञप्तिक्रिया है वही आत्माको जाननेकी क्रिया है। इसके अतिरिक्त अन्य लाखों उपाय करे, लाखों-करोड़ों रुपयोंका दान करे, अनेक तीर्थयात्राएँ करे, त्यागी होकर व्रतादि कर करके सूख जाये-तथापि उन बाह्य उपायोंसे यह चैतन्यभगवान आत्मा दर्शन नहीं देगा। अंतरमें दृष्टि डालते ही कृतकृत्य कर दे—ऐसा चैतन्यभगवान है ! कितने वर्षों तक परसन्मुख देखता रहे तो स्व-सन्मुख देखना हो ?—परसन्मुख देखनेसे कभी भी स्व-सन्मुख देखना नहीं होता। ज्ञानलक्षणको अंतरके लक्ष्यकी ओर उन्मुख करके जहाँ चैतन्यमूर्ति आत्माको लक्षमें लिया वहाँ ज्ञप्तिक्रिया हुई; उस ज्ञप्तिक्रियामें अनन्तगुणोंकी निर्मल परिणति साथ ही उछलने लगी ! रागके या निमित्तके लक्षसे शक्तियाँ निर्मल स्वरूपसे नहीं उछलती-परिणमित नहीं होती। यहाँ आचार्यदेव मात्र शक्तियाँ ही नहीं बतलाते परन्तु शक्तियोंका निर्मल परिणमन भी साथमें ले लेते हैं। 'शक्तियाँ उछलती हैं'—ऐसा कहकर शक्तियोंको परिणमित बतलाया है।

द्रव्यका परिणमन होनेसे समस्त गुण परिणमित होते हैं; मूल द्रव्यका परिणमन होता है वहाँ उसके समस्त गुण भी परिणमित हो जाते हैं; द्रव्यसे गुण कहीं पृथक् नहीं हैं। अनन्त गुणोंसे अभेद आत्मद्रव्यको लक्षमें लेकर जहाँ साधक जीव परिणमित हुआ वहाँ उसके परिणमनमें अनन्त शक्तियाँ आत्मामें अभेद होकर परिणमित हुईं उसीको यहाँ 'ज्ञानमात्र भाव' कहा है।

आत्माके अनन्त गुणोंमें लक्षणभेद है, परन्तु क्षेत्रभेद या कालभेद नहीं है। ज्ञानगुण मस्तिष्कमें रहता है और आनन्दगुण हृदयमें रहता है—इसप्रकारका कोई भेद नहीं है। आत्माके असंख्य प्रदेशों में ही एकसाथ अनन्तगुण विद्यमान हैं, गुणोंका क्षेत्र भिन्न भिन्न नहीं

है। यहाँ तो ऐसा ही कहा है कि आत्माके परिणमनमें अनंत शक्तियाँ एकसाथ ही उछलती हैं, समस्त शक्तियाँ एकसाथ निर्मल स्वरूपसे परिणमित होती हैं। गुणोंके निर्मल परिणमनमें न्यूनाधिकता है वह बात यहाँ नहीं ली है। श्रद्धागुणमें क्षायिकसम्यक्त्वका परिणमन होजाये तथापि चारित्रगुणकी निर्मलता परिपूर्ण विकसित न हो—ऐसे गुणभेदको यहाँ मुख्य नहीं किया। अभेद द्रव्यके परिणमित होनेसे समस्त गुण निर्मल स्वरूपसे परिणमित होते हैं—ऐसा यहाँ अभेदकी मुख्यतासे कहा है। अभेद द्रव्यकी दृष्टिसे साधक जीव परिणमित होता है वहाँ सम्यक्‌श्रद्धा–ज्ञानके साथ चारित्रादि समस्त गुणोंका अंश भी साथ ही परिणमित होता है। यहाँ परिणमन कहनेसे समस्त निर्मल परिणामोंको ही लेना है; विकारको तो आत्मासे पृथक् किया है इसलिये विकारी परिणामोंको आत्माके परिणमनमें नहीं लेना है। यहाँ तो द्रव्य–गुण और निर्मल परिणतिको अभेद करके उतना ही आत्माको माना है, भेदको या विकारको आत्मा नहीं माना है, उन्हें तो ज्ञानलक्षणके बल द्वारा आत्मासे पृथक् कर दिया है।

सम्यक्‌दर्शन होनेसे समस्त गुण एकसाथ पूर्ण विकसित नहीं होजाते इसलिये गुणभेद है; परन्तु वस्तुरूपसे समस्त गुण अभेद हैं इसलिये समस्त गुणोंका अंश तो एक ही साथ विकसित होजाता है। एक गुण बिलकुल शुद्ध हो जाये और दूसरे गुणमें सर्वथा मलिनता रहे—अंशतः भी निर्मलता न हो, तब तो, गुण सर्वथा भेदरूप होजायेंगे।—ऐसा नहीं होता। यहाँ तो कहा है कि ज्ञप्तिमात्र भावमें समस्त गुणोंका परिणमन एकसाथ ही है; निर्मलतामें हीनाधिकताके भेद पड़ते हैं—वह बात गौण है।

—इसप्रकार, अनन्त शक्तिवाले आत्माको 'ज्ञानमात्र' कहकर बतलाया; और उस ज्ञानमात्र भावमें अनन्त शक्तियाँ साथ ही परिणमित होरही हैं—ऐसा बतलाया। अब, आचार्यदेव उनमेंसे 'कुछ' शक्तियोंका वर्णन करते हैं।—'कुछ' क्यों कहा ? क्योंकि, छद्मस्थ जीव सामान्यरूपसे तो जान सकता है कि आत्मामें अनंत शक्तियाँ हैं, परन्तु

उन शक्तियोंको विशेषरूपसे भिन्न-भिन्न नहीं जान सकता; और वाणी द्वारा भी अनंत शक्तियोंका वर्णन नहीं हो सकता; वाणीमें तो अमुक ही आती हैं; इसलिये यहाँ मुख्य प्रयोजनभूत ऐसी ४७ शक्तियोंका वर्णन किया है।

उन ४७ शक्तियोंका विवेचन करनेसे पूर्व उनके नाम दिये जा रहे हैं:—

१—जीवत्वशक्ति
२—चितिशक्ति
३—दृशिशक्ति
४—ज्ञानशक्ति
५—सुखशक्ति
६—वीर्यशक्ति
७—प्रभुत्वशक्ति
८—विभुत्वशक्ति
९—सर्वदर्शित्वशक्ति
१०—सर्वज्ञशक्ति
११—स्वच्छत्वशक्ति
१२—प्रकाशशक्ति
१३—असंकुचितविकासत्वशक्ति
१४—अकार्यकारणत्वशक्ति
१५—परिणम्यपरिणामकशक्ति
१६—त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति
१७—अगुरुलघुत्वशक्ति
१८—उत्पादव्ययध्रुवत्वशक्ति
१९—परिणामशक्ति
२०—अमूर्तत्वशक्ति
२१—अकर्तृत्वशक्ति
२२—अभोक्तृत्वशक्ति
२३—निष्क्रियत्वशक्ति
२४—नियतप्रदेशत्वशक्ति
२५—स्वधर्मव्यापकत्वशक्ति
२६—साधारण—असाधारण—साधारणासाधारणधर्मशक्ति
२७—अनंतधर्मत्वशक्ति
२८—विरुद्धधर्मत्वशक्ति
२९—तत्त्वशक्ति
३०—अतत्त्वशक्ति
३१—एकत्वशक्ति
३२—अनेकत्वशक्ति
३३—भावशक्ति
३४—अभावशक्ति
३५—भावाभावशक्ति
३६—अभावभावशक्ति
३७—भावभावशक्ति
३८—अभावाभावशक्ति
३९—भावशक्ति
४०—क्रियाशक्ति
४१—कर्मशक्ति
४२—कर्तृत्वशक्ति
४३—करणशक्ति
४४—संप्रदानशक्ति
४५—अपादानशक्ति
४६—अधिकरणशक्ति
४७—संबंधशक्ति

अब क्रमशः इन शक्तियोंके विवेचन दिये जायेंगे।

* * *

[१]

जीवत्वशक्ति

[हे जीव ! अपनी जीवत्वशक्तिसे ही तू जी रहा है । चैतन्यभाव ही आत्माका जीवनका कारण है । ज्ञातास्वभाव सन्मुख होनेवाली ज्ञानपर्याय द्वारा आत्मा का जीवन है–जो जीव ऐसी जीवनशक्तिको जानता है उसका जीवन अपूर्व हो जाता है...इस जीवन शक्तिरूपी संजीवनीका सेवन करे तो कभी मरण नहीं होगा संतोंने इस जीवन शक्तिरूपी संजीवनी देकर आत्माका अमर जीवन दिखाया है...भव्य जीवो ! इसका सेवन करो]

[वीर सं० २४७५ कार्तिक शुक्ला ४]

आत्मद्रव्यको कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्र भावका धारण जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है ऐसी जीवत्त्वशक्ति आत्माके ज्ञानमात्र भावमें उछलती है ।

सर्वप्रथम आत्माका जीवन बतलानेके लिये यह जीवत्त्वशक्ति ली है । यह प्रधानभूत शक्ति है । आत्मा सदैव अपनी जीवत्त्वशक्तिसे ही जी रहा है; इसलिये यह जीवत्त्वशक्ति आत्मद्रव्यको कारणभूत है । शरीर,

आयु, रोटी आदि परवस्तुएँ आत्माके जीवनका कारण नहीं हैं; यह जीवत्वशक्ति ही आत्माके जीवनका कारण है, उसीसे आत्मा अनादि-अनन्त जी रहा है।

आत्मा स्वयं त्रिकाल चैतन्यस्वरूप है;—ऐसा बतलानेके लिये यहाँ चैतन्यमात्र भावको आत्मद्रव्यका कारण कहा है। वास्तवमें कारण-कार्य पृथक् नहीं हैं, परन्तु चैतन्यभाव द्वारा आत्माकी सिद्धि होती है, इसलिये उसे आत्माका कारण कहा है। आत्मा रागादि भावोंसे नहीं टिका है परन्तु चैतन्यभावसे ही वह त्रिकालस्थायी रहनेवाला है। परसे और विकारसे टिकना अज्ञानी जीव भले ही माने, परन्तु उसका आत्मा भी चैतन्यमात्रभावसे ही टिकता है। पहले क्षणका राग दूसरे क्षण नष्ट हो जाता है, तथापि आत्मा तो चैतन्यप्राणसे जैसे का तैसा बना रहता है। देहका संयोग भी अनन्तबार आया और छूटा, परन्तु आत्मा तो अनादिसे अपनी जीवत्वशक्तिसे जी रहा है। यहाँ शरीरकी बात नहीं है। शरीर तो आयुकर्मके निमित्तसे टिकता है, परन्तु आत्मा कहीं आयु कर्मसे नहीं रहता; आत्माके आयुष्यकी मर्यादा नहीं है, वह तो अनादि अनंत अपने चैतन्यप्राणोंसे जीवित रहता है।

अज्ञानियोंको ऐसा लगता है कि मानों शरीर ही अपना जीवन है और शरीर छूट जानेसे मृत्यु हो जाती है; परन्तु आत्मा तो सदैव अपनी जीवत्वशक्तिसे जीवित ही है। यदि ऐसी जीवनशक्तिको जाने तो मृत्युका भय दूर हो जाये। अनन्त सिद्ध भगवन्त शरीरके बिना ही अपने चैतन्यप्राणसे परम सुखी जीवन जी रहे हैं।

आत्माका जीवन कैसा होता है वह यहाँ आचार्यदेव बतलाते हैं। हे जीव! यदि तुझे सच्चा जीवन जीना हो तो यह जीवत्वशक्ति जिसमें उछल रही है ऐसे अपने ज्ञानमात्र आत्माको देख! तेरा आत्मा रोटी, शरीर, पैसा या प्रतिष्ठासे नहीं टिकता, परन्तु अनादि अनन्त जीवत्वशक्तिसे ही वह टिका है। ऐसी जीवत्वशक्ति प्रत्येक आत्मामें त्रिकाल है, परन्तु यहाँ तो, अपने ज्ञानमात्रभावके साथ यह शक्ति परिणमित होती है—ऐसा साधकको बतलाना है।

चैतन्यमात्रभावको धारण कर रखना वह जीवत्त्वशक्तिका लक्षण है; और वह चैतन्यमात्रभाव आत्मद्रव्यका कारण है। यदि चैतन्यमात्रभाव न हो तो जीव ही न हो; चैतन्यभावके बिना आत्मद्रव्य ही नहीं हो सकता; इसलिये चैतन्यभाव आत्मद्रव्यका कारण है। ऐसे चैतन्यभावप्राणको धारण कर रखना वह जीवत्त्वशक्तिका लक्षण है, उस शक्तिसे जीव सदैव जी रहा है।

जीवकी अनंत शक्तियोंमें एक ऐसी जीवनशक्ति है। उस जीवनशक्तिका क्या कार्य है ?—कि चैतन्यभावको धारण करके जीवको बनाए रखना वह जीवनशक्तिका कार्य है। यहाँ तो जीवको टिकनेका कारण अपने चैतन्यभावको धारण करनेवाली जीवत्त्वशक्ति ही है—ऐसा कहा है। किसी निमित्तसे–संयोगसे अथवा विकारसे जीव नहीं टिकता। दस प्रकारके व्यवहारप्राणोंसे जीव जीता है—यह बात भी यहाँ नहीं ली है। जीव तो सदैव अपने चैतन्यभावप्राणोंसे ही जीता है, ऐसी उसकी जीवत्त्वशक्ति है। ऐसे चैतन्यमात्रभावरूप आत्माको जो लक्षमें ले उसके अनन्त गुण निर्मलस्वरूप परिणमित हुए बिना नहीं रहेंगे। प्रथम आचार्यदेवने अनन्तगुणोंसे अभेद ज्ञानमात्र आत्माका लक्ष कराया है, उस अभेद आत्माके लक्षपूर्वक इन शक्तियोंका ज्ञान कराते हैं।

आत्मा कहाँ देखे तो उसे धर्म हो—उसकी यह बात चलती है। परमें तो अपना एक भी धर्म नहीं है, इसलिये परसन्मुख देखनेसे तो धर्म नहीं होता, विकार सन्मुख देखनेसे भी धर्म नहीं होता क्योंकि वस्तुके अनन्त गुणोंमेंसे एक गुण कहीं पृथक् होकर परिणमित नहीं होता; इसलिये एक गुणके लक्षसे धर्म नहीं होता परन्तु भेदका विकल्प–राग होता है। एक समयमें अनन्त गुणोंसे अभेद चैतन्यमूर्ति आत्मा है, उसके सन्मुख देखनेसे ही धर्म होता है। अभेद आत्माको लक्षमें लेनेसे उसकी अनन्तशक्तियाँ स्वाश्रयसे निर्मल स्वरूपसे परिणमित होती हैं। उन शक्तियोंका यह वर्णन चल रहा है।

चैतन्यभावप्राणको धारण कर रखे ऐसी आत्माकी जीवत्त्वशक्ति

है, वह सदैव है, उसीसे आत्मा नित्य जीवित है। शरीर तो आत्मामें एक क्षण भी नहीं रहता, उसका तो आत्मामें अभाव है; और द्रव्य-प्राणोंका भी आत्मामें अभाव है, वे एक समयमात्र भी आत्मामें नहीं हैं, इसलिये वह आत्माका गुण नहीं है और न उससे आत्मा जीता है। इसलिये शरीर या द्रव्यप्राणोंकी ओर देखनेसे धर्म नहीं होता।

दया–भक्ति, हिंसा–चोरी आदि शुभ–अशुभ भाव आत्माकी अवस्थामें एक समय पर्यंत ही रहते हैं; वह भी आत्माका त्रिकाली स्वरूप नहीं है, और न उससे आत्मा जीता है। गुण किसे कहा जाता है?—जो वस्तुके सर्व क्षेत्रमें और सर्व अवस्थाओंमें रहे उसे गुण कहते हैं। विकारी परिणाम आत्माके सर्व क्षेत्रमें हैं, परन्तु वे आत्माके साथ सर्व काल नहीं रहते, उनका काल एक समय जितना ही है। उनके सन्मुख देखनेसे भी आत्माका धर्म नहीं होता।

शरीरका तो आत्मामें त्रिकाल अभाव है, इसलिये उसकी अवस्थाके साथ आत्माके धर्मका संबंध नहीं है; आहार ले या न ले, शरीर निर्बल हो जाये या पुष्ट रहे, बोले या मौन रहे, चले या स्थिर रहे,—उस किसी भी क्रियाके साथ आत्माके धर्मका संबंध नहीं है। पर्यायमें होनेवाला विकारभाव आत्माके पूर्ण क्षेत्रमें एक समय जितना व्याप्त हुआ है, उसके सन्मुख देखनेसे भी आत्माकी पहिचान नहीं होती इसलिये धर्म नहीं होता।

अब, आत्मामें एकसाथ अनन्तशक्तियाँ त्रिकाल रहती हैं; उनमेंसे एक शक्तिको पृथक् करके लक्षमें ले तो भी धर्म नहीं होता। यदि अनन्तशक्तिके पिण्डरूप पूर्ण आत्माको लक्षमें ले तो धर्म होता है। यहाँ जिन शक्तियोंका वर्णन किया है वे सब त्रिकाली हैं और आत्मामें एकसाथ विद्यमान हैं;—ऐसे आत्माके लक्षपूर्वक उसकी शक्तियोंको पहिचाननेकी यह बात है।

सर्वप्रथम जीवत्वशक्तिका वर्णन किया है। लोग कहते हैं कि अमुक पुरुषका जीवनचरित्र कहो! तो यहाँ आचार्यदेवने जीवत्वशक्ति

कहकर आत्माका जीवनचरित्र कहा है कि आत्मा पूर्वकालमें चैतन्य-प्राण धारण करके जीता था, इससमय भी चैतन्यप्राणसे ही जीवित है और भविष्यमें भी वह चैतन्यप्राणसे ही जियेगा।—ऐसा आत्माका त्रैकालिक जीवन है। आत्मा चैतन्यमात्र भावप्राणको त्रिकाल धारण कर रखता है,—ऐसी आत्माकी जीवत्वशक्ति आत्माके सर्वक्षेत्र और सर्वकालमें विद्यमान है।

यहाँ ४७ शक्तियोंका वर्णन पृथक् पृथक् है; परन्तु उस प्रत्येक पृथक् शक्ति पर देखनेका प्रयोजन नहीं है, समस्त शक्तियोंका पिण्ड आत्मा है उसके सन्मुख देखना है। संयोगरहित, विकाररहित और अनन्तशक्तिसहित ऐसा ज्ञानमात्रभाव वह आत्मा है, उसमें अनंतशक्तियाँ आ जाती हैं।

शरीरादि परवस्तुएँ तो आत्माके क्षेत्रमें भी नहीं हैं और उसकी अवस्थामें भी नहीं हैं।

रागादि विकार आत्माके क्षेत्रमें हैं परन्तु उसकी सर्वअवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते।

यह जीवत्वशक्ति आदि अनन्त शक्तियाँ तो आत्माके पूर्ण भागमें और सर्व अवस्थाओंमें विद्यमान हैं।

प्रश्नः—जीवत्वशक्ति आत्माके द्रव्यमें है, गुणमें है, या पर्याय में है?

उत्तरः—जीवत्वशक्ति द्रव्य, गुण और पर्याय तीनोंमें विद्यमान है।

विकारीभाव आत्माके द्रव्यमें या गुणमें व्याप्त नहीं है, मात्र एकसमयपर्यंतकी एक पर्यायमें विद्यमान है। और शरीरादि जड़ पदार्थ तो आत्माके द्रव्य–गुण या पर्याय—किसीमें भी विद्यमान नहीं हैं, वे तो बिलकुल भिन्न हैं। जीवत्वशक्ति तो द्रव्य–गुण और पर्याय तीनोंमें विद्यमान है। जीवत्वशक्तिके कारण पूर्ण द्रव्य जीवंतज्योति है, इसलिये द्रव्यमें जीवत्व है, गुणमें भी जीवत्व है और पर्यायमें भी जीवत्व है।

दयादि भाव कहीं पर्यायके सच्चे प्राण नहीं हैं। चैतन्यप्राणको धारण करनेवाली जीवत्वशक्तिसे ही द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों टिके हैं। प्रत्येक पर्यायका जीवन भी जीवत्वशक्तिसे स्वतः टिका है।

प्रश्नः—अन्नको ग्यारहवाँ प्राण कहा जाता है न ?

उत्तरः—यहाँ तो कहा है कि आत्मामें शरीरका ही अभाव है, तब फिर अन्नसे आत्मा जिये वह बात ही कहाँ रही ? आत्माका जीवन तो चैतन्यप्राणसे टिका है। अन्न आत्माका ग्यारहवाँ प्राण नहीं है और न पैसा बारहवाँ प्राण है। आत्माके चैतन्यजीवनमेंसे दस प्राण भी निकाल दिये और रागादिको भी निकाल दिया। गुण–गुणी भेदका विकल्प उठे वह भी राग है, वह राग आत्माके त्रिकाली द्रव्यमें गुणमें या समस्त पर्यायोंमें नहीं रहता, इसलिये वह भी आत्माके जीवनका कारण नहीं है।

जीवत्वशक्तिः—आत्माके द्रव्य–गुण–पर्याय तीनोंमें व्याप्त होती है।

शरीरः—आत्माके द्रव्य–गुण–पर्याय किसीमें भी व्याप्त नहीं होता।

रागादिः—आत्माके द्रव्य–गुणमें व्याप्त नहीं होते, सर्व अवस्थाओंमें भी व्याप्त नहीं होते, मात्र एकसमयपर्यंतकी पर्यायमें व्याप्त होते हैं।

इसप्रकार, अपने द्रव्य–गुण–पर्याय तीनोंमें व्यापक ऐसी जीवत्वशक्तिसे आत्मा जीता है।

लोग कहते हैं कि—'आशारहित जीवन, जीवन ही नहीं है।' परन्तु वास्तवमें तो आत्मा आशाके बिना ही जीता है। यहाँ तो ऐसा कहा है कि 'जीवत्वशक्तिके बिना जीवन नहीं है।' आशा तो एकसमयकी विकृति है। वीतरागी आत्माओंको किसी भी प्रकारकी आशा नहीं होती, वे आशाके बिना ही जीते हैं। लोग आशाको अमर कहते हैं, परन्तु वास्तवमें आशा अमर नहीं है, किन्तु जीवत्वशक्तिसे आत्मा ही

अमर है। आत्माका जीवन आशासे नहीं किन्तु जीवत्वशक्तिसे ही टिका है।

आत्मा तो मानों पराश्रयसे ही जीता हो—ऐसा अज्ञानी मानते हैं; यहाँ आचार्यभगवान आत्माकी अनन्त शक्तियाँ बतलाकर स्वाश्रित जीवन बतलाते हैं। अज्ञानी कहते हैं कि 'अन्न सम प्राण नहीं,' यानी आत्मा तो मानों अन्नके ही आधारसे जीता हो!—ऐसा वे मानते हैं; परन्तु अन्न और पुद्गलकी आहारवर्गणा आत्माके द्रव्य–गुण–पर्यायमें तो कहीं आते ही नहीं इसलिये आत्मा अन्नसे नहीं जीता परन्तु तीनों काल अन्नके अभावसे ही जीता है। 'अन्नके बिना मेरा नहीं चल सकता'—ऐसा माननेवालेने आत्माकी जीवनशक्तिको नहीं जाना है। इसीप्रकार पैसादिका भी समझ लेना।

'आत्मा अमर है' ऐसा लोग कहते हैं, लेकिन किसप्रकार ? वह नहीं समझते। यहाँ आचार्यदेव यह बात समझाते हैं। आत्मद्रव्यको कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्रभावको धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति आत्माके परिणमनमें उछलती है, उससे आत्मा सदैव जीता है। यदि चैतन्यमय जीवनशक्तिका नाश हो तो आत्मा मरे, परन्तु वह शक्ति तो आत्मामें सदैव–त्रिकाल–है, इसलिये आत्मा कभी नहीं मरता, वह अमर है।

गत वर्ष (वीर सं. २४७४ में) 'सुप्रभात मांगलिक'के रूपमें इस जीवनशक्तिका वर्णन आया था। आत्माका जीवन कैसा है वह आचार्यदेव बतलाते हैं। आत्मा शरीरसे, आहार–जलसे, श्वाससे या पैसादिसे नहीं जीता, उनसे तो आत्मा पृथक् है। आत्मा अनादिअनन्त ज्ञान–दर्शनमय चैतन्यप्राणसे जीता है, उस चैतन्यप्राणको जीवत्वशक्ति धारण कर रखती है। आत्मामें ज्ञानशक्तिकी भाँति यह जीवनशक्ति है। ज्ञान, दर्शन, सुख, आनन्द, पुरुषार्थ, शांति, प्रभुता, जीवत्व—यह समस्त शक्तियाँ ही आत्माका परिवार है, और वह सदैव आत्माके साथ ही रहता है; अपने अनन्त गुणोंरूपी कुटुम्बका वियोग आत्माको कभी नहीं होता। जिसे अपने ऐसे कुटुम्बकी खबर नहीं है वह जीव बाह्य

कुटुम्ब, लक्ष्मी, शरीरादिको अपना मानकर उन्हें सदैव बनाए रखनेकी भावना करता है, वह अज्ञान है और दुःखका कारण है। अहो ! मैं तो सदैव अपनी जीवनशक्तिसे ही जीनेवाला हूँ, ज्ञान-आनन्द आदि अनन्त गुणरूपी मेरा कुटुम्ब है; अपने अनन्त गुणोंके साथ मेरा परिपूर्ण पवित्र जीवन टिका रहे !—ऐसी भावना आत्मार्थी जीव करते हैं और वही मांगलिक है।

आत्मा चैतन्यस्वरूप है, और यह शरीर तो जड़-अचेतन है। चैतन्यस्वरूपी आत्मा अचेतन शरीरके आधारसे कैसे जियेगा ? शरीरको अथवा शरीरके प्राणोंको आत्मा धारण नहीं करता और न उससे आत्मा जीता है। उसीप्रकार पुण्यके भावको भी आत्मा अपने स्वभावमें धारण नहीं करता और न उसके आधारसे जीता है; पुण्य छूट जाये, तथापि अपने शुद्ध चैतन्यप्राणको धारण करके आत्मा जीता रहता है। आत्मा सदैव शुद्ध ज्ञान-दर्शनरूप चैतन्यप्राणको धारण करके ही जीता है। प्रत्येक जीवमें ऐसी 'जीवत्व' नामकी मुख्य शक्ति है; यह जीवत्वशक्ति जीवके जीवनकी जड़ीबूटी है। यदि इस जड़ीबूटीको धारण करे तो मृत्युका भय दूर हो जाये। शरीरको आत्मा ने कभी धारण किया ही नहीं है और न विकारको भी कभी अपने स्वभावमें धारण किया है; शरीर और विकारसे भिन्न ऐसे चैतन्यप्राणको धारण करके ही जीव सदैव जी रहा है। ऐसे चैतन्यशक्तिमय अपने जीवनको पहिचाननेसे पराश्रयभाव दूर होकर स्वाश्रितभावरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

देखो ! आचार्यदेव जीवका कुटुम्ब बतलाते हैं। ज्ञानमात्रभावमें आजाने वाली अनन्त शक्तियाँ ही जीवका अविभक्त और अविनाशी कुटुम्ब है; वह कुटुम्ब सदैव जीवके साथ ही रहता है। जगतका माना हुआ कुटुम्ब तो पृथक् हो जाता है, इसलिये वह तो जीवसे पृथक् ही है। जीवका कुटुम्ब जीवसे पृथक् नहीं होता और न कभी पृथक् हो सकता है। ज्ञान, आनन्द आदि अनन्तगुण वह जीवका कुटुम्ब है, वे सब गुण साथ ही रहते हैं, एक गुणके बिना दूसरा गुण नहीं होता—इसप्रकार आत्माका सारा कुटुम्ब एक-दूसरेसे सम्बन्धित और एकता

वाला है। ऐसे कुटुम्बसहित आत्माको जानकर उसकी श्रद्धा और उसमें एकग्रता करनेसे अनन्तचतुष्टयमय मुक्तदशा प्रगट होती है। जो आत्माकी जीवनशक्तिको जान ले उसे वैसा जीवन प्रगट होता है।

देखा, इसमें सच्चा ज्ञान और सच्ची क्रिया—दोनों आजाते हैं।—किसप्रकार ? वह कहा जाता है। मुझमें जीवत्त्वशक्ति है; मैं किसी परके आधारसे नहीं जीता हूँ, परन्तु अपने त्रिकाल चैतन्यभावप्राणसे ही टिका हूँ;—इसप्रकार अपने त्रिकाली चैतन्यजीवनका भान करना वह सच्चा ज्ञान है और उस ज्ञानसे जाने हुए त्रिकाली चैतन्यस्वभावके आश्रित रहनेसे शुद्धताकी पुष्टि और अशुद्धताका नाश होना सो क्रिया है। ऐसा ज्ञान और क्रिया वह मोक्षका कारण है।

आत्माकी जीवत्त्वशक्ति द्रव्य–गुण–पर्याय तीनोंको बनाए रखती है, परन्तु वह कहीं रागको नहीं बना रखती। जीवत्त्वशक्तिके कारण राग नहीं है और रागके कारण आत्माका जीवत्त्व नहीं है। सिद्ध भगवन्तोंके जीवत्त्वशक्ति है परन्तु राग–द्वेष नहीं है। यदि जीवत्त्वशक्तिके कारण राग–द्वेष हो तो सिद्ध–भगवानके भी राग–द्वेष होना चाहिये; और यदि राग–द्वेषके कारण जीवत्त्व हो तो सिद्धभगवानके जीवत्त्वशक्ति न रह सके; इसलिये रागमें जीवत्त्व नहीं है और जीवत्त्वमें राग नहीं है। इस जीवत्त्वशक्तिसे आत्माको देखनेसे रागादि समस्त भाव तो मरे हुए (चैतन्यस्वरूपमें अभावरूप) दिखाई देते हैं, और चैतन्यस्वरूप एक आत्मा ही अपने द्रव्य–गुण और निर्मल पर्यायोंसे जीता–टिकता–शोभायमान दिखाई देता है। यहाँ तो शुद्धताकी ही बात है, विकारको तो जीव माना ही नहीं है; विकारभाव चैतन्यस्वभावकी अपेक्षा तो मृत ही हैं, उनमें जीवत्त्व नहीं है।

अरे जीव ! तुझे अपने सच्चे जीवनका कारण ढूँढ़ना हो तो तू अपनेमें अपने चैतन्यप्राणको ही देख, वही तेरे टिकनेका कारण है; इसके अतिरिक्त बाह्यके किसी भी कारणको न ढूँढ़ ! आत्मद्रव्यको कारणभूत मात्र चैतन्यभावप्राण है—ऐसा कहकर आचार्यदेवने अन्य सब

कारणोंको निकाल दिया है। यदि कारण कहना ही हो तो चैतन्यप्राणोंको धारण करनेवाली यह जीवत्वशक्ति ही तेरे आत्मद्रव्यका कारण है। 'आत्मद्रव्य' कहनेसे यहाँ द्रव्य–गुण–पर्याय तीनों समझना। आत्माके द्रव्यका जीवन, गुणका जीवन और पर्यायका जीवन,—उनमें यह जीवत्वशक्ति ही निमित्त है।

—जीवत्वशक्तिको 'निमित्त' क्यों कहा ?—क्योंकि अनन्त गुणका पिण्ड आत्मा है, उसमें भेद करके एक गुणको दूसरे गुणका कारण कहना वह व्यवहार है; इसलिये यहाँ जीवत्वशक्तिको निमित्त कहा है; उपादानरूपसे तो द्रव्यके प्रत्येक गुण–पर्याय अपनी स्वतंत्र शक्तिसे अपने अपने स्वरूपसे टिके हैं।

जीवत्वशक्ति अनादि-अनंत है, वह द्रव्य–गुण–पर्याय तीनोंको बना रखती है। 'साठे बुद्धि नाठी' (साठ वर्षकी उम्र होनेसे बुद्धि कम हो जाती है)—ऐसा कहा जाता है वह सब तो लोगोंकी बनावटी बातें हैं। आत्माके जीवनको कभी वृद्धता आती ही नहीं; अमुक काल बीतनेके पश्चात् आत्माकी पर्याय शिथिल हो जाये—ऐसा कदापि नहीं हो सकता। केवलज्ञान होनेके पश्चात्, साठ तो क्या किन्तु अनंतकाल तक ज्यों की त्यों अवस्था होती रहती है; तथापि वह कभी किंचित्मात्र शिथिल नहीं होता। आयुकी गिनती की जाती है वह तो देहकी आयु है, आत्माके आयुष्यकी मर्यादा नहीं है, आत्मा तो अनादिअनंत है। सिद्धभगवानमें भी जीवत्वशक्ति है; उस शक्तिका आकार आत्माके प्रदेशानुसार है, और पूर्ण द्रव्यमें, पूरे गुणोंमें तथा समस्त पर्यायोंमें वह व्याप्त होती है; इसलिये जीवत्वशक्तिको लक्षमें लेते हुए परमार्थसे सम्पूर्ण आत्मा ही लक्षमें आजाता है।

वैद्य या ज्योतिषीके पास आयु पूर्ण होनेकी बात सुनकर अज्ञानीको महान दुःख होता है; परन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि—भाई ! तेरा जीवन तो अंतरमें है, इस देहमें तेरा जीवन नहीं है। अपनी जीवत्वशक्तिसे तेरा जीवन त्रिकाल है, उसे अंतरमें देख तो

तुझे मृत्युका भय दूर हो जायेगा ! 'मैं तो अपनी जीवत्त्वशक्तिसे जीता ही हूँ, मेरी मृत्यु होती ही नहीं'—ऐसा जान लिया, फिर मृत्युका भय कैसे रहेगा ? आत्मामें यह जीवत्त्वशक्ति एकमेक है, इसलिये ज्ञानमात्र आत्मस्वभावको लक्षमें लेनेसे इस शक्तिकी प्रतीति भी आ ही जाती है। यदि एक जीवत्त्वशक्तिको निकाल दिया जाये तो आत्मद्रव्य ही नहीं टिक सकता, इसलिये इस जीवत्त्वशक्तिको आत्मद्रव्यके कारणभूत कहा है। चैतन्यप्राणसे त्रिकालस्थायी रहनेवाले आत्मद्रव्यके सन्मुख देखनेसे धर्म होता है।

यह शक्तियाँ किसकी हैं ?—ज्ञानमात्र आत्माकी यह शक्तियाँ हैं। यहाँ मात्र एक शक्तिको पृथक् नहीं बतलाना है परंतु ऐसी अनंत शक्तियाँ आत्मामें एकसाथ उछल रही हैं—ऐसा बतलाना है, इसलिये अनंत शक्तियों वाले आत्मा पर दृष्टि करना वह तात्पर्य है।

जिसप्रकार ज्ञानको लक्षण कहा वहाँ मात्र ज्ञानगुणको आत्मासे पृथक् करके नहीं बतलाना है, परंतु ज्ञानलक्षण द्वारा अखण्ड आत्माको ही बतलाना है; उसीप्रकार यहाँ ज्ञानमात्र भावमें आ जानेवाली शक्तियोंका वर्णन है; इसलिये इन शक्तियोंमेंसे एक–एक शक्तिको भेद करके लक्षमें लें तो शुद्ध परिणमन नहीं होता परन्तु अनंत शक्तिके पिण्ड शक्तिमान ऐसे अभेद आत्माको लक्षमें लेकर परिणमित होनेसे एकसाथ अनंत शक्तियोंका निर्मल परिणमन प्रारम्भ हो जाता है।

अखण्ड चैतन्यके आश्रयपूर्वक इन त्रिकाली शक्तियोंको जाननेसे पर्यायमें भी उनका अंश प्रगट होता है; इसप्रकार वर्तमान परिणमन सहितकी यह बात है। त्रिकाल शक्तियोंके पिण्डको स्वीकार करे और पर्यायमें उनका बिलकुल परिणमन प्रगट न हो—ऐसा नहीं हो सकता। शक्तिके साथ व्यक्तिकी संधि है। त्रिकाली शक्तिको स्वीकार करनेसे उसकी व्यक्तिकी भी प्रतीति हो जाती है अर्थात् साधक दशाका निर्मल परिणमन प्रारम्भ हो जाता है।

इन शक्तियोंकी यथार्थ स्वीकृति किसके सन्मुख देखकर होती है ?

(१) परमें तो इन शक्तियोंका बिलकुल अभाव है, इसलिये परसन्मुख देखकर इन शक्तियोंकी यथार्थ स्वीकृति नहीं होती;

(२) विकार एक समयपर्यंतकी पर्यायमें है, उसके आश्रयसे भी यह त्रिकाली शक्ति नहीं टिकी है, इसलिये उस विकार सन्मुख देखकर इन शक्तियोंकी यथार्थ स्वीकृति नहीं होती।

(३) निर्मल पर्याय भी एक समयपर्यंतकी है, उसके आश्रयसे भी यह त्रिकाली शक्ति नहीं टिकी है, इसलिये उस पर्यायके सन्मुख देखकर इन शक्तियोंकी स्वीकृति नहीं होती।

(४) आत्मा अनंत शक्तिका पिण्ड है; उसके आश्रयसे प्रत्येक शक्ति टिकी है; अनंत शक्तियोंके पिण्ड आत्मामेंसे एक शक्तिका भेद करके उसके सन्मुख देखनेसे भी भेदका विकल्प उठता है इसलिये एक-एक शक्तिके भेदके सन्मुख देखकर भी इन शक्तियोंकी यथार्थ स्वीकृति नहीं होती।

(५) अनंत गुणोंका पिण्ड अभेद चैतन्यमूर्ति आत्मा है, उसके सन्मुख देखकर ही अनंत शक्तियोंकी यथार्थ स्वीकृति होती है, और अभेद आत्माके आश्रयसे अनंत शक्तियोंकी निर्मल पर्याय प्रगट हो जाती है।

आत्माकी अनंत शक्तियोंमेंसे कोई भी शक्ति निमित्तके, विकारके, पर्यायके या भेदके आश्रित नहीं है; प्रत्येक शक्ति अभेद आत्माके ही आश्रित है; इसलिये अभेद आत्माकी दृष्टिपूर्वक ही इन शक्तियोंका यथार्थ ज्ञान होता है। अभेद आत्माकी दृष्टिके बिना किसी भी भेद–पर्याय–विकार या निमित्तके आश्रयसे लाभ माने तो मिथ्यात्व होता है; उसके इन शक्तियोंका निर्मल परिणमन नहीं होता।

यह सूक्ष्म बात है इसलिये हमारी समझमें नहीं आयेगी— ऐसा नहीं मान लेना चाहिये। आत्मा सूक्ष्म है इसलिये उसकी बात भी सूक्ष्म ही होती है; और सूक्ष्मसे सूक्ष्म बातको समझनेकी शक्ति भी

आत्मामें ही है। भाई! तू सूक्ष्म, तेरी बात भी सूक्ष्म और तेरा ज्ञान भी सूक्ष्मको समझनेके स्वभाववाला है; इसलिये आत्माकी रुचि करके समझ! शरीरकी क्रियासे धर्म होता है—इसप्रकारकी स्थूल–मिथ्या बात तो अनादिकालसे पकड़ रखी है, परन्तु उससे कल्याण नहीं हुआ। इसलिये अब कल्याण करना हो तो सूक्ष्म आत्माको समझनेसे ही उद्धार है। जड़ पदार्थकी बात स्थूल होती है परन्तु आत्माकी बात तो सूक्ष्म ही होती है; क्योंकि आत्मामें एक सूक्ष्मत्व नामका गुण अनादि–अनंत है। सूक्ष्म गुणके कारण सारा आत्मा सूक्ष्म है; द्रव्य सूक्ष्म, उसके गुण सूक्ष्म, और उसकी पर्यायें भी सूक्ष्म। ऐसा सूक्ष्म आत्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं होता, परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञानमें उसे जाननेका सामर्थ्य है। यदि आत्मा इन्द्रियग्राह्य हो जाये तो आत्माकी कोई महिमा ही न रहे। ज्ञानको सूक्ष्म अर्थात् इन्द्रियोंसे पार करके अन्तर्मुख करे तभी आत्मा ज्ञात होता है—ऐसी आत्माके स्वभावकी महिमा है। एक बारीक मोती पिरोना हो तो वहाँ भी ध्यान रखना पड़ता है; वह मोती तो अनंत परमाणुओंका स्थूल स्कंध है; तब फिर अतीन्द्रिय ऐसे आत्माको पकड़नेके लिये उसमें बराबर ध्यान पिरोना चाहिये।

आत्मामें एकसाथ अनंत शक्तियाँ हैं; उनमेंसे यहाँ प्रथम जीवत्वशक्तिका वर्णन किया। यह सब शक्तियाँ आत्माके ज्ञानमात्र भावमें अंतःपातिनी हैं अर्थात् आत्माका लक्ष करनेसे ज्ञानमात्रभावका परिणमन हुआ उसमें यह शक्तियाँ उछलती हैं...प्रगट होती हैं...व्यक्त होती हैं...परिणमित होती हैं। परन्तु ज्ञानभावके साथ कहीं राग या शरीर नहीं उछलते, उनका तो ज्ञानमें अभाव है। जिसप्रकार गुलाबके फूलकी कली खिलनेसे उसके साथ उसका गुलाबी रंग, सुगंध आदि तो साथ ही विकसित होते हैं, परन्तु कहीं धूल आदि विकसित नहीं होते; उसीप्रकार चैतन्यस्वभावमें लक्ष करनेसे ज्ञानमात्रभावका जो परिणमन हुआ उसके साथ यह जीवत्व आदि शक्तियाँ तो उछलती हैं—शुद्धतारूप परिणमित होती हैं, परन्तु उस ज्ञानके परिणमनके साथ कहीं रागादिभाव नहीं उछलते; उनका तो अभाव होता जाता है।

'रागादिका अभाव होता है'—वह भी व्यवहारसे है; वास्तवमें तो ज्ञानमात्र आत्मस्वभावमें रागादि हैं ही नहीं, तब फिर उनका अभाव होना भी कहाँ रहा ? राग था और दूर हो गया—यह बात पर्यायअपेक्षासे है; यहाँ पर्याय पर जोर नहीं है, यहाँ तो स्वभावकी अस्ति पर ही जोर है ।

चैतन्यप्राणको धारण करनेवाली जीवत्वशक्ति आत्माको अनादिअनंतकाल तक टिका रखती है; यह शक्ति तो आत्मामें अनादि-अनंत है, परन्तु जिसे आत्माका भान हुआ उसके ज्ञानमात्र भावमें यह शक्ति उछली—ऐसा कहा है । पहले भी यह शक्ति थी तो अवश्य, परन्तु उसका भान नहीं था । जिसप्रकार मेरु पर्वतके नीचे सोना है; लेकिन वह किस काम का ? उसीप्रकार आत्मामें केवलज्ञानशक्ति है, जीवत्वशक्ति है, परन्तु उसके भान बिना वह किस काम की ? अनन्त शक्तिवाले आत्माको पहिचान कर उसके आश्रयसे परिणमित हो तो समस्त शक्तियाँ निर्मल स्वरूपसे उछलें, अर्थात् साधकदशा प्रगट होकर अल्पकालमें मुक्ति हो !

—इसप्रकार यहाँ प्रथम जीवत्वशक्तिका वर्णन पूर्ण हुआ ।

[२]

चितिशक्ति

पहली शक्तिमें आत्माका जीवन बताये बाद अब दूसरी शक्तिमें वह जीवन कैसा है—यह बात आचार्यदेव दर्शाते हैं। आत्माका जीवन चैतन्यस्वरूप है...जड़में आत्माका जीवन नहीं है, विकारमें भी आत्माका सच्चा जीवन नहीं है... आत्माका जीवन तो चैतन्यमें ही है। चैतन्यके साथ आनंद भी अविनाभावी है। आत्माके चैतन्यजीवनको जो जानता है उसे आनन्दमय जीवन प्रगट होता है।

चितिशक्ति अजड़त्वस्वरूप है; अजड़त्व अर्थात् चेतनत्व वह चितिशक्तिका स्वरूप है।—ऐसी चितिशक्ति आत्माके ज्ञानमात्रभावमें उछलती है।

पुद्गल जड़स्वरूप है और आत्मा अजड़त्वस्वरूप है; जिसप्रकार जड़स्वरूप पुद्गलमें किंचित्मात्र चेतनत्व नहीं है, उसीप्रकार अजड़त्वस्वरूप आत्मामें किंचित् भी अचेतनत्व नहीं है। राग भी परमार्थतः आत्माका स्वरूप नहीं है। आत्मामें परिपूर्ण चेतनता है, उसमें रागका या जड़का अभाव है।—ऐसी आत्माकी चितिशक्ति है।

यह चितिशक्ति आत्माके द्रव्य–गुण–पर्याय तीनोंमें व्याप्त है; इसलिये आत्माके द्रव्य–गुण–पर्याय तीनों चेतनरूप हैं, उसमें जड़ता नहीं है। जड़के द्रव्य–गुण–पर्याय तीनों जड़रूप हैं, उसमें चेतनता नहीं है। आत्मामें जड़ता बिलकुल नहीं है ऐसा कहनेसे जड़के लक्षसे उत्पन्न हुए भाव भी आत्माके स्वरूपमें नहीं हैं—यह बात उसमें आजाती है। चैतन्यमूर्ति आत्माके द्रव्य–गुण या पर्याय–किसीका ऐसा स्वरूप नहीं है कि रागमें अटकें। जो रागमें अटके उसे आत्माकी पर्याय नहीं माना है। चैतन्योन्मुख होकर अभेद हो वही आत्माकी पर्याय है, रागमें अटके वह चैतन्यकी पर्याय ही नहीं है।

यह तो अंतरकी दृष्टिकी बात है। जहाँ अन्तर स्वभावमें दृष्टि हुई वहाँ धर्मी जीव रागमें अटकता ही नहीं; रागको वह अपना स्वरूप मानता ही नहीं; उसकी दृष्टि तो अखण्ड चैतन्यबिम्ब आत्माको ही स्वीकार करती है। आत्माकी चैतन्यशक्ति है, वह रागमें अटके ऐसा उसका स्वभाव नहीं है।

प्रथम आत्माकी जीवत्वशक्ति बतलाई; उससे आत्मा अनादि-अनंत जीता है। यदि उस जीवत्वके साथ यह चैतन्यशक्ति न हो तो आत्मा जड़ हो जाये; इसलिये इस चितिशक्तिका पृथक् वर्णन किया है। चितिशक्तिके द्वारा ही आत्माका जीवत्व ज्ञात होता है। आत्मा चितिशक्तिके कारण सदैव जागृतस्वरूप है। पुद्गलमें तो जीवत्व भी नहीं है और चैतन्यता भी नहीं है; आत्मामें जीवत्व है और वह जीवत्व चैतन्यमय है। जीवत्वशक्तिका लक्षण चितिशक्ति है; आत्माका जीवत्व कैसा है ?—चितिशक्तिमय है।—इसप्रकार चितिशक्तिसे जीवत्व जाना जाता है और जीवत्वसे सम्पूर्ण द्रव्य लक्षमें आता है। समस्त शक्तियोंके पिण्डरूप द्रव्यको पहिचाननेका लक्षण 'ज्ञान' है, उस ज्ञानमात्रभावमें यह समस्त शक्तियाँ साथ ही परिणमित होती हैं।

आत्मद्रव्यमें अनंत शक्तियाँ हैं। यदि एक ही शक्ति हो, तब तो वह शक्ति स्वयं ही द्रव्य हो जाये, इसलिये शक्तिका अभाव हो, और शक्तिका अभाव होनेसे द्रव्यका भी अभाव हो जाये। अनंतशक्तिके स्वीकार बिना द्रव्यका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता।

आत्माकी चितिशक्ति द्रव्य–गुण–पर्याय तीनोंमें है, अर्थात् द्रव्य–गुण और पर्याय तीनों चैतन्यस्वरूप हैं। चितिशक्तिके बिना 'जीवनशक्ति जीवकी है'—ऐसा कैसे जाना जासकता है ? यदि आत्मामें चितिशक्ति न हो तो आत्मा जड़ हो जाये और जीवनशक्ति भी जड़की हो जाये। इसलिये आत्माको ज्ञानमात्र कहनेसे ऐसी चितिशक्ति भी साथ ही आजाती है।

अनंतशक्ति बतलाकर यहाँ आत्माकी महिमा बतलाई है। चैतन्यमूर्ति जागृतज्योति आत्माके सन्मुख देखनेके लिये इन शक्तियोंका वर्णन है। जिसप्रकार लड़कीको दिया हुआ दहेज लोगोंको बतलानेके लिये खोल कर रखते हैं, वहाँ वास्तवमें तो लड़कीकी जाहिरात होती है कि 'यह दहेज इस लड़की का है।' परन्तु यदि वह लड़की ही मर गई हो तो दहेज किसका ? उसीप्रकार यहाँ जो शक्तियोंका वर्णन है वह सब जीवका दहेज है, जीवकी रिद्धि है, वह जीवकी जाहिरात करता है। इन शक्तियों द्वारा यदि इन्हें धारण करनेवाले जीवको न पहिचाने और उसे जड़ ऋद्धिवाला या रागवाला ही माने तो उस जीवने चैतन्यमय जीवको मरा हुआ माना है, अर्थात् उसे शुद्ध अनंत-शक्तिसम्पन्न जीवकी श्रद्धा नहीं है। जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति आदि शक्तियाँ हैं वे तो जीते–जागते जीवकी जाहिरात करती हैं। जीवके बिना शक्तियाँ किसकी ? शुद्ध जीवकी प्रतीति के बिना इन शक्तियोंकी पहिचान नहीं होती।

पहले जीवत्वशक्तिमें कहे थे उन पाँच बोलोंको यहाँ भी लागू करना कि यह चितिशक्ति किसी परके, विकारके, पर्यायके या एक-एक शक्तिके आश्रित नहीं है, इसलिये उन किसीके समक्ष देखनेसे इस शक्तिकी यथार्थ स्वीकृति नहीं होती, परन्तु अनंत धर्मोंके पिण्डरूप आत्माके आश्रयसे ही यह शक्ति टिकी है इसलिये उसके समक्ष देखकर ही इस शक्तिकी यथार्थ स्वीकृति हो सकती है।

अनंतानंत शक्तियोंके पिण्डरूप चैतन्यतत्त्व है; वह किसी

निमित्तसे या रागसे नहीं जाना जाता परन्तु चैतन्यप्रकाशसे जाना जाता है। राग तो अंध है, उसमें चितिशक्ति नहीं है; आत्मा अपनी चितिशक्ति द्वारा सदैव जागृत—स्व-पर प्रकाशक है।

देखो, आत्माकी अनंतशक्तियोंमें कहीं भी बाह्यक्रिया या व्यवहारका शुभराग नहीं आता; आत्माकी अनंतशक्तियोंमें उनकी तो कोई गणना ही नहीं करते। अज्ञानी कहते हैं कि—'देखो, हमारी क्रिया! देखो, हमारा व्यवहार!—यह करते करते कितना धर्म होता है!' ज्ञानी उनके व्यवहारका उपहास करते हैं कि अरे, चल रे चल! देखी तेरी क्रिया, और देखा तेरा व्यवहार! आत्माके स्वरूपमें उनका अस्तित्व ही कौन मानता है? तेरी मानी हुई शरीरकी क्रिया तो जड़ है, उसका आत्मामें नितान्त अभाव है और क्षणिक रागरूप व्यवहारकी वृत्ति भी चैतन्यका स्वभाव नहीं है; इसप्रकार तेरी मानी हुई क्रियाका और व्यवहारका अस्तित्व ही आत्मस्वभावमें नहीं है; तब फिर उससे आत्माका धर्म होनेकी बात ही कहाँ रही?

यहाँ तो आत्मामें त्रिकाल रहनेवाली आत्माकी शक्तियोंका वर्णन है; उसमें एक-एक शक्तिके समक्ष देखनेसे भी धर्म नहीं होता, तब फिर शरीरकी क्रियासे या रागसे धर्म हो यह बात कैसी? समस्त शक्तियाँ आत्माके आश्रित विद्यमान हैं, उस आत्माके आश्रयसे ही धर्म होता है।

यह जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति आदि समस्त शक्तियाँ आत्मामें भावस्वरूप हैं; इन समस्त शक्तियोंका एकरूप पिण्ड सो आत्मद्रव्य है। चितिशक्ति चेतनद्रव्यको बतलानेवाली है, परन्तु रागादि करनेवाली नहीं है। रागमें चेतनता नहीं है, इसलिये चितिशक्ति तो आत्मामें रागका अभाव बतलाती है। आत्मा अजड़त्वस्वरूप अर्थात् परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप है—ऐसा कहा उसमें परका, विकारका और अल्पज्ञताका आत्माके स्वभावमेंसे निषेध हो ही गया।—आत्माकी अनंत शक्तियोंमें ऐसी एक चितिशक्ति है। आत्माको पहिचानकर उसके आश्रयसे ज्ञान-

मात्रभावका परिणमन होने पर यह शक्ति भी उसमें साथ ही परिणमित होती है। अखण्ड आत्माके आश्रयसे उसकी समस्त शक्तियाँ एकसाथ ही परिणमित होती हैं। उनमेंसे दूसरी चितिशक्तिका वर्णन पूरा हुआ।

अर्धश्लोकमें मुक्तिका उपदेश

चिद्रूपः केवलः शुद्ध आनंदात्मेत्यहं स्मरे।
मुक्त्यै सर्वज्ञोपदेशः श्लोकार्द्धेन निरूपितः॥ २२॥

'मैं चिद्रूप, केवल, शुद्ध, आनन्दस्वरूप हूँ'—ऐसा स्मरण करता हूँ; सर्वज्ञका यह मुक्तिका उपदेश अर्धश्लोकसे निरूपित है।

—तत्वज्ञान तरंगिणी

* * *

श्री दि० जैन सरस्वती भंडार
क्र.............
दि.............
डोंगरगढ़ (ज. दु.,

[३]

दृशिशक्ति

आत्माका जीवन चैतन्यमय है, ऐसा दोनों शक्तियों में बताया। अब वह चैतन्य दर्शन और ज्ञानरूप है, इससे आचार्यदेव तीसरी और चौथी शक्तिमें आत्माका दर्शन और ज्ञान ऐसे दो चैतन्यचक्षुका वर्णन करते हैं। इस बातको जो समझेगा उसके ज्ञानचक्षु खुल जायेंगे और वे चैतन्यनिधानको निहारेंगे ऐसी यह अद्भुत बात है।

वीर सं० २४७५ : कार्तिक सुदी ५

ज्ञानमात्र आत्मस्वभावकी दृष्टि करनेसे आत्माकी अनंत शक्तियोंका निर्मल परिणमन अभेदरूपसे होता है, उसका यह वर्णन है। अनंतशक्तियोंमेंसे यहाँ कुछ शक्तियोंका वर्णन किया जा रहा है, उसमें मात्र द्रव्यस्वभावका ही वर्णन है। यही चैतन्यकी अविनाशी लक्ष्मी है। आत्मामें समस्त शक्तियोंका एकसाथ ही परिणमन होता है; परन्तु अनेक शक्तियाँ समझानेके लिये यहाँ उनका पृथक्-पृथक् वर्णन किया है। रागादि भाव तो आत्माके त्रिकालीस्वरूपमें हैं ही नहीं; आत्मामें अधिक से अधिक माना जाये तो ऐसे अनंतगुणोंका गुणभेद

है; परन्तु अभेद आत्माकी दृष्टिके बिना मात्र गुणभेदके लक्षसे भी आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता।

आत्मा ज्ञानमूर्ति है, उसके स्वभावमें शरीर नहीं है, कर्म नहीं हैं, और रागादि विकार भी नहीं है। पर्यायमें विकार होता है उसे गौण करके, जो अकेला ज्ञानमात्र द्रव्यस्वभाव है उसकी दृष्टिसे परिणमित होने पर निर्मल ज्ञानादि अनंतगुण एक साथ उछलते हैं, वह आत्मा है। आत्माके स्वभावमें क्या क्या है उसकी यह बात है; आत्मा क्या-क्या नहीं है उसकी बात इस समय नहीं है; आत्मामें देहादिकी क्रिया नहीं है, राग नहीं है—उसका इस समय वर्णन नहीं है; परन्तु आत्मामें अनंतशक्तियाँ अस्तिरूप हैं उनका यह वर्णन है। अनंतशक्तिरूप स्वभावकी अस्ति कहनेसे उससे विरुद्ध ऐसे रागादि भावोंकी नास्ति उसमें आ ही जाती है।

सर्वप्रथम तो चैतन्यमात्रभावको धारणकरनेवाली जीवत्वशक्तिका वर्णन किया; वह जीवत्वशक्ति जीवद्रव्यको बनाए रखनेका कारण है। यहाँ तो भेदसे वर्णन करके समझाया है, वास्तवमें कहीं जीवत्वशक्ति और जीवद्रव्य पृथक् नहीं हैं। द्रव्य कहीं जीवत्वशक्तिसे पृथक् नहीं है कि जीवत्वशक्ति उसे बनाए रखे। आत्मद्रव्यका स्वभाव ही चैतन्यरूपसे अनादि-अनंत स्थित रहनेका है; उसका यहाँ जीवत्वशक्तिरूपसे वर्णन किया है। तत्पश्चात् 'चितिशक्ति का वर्णन करके आत्माका चैतन्यस्वभाव बतलाया है। आत्माके ज्ञानचक्षु खुलजाय और वह चैतन्यनिधानका अवलोकनकरे—ऐसी अद्भुत बात है।

देखो भाई! प्रत्येक आत्माका स्वरूप जैसा यहाँ कहा जा रहा है वैसा ही है। प्रत्येक आत्मा अपनी अनंतशक्तिका स्वामी परमेश्वर है; परन्तु देहकी ओर दृष्टि करके वहीं अपनत्व मानकर अपनी प्रभुताको भूल रहा है। उसे यहाँ आत्माकी प्रभुता बतलाते हैं। अरे जीव! तू पामर नहीं है परन्तु अनंतशक्तिमान परमेश्वर है। इस समय भी आत्मा स्वयं अनंतशक्तिसे परिपूर्ण प्रभु है, परन्तु श्रद्धा

और ज्ञानरूपी आँखों पर पट्टी बांध रखी है इसलिये स्वयं अपनी प्रभुताको नहीं देखता।

अनन्तशक्तिका पिण्ड चैतन्यमूर्ति आत्मा है; उसमें शरीर-मन-वाणी या कर्म तो तीन कालमें कभी रहे ही नहीं हैं; पर्यायमें एक समय पर्यंतका विकार अनादिकालसे रहा है, परन्तु वह विकार कभी आत्माके स्वभावरूप नहीं हो गया है, क्षणिक विकारके समय भी नित्यस्थायी स्वभावका अभाव नहीं होगया है। स्वभाव तो त्रिकाल अनंतशक्तिका पिण्ड ज्यों का त्यों है। उस त्रिकाली स्वभावकी प्रतीति करनेसे परिणमनमें स्वरूपका लाभ होता है। द्रव्य–गुण तो त्रिकाल ज्यों के त्यों हैं ही, परन्तु उनका स्वीकार करते ही पर्यायमें उसका लाभ होता है अर्थात् निर्मल परिणमन होता है। उस परिणमनमें अनंतीशक्तियाँ एक-साथ परिणमित होती हैं उसका यह वर्णन चलता है। जीवत्वशक्ति और चितिशक्तिका वर्णन किया; अब तीसरी दृशिशक्तिका वर्णन करते हैं:—

दृशिशक्ति अनाकार उपयोगमयी है। आत्मा स्वयं ही अनंत धर्मोंके समुदायरूप परिणत एक ज्ञप्तिमात्र भावरूप होनेसे वह ज्ञानमात्र है; उस ज्ञानमात्र भावके भीतर ऐसी दृशिशक्ति भी साथ ही है। ज्ञानमात्र भावमें एक समयमें अनंतशक्तियाँ एकसाथ ही हैं, आगे–पीछे नहीं हैं।

यह दृशिशक्ति अनाकार उपयोगमय है इसलिये उसमें पदार्थों के विशेष भेद नहीं पड़ते; विशेष भेद किये बिना पदार्थोंकी सामान्य सत्ताको ही दर्शनउपयोग देखता है। ऐसी दर्शनक्रियारूप आत्माकी शक्ति है उसका नाम दृशिशक्ति है।

'यह जीव है, यह अजीव है' ऐसे भेद डालकर लक्षमें लिया वह तो ज्ञान है; स्व-पर, जीव-अजीव, सिद्ध-निगोद ऐसे भेदोंको लक्षमें न लेकर सामान्यरूपसे 'सब सत् है'—इसप्रकार सत्तामात्रको देखना सो दर्शन है।

आत्मा और समस्त पदार्थ सामान्यरूपसे ध्रुवरूप रहते हैं

और विशेष अंशरूपसे बदलते हैं। उसमें सामान्य-विशेषके भेद न डालकर दर्शन समस्त पदार्थोंको सत्तामात्र देखता है। यहाँ 'आकार' का अर्थ विशेष अथवा भेद है। पदार्थोंके विशेष अथवा भेदोंको लक्षमें न लेकर, उनकी सामान्य सत्तामात्रका अवलोकन करता है इसलिये दर्शन–उपयोग अनाकार है। 'यह अनाकार उपयोग है'—ऐसा जिसने लक्षमें लिया वह तो ज्ञान है। स्व और पर, सामान्य और विशेष–सब सत् है; उस सत् मात्रको दर्शन-उपयोग देखता है। 'सब सत् है' इसलिये 'सत्' अपेक्षासे पदार्थोंमें जीव–अजीव इत्यादि भेद नहीं पड़ते। इसका अर्थ ऐसा नहीं समझना कि दर्शनउपयोग जीव–अजीव सबको एकमेकरूप देखता है। पदार्थोंकी जैसी भिन्न-भिन्न सत्ता है वैसी ही दर्शनउपयोग देखता है; परन्तु वह सत्तामात्र ही देखता है अर्थात् 'यह सत् है' इतना ही वह लक्षमें लेता है। सत्में 'यह जीव है और यह अजीव है, यह हेय है और यह उपादेय है'—ऐसे विशेष-भेद करके जानना ज्ञानका कार्य है। दर्शनको, ज्ञानको, आनंदको, समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायको और तीन लोकके समस्त पदार्थोंको दर्शनशक्ति विकल्प बिना देखती है; परन्तु उसमें 'यह जीव है, यह ज्ञान है'—ऐसे कोई भेद वह नहीं डालती। 'यह जीव है, यह अजीव है, यह स्व है, यह पर है'—इसप्रकार समस्त पदार्थोंको ज्ञान भिन्न-भिन्नरूपसे रागके बिना जानता है। छद्मस्थको ज्ञानसे पूर्व दर्शन-उपयोग होता है, और सर्वज्ञको ज्ञानके साथ ही दर्शनउपयोग होता है। छद्मस्थको भी ज्ञान और दर्शन दोनोंका परिणमन तो एकसाथ ही है, परिणमनमें कहीं ऐसा क्रम नहीं है कि पहले दर्शनशक्ति परिणमित हो और पश्चात् ज्ञानशक्ति परिणमित हो। शक्तियाँ तो सब एकसाथ ही परिणमित होती हैं, मात्र उपयोगरूप व्यापारमें क्रम पड़ता है।

अनाकार उपयोगरूप दृशिशक्तिका परिणमन भी ज्ञानके साथ ही है। छद्मस्थको भी ज्ञान और दर्शनके परिणमनमें क्रम नहीं है। ज्ञानके साथ ही दर्शनशक्ति भी साथमें परिणमित होती ही है। समस्त

शक्तियाँ एकसाथ ही परिणमित होती हैं—ऐसा यहाँ बतलाना है। आत्मस्वभावके लक्षसे जो ज्ञानमात्र भाव परिणमित हुआ उस ज्ञानमात्र भावमें रागादि विकार नहीं उछलते परन्तु दर्शनादि अनन्तशक्तियाँ उछलती हैं। केवली भगवानको पहले दर्शन और फिर ज्ञान होता है—यह मान्यता तो मिथ्या है; परन्तु छद्मस्थको भी पहले दर्शन परिणमित होता है और फिर ज्ञान परिणमित होता है—यह बात निकाल दी है। ज्ञानमात्र भावमें आत्माकी समस्त शक्तियाँ एकसाथ उछल रही हैं इसलिये ज्ञान और दर्शनके परिणमनमें समयभेद नहीं है।

अहो! आचार्यदेवने निमित्तकी या विकारकी बात तो निकाल दी है, और भीतरके गुणगुणी भेदके विकल्पको भी निकाल कर अनंतशक्तिसे अभेद द्रव्यका लक्ष कराया है। किसी निमित्तके या विकारके आश्रयसे तो आत्माके ज्ञान-दर्शनादि विकसित नहीं होते, और भीतर गुण-गुणी भेदके विकल्पके आश्रयसे भी ज्ञान–दर्शनादि विकसित नहीं होते; अभेद आत्माके आश्रयसे ही समस्त शक्तियोंका परिणमन विकसित हो जाता है।

भगवान आत्मा प्रति समय अपनी अनंत ऋद्धिको साथ रखकर परिणमित हो रहा है; परन्तु स्वयं अपनी ऋद्धिकी महिमा भूलकर परकी महिमामें मोहित हो गया है। उसे आचार्यभगवान चैतन्य ऋद्धि बतलाते हैं कि अरे जीव! तेरी अनंत ऋद्धि तुझमें ही भरी है, इसलिये अपनी ऋद्धिको तू बाह्यमें मत देख। यदि अपने आत्माके सन्मुख देखे तो तुझे अपनी अपार ऋद्धि दिखलाई दे। बाह्य जड़ पदार्थोंमें तेरे आत्माकी ऋद्धि नहीं है, इसलिये बाह्यमें तो मत देख, और अपनेमें भी अनंतीशक्तिके भेद करके न देख; क्योंकि तेरा आत्मा समस्त शक्तियोंसे अभेदरूप है, उसमेंसे एक शक्ति पृथक् नहीं होती। एक शक्तिको पृथक् करके लक्षमें लेनेसे रागकी उत्पत्ति होती है, परन्तु कहीं वस्तुमें से वह शक्ति पृथक् नहीं होती। इसलिये अनंतशक्तिसे अभेदरूप आत्माको लक्षमें लेनेसे अपनी

अनंत ऋद्धि प्रतीतिमें आ जाती है; उसकी प्रतीति होनेसे परकी महिमा दूर हो जाती है; इसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शनरूपी अपूर्व धर्म है।

आत्माकी एक शक्तिमें दूसरी अनंतशक्तियाँ भी अभेद हैं। उसमें एक दर्शनशक्ति है, वह अनाकार उपयोगमयी है। 'समस्त पदार्थ हैं,'—इसप्रकार सबको सामान्यरूपसे देखनेकी दर्शनकी शक्ति है; परन्तु उनमेंसे किसीको आगे–पीछे करनेकी शक्ति उसमें नहीं है। दर्शन समस्त पदार्थोंको सामान्यरूपसे देखता है उसमें आत्मा स्वयं भी साथ ही है; परन्तु 'यह मैं, और यह पर'—ऐसे भेद दर्शन नहीं करता।

जगतके समस्त पदार्थ सत् रूप हैं; जगतमें एक जीव ही सत् है और दूसरा सब भ्रम है—ऐसा नहीं है; जीव भी सत् है और अजीव भी सत् है। समस्त पदार्थ सत् हैं; इसलिये 'है–पने' में (अस्तित्वपनेमें) सबका सामान्यपना आ जाता है; और उन सबकी सामान्य सत्ता को देखे ऐसा एक उपयोग आत्मामें है; उसका नाम दर्शनउपयोग है।

यह दर्शनउपयोग सूक्ष्म है; छद्मस्थ उसे पकड़ नहीं सकता किन्तु जान सकता है। जो सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन कहलाते हैं वे इस दर्शनउपयोगके भेद नहीं हैं, वे तो श्रद्धाकी पर्यायके प्रकार हैं। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' कहा है उसमें इस दर्शनउपयोगकी बात नहीं है परन्तु सम्यक्श्रद्धाकी बात है। दर्शनउपयोग तो अज्ञानीके भी होता है, वह कहीं मुक्तिका कारण नहीं है। मोक्षका कारण तो शुद्ध आत्माकी श्रद्धा–ज्ञान–रमणतारूप शुद्धोपयोग है। यहाँ तो अनंतशक्तिवाले आत्माकी पहिचान करानेके लिये उसकी दर्शनशक्तिका खूब वर्णन किया है।

जगतमें सब सत् है उसे सामान्यरूपसे दर्शन देखता है; और जगतमें सब सत् होने पर भी उसमें एक जीव और दूसरा अजीव, एक

सिद्ध और दूसरा निगोद, एक ज्ञानी और दूसरा अज्ञानी—ऐसी पृथक्-पृथक् विशेष सत्ता है, उसे जाननेवाला ज्ञानउपयोग है। दर्शन और ज्ञान दोनों शक्तियाँ आत्मामें अनादि-अनंत हैं।

सामान्य सत्तारूपसे सब सत् है। द्रव्य सत् है, गुण सत् है और पर्यायें भी सत् हैं। और विशेषरूपसे उसमें द्रव्यके जीव और अजीव ऐसे दो भेद हैं, जीवके गुणोंमें श्रद्धा-ज्ञान-आनंदादि भेद हैं; पर्यायमें विकारी और निर्मल—ऐसे भेद हैं; क्षेत्रसे भी असंख्य प्रदेशोंका भेद है और कालसे भी भूत–वर्तमान–भावी इत्यादिरूपसे भेद हैं। उनमें विशेष भेदोंको लक्षमें न लेकर सामान्य सत्तामात्रको देखनेवाला दर्शन है और विशेषरूपसे जाननेवाला ज्ञान है। यह दोनों शक्तियाँ आत्मामें एकसाथ अनादि-अनंत हैं। उनमें दर्शनशक्तिमें सर्वदर्शीपना प्रगट होनेकी शक्ति भरी है, और ज्ञानशक्तिमें सर्वज्ञता प्रगट होनेकी शक्ति भरी है। इस शक्तिकी प्रतीति करनेसे व्यक्तिकी प्रतीति भी हो जाती है। इस तीसरी शक्तिमें दृशिशक्तिका वर्णन किया है, वह सामान्य शक्तिरूप है, और फिर नवमी सर्वदर्शित्वशक्तिका वर्णन करके इस शक्तिका पूरा कार्य बतलायेंगे।

धर्म कैसे होता है उसकी यह बात चल रही है। प्रथम तो धर्म कहाँ होता है? आत्माका धर्म कहीं निमित्तमें नहीं होता, देहमें नहीं होता और शुभाशुभ विकारमें भी नहीं होता; आत्माका धर्म तो आत्माकी निर्मल पर्यायमें होता है।—परन्तु वह धर्म कैसे होता है? वह धर्म कहीं बाह्यमें परसन्मुख देखनेसे नहीं होता, परन्तु अनंत धर्मवाले त्रिकाली आत्माके सन्मुख दृष्टि करनेसे ही पर्यायमें धर्म होता है। उस अनंत धर्मवाले आत्माकी शक्तियोंका यह वर्णन हो रहा है।

आत्माके परिणमनमें अनंतशक्तियाँ उछलती हैं, परन्तु जो रागादि होते हैं उन्हें यहाँ चैतन्यमूर्ति आत्माके परिणमनमें लिया ही नहीं है क्योंकि वह आत्माका स्वभाव नहीं है। आत्माकी अनंतशक्तिमें

एक दृशिशक्ति है, उसका स्वभाव 'सब है' उसे देखनेका है, परन्तु कहीं परमें अपनत्व मानकर मोह करनेका या कुछ फेरफार करनेका उसका स्वभाव नहीं है। ऐसी शक्तिवाले अपने आत्माकी प्रतीति करे तो स्वरूपकी सावधानी जागृत हो और मूर्च्छा दूर हो जाये। अनादि से एक एक समयका मोह है वह आत्माका भान करनेसे दूर हो जाता है। मैं त्रिकाली अनंतशक्तिका पिण्ड हूँ—ऐसा जहाँ स्वीकार हुआ वहाँ एक समयपर्यंतका मोह नहीं रह सकता।

एक दर्शनशक्तिकी यथार्थ प्रतीति करनेसे पूर्ण आत्माकी ही प्रतीति हो जाती है; क्योंकि दर्शनशक्तिमें समस्त सत्ताओंको देखनेका सामर्थ्य है, उसमें आत्माकी सत्ता भी आ गई। इसलिये दर्शनशक्तिकी प्रतीतिमें उसके विषयभूत पूर्ण आत्माभी प्रतीतिमें आगया। उसमें अनंतशक्तियाँ अभेदरूपसे आजाती हैं, परन्तु विशेषरूपसे समझानेके लिये गुणके लक्षणभेद से ४७ शक्तियोंका वर्णन किया है। पूर्ण आत्माकी स्वीकृतिके बिना उसकी एक शक्तिकी भी यथार्थ स्वीकृति नहीं होती। एक दर्शनशक्ति ने लोकालोकके सर्व पदार्थों को देख लिया इसलिये एक शक्ति ने सर्व शक्तियोंको स्वीकार कर लिया; इसलिये एक दर्शनशक्तिकी प्रतीति करनेसे 'अनंत गुण हैं'— ऐसी आत्मसामर्थ्यकी प्रतीति भी हो ही गई।

'यह आत्मा है और यह राग है; रागको आत्मासे पृथक् कर दूं'—ऐसे भेद दर्शनमें नहीं पड़ते; दर्शन तो द्रव्य–गुण–पर्यायके भी भेद किए बिना सत्तामात्रको ही देखता है। 'यह आत्मा है, यह राग है, यह मेरा स्वरूप नहीं है'—ऐसे भेद करके ज्ञान जानता है। दर्शनशक्तिके साथ ही ऐसी ज्ञानशक्ति भी परिणमित होती है। उस ज्ञानका कार्य स्व-परका और हेयउपादेयका विवेक करना है।

दर्शनशक्ति आत्माके अनाकार उपयोगरूप है; उसका काल अनादिअनंत है; परिणमन एक–एक समयका है। क्षेत्रसे वह असंख्यप्रदेशरूप आत्माके आकारकी है। प्रदेशत्वके निमित्तसे जैसा आत्माका

आकार है वैसा ही उसकी प्रत्येक शक्तिका आकार है।

प्रश्न—यदि दर्शनको आकार है तो उसे 'अनाकार' क्यों कहा है?

उत्तर—दर्शनको अनाकार कहा है वह तो, उसका विषय सामान्य सत्तामात्र है इस अपेक्षासे कहा है। दर्शनको स्वयंको तो लंबाई–चौड़ाईरूप आकार है, परन्तु वह दर्शन अपने विषयमें भेद नहीं डालता उस अपेक्षासे उसे 'अनाकार' कहा गया है। 'अनाकार' कहनेसे भेदका अभाव समझना, परन्तु लम्बाई–चौड़ाईरूप आकार तो दर्शनके भी है। प्रत्येक गुण आकारवाला ही है। जितना वस्तुका आकार है उतना ही उसके प्रत्येक गुणका आकार है। वस्तुके समस्त गुणोंका आकार समान ही होता है, किसी गुणका आकार छोटा–बड़ा नहीं होता। जड़–चेतन आदिका भेद करके नहीं देखता इसलिये दर्शन अनाकार है; परन्तु यदि अपने असंख्य प्रदेशोंरूप आकार उसके न हो तो उसका अस्तित्व ही कहाँ रहे? असंख्यप्रदेशरूपी चैतन्य-मंदिरमें आत्माकी अनंत शक्तियोंका वास है। एक सूक्ष्म रजकणसे लेकर सिद्ध भगवान तक किसी भी पदार्थके द्रव्य-गुण-पर्याय आकार-रहित नहीं होते; आकार भले ही छोटा या बड़ा हो। आकाररहित किसीका अस्तित्व ही नहीं होता। आत्माकी दर्शनशक्तिका क्षेत्र तो असंख्यप्रदेशी ही है, परन्तु उसमें लोकालोकको देख लेनेका सामर्थ्य है; आकार मर्यादित होनेपर भी सामर्थ्य अमर्यादित है।

आत्माके दर्शनउपयोगमें लोकालोकका समावेश हो जाये ऐसी उसकी अनादि-अनन्त शक्ति है; जो उसकी प्रतीति करे उसे उसका परिणमन होकर केवलदर्शन प्रगट होता है। यहाँ आत्माकी स्वभाव-शक्तियोंके वर्णनमें शुभको तो कहीं याद भी नहीं किया, क्योंकि उसका तो आत्माके स्वभावमें अभाव है। ऐसी शुद्धशक्तिके पिण्डरूप आत्माको प्रतीतिमें लेते ही अन्य सबकी रुचि हट जाती है, और शक्तियोंका निर्मल परिणमन हो जाता है—ऐसी यह बात है। सत्-स्वभावी भगवान आत्मा अनंतशक्तिका भण्डार स्वयंसिद्ध है; वह

द्रव्य निरपेक्ष, उसकी अनंत शक्तियाँ भी निरपेक्ष और उसका समय-समयका परिणमन भी दूसरोंसे निरपेक्ष है। रागको तो आत्माके परिणमनमें नहीं गिना है। समस्त शक्तियोंके निर्मल परिणमनसे उछलनेवाला ज्ञानमात्रभाव ही आत्मा है। ऐसे आत्माको प्रतीतिमें लेकर साधक जीव परिणमित होता है, उसके अनंत गुणोंमें पहली अवस्था बदलकर दूसरी निर्मल अवस्था एकसाथ होती है। ऐसे आत्माकी प्रतीति और बहुमानके अतिरिक्त धर्मके नामसे जो कुछ करे वह सब अरण्य-रोदनकी भाँति व्यर्थ है। जैसे, निर्जन वनमें सिंहके पंजेमें फँसा हुआ हिरन चाहे जितना आर्त्तनाद करे, परन्तु उसे कौन सुनता है?—वहाँ कोई उसे बचानेवाला नहीं है। उसीप्रकार जीव मिथ्यात्वरूपी, वनमें रहकर चाहे जितने क्रियाकाण्ड करे, तथापि उसकी पुकार आत्मा नहीं सुनेगा क्योंकि उसे आत्माकी प्रतीति नहीं है। अनंतशक्तिसम्पन्न चैतन्य भगवान मैं ही हूँ—इसप्रकार अपने आत्माकी प्रतीति करना ही धर्मकी नींव है।

अपने चैतन्यभगवानकी प्रीतिके बिना बाह्यमें तीर्थंकर भगवानके सन्मुख देखा, परन्तु भगवान तो ऐसा कहते हैं कि 'तेरा कल्याण तुझमें है इसलिये तू अपनेमें देख! तेरा आत्मा भी हमारे जैसा ही परिपूर्ण शक्तिसंपन्न है।'—परन्तु जीवको उसका विश्वास नहीं बैठा, इसलिये समवशरणमें जाकर भी जैसेका तैसा लौट आया। इसलिये यहाँ आचार्यभगवान कहते हैं कि अहो! आत्मा चैतन्य-भगवान है, उसकी अनंत शक्तिका भण्डार उसीमें भरा है, उसकी प्रतीति करो......उसकी महिमा करके उसमें अन्तर्मुख होओ! तुम्हारे कल्याणका क्षेत्र तुम्हींमें है; आत्माके गुणोंका क्षेत्र आत्मासे पृथक् नहीं होता। आत्माका निवासस्थान कहीं बाह्यमें या शुभाशुभ विकारमें नहीं है परन्तु अनंतशक्तिका पिण्ड आत्मा स्वयं ही अपना निवासस्थान है। उसका विश्वास करके उसका आश्रय करनेसे कल्याण प्रगट होता है।

[—तीसरी दृशिशक्तिका वर्णन पूरा हुआ]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Narja, Varanasi

[४]

ज्ञानशक्ति

जिसे अपने ज्ञानस्वभावकी महिमाकी प्रतीति हुई है ऐसे ज्ञानीधर्मात्माके हृदयमें तीर्थंकर निवास करते हैं...अनंत सिद्ध एवं तीर्थंकर उसके अंतरमें वास करते हैं...उसके ज्ञानमें भगवान आत्मा प्रसिद्ध हुये हैं। तीर्थंकरदेवने जो कहा है वही उसका हृदय बोलता है—और जानता है कि तीर्थंकरदेव ही उसके हृदय कमलमें बैठकर बोल रहे हों!

आत्माके ज्ञानमात्र भावमें अनंत शक्तियाँ उछलती हैं, उनका यह वर्णन चल रहा है; उसमेंसे जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति और दृशि-शक्ति—इन तीन शक्तियोंका वर्णन किया। अब चौथी ज्ञानशक्तिका वर्णन करते हैं।

आत्माकी ज्ञानशक्ति साकार उपयोगमयी है; ज्ञान पदार्थोंके विशेष आकारोंको भी जानता है इसलिये उसे साकार कहा जाता है। ज्ञानशक्तिका ऐसा महान विशेष स्वभाव है कि वह समस्त पदार्थोंको विशेषरूपसे भिन्न-भिन्न जानती है। 'यह जीव, यह अजीव, यह ज्ञान, यह दर्शन, यह सुख'—इसप्रकार ज्ञान सबको पृथक्-पृथक् जानता है। ज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी शक्तिमें ऐसा सामर्थ्य नहीं है। आत्मा

इन्द्रियोंसे या रागसे जाने—ऐसी तो यहाँ बात ही नहीं है; परन्तु परोन्मुख होकर रागसहित जाने वैसे ज्ञानकी भी यह बात नहीं है; यहाँ तो, स्वोन्मुख होकर सबकुछ रागरहित जाने—ऐसी आत्माकी ज्ञानशक्ति है, उसकी बात है।

जगतमें अनंत आत्मा हैं, प्रत्येक आत्मामें अनंत गुण हैं, प्रत्येक गुणकी अनंत पर्यायें हैं और प्रत्येक पर्यायमें अनंत अविभागप्रतिच्छेद हैं। आत्माकी एक समयकी ज्ञानपर्यायमें अनंत सिद्ध और केवली भगवंत ज्ञेयरूपसे आजायें ऐसा एक-एक पर्यायका अनंत सामर्थ्य है।

पर्यायमें जो प्रत्येक समयका ज्ञान है वह त्रिकाली ज्ञानशक्तिमेंसे परिणमित होता है। शक्तिका समुद्र भरा है उसीमेंसे पर्यायोंका प्रवाह चलता है। सादि-अनंतकाल तक केवलज्ञानकी पर्यायें प्रवाहित होती रहें तथापि ज्ञानशक्तिमें किंचित् हीनता न आये—ऐसा ज्ञानशक्तिका अचिंत्य सामर्थ्य है।

आत्माका कोई ज्ञान परके आश्रयसे, आँख आदि निमित्तोंके आश्रयसे अथवा रागके आश्रयसे परिणमित नहीं होता, किन्तु इस त्रिकाली ज्ञानशक्तिके आश्रयसे ही प्रतिसमयका ज्ञान परिणमित होता है। उस एक समयकी ज्ञानपर्यायमें समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायोंका ज्ञान हो जाता है। ज्ञानमें सम्पूर्ण आत्मा ज्ञात हो, उसका ज्ञानगुण, दर्शन, सुख ज्ञात हो, और केवलज्ञानादिपर्यायें भी ज्ञात हों—ऐसी प्रत्येक समयकी ज्ञानपरिणतिकी शक्ति है। ऐसी ज्ञानपरिणति जिसमेंसे प्रगट होती है वह ज्ञानशक्ति आत्मामें त्रिकाल है। ऐसी शक्तिवाले आत्माकी प्रतीति करे उसे केवलज्ञानकी शंका नहीं रहती।

ज्ञानकी प्रत्येक पर्यायमें अनंत सामर्थ्य है। एकसमयके ज्ञानमें तीनकालके समस्त पदार्थोंका ज्ञान समा जाता है। ज्ञानमें दर्शनका ज्ञान, ज्ञानका ज्ञान, सुखका ज्ञान, द्रव्यका ज्ञान—इसप्रकार सबका ज्ञान है। रागको भी ज्ञान जानता है, परन्तु ज्ञानमें राग नहीं है, और

रागके कारण ज्ञान नहीं होता। ज्ञान करनेका आत्माका स्वभाव है किन्तु विकार करनेका आत्माका स्वभाव नहीं है। इसलिये ज्ञानीके हृदयमें रागका वास नहीं है किन्तु शुद्ध आत्माका ही वास है।

अहो! ज्ञानीके हृदयमें तीर्थंकर बसते हैं, ज्ञानीके अंतरमें सिद्ध भगवान बसते हैं। सिद्ध भगवान और तीर्थंकर भगवानका जैसा आत्मा है वैसा ही मेरा आत्मा है—इसप्रकार जिसने परमात्मा जैसे अपने आत्माकी प्रतीति की है उस धर्मात्माके हृदयमें अनंत सिद्ध भगवन्तोंका और तीर्थंकरदेवोंका वास है। जिसने अपने पूर्ण स्वभावका विश्वास किया उसने अपने आत्मामें सिद्धोंकी और तीर्थंकरोंकी स्थापना की और रागको या अपूर्णताको आत्मामेंसे निकाल दिया है—उसका निषेध किया है। **ज्ञानीके आत्मामें तीर्थंकरका वास है, तीर्थंकरदेव उनके हृदयमें बैठकर बोलते हैं; जो तीर्थंकरदेव कहते हैं वही ज्ञानीका हृदय बोलता है; क्योंकि तीर्थंकरदेव जैसे ही परिपूर्ण अपने आत्माको उन्होंने प्रतीतिमें लेकर अनुभव किया है।** अहो! मेरे ज्ञानका स्वभाव ऐसा है कि तीनकालके समस्त तीर्थंकरोंको एकसमयमें जान लूं; एक नहीं किन्तु अनंत तीर्थंकरों और सिद्धोंको अपने ज्ञानकी एक पर्यायमें समा दूं—ऐसी विशाल मेरे ज्ञानकी महिमा है—ऐसी ज्ञानीको प्रतीति है।

तीनकालके तीर्थंकरोंको जाने, सिद्धोंको जाने, संतोंको—धर्मात्माओंको जाने, और परोन्मुख जीवोंको भी जाने, अभव्यको भी जाने और अजीवको भी जाने, अनंतानंत आकाशको भी जाने—ऐसा ज्ञानशक्तिका स्वरूप है। जिसका स्वभाव ही जाननेका है वह किसे नहीं जानेगा? ज्ञान स्वयं अपनेमें ही एकाग्र रहकर सबको जान लेता है, जाननेके लिये उसे कहीं बाह्यमें विस्तृत नहीं होना पड़ता। ऐसे ज्ञानको कहाँ ढूंढ़ा जाये? शरीरकी क्रियामें या शास्त्रके शब्दोंमें ढूंढ़ने जाये तो ऐसा ज्ञान नहीं मिलेगा; सम्मेदशिखर तीर्थके मन्दिरोंमें जाकर ढूंढ़े तो वहाँ भी

ऐसा ज्ञान नहीं मिलेगा; यह ज्ञान तो आत्माकी निजशक्ति है इसलिये आत्मामें अन्तर्शोध करे तो ऐसा ज्ञान प्राप्त होगा। आत्मामें यह ज्ञानशक्ति तो त्रिकाल है, किन्तु उसका विश्वास करनेसे पर्यायमें उसका विकास प्रगट होता है।

ज्ञान तो अभेद–भेद, सामान्य–विशेष सबको जानता है इसलिये ज्ञानके विषयमें अनंत विशेष प्रकार पड़ते हैं, दर्शनके विषयमें वैसे विशेष नहीं होते। तीनों कालमें जिस-जिस समय जो कुछ होना है वैसा ही उसे जान लेनेका ज्ञानका स्वभाव है, परन्तु उसमें कुछ इधर-उधर करनेका या राग-द्वेष करनेका ज्ञानका स्वभाव नहीं है। ऐसे ज्ञानकी जो प्रतीति करे उसका ज्ञान आत्मोन्मुख हुए बिना नहीं रहता। आत्मा ज्ञानादि अनंत शक्तियोंसे अभेद है, उसीके आश्रयसे धर्म होता है।

यहाँ तीसरी और चौथी शक्तिमें दृशिशक्ति और ज्ञानशक्तिका वर्णन किया; और आगे नववीं और दसवीं शक्तिमें सर्वदर्शित्व तथा सर्वज्ञत्वशक्तिका वर्णन करेंगे, उसमें इस दृशिशक्ति तथा ज्ञानशक्तिका विशेष माहात्म्य बतलायेंगे।

(यहाँ चौथी ज्ञानशक्तिका वर्णन पूर्ण हुआ।)

* * * *

(वीर सं० २४७५ कार्तिक शुक्ला ६)

देखो यह धर्म की बात है।

जिसे आत्माका धर्म करना हो उसे क्या करना चाहिए?–अपने आत्माको पहिचानना चाहिए।

आत्मा कैसा है?—उसमें क्या है?—आत्मा अपनी अनंत शक्ति-वाला है; उसमें ज्ञान, दर्शन, सुख, जीवन, प्रभुता—इत्यादि अनंत शक्तियाँ हैं। आत्मामें अपनी अनंत स्वच्छ शक्तियाँ भरी हैं, परन्तु उसमें विकार शरीर या स्त्री–पुत्र–लक्ष्मी आदि कुछ नहीं हैं। इसलिये

जिसे आत्माके धर्मकी सच्ची भावना हो उसे उस विकार, शरीरादिकी भावना नहीं होती; जिसे विकार, शरीर–स्त्री–पुत्र–लक्ष्मी या स्वर्ग चाहिए हो उसे आत्माके धर्मकी आवश्यकता नहीं है,-क्योंकि उन किन्हीं वस्तुओंमें आत्माका धर्म नहीं है और आत्मामें वे कोई वस्तुएँ नहीं हैं। किसी पर-वस्तुसे आत्माका धर्म नहीं होता और न आत्माके धर्मसे वे कोई परवस्तुएँ मिलती हैं। आत्मा स्वयं अपनी अनंत शक्तियोंसे भरपूर है, अपने ही आधारसे उसे धर्म होता है। इसलिये आत्माके सन्मुख होकर उसमें ढूँढे तो धर्मकी प्राप्ति होगी। जिसे धर्म करना है उसे प्रथम अपने आत्माको पहिचानना चाहिए।

चैतन्यमूर्ति आत्मा ज्ञानलक्षणसे पहिचाना जाता है। जो ज्ञानलक्षणसे पहिचाना जाता है वह आत्मा अनंतधर्मका पिण्ड है। उसमेंसे आत्माका धर्म प्रगट होता है। जहाँ जो माल भरा हो वहाँसे वह माल मिलता है। इस शरीरकी दुकानमें तो जड़का माल भरा है, उसकी क्रियासे आत्माके धर्मका माल नहीं मिलेगा। और चैतन्यभगवान आत्माकी दुकानमें अनंत गुणोंका माल भरा है, वहाँसे ज्ञानादि धर्मका माल मिलेगा परन्तु वहाँ विकार नहीं मिल सकता।

जैसे, अफीमवालेकी दुकान पर तो बढ़िया अफीम मिलती है, किन्तु मावा या हीरे–जवाहिरात नहीं मिलते; और हलवाईकी दुकान पर मावा मिलता है, वहाँ अफीम नहीं मिल सकती। उसीप्रकार जिसे अफीम जैसे विकारी–शुभाशुभ भाव चाहिये हों उसे वे आत्माके स्वरूपमें नहीं मिल सकते। विकारी भाव और जड़की क्रिया तो अफीमकी दुकान जैसे हैं, उनमेंसे चैतन्यका निर्मल धर्म नहीं मिल सकता। चैतन्यमूर्ति आत्मा अनंत शक्तिका भण्डार है, वह जोहरी और हलवाईकी दुकान जैसा है। आत्माके स्वरूपमें विकारको बना रखनेकी शक्ति नहीं है, और पैसादिको बना रखनेकी भी शक्ति नहीं है। आत्माकी जीवत्वशक्तिमें ऐसी शक्ति है कि आत्माके चैतन्यजीवनको त्रिकाल बनाए रखे, किन्तु उसमें ऐसी शक्ति नहीं है कि वह पैसा, शरीर या विकारको आत्मामें बना रखे। इसलिये जिसे आत्माका

चैतन्यजीवन चाहिए हो उसे आत्माकी भावना करना चाहिए और विकारकी–व्यवहारकी भावना छोड़ना चाहिए। जिसके रागकी–व्यवहारकी भावना है उसे अनंतशक्तिके पिण्ड चैतन्यकी भावना नहीं है। आत्मा तो अपनी ज्ञानादि अनंतशक्तिका पिण्ड है, उसमें दूसरे आत्मा नहीं हैं, अन्य कोई गुण या पर्यायें भी उसमें नहीं हैं; अपने स्वभावके अतिरिक्त किन्हीं भी अन्य संयोगोंको आत्मा अपनेमें मिलाए ऐसी उसकी शक्ति नहीं है, और पर्यायके क्षणिक पुण्य–पापको भी दूसरे समय तक बना रखनेकी उसकी शक्ति नहीं है। पहले समय जो विकार हुआ वह तो दूसरे समय दूर हो ही जाता है, उसे कोई भी आत्मा रख नहीं सकता; किन्तु स्वयं अपनी निर्विकारी अनंती शक्तिको एकसाथ त्रिकाल बना रखे ऐसा आत्माका सामर्थ्य है। ज्ञान–दर्शनसे एकसमयमें सबको जाने–देखे ऐसी आत्माकी शक्ति है, परन्तु कहीं भी इधर–उधर करनेकी या परको अपना करनेकी आत्माकी शक्ति नहीं है। ऐसे भगवान आत्माकी दुकान पर चैतन्यशक्ति मिलती है किन्तु विकार नहीं मिलता; अर्थात् आत्मस्वभावके सन्मुख होनेसे चैतन्यके परिणमनमें अनंत शक्तियाँ निर्मलरूपसे परिणमित होती हैं, किन्तु विकार परिणमित नहीं होता।

[—चतुर्थ ज्ञानशक्तिका वर्णन पूर्ण हुआ]

*

[५]

सुखशक्ति

आत्माका सम्यग्ज्ञान होनेपर उसके साथही सिद्ध भगवानके जैसा सुखका अंश अनुभवमें आता है...व सुखका परिपूर्ण सागर प्रतीतिमें आजाता है...धर्मात्मा अपने अंतरमें सुखका सागर उल्लसित होता हुआ देखता है। जिसमें सुखशक्ति है ऐसे आनंदधाम आत्माकी पहिचान वह ही सुखी होनेका सच्चा मार्ग है।

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मामें अनंतशक्तियाँ हैं; उनमेंसे आचार्यदेव कुछ शक्तियोंका वर्णन करते हैं। अभीतक चार शक्तियोंका वर्णन होचुका है अब पाँचवीं 'सुखशक्ति'का वर्णन करते हैं।

अनाकुलता जिसका लक्षण है ऐसी सुखशक्ति आत्मामें त्रिकाल है। कुछ भी करनेकी वृत्तिका उत्थान वह आकुलता है, और आकुलता वह दुःख है। अशुभ अथवा शुभ किसी भी वृत्तिरहित शांत निराकुलदशा ही सुखका स्वरूप है। आत्माकी अनंत शक्तियोंमें ऐसी सुखशक्तिका भी समावेश है।

प्रश्नः—यदि आत्मामें त्रिकाल आनंद भरा है तो वह क्यों अनुभवमें नहीं आता ?

उत्तरः—यदि स्वभावशक्ति का विश्वास करके उसके सन्मुख हो तो आनंदका अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा। अपने स्वभावमें आनंद भरा हुआ है, वहाँ न ढूँढ़कर बाह्यमें आनन्दकी शोध करता है इसलिये अपना स्वभावसुख जीवके अनुभवमें नहीं आता। जहाँ सुख भरा है वहाँ ढूँढ़े तो मिले न ? जड़में तो कहीं ऐसी सुखशक्ति नहीं है कि वह आत्माको सुख पहुँचाये। जड़के लक्षसे जो कृत्रिम शुभअशुभ आकुलतारूप भाव होते हैं उनमें भी सुख नहीं है; सुखशक्ति तो आत्मामें है। आत्मा त्रिकाल सुखका सागर है, उसे सुखके लिये किसी बाह्य पदार्थकी—पैसादिकी—आवश्यकता नहीं होसकती। जो ऐसी सुखशक्तिवाले आत्माको समझे उसे परमेंसे सुखबुद्धि दूर होजाती है और उसका ज्ञान स्वभावोन्मुख हो जाता है; उस ज्ञान परिणमनमें सुखशक्ति भी साथ ही उछलती है। प्रत्येक शक्ति पृथक्-पृथक् नहीं है; जहाँ एक शक्ति है वहीं अनंत शक्तिका पिण्ड है, इसलिये एक शक्तिको देखनेसे अनंत शक्तिस्वरूप पूर्ण चैतन्यपिण्ड लक्षमें आता है। जहाँ ज्ञान परिणमित हो वहीं आनंदादि अनंत शक्तियाँ साथ ही परिणमित होती हैं—ऐसा अनेकान्तस्वरूप है। कोई कहे कि हमें ज्ञान तो हुआ है परन्तु सुख कहीं दिखाई नहीं देता; तो उसने ज्ञान और सुखको सर्वथा भिन्न माना है; इसलिये उसने अनेकान्तस्वरूपी आत्माको नहीं जाना। आत्मा अनंत धर्मोंका एक पिण्ड है, उसकी श्रद्धा–ज्ञान करनेसे सम्यग्ज्ञान परिणमित हुआ, उसीके साथ सुख भी परिणमित होता है। आत्माका सम्यग्ज्ञान होनेसे उसीके साथ सिद्ध जैसे आनंदका अंश अनुभवमें आता है। इसप्रकार अनंतशक्तियाँ एकसाथ निर्मलरूपसे परिणमित होरही हैं।—किसके ? जिसकी दृष्टि आत्मा पर है उसके। अज्ञानीतो यथार्थ आत्माको मानता ही नहीं इसलिये उसके शक्तियोंका निर्मल परिणमन नहीं होता।

आत्माका स्वभाव त्रिकाल सुखसे परिपूर्ण है; उसमें दुःखका एक अंश भी नहीं है। परका कुछ करनेकी आकुलता आत्मामें नहीं है। मैं परका कुछ कर सकता हूँ—ऐसी जिसकी मान्यता है वह जीव परका करनेके अभिमानसे सदैव आकुलित ही रहा करता है। मैं परका कर्ता नहीं हूँ, मैं तो ज्ञाता हूँ—इसप्रकार ज्ञातारूपसे रहनेमें

अनाकुल शांति है, वही सुख है। मेरा सुख परमें है—ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसके पास करोड़ों रुपये हों, मेवा-मिठाई खाता हो और सोनेके झूले पर झूलता हो, तथापि वह आकुलतासे दुःखी ही है। आनंदधाम ऐसे स्वतत्त्वकी महिमा छोड़कर परकी महिमा की वही दुःख है। बाह्यमें प्रतिकूलताका होना वह कहीं दुःखका लक्षण नहीं है। दुःख अर्थात् आकुलता; आकुलता कहो अथवा मोह कहो। जितना मोह उतना ही दुःख है। यह दुःख आत्माकी क्षणिक पर्यायमें होता है, परन्तु आत्माके स्वभावमें दुःख नहीं है। आत्माके स्वभावमें तो मात्र सुख ही भरा है। जिसे आकुलता चाहिए हो—दुःखकी कामना हो उसे चैतन्यस्वभावमेंसे उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती; और जिसे निराकुल सुखकी आकांक्षा हो उसे चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त अन्य कहींसे वह प्राप्त नहीं हो सकता। जिसे सुखी होना हो उसे ऐसे आत्माकी समझका मार्ग ग्रहण करना होगा।

प्रत्येक आत्मा अनंतगुणका भंडार है; उसके प्रत्येक गुणका लक्षण भिन्न है, और पूर्ण आत्माका लक्षण 'ज्ञान' है। सुख आदि अनंतगुण भी उस ज्ञानके साथ ही विद्यमान हैं। उनमें 'जानना' वह ज्ञानका लक्षण है और निराकुलता सुखगुणका लक्षण है। सुखगुण आत्मद्रव्यमें है, गुणमें है और पर्यायमें भी है; द्रव्य-गुण-पर्याय तीनोंमें सुख व्याप्त है, आत्माका एक भी प्रदेश सुखशक्तिसे रहित—खाली नहीं है। जैसा आत्माका आकार है वैसा ही उसके सुखका आकार है। आत्माके द्रव्य-गुण-पर्यायमें आनंद है, किन्तु दयादि रागभावमें आनंद नहीं है; मकान, पैसा, स्त्री, शरीर या रागमें भी आनंद नहीं है; आत्माके ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि अनंतगुणोंमें अभेदरूपसे आनंद भरा है, उनमेंसे यदि आनन्द प्राप्त करना चाहे तो मिल सकता है, किन्तु उनमेंसे यदि स्वर्गादिकी इच्छा करे तो वे नहीं मिल सकते। स्वर्गकी प्राप्ति हो वह रागका फल है, आत्माके गुणोंमें रागका अभाव है और रागमें अत्माके गुणोंका अभाव है।

आनंदगुणकी प्रधानतासे देखने पर सम्पूर्ण आत्मा आनन्दमय

Ganesh Vami Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

है। आत्माके अनंत गुण आनंदसे परिपूर्ण हैं, उनमें कहीं आकुलता नहीं है। पर्यायमें एक समयकी आकुलता होती है उसकी यहाँ बात नहीं है; उस पर्यायको गौण करके त्रिकाली स्वभावकी मुख्यतासे यहाँ कहते हैं कि आत्मामें आकुलता है ही नहीं; आत्मा तो त्रिकाल सुखका सागर है। जिसे मात्र आकुलताका ही आभास होता है, किन्तु उसी समय नित्य अपार अनाकुल सुखस्वभाव भासित नहीं होता वह जीव मिथ्यादृष्टि है। जिसने एक समयकी वृत्ति जितना ही अपना स्वरूप माना उसने आत्माको नहीं जाना है। आकुलता तो सुखगुणकी एक समयकी विकृत अवस्था है, उसी समय अनंत अनाकुलताका पिण्ड ऐसा सुखगुण ध्रुव पड़ा है, और ऐसे अनंतगुणोंका पिण्ड आत्मा है; उस स्वभावकी अनंत महिमाके बलसे साधक कहता है कि मुझमें आकुलता है ही नहीं! जिसे स्वभावका बल भासित न होकर विकारका बल भासित होता है उसे स्वभावकी महिमा और विश्वास नहीं है अर्थात् स्वभावका अनादर है और विकारका आदर है; वही संसारका मूल है। यहाँ आत्माके अनंतधर्मको बतलाते हैं; उसे पहिचाननेसे क्षणिक विकारकी महिमा छूट जाती है और स्वभावका सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वह मुक्तिका मूल है; वह प्रगट होते ही अनंत संसारका मूल नष्ट हो जाता है।

आकुलता त्रिकाली नहीं है, किन्तु आकुलताके अभावरूप आनन्दस्वभाव आत्मामें त्रिकाल है; उस आनन्दका वेदन पर्यायमें एक-एक समय जितना है किन्तु शक्ति त्रिकाल है। तीनकालका आनंद ज्ञानमें एकसाथ ज्ञात अवश्य होता है, किन्तु त्रिकालके आनन्दका अनुभव एकसाथ नहीं होता, अनुभव तो वर्तमान जितना ही होता है। भविष्यके आनन्दका ज्ञान इस समय होता है, किन्तु उसका उपयोग इसी समय नहीं होसकता। त्रिकालके आनन्दके वेदनको एकसमयमें जान ले ऐसा ज्ञानका सामर्थ्य है, परन्तु त्रिकालके आनन्दको एकत्रित करके वर्तमानमें ही उसका वेदन करले ऐसा ज्ञानका सामर्थ्य नहीं है। सिद्ध भगवान अपने भविष्यके अनंतानंतकालके आनंदको वर्तमानमें जानते हैं, परन्तु भविष्यके आनन्दका वेदन तो भविष्यकी पर्यायमें होगा, उसका वेदन

इससमय नहीं होता। वेदन तो वर्तमान पर्यायके आनन्दका ही है; वे प्रतिसमय नये–नये परिपूर्ण आनंदका वेदन कर रहे हैं। ऐसी अनंत शक्ति प्रत्येक आत्मामें त्रिकाल भरी है, उसका विश्वास करनेसे वह प्रगट होती है। यदि त्रिकाली द्रव्य–गुणके आनन्दका एक समयमें व्यक्तरूपसे वेदन होजाये तो दूसरे समयका आनन्द आये कहाँसे ? त्रिकाल शक्तिरूप आनन्द तो अव्यक्त है, और पर्यायमें प्रतिसमय आनन्द व्यक्त होता है उसका वेदन होता है। इसप्रकार आनन्दशक्ति द्रव्य–गुण–पर्याय तीनोंमें विद्यमान है। इसलिये हे भाई ! अपना आनन्द स्वयंमें ही ढूंढ़ ! तेरा आनन्द तुझमें ही है, वह बाह्यमें ढूंढ़नेसे नहीं मिलेगा। तेरा सम्पूर्ण द्रव्य ही आनन्दसे परिपूर्ण है; अनन्तशक्तिके पिण्ड आत्माकी अभेददृष्टि कर तो उस आनन्दका अनुभव होगा। पराश्रयमें रुकनेसे आकुलता होती है वह आत्माका स्वरूप नहीं है। सामान्य द्रव्यमें आनन्द है, उसके अनन्तगुणोंमें आनन्द है और अनंत पर्यायोंमें आनंद है; इसप्रकार आत्मा आनन्दमय है। अहो ! ऐसे आत्माके समक्ष देखे तो दुःख है ही कहाँ ? आत्माके आश्रयसे धर्मात्मा निःशंक है कि—शरीरका भले ही चाहे जो हो, या सारा ब्रह्माण्ड ही उलट जाये, तथापि मैं तो अपने ज्ञाताभावके आश्रयसे शांति रख सकता हूँ, क्योंकि मेरी शांति—मेरा आनन्द मेरे ही आश्रयसे है। मैं अपने आनन्दसागरमें डुबकी लगाकर लीन हुआ वहाँ जगतमें कोई मेरी शांतिमें विघ्नकर्ता नहीं है। अन्तरमें अपनी आत्मशक्तिका ऐसा निःशंक विश्वास आये बिना धर्मका अपूर्व पुरुषार्थ किसके बल पर करेगा ?

"कोई दूसरा मेरी निंदा करे तो मेरे पाप धुल जाएँ"—ऐसी जिसकी मान्यता है उसने प्रथम तो आत्माको ही पापी माना है और पापोंको दूर करनेका उपाय परसे माना है; वह महान मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो कहते हैं कि अरे भाई ! तेरा आत्मा त्रिकाल अनंत गुणोंकी मूर्ति है, उसमें पाप है ही नहीं; इसलिये परका आश्रय छोड़कर अपने आत्माके ही सन्मुख देख ! आत्मामें कहीं आकुलता

नहीं है। आत्मा ज्ञान करे अथवा अपनेमें स्थिर हो तो उसमें आकुलता नहीं है; शरीरमें रोग हो उसे जाननेमें आकुलता नहीं है; किंतु शरीर, पैसादिमें ममत्व रखना वह आकुलता है ज्ञान करनेमें आकुलता नहीं है। यदि ज्ञान करना आकुलताका कारण हो, तो वह आत्माका स्वरूप हो जाये और आकुलता कभी भी ज्ञानसे पृथक् न हो। सर्वज्ञ भगवान समस्त विश्वको जानते हैं, तथापि उनके आकुलताका अंश भी नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानमें आकुलता नहीं है। आत्माके अस्तित्वधर्ममें भी आकुलता नहीं है। आकुलताका नाश होनेपर आत्मामेंसे कुछ कम नहीं हो जाता; आकुलताका नाश होनेपर भी आत्माका परिपूर्ण अस्तित्व बना रहता है; इसलिये आत्माके अस्तित्वमें राग या आकुलता नहीं है। इसप्रकार आत्माके किसी गुणमें आकुलता नहीं है। आकुलताके अभावमें अपने अनंत गुण-पर्यायोंको आत्मा बनाए रखता है।

जिसे आत्माकी आवश्यकता हो उसे संसारकी प्राप्ति नहीं होसकती; और जिसे संसार रखना हो उसे आत्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती। संसारकी चारों गतियोंको तिलाञ्जलि देकर आये कि—'अब इस संसारका अन्त हो, मुझे संसार नहीं चाहिए'—उसे आत्माकी प्राप्ति होगी। संसारका कोई भी एक राग जिसे रुचिकर लगता होगा—पुण्यकी, स्वर्गकी भी जिसे प्रीति होगी वह जीव आत्मोन्मुख नहीं होसकता। यदि तुझे आनन्दमूर्ति आत्माको प्राप्त करनेकी इच्छा है तो शरीर और विकारको 'हराम' समझ कि—मुझे अब वह कुछ नहीं चाहिए; एक चिदानन्द आत्माके अतिरिक्त शरीर या विकार कुछ भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो ज्ञान हूँ।—इसप्रकार ज्ञान द्वारा आत्माको ढूंढ़ने पर उसमें ज्ञानके साथ आनन्दादि अनन्तशक्तियां प्राप्त होंगी; परन्तु विकार, शरीर या पैसा, संतानादिकी प्राप्ति उसमेंसे नहीं होसकती।

आत्माकी सत्तामें अनन्त आनन्द है। ऐसे आत्माके भान-सहित चक्रवर्तीको बाह्यमें छह खण्डका राज्य और छियानवे हजार

रानियां इत्यादि वैभव था; लेकिन 'हराम' है जो उसमें कहीं भी आनंद मानते हों तो ! अस्थिरताका जो राग है उसे भी आत्माके सच्चे स्वरूपमें नहीं गिनते, आत्मामें ही आनन्द माना है। चैतन्यतत्त्वमें परम ज्ञान–आनंदादि अनंतशक्तियां हैं, किन्तु उसमें पुण्य–पापादि विकारीतत्त्व नहीं हैं; ऐसे चैतन्यतत्त्वकी श्रद्धा करना वह सम्यग्दर्शन है। अहो ! सम्यग्दृष्टि अपने आत्माके अतिरिक्त कहीं भी सुख नहीं देखता, वह अपने आत्मामें ही सुखको देखता है। ज्ञानके साथ सुखादि अनंत गुण आत्मामें साथही उछलते हैं–ऐसे अनेकान्तको देखनेवाले धर्मात्मा की दृष्टि अपने आत्मा पर ही है, इसलिये आत्माकी दृष्टिमें उसे सुख ही है; वह न तो परसे सुख मानता है और न अपने स्वभावमें दुःख देखता है; स्वभाव तो सुखशक्तिसे ही परिपूर्ण है।

आत्माके स्वभावमें आकुलता तीनकालमें नहीं है; और अनाकुलता तीनकालमें दूर नहीं होती। एक समयमें पूर्ण द्रव्यका वेदन नहीं होता किन्तु उसका ज्ञान हो जाता है। जिसप्रकार लड्डूका एक ग्रास खानेसे ही पूरे लड्डूके स्वादका ज्ञान होजाता है, परन्तु वह सारा स्वाद वेदनमें नहीं आजाता; उसीप्रकार ज्ञानको अन्तर्मुख करनेसे त्रिकाली आनन्दका ज्ञान होजाता है, परन्तु द्रव्य–गुणका त्रिकाली आनन्द एकसमयके वेदनमें नहीं आजाता। यदि एक समयकी पर्यायमें ही त्रिकाली द्रव्य–गुणके आनन्दका व्यक्तरूपसे वेदन हो जाये तो आनन्दशक्ति कहाँ रही ? और दूसरे समयका आनन्द कहाँसे आयेगा ? द्रव्यगुणका आनन्द तो त्रिकाल अनादिअनंत है और पर्यायका आनन्द एक समयपर्यंतका है, वह नवीन प्रगट होता है; प्रगट होनेके पश्चात् प्रतिसमय नवीन नवीन होकर सादिअनंत है। पर्यायके आनन्दका प्रवाह द्रव्य–गुणमें से आया है इसलिये वह आनन्द द्रव्य–गुणमें से सदैव आता ही रहेगा; द्रव्यके साथ सदैव वह आनन्द टिका रहेगा। जिसे ऐसे आत्मद्रव्य की श्रद्धा हुई उसे "मेरा आनन्द कोई लूट ले जायेगा"—ऐसी शंका नहीं रहती; यह सुखशक्ति अथवा तो आनन्दशक्ति, शक्तिमान द्रव्यके आश्रयसे स्थित है। प्रत्येक आत्मा ऐसी अनंतशक्तिसे परिपूर्ण परमात्मा

है, उसकी प्रतीति करना वह जैनधर्मका सम्यग्दर्शन है और वही मुक्ति का प्रथम सोपान है। जबतक अपनी परमात्मशक्तिका विश्वास स्वयंको ही अंतरसे जागृत न हो, तबतक परमात्मा होनेके उपायका प्रारम्भ नहीं होता। अनंतशक्तिके चैतन्यपिण्डमें कोई एक गुण पृथक् नहीं है, इसलिये एक गुणको लक्षमें लेते हुए परमार्थतः अनंत गुणोंसे अभेद आत्माका ही लक्ष हो जाता है। इन शक्तियोंके वर्णन द्वारा अनंत शक्तियोंके पिण्ड पूर्ण आत्माको बतलाने का प्रयोजन है।

आत्मामें सुखशक्ति त्रिकाल है; वह ऐसा प्रगट करती है कि यदि आत्माकी आवश्यकता हो तो दुःखको नहीं रखा जा सकता। आत्माको अंगीकार करनेके पश्चात् दुःख चाहोगे तो भी नहीं मिलेगा! जिसप्रकार सम्यग्दर्शनकी ऐसी प्रतिज्ञा है कि जो मुझे अंगीकार करेगा उसे अवश्यही मोक्षमें ले जाऊँगा; उसीप्रकार जिसे आत्माके परम सुखकी आवश्यकता हो उसे इन्द्रियसुख नहीं मिलेगा, और अतीन्द्रिय चैतन्यसुखकी प्राप्ति हुए बिना नहीं रहेगी। ऐसी सुखशक्ति वाले आत्मा की जो प्रतीति करे उसे पर्याय में सुख प्रगट हुए बिना नहीं रहेगा। द्रव्यगुण तो त्रिकाल सुखरूप हैं और उनका स्वीकार करके उनकी ओर उन्मुख होनेसे पर्याय भी सुखरूप होगई। इसप्रकार द्रव्य–गुण–पर्याय तीनों सुखरूप हैं। साधकका ज्ञान अंतर्मुख होकर परिणमित हुआ वहाँ उस ज्ञानक्रिया के साथ ऐसी सुखशक्ति भी उछलती है।

[यहां पांचवीं सुखशक्तिका वर्णन पूरा हुआ]

[६]

वीर्यशक्ति

वीर्यशक्ति याने निजस्वरूपको रचनेका सामर्थ्य; आत्मामें अनंत स्वभावसामर्थ्य है उसको जो न पहिचाने तो वह सामर्थ्य कहाँसे प्रगट होगा ? हे जीव ! तेरे केवलज्ञानादि स्वरूपकी रचना करनेका सामर्थ्य तुझमें भरा है, उस सामर्थ्यकी सँभाल करते ही तेरी पर्यायमें सम्यग्दर्शनसे लेकरके तो सिद्धपद तककी रचना होगी ।

आत्मामें अनंत शक्तियाँ हैं; उनमेंसे जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति, दृशिशक्ति, ज्ञानशक्ति और सुखशक्तिका वर्णन किया । अब छठी वीर्यशक्तिका वर्णन करते हैं । अपने स्वरूपकी रचनाके सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति है । इस वीर्यशक्तिने पूर्ण चैतन्यवस्तुको स्वरूपमें स्थित कर रखा है । वीर्यशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनोंमें विद्यमान है । पर्यायमें भी अपनी रचनाका सामर्थ्य है । वस्तुके अनंत गुण हैं वे सब निज-निज स्वरूपसे अनादि-अनन्त विद्यमान हैं । ज्ञान अनादि–अनन्त ज्ञानरूपसे बना रहता है, सुख अनादि–अनन्त सुखरूपसे टिका रहता है, अस्तित्व अनादि–अनंत अस्तित्वरूपसे टिका रहता है–ऐसा प्रत्येक गुणका सामर्थ्य है । जिस प्रकार गुण अनादि–अनन्त निजस्वरूपसे टिका रहता

है ऐसा वीर्यगुण है, उसीप्रकार अनादि–अनंत पर्यायोंमें प्रत्येक पर्याय अपने स्वरूपमें प्रतिसमयके सत्‌रूपसे बनी रहती है; कोई पर्याय अपना स्वरूप छोड़कर इधर-उधर नहीं होती—ऐसा प्रतिसमयकी पर्यायका वीर्य है।

द्रव्य-गुण और निर्मल पर्याय वह आत्माका स्वरूप है; उस स्वरूपकी रचनाके सामर्थ्यरूप वीर्य–शक्ति आत्मामें त्रिकाल है। यह शक्ति स्वरूपकी ही रचना करती है; जो रागकी रचना करे वह आत्मवीर्य नहीं है। यदि वीर्य–शक्ति रागकी रचना करती हो तब तो सदैव रागको रचती ही रहे। तब फिर रागरहित मुक्तदशा कब होगी ? इसलिये शुभरागको जमाये या रागादि विकारकी रचना–उत्पत्ति करे ऐसा चैतन्यकी वीर्यशक्तिका स्वरूप नहीं है। परवस्तुमें कुछ भी उथल–पुथल करे ऐसा तो आत्माका बल नहीं है; और विकार करे ऐसा भी वास्तवमें आत्माका बल नहीं है। आत्माका बल तो अपने स्वरूपकी रचना करनेका है। आत्मामें एक ऐसा चैतन्य बल है कि किसी दूसरेकी सहायताके बिना स्वयं अपने स्वरूपकी रचना करता है। यहाँ "स्वरूपकी रचना" करना कहा उसका अर्थ क्या ? कहीं स्वरूपको नवीन नहीं बनना है, किन्तु आत्माकी सत्ता निरन्तर निजस्वरूपमें स्थित रहती है, उसका नाम ही स्वरूपकी रचना है। आत्मा अपने धर्मोंके द्वारा विकारकी या परकी रचना नहीं करता। "मैं परकी रचना कर दूँ"—ऐसी कल्पना अज्ञानी करता है वह उसकी मूढ़ता है। शरीरकी, मकानकी, वचनकी आदि किसी भी पर द्रव्यकी रचना करनेकी शक्ति आत्मामें है ही नहीं। अमुक आहारको ग्रहण करना और अमुकको छोड़ना ऐसी आहारकी रचना करनेकी सामर्थ्य आत्मामें नहीं है; वे समस्त जड़की क्रियाएँ जड़ वीर्यसे अर्थात् पुद्‌गलके सामर्थ्यसे होती हैं, आत्माका किंचित् भी बल उसमें नहीं चलता। दया अथवा हिंसादि रागको बनाए—ऐसा भी आत्माका सामर्थ्य नहीं है। द्रव्य-गुण-पर्यायमय अखण्ड तत्त्वको स्वरूपमें टिका रखे ऐसी आत्माकी वीर्यशक्ति वर्णन द्वारा शक्तिमान पूर्ण आत्माको

बतलाया है; प्रतीतिका–द्रव्यदृष्टिका विषय बतलाया है। यह तो आचार्यदेवके महामंत्र हैं। जिसप्रकार बीनका मधुर नाद सुनकर सर्प बाहर निकलता है और विषको भूलकर डोलने लगता है, उसीप्रकार चिदानन्दी आत्माके अनन्तगुणोंके वर्णनरूपी आचार्यदेवकी सुमधुर बीनका नाद सुनकर भव्य आत्मा जाग्रत होता है और विकारको भूलकर अपने स्वरूपमें डोल उठता है कि अहो ! मैं तो त्रिकाल अपने अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण हूँ, मेरे गुण किसी अन्यकी सहायताके बिना स्वयं अपने स्वभाव सामर्थ्यसे टिक रहे हैं।—इसप्रकार अपनी शक्तिकी संभाल करके आत्मा आनन्दमें डोल उठता है।

आत्माके स्वरूपमें संसार है ही नहीं; वीतरागदेवकी वाणीमें कहा गया द्रव्यलिंगी मुनिका या सम्यग्दृष्टिका जो व्यवहार है उस व्यवहारके शुभरागकी रचना करनेका बल आत्मामें नहीं है। यदि आत्मामें रागको रचने की शक्ति हो तब तो वह त्रिकाल रागकी ही रचना करता रहे। राग तो क्षणिक है और यह वीर्यशक्ति त्रिकाल है। प्रत्येक आत्मामें अनंतशक्ति है, परन्तु उसमें कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है कि जो संसारकी रचना करे। आत्माके स्वरूपमें विकार भरा नहीं है, तब फिर आत्माकी शक्ति विकारको कहाँसे रचेगी ? जीव पर्यायबुद्धिसे ही संसार परिणामको उत्पन्न करता है, पर्यायबुद्धिमें ही संसारकी (विकारको) रचना है, स्वभावबुद्धिमें संसारकी रचना नहीं है। यहाँ स्वभावदृष्टिसे ४७ शक्तियोंका वर्णन किया है। आत्माकी वीर्यशक्ति भी ऐसी है कि वह द्रव्यदृष्टिसे स्वरूपकी रचना करती है, वह विकारको अपने स्वरूपमें स्वीकार नहीं करती। जो ऐसी स्वभावशक्तिका स्वीकार करे उसका वीर्यबल स्वभावोन्मुख हुए बिना नहीं रहेगा और उसके पर्यायमें भी निर्मल–निर्मल पर्यायोंकी ही रचना होने लगेगी।

अनन्तगुणोंके पिण्डरूप सम्पूर्ण द्रव्यको टिका रखे ऐसी आत्मवीर्यकी शक्ति समस्त गुणोंमें व्यापक है, इसलिए समस्त गुण निजस्वरूपसे ही टिके रहते हैं, कोई गुण अन्य गुणरूप नहीं हो जाता।

आत्माके असंख्य प्रदेश हैं, उनमेंसे प्रत्येक प्रदेश अनादि-अनंत निजस्वरूपसे रहता है; एक प्रदेश कभी दूसरे प्रदेशरूप नहीं होता; असंख्य प्रदेश जैसेके तैसे अखण्डित स्वप्रदेशरूपसे विराज रहे हैं—ऐसा आत्माका क्षेत्रवीर्य है।

और प्रत्येक गुणकी अनादि अनंतकालकी अवस्थाओंमें प्रत्येक समयकी अवस्थाका वीर्य स्वतन्त्र है; उस अवस्थाका वीर्य ही अवस्थाकी रचना करता है। अवस्थाका प्रत्येक समयका वीर्य भिन्न-भिन्न है और द्रव्य-गुणका वीर्य त्रिकाल है।

इसप्रकार आत्माकी वीर्यशक्ति द्रव्यके सामर्थ्यको टिका रखती है; अनन्तगुणोंको निज-निज स्वरूपसे टिका रखती है, और प्रत्येक समयकी पर्यायकी रचना करती है;—ऐसी स्वरूप-रचना करनेका उसका सामर्थ्य है। परन्तु आत्मा अपने वीर्य सामर्थ्य द्वारा परको रचना नहीं कर सकता। शरीरको टिकाना अथवा भाषाकी रचना करना वह आत्माके वीर्यका कार्य नहीं है। आत्माका स्वभाववीर्य विकारकी या जड़की रचना नहीं करता। पर्यायमें एक समय पर्यन्तकी विकारकी योग्यता है वह आत्मवीर्यका स्वभाव नहीं है; त्रिकाली शक्तिमें विकारकी योग्यता भी नहीं है। ऐसी स्वभावशक्तिकी प्रतीति करानेके लिए यहाँ द्रव्यदृष्टिसे विकारमें अटकनेवाले वीर्यको आत्माका वीर्य माना ही नहीं है। चैतन्यके द्रव्य-गुण-पर्यायकी रचना करे ऐसा वीर्यशक्तिका सामर्थ्य है; वे द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों निर्मल हैं। प्रथम अपने ऐसे स्वभावका विश्वास आये तो उसके बलसे साधकदशाका विकास होता है।

जो विकारकी रचना करनेका ही अपने वीर्यका सामर्थ्य मानता है उसके तो पूरे आत्माको ही विकारी माना है। किसी भी विकारमें ऐसी शक्ति नहीं है कि वह बढ़कर एक समयसे अधिक टिक सके, क्योंकि आत्माकी वीर्यशक्ति विकारकी रचना नहीं करती। अहो! भगवान आत्मा विकारभावकी रचना भी नहीं करता, तब फिर जगतकी सृष्टिकी रचना तो कहाँसे करेगा? कोई भी आत्मा परकी

रचना करता है—ऐसा मानना वह महान मूढ़ता है, महान् अधर्म है। जिनके अनंत आत्मबल प्रगट हुआ है ऐसे सिद्ध भगवान-में भी परकी रचना करनेका सामर्थ्य किंचित्मात्र नहीं है। अपने स्वरूपकी रचनाका परिपूर्ण सामर्थ्य है और परकी रचना करनेका किंचित् भी सामर्थ्य नहीं है—ऐसी अस्ति-नास्ति है। यह छह द्रव्यमय सृष्टि स्वयंसिद्ध है, कोई उसका रचयिता नहीं है। 'रचना करनेवाला ईश्वर है'—ऐसा कहकर अज्ञानी लोग परको जगका रचयिता मानते हैं; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा स्वयं ही अपनी रचना करनेवाला ईश्वर है; यह वीर्यशक्ति ही स्वरूपकी रचना करती है। आत्मा स्वयं ही अपने द्रव्य-गुण पर्यायकी रचना वीर्यशक्ति द्वारा करता है; इसके अतिरिक्त कोई ईश्वर या निमित्त आत्माके द्रव्य-गुण पर्यायकी रचना करनेवाले नहीं हैं। ऐसी वीर्यशक्ति आत्मामें त्रिकाल है। ऐसी अनंतशक्तियोंसे अभेदरूप आत्माको प्रतीतिमें लेना वह प्रथम धर्म है।

* * * *

ज्ञान, सुख वीर्यादि अनंतगुण आत्मामें हैं; उन समस्त गुणोंका आधार आत्मा ही है, किसी राग या शरीरादिके आधारसे वे गुण विद्यमान नहीं हैं और न मात्र पर्यायके ही आधारसे हैं। जिसप्रकार वे शक्तियाँ स्थित रहनेके लिए किसी अन्यका आधार नहीं रखतीं, उसी प्रकार परिणमित होनेके लिए भी किसी अन्यका आश्रय नहीं करतीं। यहाँ आत्माकी शक्तियोंके वर्णनमें परकी और विकारकी उपेक्षा है।

आत्मामें 'वीर्य' नामक शक्ति त्रिकाल है। वीर्य अर्थात् आत्मबल; वह आत्माके ही आधारसे है। शरीर निर्बल हो या बलवान हो, वह आत्मशक्तिका कार्य नहीं है। शरीरसे तो आत्माकी शक्ति अत्यन्त भिन्न है। वर्तमान अवस्थाको रचना हो उसमें अवस्थाका स्वतन्त्र सामर्थ्य है; अवस्थाकी रचना करे ऐसा अवस्थाका वीर्य है। त्रिकाली वीर्य शक्तिके वर्तमान परिणमनमें ही वर्तमान अवस्थाकी रचना करनेका सामर्थ्य है। जो ऐसा स्वीकार करें उसकी बुद्धि त्रिकाली

तत्त्व पर जाती है, क्योंकि वीर्यशक्ति मात्र पर्याय जितनी नहीं है किन्तु वह द्रव्य गुण–पर्याय तीनोंमें विद्यमान है।

वीर्यशक्ति कहो या पुरुषार्थ कहो दोनों एक ही है। आत्माकी प्रत्येक पर्यायमें पुरुषार्थका परिणमन साथ ही रहता है। पुरुषार्थरहित आत्मा एक समय भी नहीं होता।

कोई कहे कि "जैन लोग तो सर्वज्ञको मानते हैं, इसलिये उसमें पुरुषार्थ नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ भगवानने देखा होगा तब मोक्ष होगा, इसलिए मोक्षमार्गमें जीवका पुरुषार्थ नहीं है"—तो उस मिथ्यादृष्टिका तर्क विपरीत है। मोक्षमार्गमें पुरुषार्थ नहीं है—ऐसा जो कहता है उसने मोक्षमार्गमें आत्माको ही नहीं माना है। क्योंकि जहाँ पुरुषार्थ नहीं है वहाँ आत्मा नहीं है।

अनंतशक्तियोंमेंसे यदि एक भी शक्तिको न माने तो उसने आत्माको ही नहीं माना। एक शक्तिका निषेध करनेसे शक्तिमान आत्माका निषेध हो जाता है। यदि वीर्य-पुरुषार्थ न हो तो मोक्षमार्गकी रचना कौन करेगा ? स्वरूपकी रचनाका सामर्थ्य तो वीर्यशक्तिमें है। और जो पुरुषार्थको नहीं मानता उसने वास्तवमें सर्वज्ञको भी नहीं माना है; क्योंकि सर्वज्ञभगवानने तो मोक्षमार्गमें पुरुषार्थका परिणमन साथ ही देखा है; उसे जो न माने उसने वास्तवमें सर्वज्ञके ज्ञानको स्वीकार ही नहीं किया है। सर्वज्ञदेवकी 'सर्वज्ञता'का निर्णय करनेवाली अपनी पर्यायमें भी अनंत सम्यक् पुरुषार्थ विद्यमान है। जिस जीवको अपने सम्यक् पुरुषार्थका भास नहीं होता उसने सर्वज्ञको नहीं माना है और पुरुषार्थवंत अपने आत्माका भी उसने अस्वीकार किया है; वह तो नास्तिककी भाँति मिथ्यादृष्टि है।

बाह्यमें अनुकूल सामग्री मिले या योग्य निमित्त प्राप्त हों तो मेरा पुरुषार्थ जागृत हो,–ऐसी जिसकी बुद्धि है उसने वीर्यशक्तिको आत्माका नहीं माना है, किन्तु परके आश्रयसे माना है। यहाँ आचार्यभगवान कहते हैं कि हे जीव ! तेरी अनंतशक्तियाँ तेरे आत्माके

आश्रयसे ही परिणमित हो रही हैं इसलिये तू अपने आत्माके सन्मुख देख ! आत्माके सन्मुख देखनेसे तेरी समस्त शक्तियाँ निर्मलरूपसे विकसित हो जायेंगी। आत्माकी वीर्यशक्तिका स्वभाव ऐसा है कि वह स्वरूपकी ही रचना करती है, विकारकी रचना नहीं करती। आत्माकी स्वरूप अवस्थाकी रचना कोई भी पर नहीं कर-सकता और न आत्मा किसी परकी रचना कर सकता है। एकसमय पर्यंतका विकार तो कृत्रिम, क्षणिक, एक समय पर्यंतका भाव है; विकारकी उत्पत्ति करे ऐसा वीर्यशक्तिका स्वरूप नहीं है। जो राग-द्वेषमें अटकता है वह भी आत्माका वीर्य है; परन्तु उस विकार जितनी ही वीर्यशक्ति नहीं है; वीर्यशक्ति त्रिकाल है, उस त्रिकालकी दृष्टिमें एक समयके विकारका अभाव है; इसलिये जो विकारमें अटके उसे यहाँ आत्मवीर्य नहीं माना है; विकारको भी आत्मा नहीं माना है। द्रव्यगुण और उसमें अभेद हुई निर्मल परिणतिको ही यहाँ आत्मा माना है।

आत्माकी वीर्यशक्ति अपने द्रव्य-गुण-पर्यायको निजस्वरूपमें टिका रखती है। अपने जीवत्व, श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनन्द, प्रभुत्व आदिकी रचना करे—उसे प्राप्त करे—प्रगट करे—वह वीर्यशक्तिका कार्य है। आत्मा अपने वीर्यगुणसे अपनी सृष्टिका सर्जन करता है, परन्तु परकी सृष्टिका वह सर्जक नहीं है। वीर्यशक्ति आत्माके समस्त गुणोंमें व्यापक है इसलिये आत्माका प्रत्येक गुण स्वयं अपनी पर्यायका सर्जन करनेमें समर्थ है। देव-गुरु-शास्त्रादि कोई निमित्त आकर आत्माकी पर्यायका सर्जन करें यह बात तो दूर रही; पुण्य द्वारा आत्माकी निर्मल पर्यायका सर्जन होता है यह बात भी दूर रही; किन्तु आत्माका एक गुण भी दूसरे गुणकी पर्यायका सर्जन नहीं करता; प्रत्येक गुण स्वयं अपनी पर्यायका सर्जन करता है। श्रद्धा-गुणके आश्रयसे श्रद्धाकी पर्यायका सर्जन होता है, ज्ञानगुणके आश्रयसे ज्ञानकी पर्यायका सर्जन होता है, चारित्रगुणके आश्रयसे चारित्रकी पर्यायका सर्जन होता है। अखंड आत्माके आश्रयसे समस्त

गुणोंकी निर्मलपर्यायकी रचना एक साथ होती जाती है। इसके अतिरिक्त मंदकषायसे अर्थात् व्रत–भक्ति आदिके शुभपरिणामसे सम्यक् श्रद्धा आदि पर्यायोंकी रचना नहीं होती।

आत्मा वीर्यशक्तिसे स्वयं स्वतंत्ररूपसे अपने स्वरूपकी रचना करता है; स्वरूपकी रचना करनेके लिये किसी विकल्पका या दिव्यध्वनिके उपदेशका आश्रय उसके नहीं है। परके कारण पर्याय विकसित हो ऐसा आत्माका स्वभाव ही नहीं है। अपनी पर्यायके विकासके लिये जिसने परका आश्रय माना है वह मिथ्यादृष्टि है, और उसकी वह पराश्रयकी मान्यता ही संसारका मूल कारण है। त्रिकालशक्तिके आश्रयपूर्वक प्रत्येक समयकी पर्याय उस-उस कालके स्वतंत्रवीर्य सामर्थ्यसे परिणमित हो रही है; उसे किसी परकी तो अपेक्षा नहीं है, किन्तु अपनी पूर्व पर्याय तककी अपेक्षा नहीं है। अहो ! निरपेक्ष स्वतंत्रवीर्य प्रतिसमय आत्मामें उछल रहा है। यदि अपनी ऐसी शक्तिको पहिचाने तो अपनी पर्यायकी रचनाके लिये पराश्रयकी बुद्धि छूट जाये और स्वद्रव्यके आश्रयसे निर्मल–निर्मल पर्यायकी रचना हो—उसका नाम धर्म और मोक्षमार्ग है।

आत्मा परका कुछ कर्त्ता है यह बात तो इससमय यहाँ नहीं है, और परका नहीं करता यह बात भी यहाँ नहीं है; क्योंकि आत्मस्वभावोन्मुख हुआ वहाँ परसन्मुख लक्ष ही नहीं है। स्वभावदृष्टिमें आत्मा रागको करे, यह बात भी नहीं है; किन्तु आत्मा रागको दूर करे, यह बात भी नहीं है; क्योंकि स्वभावदृष्टिसे देखनेपर आत्मामें राग है ही नहीं, इसलिये उसे दूर करना भी कहाँ रहा ? ऐसी स्वभावदृष्टि करना ही वीतरागताका मूल है। यहाँ मात्र स्वभावदृष्टिके विषयका वर्णन है। रागकी रचना करे ऐसा तो आत्माका स्वभाव नहीं है, और उस रागको दूर करने पर भी लक्ष नहीं है, मात्र स्वरूपमें ही लक्ष है; स्वरूपके लक्ष (आश्रय)से वीतरागी पर्यायकी रचना हो जाती है। वस्तुस्वभावकी दृष्टिसे निर्मल पर्यायकी रचना करे ऐसा आत्माका सामर्थ्य है। 'आत्मा ही' उसे कहा है जिसके सामर्थ्यसे स्वरूपकी

उत्पत्ति हो, जिससे विकारकी उत्पत्ति हो उसे आत्मा नहीं कहते। (–उसे आस्रव कहते हैं)। यदि आत्मस्वरूप स्वयं रागकी उत्पत्ति करे तब तो राग कभी दूर ही न हो सके! और यदि उसमें परकी रचनाका सामर्थ्य हो तो वह परसे कभी पृथक् न हो सके। जो जिसकी रचना–उत्पत्ति करे वह उससे पृथक् नहीं रह सकता। आत्मा रागको उत्पन्न करनेवाला नहीं है इसलिये उसका दूर करनेवाला भी नहीं है। यदि आत्मा स्वभावसे रागको दूर करनेवाला हो तो सदैव रागको ही दूर करता रहे अर्थात् सदैव रागपर ही लक्ष बना रहे, राग रहित स्वरूपोन्मुख न हो सके। 'मैं रागको करूं''—ऐसी जिसकी बुद्धि है उसका लक्ष राग पर है, किन्तु आत्मस्वभाव उसका लक्ष नहीं है। यहाँ तो सर्वतः शुद्ध आत्मस्वरूपको बतलाना है; उस स्वरूपकी दृष्टिमें तो एक सहज शुद्ध आत्माकी ही अस्ति है; इसके अतिरिक्त उसमें अन्य किसी भावका स्वीकार नहीं है। अहो! आत्मा मात्र भगवान् है, स्वयं ही चैतन्य परमेश्वर है; जीवत्व, ज्ञान, सुख, अस्तित्व, प्रभुत्व आदि अनंत शक्तियोंके अभेद पिण्डकी दृष्टिसे, श्रद्धा, ज्ञान, आनंद आदि अनंतगुणोंको स्व-स्वरूपमें परिणमित करके स्वरूपकी रचना करनेका ही उसका सामर्थ्य है।

प्रश्न–क्या आरंभसे है ऐसा आत्मा समझना चाहिये, अथवा पहले अन्य कुछ करना चाहिये?

उत्तर–यदि धर्म करना हो—आत्माका कल्याण करना हो तो सर्व प्रथम ऐसे आत्माको समझना चाहिये; क्योंकि धर्म अपने आत्मामेंसे ही प्रगट होता है; कहीं बाह्यसे धर्म नहीं आता। धर्म करनेके लिये सबसे पहली रीति यही है, अन्य कोई रीति नहीं है। आत्मा देहसे—इन्द्रियोंसे पार, तथा पुण्य-पापके अभावरूप अनंतशक्तिका पिण्ड, ज्ञायकमूर्ति है; उस आत्माके स्वरूपकी सच्ची प्रतीति करना ही धर्मका प्रारम्भिक उपाय है।

आत्माके अनंतस्वभाव सामर्थ्यका अस्वीकार करे, उसे जानकर उसका स्वीकार न करे तो वह सामर्थ्य कहाँसे प्रगट होगा?

जहाँ सत्ता विद्यमान है उसमेंसे आयेगी या बाह्यसे ? परमात्मपनेकी सत्ता अपनेमें भरी है; उसका स्वीकार करके उसके सन्मुख हुए बिना परमात्मदशा विकसित नहीं होती। जगतके समस्त पदार्थ अपने-अपने स्वकालानुसार परिवर्तित हो रहा है; उस-उस समयके अपने स्वभावसे ही प्रत्येक पदार्थ परिणमित हो रहा है; उसमें इन्द्र भी क्या करेंगे और तीर्थंकर भी ? यदि ऐसी वस्तुस्थितिको समझे तो कहीं भी परका मिथ्या अहंकार न रहे; इसलिये परसे और विकारसे उदासीन होकर ज्ञायक स्वरूपका उत्साह जागृत हुए बिना न रहे। अहो ! क्रमबद्ध पर्यायमें वस्तुएँ परिणमित हो रही हैं—इस निर्णयमें तो परम वीतरागता है, अकेले ज्ञायक भावका ही मंथन होता है। इस ज्ञान और वीतरागताके पुरुषार्थकी अज्ञानीको गंध भी नहीं है इसलिये वह उसे एकान्त, नियतवाद कहता है।

साधकको अभी अवस्थामें कुछ निर्बलता है, परन्तु परिपूर्ण स्वभावसामर्थ्यकी स्वीकृतिमें अवस्थाकी निर्बलताका अथवा विकारका निषेध है। स्वभावके सामर्थ्यमें कैसी निर्बलता ? स्वभावका सामर्थ्य कहना और उसमें निर्बलता कहना वह तो "मेरे मुँहमें जिह्वा नहीं है"—ऐसा कहनेके समान हुआ ! यहाँ तो अखंड स्वभावकी दृष्टिमें प्रथम श्रद्धा और फिर चारित्रका विकास होता है—ऐसे भेदकी भी मुख्यता नहीं है। अपने स्वरूपकी प्राप्ति करे ऐसी वीर्यशक्ति आत्मामें त्रिकाल है, और ऐसी अनंतशक्तियोंसे अभेद आत्मा है; उस आत्माके आश्रयसे ज्ञानमात्र भावका परिणमन होनेसे अनंत शक्तियाँ एक साथ निर्मलरूपसे विकसित हो जाती हैं—ऐसा आत्माका अनेकान्तस्वभाव है।

आत्मसामर्थ्य बल; जो आत्मस्वरूपमें निर्मल श्रद्धा, ज्ञान, आनंद आदि स्वसामर्थ्यकी रचना करे उसे वीर्य शक्ति कहते हैं। आत्मा शरीर पुण्य-पाप रहित है; उसमें वीर्य गुण क्या काम करता है ? अतींद्रिय ज्ञानमयस्वरूपकी रचना करता है अर्थात् उसमें निर्मल श्रद्धा, ज्ञान, सुखकी रचना करता है, परन्तु शरीरकी क्रिया, छह

पर्याप्तिकी रचना करे वह आत्माके वीर्यका कार्य नहीं है। आत्मा तो नित्य चैतन्यस्वभावी है, उसमें रागको रचनेकी योग्यता नहीं है। पंचमहाव्रतका विकल्प वह शुभराग है, आस्रवतत्त्व है, उसे विषकुंभ कहा है; क्योंकि उसमें आत्मस्वभावको रचनेकी योग्यता ही नहीं है। सुवर्णसे सोनेके बरतन बनते हैं, उसीप्रकार आत्माके वीर्य गुणकी सँभाल करते ही—वीर्यवान अनंतगुणसंपन्न आत्माके ऊपर दृष्टि देनेसे साथमें अनंत गुणोंके निर्मल पर्यायोंकी उत्पत्ति हो वह वीर्यका कार्य है। पुण्य, पाप, मिथ्यात्वकी रचना करे वह वीर्यका विपरीत कार्य है, उसे आत्माका वीर्य नहीं कहते। अज्ञान भावसे रागादिकी रचना करे उसे आत्माका वीर्य नहीं कहा जाता। अहो! भगवान! तुझे श्रुतामृतके घृतसे भरपूर मिष्टान्न परोसा जा रहा है।

भगवान आत्माका स्वभाव नित्य ज्ञानामृतका भोजन करनेका है; ऐसे निजस्वरूपकी आराधना करनेसे मैं अनंतबलका प्रकाश करनेवाला अपार वीर्यका धारक अनंत गुणोंका पिण्ड आत्मा हूँ—ऐसी दृष्टि पूर्वक निर्विकारी आत्मकार्य करे वह आत्माके वीर्यका कार्य है। आँखोंकी पलकें ऊपर-नीचे हों उसमें आत्माके वीर्यका कार्य है या नहीं?–नहीं, जड़के कार्य स्वतंत्ररूपसे पुद्गलद्रव्य ही करता है, व्यवहारनयसे ऐसा कहा जाता है कि आत्माने किया किन्तु आत्मा परका कार्य नहीं कर सकता। यह पुरुष बहुत बलवान है, एक मुक्का मारे तो ऐसा हो जाय एक बात कह दे तो ऐसा हो जाय, अरे—यह तो स्थूल व्यवहार-कथन है।

प्रश्नः—दूसरा कोई निमित्त तो हो सकता है न?

उत्तरः—निमित्तका अर्थ इतना ही है कि जहाँ यह हो वहाँ वह होता है, अर्थात् उपादानका निमित्तने कुछ भी कार्य नहीं किया है, क्योंकि दोनों भिन्न हैं। स्वयं कार्यरूप परिणमित हो उसे उपादान कहते हैं। उपादानने कार्य किया उस समय भिन्न वस्तुरूप सामने कौन था वह बतानेके लिये निमित्तकी मुख्यतासे कथन आता है किन्तु

निमित्तसे परमें कार्य हुआ, निमित्तने कुछ प्रभाव, मदद, प्रेरणा की तो दूसरेका कार्य हुआ यह बात त्रिकाल मिथ्या ही है।

अहो ! द्रव्यदृष्टिका वर्णन !

अहो ! मैं चैतन्यशक्तिका पिण्ड द्रव्य हूँ, उसमें दृष्टि देनेसे चैतन्य–रत्नाकरके महात्म्यका जो ज्वार आया वह सबकी स्वतंत्रता सबमें देखता है; लेकिन जबतक संयोगी दृष्टि है तबतक तूने स्वयंका भी स्वतंत्र-पूर्णरूपमें अवलोकन नहीं किया।

प्रश्नः—बाह्य कार्योंके साथ जीवकी इच्छाका सम्बन्ध है या नहीं ?

उत्तरः—नहीं, इच्छा ज्ञानका कार्य नहीं है; जो रागकी रचना करे उसे आत्माका वीर्य नहीं कहा जाता।

आत्मा ज्ञान करे अथवा अज्ञानभावसे राग करे लेकिन वह परका कर्ता नहीं हो सकता। किसी जीव धनादिपरवस्तुका संग्रह या त्याग कर सकते नहीं व्यवहार रत्नत्रयका विकल्प उठे उसे आत्मद्रव्य कभी भी कारण नहीं है। शुभाशुभरागके कारणमें पर्याय दृष्टिसे पर्याय कारण है, किन्तु वह योग्यता द्रव्यस्वभावमें नहीं है। अहो ! तेरा नित्य चैतन्य ज्ञातास्वभाव है, विकल्पको छोड़ना या ग्रहण करना वह तेरा कार्य नहीं है। अंदर एकता होते ही ज्ञानका वीर्य दर्शन सुख आदि अनंत गुणोंका वीर्य एकसाथ उछलता है वह सबमें वीर्यत्व बताता है, वह अनन्तगुणोंका आधार आत्मा है, उस पर दृष्टि देनेसे धर्म होता है। यह बात जैन मतके अलावा और कहाँ हो सकती है ?

स्वरूपको अवलोकन करनेसे पर ज्ञेय ज्ञात हो जाते हैं। निर्धनता–दरिद्रता हो और उस समय कहीं खोदनेसे सुवर्णका भण्डार मिल जाय तो कितना हर्ष-उत्साह हो जाता है, किन्तु वह तो धूल है, स्वप्न समान है। मैं सबको जाननेवाला, असंग अविकारी अनंतगुणोंका धाम हूँ; पराश्रयकी दृष्टि छोड़कर निश्चय दृष्टिसे निजको

अवलोकन करते ही मैं अनंत गुणोंका धारक ज्ञायक वीर हूँ उसकी महिमाका परम आनंद उछलता है और उसके साथ ही अनंतगुणोंका आनंद भी अनुभवमें उछलता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव धर्म धुरन्धर थे, निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें झूलते थे, उनको भी व्यवहार-रत्नत्रयका विकल्प आता अवश्य था, किन्तु उसे आश्रय करने योग्य नहीं मानते थे। तथा उसमें वीर्य रुक जाय तो उसको आत्माके वीर्यका कार्य न कहकर आस्रव तत्त्वमें और पुद्गल द्रव्यमें सम्मिलित कर देते थे। औदयिकभावकी रचना करे वह आत्मतत्त्व नहीं है। तत्त्वार्थ सूत्रमें ज्ञानप्रधान कथनसे औदयिकभावको स्वतत्त्व कहा है, किन्तु यहाँ द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षा ज्ञातास्वभावसे भिन्न कहकर विरुद्धतत्त्वमें (अजीवमें) उसका समावेश कर दिया है। चैतन्यस्वभावकी सँभाल करनेसे वह रागादिका रचयिता भासित नहीं होता। चारित्रके दोषसे रागकी रचना होती है किन्तु वह आत्माका स्वभाव नहीं है; इसप्रकार रागसे भेद करके अभेद स्वरूपका ही आदर कराया है। क्रमबद्ध पर्यायके निर्णयमें अकर्त्तापनेका पुरुषार्थ है। मैं ज्ञाता तत्त्व हूँ, स्वभावकी दृष्टि हुई वह स्वभावका ही कार्य करती है—आत्माको जागृत करती है, आत्मामें वीर्य नामका गुण है तथा पुरुषार्थ उसकी पर्याय है। क्रमबद्धपर्यायके निर्णयमें अकर्त्तापनेका, स्वभाव सन्मुख ज्ञातापनेका पुरुषार्थ है, उसमें समस्त विभावकी उपेक्षा है। मैं क्रमबद्धपर्यायको जाननेवाला हूँ, ज्ञान स्वभावके ऊपर दृष्टि पड़ी वह स्वाभाविक कार्य करती है और आत्माको प्रसिद्ध करती है।

नियतिका निश्चय करनेवाला जागृत हुआ वह स्वसन्मुख ज्ञातापनेके पुरुषार्थमें लगा हुआ ही रहता है। द्रव्यगुण और उसकी प्रत्येक समयकी पर्याय तीनों स्वसे सत् हैं और परसे असत् हैं। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों अकृत्रिम हैं—परके द्वारा किये हुए नहीं हैं तथा परके अकर्त्ता हैं; इसप्रकार नियत-स्वभावी धर्मको जाना, उसको अक्रम अनंतगुणोंका पिंड एकरूप ज्ञायकभाव सो मैं हूँ, उसमें दृष्टि देते हुए

प्रचंडवीर्य उल्लसित होता है और वह केवलज्ञानका साधक चैतन्यप्रभुकी ज्ञानानन्दमय तरंगोंको उछालता हुआ परके और रागके कार्योंका कर्ता नहीं होता। ज्ञान और आनंदकी रचना करनेवाला हूँ उसमें अभेद दृष्टि द्वारा सावधान हुआ वहाँ अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यका पुरुषार्थ एक ही साथ है, और वह जीव केवलज्ञानके निकट आकर अल्पकालमें केवलज्ञानी परमात्मा हो जाता है।

प्रत्येक समयमें (१) स्वभाव (२) पुरुषार्थ (३) काल (४) नियति (५) कर्म—ये पाँचों समवाय एक ही साथ होते हैं। पराश्रयकी श्रद्धाको छोड़कर भेदको गौण करके मैं त्रिकाल पूर्ण ज्ञायक स्वाधीन वस्तु हूँ, उसमें दृष्टि देकर अप्रतिहत धारासे जागृत हुआ मैं केवलज्ञानस्वभावी हूँ,—ऐसे निश्चयपूर्वक जागृत हुआ वह सम्यग्दृष्टि है, वह जानता है कि बाह्यमें सारी दुनियाँ प्रतिकूल हो तो भी मेरे ज्ञातास्वभावमें किंचित् खंड नहीं पड़ता, निरंतर अखंड ज्ञान—शांतिमय अंतरंग ज्ञानधारामें भंग नहीं पड़ता। इसप्रकार स्वरूप सामर्थ्यकी रचनामें सावधान हुआ वह निरंतर निर्भय है, प्रसन्न है।

अनंत वीर्य द्वारा अनंत गुणोंके सामर्थ्यकी रचनाको धारण करनेवाले आत्मामें आनन्दका स्रोत प्रवाहित करनेवाले, आत्माका वैभव बतानेवाले आत्मवैभवशाली सत्पुरुषोंकी जय हो।

[यहाँ छठवीं वीर्यशक्तिका वर्णन पूर्ण हुआ।]

[७]

प्रभुत्वशक्ति

आत्माकी प्रभुताका अद्भुत वर्णन करनेमें आचार्यदेव कहते हैं कि अहो जीवों ! तुम्हारी प्रभुताकी प्रतीति तो करो ! प्रभुताकी पहिचान करते ही तुम्हारे आत्मामें सम्यग्दर्शनरूपी सुप्रभात उदय होगा...प्रभुता दिखा करके संत-मुनिराज नूतन सालका 'स्वभाव-अभिनन्दन' देते हैं।

आत्माकी प्रभुताका अद्भुत वर्णन

आत्मा अनंतधर्मस्वरूप है; 'ज्ञानमात्र' कहकर उसकी पहिचान कराई है इसलिये एकान्त नहीं हो जाता; क्योंकि ज्ञानमात्र भाव परिणमित होनेसे उसके साथ अनंतधर्मोंका परिणमन साथ ही उछलता है, इसलिये ज्ञानमात्र भावको अनेकान्तपना है। यहाँ ज्ञानमात्र भावके साथ विद्यमान धर्मोंका वर्णन चलता है।

आत्मामें 'प्रभुत्व' नामकी एक शक्ति है; इसलिये अखण्डित प्रतापवाली स्वतंत्रतासे आत्मा सदैव शोभायमान है। जिसका प्रताप अखण्डित है अर्थात् जिसे कोई खण्डित नहीं कर सकता—ऐसे स्वातंत्र्यसे (स्वाधीनतासे) शोभायमानपना जिसका लक्षण है ऐसी प्रभुत्व-

शक्ति आत्मामें त्रिकाल है। जिसप्रकार आत्मामें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, जीवन इत्यादि शक्तियाँ हैं उसीप्रकार यह प्रभुत्वशक्ति भी है। आत्माके द्रव्य–गुण–पर्याय तीनोंमें प्रभुता विद्यमान है। आत्मामें कहीं भी पामरता नहीं है किन्तु प्रभुता है; द्रव्यमें प्रभुत्व है, ज्ञानादि अनंत-गुणोंमें प्रभुत्व है और पर्यायमें भी प्रभुत्व है। द्रव्य-गुण और पर्याय तीनोंकी स्वतंत्रतासे आत्मा शोभायमान है। आत्माके द्रव्यकी, गुणकी और पर्यायकी प्रभुताके प्रतापको खण्डित करनेमें कोई समर्थ नहीं है। किसी निमित्तादि पर वस्तुसे या पुण्यसे आत्मा शोभित नहीं है परन्तु अपनी अखण्ड प्रभुतासे ही आत्मा शोभायमान है। जितने प्रभु हुए हैं वे सब अपने आत्माकी प्रभुताको जान-जानकर ही हुए हैं; प्रभुता कहीं बाह्यसे नहीं आयी है। पामरतामेंसे प्रभुता नहीं आती, परन्तु आत्म-स्वभाव त्रिकाल प्रभुताका पिण्ड है उसीमेंसे प्रभुता आती है, इसलिये प्रथम अपनी प्रभुताका विश्वास करो!

इस बार (वीर सं० २४७५ के) सुप्रभात-मंगलमें इस प्रभुत्वशक्तिका वर्णन आया था। नूतन वर्षके प्रारम्भमें लोग शरीर, मकान आदिकी बाह्य शोभा करते हैं; परन्तु यहाँ तो अन्तरमें आत्माकी शोभाकी बात है। गृह आदिकी शोभामें आत्माकी शोभा नहीं है, परन्तु अपनी प्रभुत्वशक्तिसे ही आत्माकी अखण्ड शोभा है; आत्माका प्रताप अखण्ड है।

चैतन्यभगवान अखण्ड प्रतापसे स्वतंत्ररूपसे शोभायमान है; जगतके कोई निमित्त या प्रतिकूल संयोग उसकी शोभाको हानि नहीं पहुँचा सकते और कोई अनुकूल संयोग उसकी शोभामें सहायक नहीं हैं; वह स्वयं अपने अखण्डित प्रतापसे शोभायमान है; ऐसी प्रभुता आत्मामें त्रिकाल है। द्रव्यमें प्रभुता है, गुणमें प्रभुता है और पर्यायमें भी प्रभुता है। द्रव्य–गुणकी प्रभुताके स्वीकारसे पर्यायमें भी प्रभुता प्रगट होगई है।

द्रव्यदृष्टिसे देखने पर आत्माकी प्रभुतामें कभी विकार हुआ

ही नहीं। पर्यायमें एक-एक समयका विकार करते-करते अभीतकका चाहे जितना काल व्यतीत हुआ और चाहे जितनी मलिनता हुई, परन्तु द्रव्यकी प्रभुताको तोड़नेमें वे कोई समर्थ नहीं हैं। द्रव्यकी प्रभुता तो अखण्डरूपसे ज्यों की त्यों शोभायमान है, उसमें अंशमात्र खण्ड नहीं पड़ा है; और गुणकी प्रभुता भी ज्यों की त्यों अखण्डित है; तथा प्रत्येक समयकी पर्याय भी परकी अपेक्षारहित, स्वाश्रयसे स्वतंत्ररूपसे शोभायमान है। इन द्रव्य–गुण–पर्याय तीनोंकी प्रभुता जयवंत प्रवर्तमान है। प्रभुत्वशक्ति आत्माके द्रव्य–गुण–पर्याय तीनोंमें व्याप्त हो रही है, इसलिये आत्मा स्वयं प्रभु है।

"हे प्रभु! आपकी प्रभुताका कैसे वर्णन करूं!"—इसप्रकार दूसरोंको अपना प्रभु कहना वह विनयसे व्यवहारका कथन है; वास्तवमें इस आत्माका प्रभु अन्य कोई नहीं है; स्वयं ही अपनी प्रभुत्वशक्तिका स्वामी है; स्वतंत्रताके अखण्ड प्रतापसे स्वयं शोभायमान है इसलिये स्वयं ही अपना प्रभु है। आत्माकी प्रभुताका प्रताप ऐसा अखण्डित है कि अनंत अनुकूल या प्रतिकूल परिषह आयें तथापि उसका प्रताप खण्डित नहीं होता। अरे! क्षणिक पुण्य-पापकी वृत्तिसे भी उसकी प्रभुताका प्रताप खण्डित नहीं होता; क्योंकि आत्माकी प्रभुत्वशक्ति तो द्रव्य-गुण-पर्याय तीनोंमें व्यापक है और त्रिकाल है; विकार कहीं द्रव्य-गुण-पर्याय तीनोंमें व्याप्त नहीं होता और न वह त्रिकाल है; इसलिये उस क्षणिक विकारके द्वारा भी आत्माकी प्रभुता खण्डित नहीं होती। आत्माकी ऐसी प्रभुता है वह द्रव्यदृष्टिका विषय है। ऐसी आत्माकी प्रभुता जिसको जम गई है उसे पर्यायमें केवलज्ञानरूपी प्रभुता अवश्य प्रगट होती है।

धर्मी जानता है कि मेरी प्रभुता मुझमें है, अपनी प्रभुतासे ही मेरी शोभा है। मेरी प्रभुताका प्रताप ऐसा अखण्डित है कि तीनलोकमें कोई द्रव्य–गुण–पर्याय मेरे द्रव्य-गुण-पर्यायकी स्वतंत्रताकी शोभाको लूटनेवाला नहीं है। मेरा प्रभुत्व अनादि-अनंत है; मैं अपनी अखण्ड स्वतंत्रताके प्रतापसे शोभित हूँ; मेरे प्रत्येक गुणमें भी प्रभुत्व

है। ज्ञानमें जाननेका ऐसा प्रभुत्व है कि एक समयमें तीनकाल-तीनलोकको जान ले; श्रद्धामें प्रतीतिका ऐसा प्रभुत्व है कि एक क्षणमें परिपूर्ण परमात्माको प्रतीतिमें ले सकती है; दर्शनमें देखनेका प्रभुत्व है; आनन्दमें आह्लादका प्रभुत्व है।—इसप्रकार श्रद्धा–ज्ञान–आनंदादि गुण अपने अखण्ड प्रतापसे शोभायमान हैं। द्रव्य–गुणकी भाँति प्रत्येक समयकी पर्यायमें भी मेरी प्रभुता है। पर्यायमें जो अल्प राग-द्वेष होते हैं वे गौण हैं; उनका त्रिकाली आत्मस्वरूपमें अभाव है। आत्माकी प्रभुता कभी अपूर्ण या पराश्रित हुई ही नहीं है; वह तो त्रिकाल अबाधित है; उसका स्वाधीन प्रताप अखण्ड है। विकारमें तो प्रभुत्व ही नहीं है; क्योंकि वह त्रिकाली द्रव्य-गुणमें या समस्त पर्यायोंमें व्याप्त नहीं होता। आत्माकी प्रभुता तो त्रिकाली द्रव्य–गुणमें और समस्त पर्यायोंमें व्याप्त होनेवाली है।

जिन्हें अपनी चैतन्यप्रभुताका भान नहीं है ऐसे अज्ञानी जीव परसंयोगसे अपना बड़प्पन मानते हैं और वे संयोग प्राप्त करनेकी भावना करते हैं। ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त हो और शरीर स्वस्थ रहे—ऐसी बाह्य पदार्थोंकी भावना अज्ञानी करते हैं; परन्तु स्वयं अपने स्वभावकी ऋद्धि-सिद्धि और प्रभुतासे परिपूर्ण हैं उसकी पहिचान और भावना नहीं करते। जिसने अपने सुखके लिये पर वस्तुकी आवश्यकता मानी है उसने अपने आत्माकी प्रभुताको स्वीकार नहीं किया है किन्तु पामरताका स्वीकार किया है; इसलिये उसके पर्यायमें प्रभुता प्रगट नहीं होती। यहाँ तो कहते हैं कि त्रिकाली प्रभुताके स्वीकारसे पर्यायमें जो प्रभुता प्रगट हुई उसके प्रतापको खण्डित करनेके लिये जगतमें कोई क्षेत्र, कोई काल और कोई संयोग समर्थ नहीं है।

श्रद्धाकी प्रत्येक समयकी पर्यायमें ऐसी शक्ति है कि वह परिपूर्ण द्रव्यको प्रतीतिमें ले लेती है। श्रद्धा–ज्ञान–आनंदादि गुणोंकी प्रत्येक पर्यायने द्रव्यकी अखण्डताको बना रखा है। यदि ज्ञानादि किसी भी गुणकी एक ही पर्याय निकाल दें तो गुणका अनादि-अनंत अखण्डपना नहीं रहता; और गुण अखण्ड न रहनेसे द्रव्य भी अखण्ड

नहीं रहता; इसलिये प्रत्येक पर्यायमें भी प्रभुत्व है। द्रव्य अनंत गुणोंका पिण्ड है और गुण अनंत पर्यायोंका पिण्ड है; इसलिये द्रव्यकी प्रभुता अपने समस्त गुणोंमें और समस्त पर्यायोंमें विस्तृत है; वे सब स्वतंत्रतासे शोभायमान हैं। आत्माकी अनंतशक्तियोंमेंसे यदि एक भी शक्तिको निकाल दें तो द्रव्यकी प्रभुता खण्डित हो जाती है; और ज्ञान–दर्शन–अस्तित्वादि किसी एक गुणकी एक समयकी अवस्थाको निकाल दें तो भी गुण अनादि–अनंत अखण्ड नहीं रहता परन्तु खण्डित हो जाता है। यहाँ प्रत्येक समयकी पर्यायकी भी प्रभुता सिद्ध होती है।

पर्याय एक समयकी है इसलिये उसे तुच्छ–असत् माने और उसकी स्वतंत्र प्रभुताको स्वीकार न करे तो पर्यायकी प्रभुताके बिना द्रव्यकी अखण्ड प्रभुता ही सिद्ध नहीं होगी। जैसे किसी मनुष्यकी उम्र १०० वर्ष की हो, उसके १०० वर्षोंमेंसे यदि एक समयको भी निकाल दें तो उसका १०० वर्ष का अखण्डपना नहीं रहता; किन्तु एक ओर ५० और दूसरी ओर ५० वर्ष में एक समय कम—ऐसे दो खण्ड हो जाते हैं। उसी प्रकार यदि द्रव्यकी एक भी पर्यायकी सत्ताको निकाल दें तो द्रव्यका प्रताप खण्डित हो जाता है; पर्यायके बिना पूर्ण द्रव्य ही सिद्ध नहीं हो सकता। इसप्रकार द्रव्यकी प्रत्येक पर्यायमें भी अखण्ड प्रताप है।—ऐसी आत्माकी प्रभुत्वशक्ति है।

आत्माकी प्रभुता असंख्य प्रदेशोंमें व्याप्त है। जिसप्रकार प्रत्येक पर्यायमें प्रभुता है उसीप्रकार प्रत्येक प्रदेशमें भी प्रभुता है। प्रदेश-प्रदेशमें प्रभुता भरी है। अनादि-अनंत एक प्रदेश दूसरे प्रदेशरूप नहीं होता; वह अन्य अनंत जीवोंके अनंत प्रदेशोंसे भिन्न अपना स्वाधीन अस्तित्व बना रखता है—ऐसी प्रदेशकी प्रभुता है। आत्मामें पर्यायकी प्रभुता और प्रदेशकी प्रभुतामें इतना अंतर है कि एक पर्याय तो आत्माके सर्व क्षेत्रमें—समस्त प्रदेशोंमें व्यापक है; परन्तु एक प्रदेश सर्व प्रदेशोंमें व्यापक नहीं है। पर्याय सर्व प्रदेशमें व्यापक है परन्तु वह एक समय पर्यंतकी है; और एक प्रदेश सर्व प्रदेशोंमें व्यापक न होने पर भी वह त्रिकाल है। क्षेत्र भले ही छोटा हो,

तथापि उसमें भी प्रभुता है, और पर्यायका काल भले अल्प हो, तथापि उसमें भी प्रभुता है। भगवान आत्माका कोई अंश प्रभुतासे खाली नहीं है। यदि अपने आत्माकी ऐसी अखण्ड प्रभुताको जाने तो किसी पर वस्तुको प्रभुत्व न दे अर्थात् पराश्रय न करे। पराश्रयको छोड़कर अपनी प्रभुताका आश्रय करे उसका नाम धर्म है और वही मुक्तिका उपाय है। आत्माकी प्रभुताके स्वीकारमें स्वाश्रयका स्वीकार है और स्वाश्रयके स्वीकारमें मुक्ति है। यदि किन्हीं निमित्त, संयोगादि परके आश्रयसे लाभ माने तो अपनी प्रभुताकी प्रतीति नहीं रहती; और पर्यायमें होनेवाले अल्प विकारको प्रभुत्व दे दे, तो भी अपनी प्रभुताकी प्रतीति नहीं रहती। आत्माकी प्रभुता विकार और संयोगरहित अनंतगुणोंसे अखण्ड है।

अज्ञानी कहता है कि द्रव्य-गुणमें तो स्वतंत्र प्रभुता है, किन्तु पर्याय परके आश्रयसे होती है। जिसने पर्यायका होना परके आश्रयसे माना है उसने वास्तवमें द्रव्य-गुणकी स्वाधीन प्रभुताको भी नहीं जाना है। जहाँ द्रव्य-गुणकी प्रभुताको स्वीकार किया वहाँ पर्याय भी द्रव्य-गुणकी ओर उन्मुख हो गई और उसमें भी प्रभुता हो गई; इसप्रकार द्रव्य-गुणकी ओर उन्मुख हुए बिना द्रव्य-गुणकी प्रभुताको भी वास्तवमें स्वीकार किया नहीं कहा जा सकता। यदि वास्तवमें द्रव्य-गुणकी प्रभुताका स्वीकार करे तो पर्यायकी वृत्ति पराश्रयसे छूटकर अन्तर्मुख हुए बिना न रहे। जिसप्रकार त्रिकाली द्रव्य-गुण सत्-अहेतुक है उसीप्रकार एक-एक समयकी पर्याय भी सत्-अहेतुक है। पर्यायका कारण पर वस्तुएँ नहीं हैं। उसीप्रकार यदि पर्यायका कारण द्रव्य-गुणको कहा जाये तो वे द्रव्य-गुण तो समस्त जीवोंके समान हैं, तथापि पर्यायमें क्यों अन्तर पड़ता है? इसलिये प्रत्येक पर्यायमें अपनी अकारणीय प्रभुता है। पर्यायकी ऐसी निरपेक्षता स्वीकार करनेसे पर्यायका निर्मल परिणमन ही होता जाता है; क्योंकि निरपेक्षता स्वीकार करनेवाली पर्याय स्व-द्रव्यकी ओर उन्मुख है। अहो! द्रव्यका प्रत्येक अंश स्वतंत्र है, एक अंश भी पराधीन नहीं

है। ऐसी प्रतीति करनेवालेको स्वभावाश्रित निर्मल परिणमन ही हो रहा है।

प्रभुत्वशक्तिने पूर्ण आत्माको प्रभुता दी है; मात्र प्रभुत्वगुणमें ही प्रभुता है ऐसा नहीं है; परन्तु सम्पूर्ण द्रव्यमें, उसके समस्तगुणोंमें और प्रत्येक पर्यायमें प्रभुता है।—ऐसी प्रभुताको जाननेसे जीव अपने अनंत प्रभुत्वको प्राप्त करता है। ऐसी अपनी प्रभुताका श्रवण–मनन करके उसकी महिमा, रुचि और उसमें लीनता करना वह अपूर्व मंगल है।

सम्यक्श्रद्धाने पूर्ण आत्माकी प्रभुताकी प्रतीति की है; पर्यायकी प्रभुताने पूर्ण द्रव्यकी प्रभुताका स्वीकार किया है। अब उस द्रव्यके ही लक्षसे एकाग्र होकर पूर्ण केवलज्ञानरूपी प्रभुता होगी। उस प्रभुताके अप्रतिहतभावमें बीचमें कोई विघ्नकर्ता इस जगतमें नहीं है।

आत्माकी प्रभुता कितनी होगी ?—क्या मेरु पर्वत जितनी होगी ? तो कहते हैं कि नहीं; मेरुकी उपमा तो उसे बहुत छोटी होगी। क्षेत्रकी विशालतासे आत्माकी प्रभुताका माप नहीं निकलता। एक समयकी पर्यायमें अनंत मेरुओंको जान ले ऐसा उसकी भावप्रभुताका सामर्थ्य है। आत्माकी एक ज्ञानपर्याय एक साथ समस्त लोकालोकको जान लेती है; तथापि अभी उससे अनंतगुना जान ले इतना सामर्थ्य बाकी रह जाता है। इसलिये लोकालोककी उपमासे एक ज्ञानपर्यायके सामर्थ्यका भी परिपूर्ण माप नहीं निकलता; तब फिर पूर्ण आत्माके सामर्थ्यकी क्या बात की जाये ? आत्माकी एक पर्यायकी इतनी मोटी प्रभुताका जिसे विश्वास और आदर हुआ वह जीव अपनी पर्यायमें किसी परका आश्रय नहीं मानता, रागका आदर नहीं करता, अपूर्णतामें उसे उपादेयभाव नहीं रहता; वह तो पूर्ण स्वभावके आश्रयसे परिपूर्ण दशा प्रगटकरके ही रहेगा। पूर्ण ध्येयको लक्षमें लिये बिना जो प्रारंभ होता है वह सच्चा प्रारंभ नहीं है; क्योंकि पूर्ण ध्येय जिसके लक्षमें नहीं

आया वह तो अपूर्ण दशाका और विकारका आदर करके वहीं अटक जायेगा, उसे पूर्णताकी ओरका प्रयत्न प्रारम्भ नहीं होगा। जिसे आत्माकी प्रभुताका विश्वास आया उसे पूर्णताके लक्षसे प्रारम्भ हो गया, इसलिये उसके आत्मामें सम्यग्दर्शनरूपी प्रभात हो गया है—अंशतः सुप्रभात हो गया है; अब अल्पकालमें सुप्रभात प्रगट होगा और केवलज्ञानरूपी जगमगाता हुआ सूर्य उदित होगा। आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा सुप्रभात जयवंत वर्तता है। वह सुप्रभात प्रगट होनेके पश्चात् कभी अस्त नहीं होता!

अहो जीवो! प्रतीति तो करो...अपनी प्रभुताकी प्रतीति तो करो...तुम्हारे ज्ञानस्वभावमें तुम्हारी प्रभुता भरी है उसका विश्वास तो करो! 'मैं एकसमयके विकार जितना तुच्छ—पामर नहीं हूँ परन्तु मेरा आत्मा तीनलोकका चैतन्यनाथ है; मैं ही अनंतशक्तिवान प्रभु हूँ।'—इसप्रकार अपनी प्रभुताका ऐसा दृढ़ विश्वास करो कि पुनः कभी किसी अनुकूल या प्रतिकूल संयोगमें सुख या दुःखकी कल्पना न हो और अखण्ड प्रतापवंत केवलज्ञान प्राप्त करनेमें बीचमें विघ्न न आये।

अखण्ड प्रतापवाली स्वतंत्रतासे शोभायमानपना वह प्रभुताका लक्षण है। आत्मामें ऐसा अखण्ड प्रताप है कि अनंती प्रतिकूलताके समूह आजायें, तथापि वह अपनी प्रभुता को नहीं छोड़ता, किसीके आधीन होनेका उसका स्वभाव नहीं है; उसे किसी परका आश्रय नहीं करना पड़ता; किसीके ओजस्वमें—प्रभुतामें वह चकाचौंध नहीं हो जाता; किसीसे भयभीत नहीं होता;—ऐसी स्वाधीन प्रभुतासे आत्मा शोभायमान है। आत्माके स्वभावसे बड़ा जगत में कोई है ही नहीं, तब फिर उसे किसका भय? जो जीव कल्पना करके रागसे या संयोगसे अपनी प्रभुताको खण्डित मानता है वह मिथ्यादृष्टि है; उसे यहाँ आचार्यदेव उसकी प्रभुता बतलाते हैं।

आत्माकी प्रभुता आत्मामें है और जड़की प्रभुता जड़में है; प्रत्येक परमाणुमें उसकी अपनी प्रभुता है। कोई किसीकी प्रभुताको

खण्डित नहीं करता। अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि जगतके जड़चेतनमें सर्वत्र एक प्रभु विद्यमान है;—उनकी बात मिथ्या है। यहाँ तो कहते हैं कि चेतनमें और जड़में—सर्व पदार्थोंमें अपनी-अपनी स्वतंत्र प्रभुता विद्यमान है। आत्माकी क्रिया आत्माकी प्रभुतासे होती है और जड़की क्रिया जड़की प्रभुतासे होती है। किसीकी प्रभुता अन्यत्र नहीं चलती। जिसप्रकार अन्यमती ऐसा मानते हैं कि ईश्वरने जगतकी रचना की है; उसीप्रकार कोई जैनमतवादी भी ऐसा माने कि मैंने पर जीवको बचाया; तो वे दोनों जीव प्रभुताकी प्रतीतिरहित मिथ्यादृष्टि हैं। अहो! प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी प्रभुतामें स्वतंत्रतासे शोभायमान है। यहाँ तो जीवकी अपनी प्रभुताकी बात है। अपनी प्रभुतासे च्युत होकर परका आश्रय माननेमें जीवकी शोभा नहीं है; रागादिसे जीवकी शोभा नहीं है। जीवकी शोभा तो अपनी प्रभुत्वशक्तिसे है। उस प्रभुताकी प्रतीति करना ही धर्म है; प्रभुत्वशक्तिको माननेसे अखण्ड आत्मा प्रतीतिमें आता है; वही धर्मीकी दृष्टिमें उपादेय है। देखो! यह स्वतंत्रताकी घोषणा है, यह स्वतंत्रताका ढंढेरा प्रत्येक आत्माको प्रभु घोषित करता है।

परमेश्वर कहाँ रहता है?...प्रभुको कहाँ ढूंढ़ना?...तो कहते हैं कि तू ही अपना प्रभु है, तेरा प्रभु तुझसे बाहर अन्यत्र कहीं नहीं है; तेरे आत्मामें ही प्रभुत्वशक्ति है, इसलिये आत्मा स्वयं ही परमेश्वर है। अन्तर्मुख दृष्टि करके उसका विश्वास कर!

जिसप्रकार सूर्य और अंधकार कभी एक नहीं होते, तथा सूर्य और प्रकाश कभी पृथक् नहीं होते; उसीप्रकार भगवान चैतन्यसूर्य रागादि अंधकारके साथ कभी एक नहीं होता और अपने ज्ञानप्रकाशसे वह कभी पृथक् नहीं होता।—ऐसे आत्माकी श्रद्धा करना वह अपूर्व सम्यग्दर्शन है।

देखो तो! एक-एक शक्तिके वर्णनमें आचार्यभगवानने कितने गंभीर भाव भर दिये हैं। इस एक ही शक्तिमें प्रताप... अखण्डता...स्वतंत्रता...शोभा...और प्रभुता—ऐसे पाँच बोल रखकर

आत्माका प्रभुरूपसे वर्णन किया है।

समस्त आत्माओंमें प्रभुत्वशक्ति एक-सी है। जिसप्रकार गेहूँ का ढेर पड़ा हो उसमें प्रत्येक दाना पृथक्-पृथक् है; परन्तु गेहूँकी जाति एक ही है; और उसे पीसकर आटा बनानेसे सभी दानोंमेंसे गेहूँका ही आटा होता है; किसी दानेमेंसे जुआरका आटा या धूल नहीं होती। उसीप्रकार विश्वमें अनंत आत्माओंका समूह पड़ा है, उसमें प्रत्येक आत्मा पृथक् है; प्रत्येक आत्मामें अपनी-अपनी चैतन्यप्रभुता भरी है; उसे पीसकर आटा बनानेसे एकसाथ अनंतगुणोंकी प्रभुताका परिणमन होता है; परन्तु आत्माकी प्रभुता परिणमित होकर उसमेंसे राग प्रगट हो—ऐसा उसका स्वरूप नहीं है।

अहो! धर्मी जानता है कि मेरी स्वाधीन प्रभुत्वशक्ति अनादि-अनंत है; मेरी प्रभुताको किसी दूसरेकी आवश्यकता नहीं है और कर्म आदिसे वह खण्डित नहीं होती; चाहे जैसे रोग—क्षुधा, तृषादि अनंत प्रतिकूलताएँ आएँ तथापि मेरी प्रभुताका एक अंश भी कोई खण्डित नहीं कर सकता। अधर्मी जीव मानता है कि अरे रे! मैं पामर और पराधीन हूँ; परन्तु उस समय भी उसकी प्रभुता तो उसमें पड़ी ही है; किन्तु उसे उसकी प्रतीति नहीं है इसलिये उसका निर्मल परिणमन नहीं होता। प्रभुताको भूलकर एकान्त पामरताका स्वीकार किया वह एकान्त मिथ्यात्व है। श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षामें कहते हैं कि—"सम्यक्त्वी अपने आत्माको तृण समान मानता है;"—वहाँ तो प्रभुताकी प्रतीति सहित पर्यायके विवेककी बात है। अहो! कहाँ दिव्य केवलज्ञान और कहाँ मेरी अल्पज्ञता!—ऐसा विवेक करके द्रव्यके आश्रयसे पूर्ण पर्याय प्रगट करनेकी भावना भाता है। यदि अकेली पामरताको ही माने और प्रभुताको न पहिचाने तो पामरताको दूर करके प्रभुता कहाँसे लायेगा?

अपनेको रागवाला या देहादिवाला माननेसे अपनी प्रभुताका अपमान होता है, उसका अज्ञानीको भान नहीं है; और बाह्यमें कोई

अपमान करे तो "मेरी नाक कट गई !"—इसप्रकार अपना अपमान मानता है; तथा बाह्य अनुकूलतासे अपना बड़प्पन मानता है; वह देहदृष्टि–बहिरात्मा है। अंतरात्मा धर्मी जीव तो ऐसा निःशंक है कि बाह्यमें कोई अपमान करे या शरीरको छेद डाले तो भी मेरी प्रभुता नष्ट करनेकी शक्ति किसीमें नहीं है; मेरे स्वभावमें श्रद्धाका, ज्ञानका, अस्तित्वका, जीवनका, सुखादि अनंतगुणोंका प्रभुत्व है; उसकी एक नोक भी खण्डित करनेमें कोई समर्थ नहीं है।

लो, यह नूतन वर्षके स्वभाव-अभिनंदन ! लोक-व्यवहारमें तो 'आपको लक्ष्मी, ऐश्वर्य आदिकी प्राप्ति हो !'—ऐसा कहकर अभिनन्दन देते हैं; वे सच्चे अभिनन्दन नहीं हैं। यहाँ तो "तेरे स्वभावमें त्रिकाल प्रभुता है !"—ऐसा कहकर श्री आचार्यदेव प्रभुताके अभिनन्दन देते हैं, आत्माको उसकी प्रभुता की भेंट कराते हैं।

अखण्ड प्रतापवाली प्रभुतासे आत्मा सदैव शोभायमान है; पंचमकालमें भी उसकी प्रभुता खण्डित नहीं हुई है। कोई कहे कि—वर्तमानमें यहाँ केवलज्ञान और मनःपर्ययज्ञानका तो विच्छेद है न ? तो आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई ! आत्माकी स्वभाव–प्रभुताका अंशमात्र भी विच्छेद नहीं हुआ है; उस स्वभावके सामने पर्यायकी मुख्यता करता ही कौन है ? साधक तो अपने स्वभावको मुख्य करके कहता है कि अहो ! मेरी प्रभुता ज्यों की त्यों विद्यमान है। आत्मा स्वयं अखण्डित ज्ञानप्रकाशसे मण्डित—ऐसा पण्डित है। अखण्डित आत्माकी प्रभुतामें जो प्रवीण हो वही सच्चा पण्डित है। केवलज्ञान और सिद्धपद प्रगट होनेकी शक्ति आत्मामें सदैव भरी है। केवलज्ञान तो पर्याय है; उसे प्रगट करनेकी अखण्ड शक्ति आत्मामें विद्यमान है।—ऐसे अखण्डित प्रतापवाले स्वातंत्र्यसे शोभित आत्माकी प्रभुता है। आत्माकी प्रभुतामें कभी न्यूनता नहीं है; शोभामें कुरूपता नहीं है; अखण्ड प्रतापमें खण्ड नहीं है और स्वातंत्र्यमें पराधीनता नहीं है।

आत्माकी स्वतंत्रताका प्रताप अखण्डित है; उसे कोई खण्डित

नहीं कर सकता। घाति कर्मोंसे भी आत्माके प्रतापका घात नहीं होता; पूर्वके अनेक पाप भी वर्तमान पर्यायके प्रतापको खण्डित नहीं करते;—ऐसी पर्यायकी स्वतंत्र प्रभुता है।

श्री तीर्थंकरदेव कहते हैं कि जैसे हम हैं वैसा ही तू है। कोई बात समझमें न आये ऐसा तेरे ज्ञानस्वरूपमें है ही नहीं; सब कुछ समझनेकी तेरे ज्ञानकी शक्ति है। यदि कुछ समझमें न आये ऐसा हो तो ज्ञानका प्रताप खण्डित हो जायेगा। इसलिये हे जीव! तू विश्वास कर कि मेरे ज्ञानमें केवलज्ञान जितनी परिपूर्ण शक्ति भरी है। तू अपने दोनोंके बीच भेद मत डाल! जिसने अपने आत्माकी प्रभुताको भूलकर तीर्थंकरको बड़प्पन दिया वह अपनी प्रभुता कहाँ से लायेगा?

"दीन भयो प्रभुपद जपे, मुक्ति कहाँ से होय?"

दीन होकर दूसरोंकी प्रभुता गाता रहे, परन्तु स्वयं अपनी प्रभुताको स्वीकार न करे तो मुक्ति कहाँ से होगी? जैसे सिद्ध हैं वैसा ही मैं हूँ; सिद्धमें और मुझमें कोई अन्तर नहीं है;—इसप्रकार अपनी परमात्मशक्तिका विश्वास और उल्लास आए बिना मुक्ति होना अशक्य है। यदि लकड़ीको या मुर्दे को धर्म होता हो, तो देहकी क्रिया से धर्म हो सकता है! यदि देहकी क्रियासे धर्म होता हो, तब तो सर्व प्रथम देहको ही धर्म और मुक्ति हो! देह तो जड़ है; उसमें चैतन्यका धर्म है ही नहीं, तो उसकी क्रिया द्वारा आत्माको धर्मका लाभ कहाँ से होगा? "मूलंनास्ति कुतः शाखा?" आत्मा स्वयं अनंतधर्मका भण्डार है; उसीकी क्रियासे अर्थात् उसके आश्रित परिणमनसे ही धर्म होता है।

किन्हीं तीर्थंकर भगवान पर, गुरु पर, या सिद्ध भगवान आदि परकी प्रभुता पर धर्मी की दृष्टि नहीं है; अपनी निर्बल पर्याय पर भी उसकी दृष्टि नहीं है; त्रिकालवर्ती अनंतगुणोंसे अभेद प्रभुत्वशक्तिके अखण्ड पिण्ड ऐसे अपने आत्मा पर ही धर्मीकी दृष्टि है;

उसीकी महिमा, उसीकी रुचि और उसीकी मुख्यता है; उसकी मुख्यताका भाव छूटकर कभी किसी अन्यकी महिमा नहीं आती। अज्ञानी जीव एक समयके विकार जितना ही सम्पूर्ण आत्माको मानता है; मुझमें प्रभुता नहीं है किन्तु मैं तो पामर हूँ—ऐसा वह मानता है; इसलिये अपनी प्रभुताको भूलकर परको प्रभुता देकर वह संसारमें भटकता है। आचार्यदेव समझाते हैं कि अहो! आत्मामें त्रिकाल अपनी प्रभुता है; सिद्ध भगवान जितनी ही आत्माकी प्रभुता है, उसमें किंचित्मात्र अन्तर नहीं है। हे भाई! जो प्रभुता तू दूसरोंको देता है वह प्रभुता तो तुझमें ही भरी है; इसलिये बाह्यमें देखकर सिद्धकी महिमा करनेकी अपेक्षा अपने अंतरमें ही सिद्धत्वकी शक्ति भरी है उसका विश्वास और महिमा कर! तू ही अपना प्रभु है; अन्य कोई तेरा प्रभु नहीं है। आत्मामें अन्तर्मुख होकर प्रतीति कर कि मैं ही अपना प्रभु हूँ; मेरे स्वभावके अतिरिक्त अन्य किसीकी प्रभुता मुझमें नहीं है; मुझमें रागकी या अकेली पर्यायकी प्रभुता नहीं है। त्रिकाल अखण्ड स्वभाववाला मेरा आत्माही स्वतंत्रतासे शोभायमान प्रभु है। देखो, इसका नाम स्वतंत्रता और स्वराज्य है; इसके अतिरिक्त अन्य सब थोथे हैं।

* कोई कहे कि अरे! देश परतन्त्र है...नेता जेलोंमें पड़े हैं...और कहते हैं कि आत्मा स्वाधीन है...यह कैसे? तो कहते हैं कि अरे भाई! आत्माको बाह्य पराधीनता है ही कहाँ? आत्माको अन्य कोई पराधीन नहीं कर सकता। मँहगाईसे आत्मा पराधीन नहीं होता। चाहे जितनी प्रतिकूलतामें भी स्वाधीन शांतिको न छोड़े ऐसा आत्माका स्वभाव है। राजा भले ही जेलमें बन्द कर दे; परन्तु जेलमें बैठा बैठा आत्माके ध्यानकी श्रेणी लगाये तो कौन रोकनेवाला है? स्वभावका आश्रय करके जो निर्मल प्रभुता प्रगट हुई उसके प्रतापको खण्डित करनेवाला जगतमें कोई संयोग है ही नहीं।

---

* सन् १९४४ में छठवींबार हुए समयसार-प्रवचनोंका यह भाग है।

आत्मा द्रव्यदृष्टिसे स्वाधीन है और पर्यायदृष्टिसे पराधीन है,—ऐसा समयसार नाटकमें कहा है; वहाँ ऐसा नहीं कहा कि कर्मजीवको बलात् पराधीन करता है; परन्तु अज्ञानी जीव अपनी प्रभुताको भूलकर परोन्मुख हुआ, स्वभावकी अधीनतासे च्युत हुआ, इसलिये पर्यायदृष्टिमें वह पराधीन हुआ है,—ऐसा वहाँ कहा है। परन्तु इन शक्तियोंके वर्णनमें तो "आत्मा स्वयं अपनेआप पराधीन हुआ है" यह बात भी नहीं है। यहाँ तो साधककी बात है; साधक जीव आत्माकी प्रभुतामें पराधीनताको देखता ही नहीं ! अपनी प्रभुताकी सँभाल करके साधक कहता है कि मेरे शांति-परिणामोंको बदलनेमें तीनकाल–तीनलोकमें कोई समर्थ नहीं है; मेरी प्रभुत्वशक्ति स्वाधीन है; जगतका कोई संयोग मेरी प्रभुताको तोड़नेमें समर्थ नहीं है। मेरे स्वरूपमें पराधीनता नहीं है; संयोगसे पराधीनता नहीं है और परिणति संयोगसे च्युत होकर स्वरूपमें अभेद हुई उसमें भी पराधीनता नहीं है।—इसप्रकार साधकको कहीं पराधीनता है ही नहीं।

ज्ञानीकी दृष्टि आत्माके त्रिकाली अखण्ड प्रताप पर है; उसमें अपूर्णताका और विकारका निषेध है ही; निषेध करना नहीं पड़ता। आत्माका प्रत्येक गुण भी अखण्ड प्रतापसे शोभित है, और पर्याय भी स्वतंत्र प्रतापसे शोभायमान है। इसलिये शास्त्रसे ज्ञान होता है, अथवा व्यवहाररत्नत्रयका शुभराग करते करते निश्चयरत्नत्रय होता है—यह बात ही नहीं रहती। आत्मस्वरूपके द्रव्य–गुण–पर्यायका प्रताप स्वतंत्रतासे ही शोभित होता है, परतंत्रतासे नहीं। आत्माकी संपदा ऐसी प्रतापवान है कि सिद्ध जैसी संपदा अपनेमेंसे प्रगट करती है।

"अपने आत्माका बड़प्पन मुझे ज्ञात नहीं होता"—ऐसा कहने वाला रुचिकी विपरीतताके कारण अपने बड़प्पनको स्वीकार नहीं करता; वह अज्ञानी अपनी प्रभुताको भूलकर काल–कर्म–निमित्त आदिको प्रभुता देता है और अपनेको पामर मानता है।

किन्तु भाई ! इतना तो विचार कर कि परको प्रभुता देनेवाला कौन है ? परको प्रभुता देनेवाला स्वयं प्रभुतासे रहित नहीं होता। अपनी प्रभुताका आरोप तूने परमें कर दिया है; वास्तवमें तो तुझमें ही तेरी प्रभुता विद्यमान है। सिद्ध भगवन्तोंको जो प्रभुता प्रगट हुई वह कहाँसे प्रगट हुई है ?—आत्मामेंसे अथवा कहीं बाहर से ? सिद्ध भगवानका जो प्रभुता प्रगट हुई है वह आत्मामेंसे ही प्रगट हुई है और ऐसा ही सामर्थ्य तुझमें भी भरा है। ऐसी अपनी प्रभुताकी प्रतीति करनेसे स्वयं प्रभु हो जाता है, और उसका अस्वीकार करके अपने को निर्बल माननेवाला निगोदमें जाता है। प्रभुताकी प्रतीतिमें प्रभुता है और निर्बलताकी प्रतीतिमें निगोद है। इसलिये हे भाई ! तू ऐसे प्रभुतासे परिपूर्ण आत्माकी प्रतीति कर कि जिसके प्रतापमें कभी खण्ड न हों और सिद्धपदकी प्राप्ति हो !—ऐसी तेरी प्रभुताका मांगलिकपना है। प्रभुत्वशक्ति और आत्मा त्रिकाल अभेद हैं; उसकी प्रतीति करनेसे पर्यायमें मंगल होता है।

साधकको पर्यायमें अल्प राग हो उस पर दृष्टि नहीं है; उस रागके समय भी स्वभावके अखण्ड प्रताप पर दृष्टि पड़ी है; स्वभावकी प्रभुताको भूलकर उसकी दृष्टिमें कभी रागकी मुख्यता नहीं होती; रागके समय भी रागकी नहीं किन्तु प्रभुताकी ही अधिकता है। प्रभुताकी प्रतीति करके उसमें दृष्टि परिणमित हो गई है। ऐसी प्रभुताकी दृष्टिके बिना धर्म नहीं होता। आत्मा अपनी प्रभुतासे कभी पृथक् नहीं होता। राग तो दूसरे ही क्षण छूट जाता है इसलिये उसके साथ वास्तवमें आत्माकी एकता नहीं है, और परसे तो त्रिकाल भिन्न है ही। इसप्रकार प्रभुताका स्वीकार करते ही राग और परके साथकी एकत्वबुद्धिका परिणमन छूटकर त्रिकाली स्वरूपमें एकतारूप परिणमन होता है, और अपनी प्रभुताका स्वीकार करनेसे जीव प्रभु होता है।

अहो ! भगवान ! तू अपनी प्रभुताको बाह्यमें कहाँ ढूँढ़ रहा है ? तेरी प्रभुता तो तेरे द्रव्य-गुण-पर्यायमें है; तेरे असंख्यप्रदेशी

तत्त्वमें अनंतगुणोंकी प्रभुता विद्यमान है; उसकी अचिंत्य महिमा को प्रतीतिमें लेनेसे संसारकी महिमा दूर होकर अंतर्मुखदशामें सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट होकर मुक्ति हो जाती है।

“जय हो....आत्माकी प्रभुताकी !”

यहाँ सातवीं प्रभुत्वशक्तिका वर्णन पूरा हुआ।

* * *

मुमुक्षुका मार्ग

नियमसारके १६५ वें श्लोकमें टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि:—

मैं मुमुक्षुमार्ग पर जाता हूँ.......मुमुक्षु जिस मार्गपर चलकर मुक्तिको प्राप्त हुए उस मार्गपर मैं जाता हूँ। अपने स्वभावरूप कारणपरमात्माका आश्रय करके....सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट करके मैं मोक्ष मार्गपर जाता हूँ–कि जिस मार्ग पर मुमुक्षु चले हैं। पूर्वकालमें जो सिद्धभगवन्त हुए वे इस मार्ग पर चलकर ही मुक्त हुए हैं....मैं भी अब उसी मार्ग पर जाता हूँ; विभावके मार्ग पर मैं नहीं जाता। अनादिका पुण्य–पापरूपी जो संसारमार्ग है उसे छोड़कर अब मैं ज्ञानानन्दस्वभावमें ढलता हूँ...अब मैं वीतरागी मोक्षमार्ग पर जाता हूँ। सभी मुमुक्षुओंको यह एक ही मोक्षमार्ग है। मुमुक्षुओ, उस मार्गका अनुसरण करो!

“श्रमणो जिनो तीर्थंकरो, आ रीत सेवी मार्गने,
सिद्धि वर्या नमुं तेमने, निर्वाणना ते मार्गने।”

[८]

विभुत्वशक्ति

आत्माकी ऐसी विभुता है कि वह अपने अनंत गुणोंमें व्यापक हो रहा है। जहाँ एक गुण है वहाँ ही अपने अनंतगुण हैं, आत्माका अनंतगुणरूपी समाज सदा संपकर—हिलमिलकर रहा है, वे गुण सदा ही इकट्ठे रहते हैं, कभी बिखरकर अलग अलग नहीं होते "विभुका सबमें निवास है" उसका अर्थ सर्व जड़-चेतनमें व्यापक ऐसा नहीं है किन्तु अपनी स्व सत्तामें असंख्यप्रदेशी स्वक्षेत्रमें अनंत सर्वगुण एक साथ हैं उन सभीमें निवास करनेवाला आत्मा ही विभु है, यह विभु स्वयं अन्तर्मुख होकर निर्मल श्रद्धा—ज्ञान—चारित्रके बलसे केवलज्ञानादि निज वैभवका दातार है।

ज्ञानस्वरूप आत्माको जाने तो सम्यग्ज्ञान और धर्म होता है। ज्ञानस्वरूप आत्मामें अनंत धर्म विद्यमान हैं। उस आत्माका ज्ञान करानेके लिये यहाँ आत्माकी शक्तियोंका वर्णन चलता है। अभी तक निम्नोक्त सात शक्तियोंका वर्णन हुआ है।

(१) सर्वप्रथम जीवत्वशक्ति बतलाई है। जड़में अस्तित्व है, किन्तु जीवत्व नहीं है, आत्मामें जीवत्व त्रिकाल है इसलिये वह चैतन्य प्राण द्वारा सदैव जी रहा है। आत्मा परको जिलाए अथवा स्वयं परसे जिये—ऐसा उसका स्वरूप नहीं है।

(२) दूसरी चितिशक्ति है। यदि यह चितिशक्ति न हो तो आत्मा जड़ हो जाय और जीव को जाने कौन? यह चैतनाशक्ति सदैव जागृतस्वरूप है।

(३–४) दृशिशक्ति और ज्ञानशक्ति कहकर चेतनाकी क्रिया बतलाई है; दर्शन समस्त पदार्थोंके सामान्य अवलोकनरूप है, और ज्ञान समस्त पदार्थोंको विशेषरूपसे जाननेवाला है।

(५) पाँचवी सुखशक्ति कहकर उसमें सम्यक्त्व और चारित्र–दोनोंका फल समा दिया है। ज्ञानदर्शनमय आत्माकी प्रतीति करे ऐसी एक सम्यक्त्वशक्ति है, और उसमें लीन हो ऐसी चारित्रशक्ति है। आत्माकी प्रतीति करके उसमें लीन होनेसे परम अनाकुल शांत आह्लादरूप सुखका अनुभव होता है।—ऐसी सुखशक्ति आत्मामें त्रिकाल है।

(६) छठवीं वीर्यशक्ति है। आत्माका सुख सम्यक् पुरुषार्थ पूर्वक प्रगट होता है; वह पुरुषार्थ अथवा वीर्यशक्ति आत्मामें त्रिकाल है; उसके द्वारा स्वरूपकी रचना होती है। द्रव्यगुण पर्याय तीनों आत्माका वीर्य है।

(७) सातवीं प्रभुत्वशक्तिके वर्णनमें तो अद्भुत बातकी है। इस प्रभुत्वके कारण आत्माके द्रव्य–गुण–पर्याय स्वतन्त्रतासे शोभायमान है। यह प्रभुत्वशक्ति आत्माके प्रतापको अखण्ड रखती है, आत्माकी प्रभुता आत्मामें ही विद्यमान है—ऐसा यह बतलाती है।

इसप्रकार सात शक्तियोंका वर्णन किया। अब, विभुत्व नामकी आठवीं शक्तिका वर्णन करते हैं।

आत्माकी विभुताका वर्णन

सर्व भावोंमें व्यापक ऐसे एकभावरूप विभुत्वशक्ति आत्मामें त्रिकाल है। आत्मा अपने समस्त गुण-पर्यायोंमें व्याप्त विभु है, और उसका ज्ञानादि प्रत्येक गुण भी सर्व भावों में व्याप्त होनेवाला है। यदि एक गुण सर्व गुणोंमें व्याप्त न हो, तो अनन्तगुणोंका अभेद पिण्ड अनुभवमें नहीं आ सकता और सर्व गुणोंकी अभेदताका आनन्द भी नहीं आ सकता। "विभु" का अर्थ व्यापक होता है। विभुत्वशक्तिसे आत्मा विभु है, इसलिये अपने सर्व भावोंमें विद्यमान होने पर भी एक भाव-रूप है। ज्ञानगुण समस्तगुणोंमें व्याप्त होता है ऐसा ज्ञानका विभुत्व है। इसप्रकार अनंत गुण हैं; उनमेंसे प्रत्येकगुण अन्य सर्व गुणोंमें व्यापक है—ऐसा अनन्तगुणोंका विभुत्व जानना। रागद्वेषादिमें ऐसा विभुत्व नहीं है कि वे आत्माके समस्त भावोंमें व्याप्त हो। आत्माके विभुत्वमें रागादि भाव वास्तवमें व्याप्त होते ही नहीं; एक समयकी रागपर्याय श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि समस्त गुणोंमें व्याप्त नहीं हो सकती; यदि राग त्रिकाल गुणमें व्यापक हो जाय तबतो वह कभी अलग नहीं हो सकता। एक समयपर्यन्तका राग अन्य गुणोंमें तो व्याप्त नहीं है, परन्तु अखण्ड चारित्रगुण में भी व्याप्त नहीं है—जबकि आत्माकी श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, जीवत्व, अस्तित्वादि शक्तियाँ तो समस्त गुणोंमें व्याप्त हैं।—ऐसा आत्माकी विभुत्वशक्तिका वैभव है, उसे जाननेसे रागादि भावोंकी ओर का उत्साह नीरस हो जाता है और रुचिका उत्साह त्रिकाली स्वभावकी ओर उन्मुख हो जाता है।

आत्मा लोकालोकमें व्याप्त नहीं है, परन्तु अपने समस्त भावोंमें व्याप्त है। यहाँ विकारी भावोंको आत्माका नहीं गिना है, क्योंकि यह तो स्वभावशक्तिका वर्णन है। आत्मा बाह्यमें सर्व व्यापक नहीं है, किन्तु अन्तरमें अपने भावोंमें सर्वव्यापक है, अपने अनन्तगुण पर्याय-स्वरूपमें आत्मा व्याप्त है। बाह्यमें सर्वसे भिन्न और अन्तरमें-सर्वव्यापक ऐसा आत्माका विभुत्व स्वभाव है। आत्माकी महिमा बाह्यमें

क्षेत्र की विशालतासे नहीं है। आत्माका क्षेत्र मर्यादित है, तथापि उसका स्वभाव सामर्थ्य अचिंत्य—अमर्यादित है; उसीके द्वारा आत्माकी महिमा है। जिन्हें अन्तरंग स्वभावमहिमाका भान नहीं है ऐसे बाह्यदृष्टि जीव ही बाह्यमें सर्वव्यापकतासे आत्माकी महिमा मानते हैं, परन्तु आत्मा परमें कभी व्याप्त होता ही नहीं।

शरीर तो आत्मामें कभी व्याप्त ही नहीं है और न आत्मा कभी शरीरमें व्याप्त है।

राग पूर्ण आत्मामें व्याप्त नहीं है और आत्मा रागमें व्याप्त नहीं है।

निर्मल पर्यायमें आत्मा एक समय पर्यन्त व्याप्त है परन्तु वह त्रिकाल व्याप्त नहीं है।

अस्तित्वादि गुण तो आत्मामें त्रिकाल व्याप्त है। द्रव्य 'हैं', गुण 'है', पर्याय 'है',—इसप्रकार सर्वमें अस्तित्व व्याप्त है। उसीप्रकार ज्ञानादि गुण भी सर्वमें व्यापक है। इसप्रकार विभुत्वशक्तिका स्वरूप जाननेके लिये त्रिकाली आत्मा ही लक्षमें आ जाता है, त्रिकाली तत्त्वके सन्मुख देखनेसे उनकी शक्तियोंका यथार्थ निर्णय होता है।

स्तुतिमें ऐसा आता है कि 'हे नाथ! आप विभु हो!' वहाँ कहीं कोई अन्य भगवान इस आत्मामें व्याप्त नहीं है। लोकालोक को जाने ऐसा आत्माका विभुत्व है, परन्तु लोकालोकमें व्याप्त हो ऐसा विभुत्व नहीं। आत्मा अपने में रहकर तीनलोक, तीनकालको जानता है। सम्पूर्ण तत्त्व एक रूप होकर अपनेमें अखण्ड व्यापकरूपसे विद्यमान है; प्रत्येक शक्ति भी सम्पूर्ण तत्त्वमें व्यापक होकर पड़ी है। सर्व भावोंमें प्रसरित होनेपर एकभावरूप रहे ऐसा प्रभुत्व है। आत्मा अनंतभावोंमें व्याप्त होनेपर भी एकरूप रहता है एकरूप रहकर अनंत में व्याप्त होता है परन्तु अनंतरूप नहीं होता है। और ज्ञान दर्शनादि प्रत्येक गुण भी अपना एकत्व रखकर सम्पूर्ण आत्मामें व्याप्त है;

एक गुण अनेक गुणोंमें व्याप्त है। अस्तित्व समस्त गुणोंमें व्यापक, ज्ञान समस्त गुणोंमें व्यापक, आनन्द समस्त गुणोंमें व्यापक–इसप्रकार अनंतशक्तियोंका विभुत्व समझ लेना चाहिए। "विभुत्वशक्ति" तो एक है; परन्तु उसने सम्पूर्ण आत्माको और सर्व गुणोंको विभुता दी है। जिसप्रकार अस्तित्वगुणसे सब अस्तिरूप हैं; उसीप्रकार विभुत्वशक्तिसे सब विभुस्वरूप हैं।

एक गुण दूसरे अनंतगुणोंमें व्याप्त होता है, और एक गुणमें दूसरे अनंतगुण व्याप्त होते हैं। कोई एक गुण ऐसा नहीं है कि जिसमें दूसरे गुण व्याप्त न हों। देखो, यह आत्माके अन्तरंग समाजकी एकता! अनंतगुणोंका समाज परस्पर व्याप्त होकर त्रिकाल ऐसी एकतापूर्वक विद्यमान है! ज्ञानगुण सर्व में व्यापक है ऐसी सत्ताकी विभुता है। यदि अस्तित्वमें ज्ञान न हो तो अस्तित्व अचेतन सिद्ध होगा; और यदि ज्ञानमें अस्तित्व न हो तो ज्ञान अभावरूप सिद्ध हो। उसीप्रकार यदि आनन्दमें ज्ञान नहीं हो तो आनन्दगुण ज्ञानरहित जड़ हो जाय; और यदि ज्ञानमें आनन्द नहीं हो तो ज्ञान गुण आनंदरहित हो जाय—बिलकुल नीरस हो जाये।—इसप्रकार समस्त गुण एक दूसरेमें व्याप्त है। पुण्य–पापके विकारी भाव तो एक गुणकी एकसमयपर्यन्तकी पर्यायमें ही व्यापक हैं, दूसरे अनंतगुणोंमें, दूसरे समयकी पर्यायमें वे विकारीभाव व्याप्त नहीं हैं, इसलिये विकारमें विभुत्व नहीं है, विकार वस्तुका स्वरूप नहीं है। अनंतगुणोंमें एक गुण व्यापक और एक गुणमें अनंतगुण व्यापक—ऐसा आत्मगुणोंका समाज है।

अस्तित्व गुण सबमें व्याप्त होकर सबको अस्तिरूपसे रखता है;—जैसे कि, ज्ञानका अस्तित्व आनन्दका अस्तित्व इत्यादि।

वस्तुत्व गुण सबमें व्याप्त होकर समस्त, गुणोंके प्रयोजनको सिद्ध करता है;—जैसे कि, ज्ञानका प्रयोजन जानना, आनन्दका प्रयोजन अनाकुल आह्लाद देना इत्यादि।

द्रव्यत्वगुण सबमें व्याप्त होकर सबको परिणमित करता है; जैसे कि ज्ञानका परिणमन, आनन्दका परिणमन होनेसे उसके समस्तगुणोंका परिणमन हो जाता है।

प्रमेयत्व गुणने सबमें व्याप्त होकर समस्तगुणोंको प्रमेयरूप बनाया है; चेतना ने सबमें व्याप्त होकर सबको चेतनारूप बनाया है; विभुत्वने सबमें व्याप्त होकर सबको व्यापकरूप बनाया है।

—इसप्रकार एक विभुत्वशक्तिका स्वीकार करनेसे अनन्त-गुणोंका अखण्ड समाज तैयार होता है। ऐसे अखण्ड तत्त्वकी दृष्टि ही धर्मीकी दृष्टि है। धर्मी जीव एक–एक समयकी पर्यायको अथवा एक–एक शक्तिका भेद करके मुख्यरूपसे नहीं देखता, परन्तु त्रिकाली तत्त्वको ही मुख्यरूपसे देखता है। धर्मीकी दृष्टि त्रिकाली तत्त्व पर स्थिर हो गई है।

एक घरमें रहने वाले दस मनुष्य एक–दूसरेमें व्याप्त नहीं हो सकते, परन्तु चैतन्यगृहमें रहनेवाले अनंतगुण एक दूसरेमें व्यापक है।-एक ही घरमें रहनेवाले दस व्यक्तियोंमें तो कोई कहीं से आया और कोई कहीं से; और अल्पकालमें कोई कहीं चला जाता है और कोई कहीं; वहाँ किसीका किसीके साथ कोई लेनदेन नहीं है—सब पृथक्–पृथक् नहीं हैं; परन्तु आत्माके अनंतगुण तो त्रिकाल एकत्रित ही रहनेवाले हैं, वे कभी पृथक् नहीं होते। आत्मामें कोई गुण नहीं है कि जिसमें संसारभाव व्याप्त हो; संसारभावको उत्पन्न करके उसमें व्याप्त हो ऐसा आत्माके किसी गुणका स्वरूप नहीं है।

जिसप्रकार सुवर्णमें उसका पीलापन चिकनापन, और भारी-पन सर्वत्र व्यापक है, उसीप्रकार चैतन्यधातुमें अनन्तगुण सर्व व्यापक है, और चैतन्यवस्तु एक पिण्डरूपसे सर्व गुणोंमें व्यापक है; ऐसी आत्माकी विभुता है "एक आत्मा क्षेत्रसे सर्वव्यापक विभु है अर्थात् जड़ चेतन समस्त पदार्थोंमें विभुका वास है"—ऐसा अज्ञानी कहते हैं; परन्तु यहाँ तो एक आत्मा अपने अनंतगुणोंमें सर्वव्यापक रहकर,

जड़ और चेतनादि सर्वका ज्ञाता विभु है—ऐसा श्री सर्वज्ञ भगवान कहते हैं।

अस्तित्वको मुख्य करके देखो तो आत्माके समस्त गुणोंमें अस्तिपनेका भास होता है, जीवत्वशक्तिको मुख्य करके देखनेसे समस्त-गुणोंमें जीवत्वका भास होता है, ज्ञानको मुख्य करके देखनेसे समस्त-गुणोंमें ज्ञानका भास होता है, आनन्दको मुख्य करके देखनेसे समस्त-गुणोंमें आनन्दका भास होता है इसप्रकार एक गुणके साथ ही साथ अनंतगुणोंका पिण्ड बँधा हुआ है। एक गुणका भेद करके लक्षमें लेना वह रागका विकल्प है; अनंतगुणोंके अभेद पिण्डको लक्षमें लेना वह वीतरागता है।

देखो, आँख, कान आदि इन्द्रियोंको बन्द करके भी अन्तरमें "मैं ज्ञान हूँ, मैं सहज आनन्द हूँ"—ऐसा विचार होता है न ? वह विचार कौन करता है ? किस सामग्रीसे वह विचार करता है ? विचार अर्थात् ज्ञान करनेवाला आत्मा स्वयं ही है; बाह्य सामग्रीका अभाव होने पर भी अन्तरमें अखण्ड स्वभाव सामग्री विद्यमान है; उसके अवलम्बनसे स्वयं विचार करता है। आत्मामें अन्तरमें कहीं आँख, कान इत्यादि इन्द्रियाँ नहीं हैं। बाह्य इन्द्रियाँ और रागके अवलम्बन बिना ही आत्माकी चैतन्यसत्तामें ज्ञानका कार्य होता है; इसलिये निश्चित है कि इन्द्रियोंसे और रागसे चैतन्यसत्ता पृथक् है। अनंतगुणोंका एकरूप पिण्ड अन्तरमें भासित होता है ?—रागकी सत्तामें या जड़ इन्द्रियोंकी सत्तामें वह भासित नहीं होता, परन्तु चैतन्यकी सत्तामें ही अनंतगुणोंका एकरूप पिण्ड भासित होता है। उस चैतन्यसत्ताके स्वीकारसे धर्मका प्रारम्भ होता है।

शरीरादि परवस्तुओंका तो आत्माके द्रव्य–गुण–पर्याय तीनोंमें त्रिकाल अभाव है। जो क्षण पर्यंतके रागादि व्यवहार–परिणाम होते हैं वे सम्पूर्ण द्रव्यमें या उसके गुणोंमें व्याप्त नहीं होते; समस्त गुणोंके पर्यायमें भी वे रागादि व्याप्त नहीं होते और न एक गुणकी समस्त

पर्यायोंमें भी व्याप्त होते हैं; मात्र एक गुणकी एक पर्यायमें एक समय-पर्यन्त ही वे रागादिभाव हैं; जबकि उसी समय इस ओर अन्तरमें अनंतगुण–पर्यायमें त्रिकाल व्यापक अखण्ड विभुतावान् भगवान् आत्मा है।—तो किसकी मुख्यता की जाये ? किसका आदर–बहुमान किया जाये ?—क्षणिक रागका अथवा अखण्ड विभुतावान आत्माका ? अखण्ड विभुका अनादर करके तुच्छ रागका आदर करना वह महान् अधर्म है। धर्मी जीव तो अखण्ड विभु ऐसे निजात्माका ही आदर करते हैं; धर्मीकी अन्तरदृष्टिमें रागका अभाव है।

इसके पूर्व आचार्यदेव ने १८२ वें कलशमें भी आत्माको "विभु" कहा था। वहाँ कहा था कि विभु ऐसे शुद्ध चैतन्य भावमें तो कोई भेद नहीं है; समस्त विभावोंसे रहित शुद्ध चैतन्यभाव वह विभु है। वहाँ 'सर्व गुण–पर्यायोंमें व्यापक'—ऐसा विभुका अर्थ किया था। आत्मा और उसका प्रत्येक गुण समस्त गुण–पर्यायोंमें व्यापक है—ऐसी आत्माकी विभुता है। बाह्य लक्ष्मी आदिकी विभुता आत्मामें नहीं है। जो जीव अपने शुद्ध चैतन्यविभुत्वका विश्वास करे उसे अनंतगुणकी विभूति—केवलज्ञानादि निज वैभव प्रगट होता है।

ज्ञानमात्र आत्मामें यह विभुत्वादि अनन्तशक्तियाँ एकसाथ विद्यमान हैं।

[यहाँ आठवीं विभुत्वशक्तिका वर्णन पूर्ण हुआ]

[६]

सर्वदर्शित्वशक्ति

आत्मामें पूर्णता भरपूर है ही...स्वरूप सन्मुख होकर जो पूर्णमें एकत्वका अभ्यास अनुभव करेगा वह प्रगट दशामें साक्षात पूर्णता प्राप्त करेगा, भगवान अर्हन्त सर्वज्ञ—सर्वदर्शी है उसकी वास्तविक पहिचान अपना पूर्णस्वरूप सन्मुख हुए बिना हो सकती नहीं सर्व प्रकारके पराश्रयकी श्रद्धा और पराश्रयरूप अचारित्र छोड़कर स्व-सन्मुख होना वही सर्वदर्शी होनेका उपाय है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है; उसमें अनन्त धर्म हैं इसलिये वह अनेकान्तमूर्ति है। उस आत्माके धर्मोंका यह वर्णन चल रहा है।

समस्त विश्वके सामान्यभावको देखनेरूप परिणमित हुए ऐसे आत्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्ति है। पहले, तीसरी शक्तिमें 'दृशि' शक्तिका वर्णन था वहाँ तो "अनाकार उपयोगमयी दृशिशक्ति है"—ऐसा सामान्य वर्णन था; और यह सर्वदर्शित्वशक्ति कहकर दर्शनके परिपूर्ण सामर्थ्यका विशेष वर्णन किया है। सर्व पदार्थोंके समूहरूप लोकालोकको सत्तामात्र देखे ऐसी सर्वदर्शित्वशक्ति है। आत्मामें

लोकालोकको देखनेकी शक्ति है; परन्तु उन्हें अपना करनेकी अथवा उनमें उथलपुथल करनेकी शक्ति आत्मामें नहीं है। जिसप्रकार आँखका स्वभावमात्र पदार्थोंको देखनेका है, परन्तु उनमें कुछ इधर-उधर करनेका आँखका स्वभाव नहीं है; उसीप्रकार आत्माके दर्शन-ज्ञानरूपी नेत्र हैं, उनका स्वभाव समस्त पदार्थोंको देखने-जाननेका है; परन्तु उनमें कुछ भी फेरफार करनेका उनका स्वभाव नहीं है।

आंखसे देखनेका आत्माका स्वभाव नहीं है। मैं आँखसे देखता हूँ'—ऐसा जो मानता है उसने वास्तवमें आत्माकी सर्वदर्शि-स्वरूपसे परिणमित होनेकी शक्तिको नहीं माना है। यदि अपनी सर्वदर्शित्वशक्तिको जाने तो इन्द्रियोंसे देखना न माने और राग या अल्पदर्शिताको भी अपना स्वरूप न माने; त्रिकाली सर्वदर्शित्वशक्तिके सन्मुख होनेसे उन सबकी महिमा छूट जाती है। साधककी पर्यायमें अभी सर्वदर्शीपना प्रगट नहीं हुआ है तथापि, उसे सर्वदर्शित्व परिणमनकी प्रतीति है कि सर्वदर्शित्वरूपसे परिणमित होनेकी शक्ति मुझमें वर्तमानमें भी भरी है। सर्वदर्शीपना अर्थात् केवलदर्शन; उस केवल-दर्शनरूप परिणमित होनेकी शक्ति यदि मुझमें न हो तो केवलदर्शनका व्यक्त परिणमन कहाँसे होगा ?—त्रिकाली शक्तिकी प्रतीतिमें उसकी व्यक्तिकी प्रतीति भी आ ही जाती है।

अज्ञानी लोग अमुक बाह्य संपदा प्राप्त करनेकी भावना करते हैं; परन्तु यहाँ तो सारी दुनियांकी समस्त संपत्ति एकसाथ ज्ञेय-रूपसे प्राप्त हो ऐसा उपाय आचार्यदेव बतलाते हैं। जिसे लोकालोक की सम्पदा चाहिए हो उसे आत्माके केवलज्ञान-केवलदर्शनकी प्रतीति करना चाहिए। लोकालोक की सम्पदा कहीं आत्मामें प्रविष्ट नहीं हो जाती; परन्तु ज्ञान-दर्शनमें लोकालोक ज्ञात हों—दृष्टिगोचर हों वही लोकालोक की प्राप्ति है। वास्तवमें तो ज्ञान ज्ञानमें ही है, और लोकालोक लोकालोकमें हैं; परन्तु लोकालोकका ज्ञान हो गया, उस अपेक्षासे उसकी प्राप्ति कहालाती है। जो थोड़ा-थोड़ा मांगेगा अर्थात्

अल्पताकी भावना करेगा उसे कुछ नहीं मिलेगा, और जो पूर्णताकी भावना भायेगा उसे पूर्णकी प्राप्ति होगी—सब ज्ञात होगा। इसलिये लक्ष्मी आदि परको प्राप्त करनेकी भावना छोड़कर ऐसी भावना भाओ कि–जिसमें सब एकसाथ ज्ञात होता है ऐसा केवलज्ञान हमें प्राप्त हो! इससमय केवलदर्शनकी बात चल रही है; पश्चात् दसवीं शक्तिमें केवलज्ञानकी बात आयेगी। वस्तुमें तो दोनों शक्तियाँ एक-साथ ही हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप परिणमन हो वैसी शक्ति आत्मामें भरी है; उस आत्मशक्तिकी–आत्मस्वभावकी भावना भानेसे अर्थात् उसकी श्रद्धा और ज्ञान करके उसमें लीन होनेसे केवलज्ञान और केवलदर्शनका व्यक्त परिणमन हो जाता है।

यहाँ तो कहा है कि सर्वदर्शित्वशक्ति आत्मदर्शनमयी है, अर्थात् आत्माको देखनेसे उसमें तीनकाल–तीनलोक दृष्टिगोचर हो जायें ऐसी सर्वदर्शित्वशक्ति है। आत्मा इन्द्रियों द्वारा तो नहीं देखता, और लोकालोकको देखनेके लिये उसे लोकालोकके सन्मुख नहीं होना पड़ता परंतु स्वसन्मुख रहकर ही लोकालोकको देख ले ऐसी आत्माकी शक्ति है। और आत्माके ऐसे सामर्थ्यकी प्रतीति भी किसी पर द्वारा या परकी सन्मुखतासे नहीं होती; स्वरूपसन्मुखतासे ही उसकी प्रतीति होती है।

कोई कहे कि "भगवान अनंतशक्तिसम्पन्न हैं परन्तु सर्वशक्ति-सम्पन्न नहीं हैं, इसलिये भगवान अनंतको देख सकते हैं किन्तु सर्वको नहीं देख सकते"—तो ऐसा कहनेवालेको आत्माके सर्वदर्शित्व स्वभावकी प्रतीति नहीं है इसलिये उसने आत्माको ही नहीं माना है। अंतर्दृष्टिके बिना अपनेको पण्डित मानकर लोग अनेक प्रकारके कुतर्क करते हैं, परन्तु चैतन्यवस्तु मात्र तर्कका विषय नहीं है; यह मार्ग तो अंतर्दृष्टि और अनुभवका है। आचार्यदेवने यहाँ स्पष्ट कहा है कि आत्माके दर्शनस्वभावमें सर्वदर्शीरूपसे परिणमित होने की शक्ति है। सर्वज्ञता और सर्वदर्शितारूपसे आत्माका परिणमन हो सकता है—ऐसी भी जिसे प्रतीति नहीं है उसने तो वास्तवमें सर्वज्ञदेवको ही नहीं माना है इसलिये उसे तो जैनधर्मकी व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है।

इन शक्तियोंका वर्णन करके आचार्यदेवने थोड़े शब्दोंमें बहुत रहस्य भर दिया है !

भगवानकी स्तुतिमें आता है कि—"सव्वण्णुणं सव्वदरिसीणं" —हे भगवान ! आप सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं !—स्तुतिमें ऐसा बोलते हैं, किन्तु भगवान जैसी ही सर्वज्ञ और सर्वदर्शित्व शक्ति अपने आत्मामें भरी है उसका विश्वास न करे तो धर्मका लाभ नहीं हो सकता, और उसने भगवानकी परमार्थस्तुति की—ऐसा नहीं कहा जा सकता। भगवानमें जैसी सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता है वैसी ही सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता प्रगट होनेका सामर्थ्य अपनेमें भी भरा है—उसका जो विश्वास करे उसीने भगवानकी सच्ची स्तुति की है।

दर्शन समस्त पदार्थोंको सामान्य सत्तामात्र देखता है; सिद्ध और संसारी, चेतन और जड़—ऐसे विभाग किये बिना "सब है"—ऐसा दर्शन देखता है। तीसरी दृशिशक्तिके वर्णनमें दर्शनउपयोगका कथन विस्तारसहित आ गया है। दृशिशक्ति परिणमित होकर सर्वदर्शिता हो ऐसा उसका परिणमनस्वभाव है; अपूर्णरूप परिणमित होनेका उसका स्वभाव नहीं है। लोकालोकको देखनेसे आत्मा लोकालोकमय नहीं हो जाता, इसलिये यह सर्वदर्शित्वशक्ति आत्मदर्शनमय है। सामने लोकालोक है इसलिये यह सर्वदर्शिता है ऐसा नहीं है। लोकालोकके कारण आत्माका सर्वदर्शीपना विकसित नहीं होता; यदि लोकालोकसे वह विकसित होता हो तो लोकालोक तो अनादिसे हैं इसलिये सर्वदर्शीपना भी अनादिसे विकसित होना चाहिये। इसलिये कहा है कि सर्वदर्शित्वशक्ति आत्मदर्शनमय है; आत्माके अवलम्बनसे सर्वदर्शीपना विकसित हो जाता है। जिसने सर्वदर्शी ऐसे निज आत्माको देखा उसने सब कुछ देख लिया। यथार्थरूपसे एक भी शक्तिको देखनेसे अनंतगुणमय सम्पूर्ण द्रव्य ही दृष्टिगोचर हो जाता है। एक गुणकी प्रतीति करनेसे अभेदरूप पूर्ण द्रव्य ही प्रतीतिमें आ जाता है; क्योंकि जहाँ एक गुण है वहीं अभेदरूपसे अनंत गुण हैं।

आत्माका सर्वदर्शीपना किसी निमित्तके सन्मुख देखनेसे

विकसित नहीं होता; और पुण्यके या वर्तमान पर्यायके आश्रयसे भी उसका विकास नहीं होता; जिसमें त्रिकाल सर्वदर्शित्व सामर्थ्य विद्यमान है ऐसे द्रव्यके लक्षसे ही सर्वदर्शित्वका परिपूर्ण विकास होता है; इसलिये द्रव्यदृष्टि करना ही तात्पर्य है—ऐसा सिद्ध होता है। किसी निमित्तमें या रागमें ऐसी शक्ति नहीं है कि सर्वदर्शिता प्रदान करे। अपूर्ण पर्यायमें भी सर्वदर्शिता देनेकी शक्ति नहीं है; सर्वदर्शिता प्रदान करनेकी शक्ति तो त्रिकाली द्रव्यमें ही है, इसलिये द्रव्यका आश्रय करके परिणमित होना ही सर्वदर्शी होनेका उपाय है।

जो सर्वदर्शित्व प्रगट हुआ वह सर्व पदार्थोंको स्पष्ट देखता है। दूरवर्ती वस्तुको अस्पष्ट देखता है और निकटवर्ती वस्तुको स्पष्ट देखता है—ऐसा भेद उसमें नहीं है। और दूरकी वस्तुसे लाभ न माने किन्तु शरीर या देव-गुरु-शास्त्र इत्यादि निकटवर्ती वस्तुओंसे लाभ माने—ऐसा भी सर्वदर्शित्वशक्तिमें नहीं है। जिसने सर्वदर्शित्व सामर्थ्यकी प्रतीति की है वह जीव किसी भी परवस्तुसे लाभ-हानि नहीं मानता। सर्वदर्शित्व तो आत्मदर्शनमय है; उसका संबन्ध परके साथ नहीं है; तब फिर महाविदेहादि दूरकी वाणीसे लाभ नहीं होता और निकटवर्ती साक्षात् वाणीसे लाभ होता है—यह बात कहाँ रही? इसमें कहीं परावलम्बन या परमें राग–द्वेष करना नहीं रहता; मात्र स्वद्रव्यके आश्रयसे वीतरागता हो ऐसी यह बात है।

प्रश्नः—वाणी दूर हो या निकट हो, उससे तो कुछ समझमें नहीं आता, स्वतः अपनेसे ही समझमें आता है; तब फिर सत्समागम का क्या मतलब ?

उत्तरः—“अहो ! चाहे जहाँ मुझे अपने आत्मासे—स्वतःसे ही ज्ञान होता है”—यह बात जिसे अंतरमें रुची उसे वैसा सुनानेवाले ज्ञानियोंके प्रति बहुमान आये बिना नहीं रहता; और इसलिये उसे सत्समागमकी भावना हुए बिना नहीं रहती; परन्तु श्रवणके समय भी उसके लक्षमें तो ऐसा है कि मैं जितना अपने स्वभावकी रुचि

और भावनाका पोषण करता हूँ उतना ही मुझे लाभ है; निमित्तसे या निमित्तकी ओरके रागसे मुझे लाभ नहीं है।

महाविदेह क्षेत्र ठीक है और भरत क्षेत्र ठीक नहीं है—ऐसा अच्छे-बुरेका भाव करना आत्माकी किसी शक्तिमें नहीं है; निर्बलताके कारण कभी-कभी ऐसा विकल्प उठता है, किन्तु वहाँ धर्मीको निःशंकता है कि यह विकल्प मेरे स्वरूपमेंसे नहीं आया है; मेरे स्वरूपमें ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो विकल्पको परिणमित करे। मेरी सर्वदर्शीशक्ति सर्वको देखनेवाली है परन्तु किसीको अच्छा-बुरा माननेवाली नहीं है। आत्माकी अनंतशक्तियोंको भी सर्वदर्शीशक्ति देखती है। जिसने आत्माको देख लिया उसने सबकुछ देख लिया। सर्वदर्शीशक्ति आत्मदर्शनमय है इसलिये लोकालोकको देखनेके लिये आत्माको बाहर नहीं झाँकना पड़ता, किन्तु आत्मस्वभावको देखनेसे लोकालोक ज्ञात हो जाता है। एक गुणकी प्रतीति करते हुए भी सम्पूर्ण आत्मा ही प्रतीतिमें आ जाता है। पूर्ण आत्माको जाने तभी एक गुणका यथार्थ ज्ञान होता है; एक भी गुणको यथार्थ समझनेसे अनंत गुणका पिण्ड समझमें आ जाता है। एक गुणको भी कब यथार्थ समझा कहा जाता है ?—एक गुणका भेद करके यदि उसका आश्रय करने जाये तो उसने एक गुणको ही सम्पूर्ण वस्तु मान लिया है; इसलिये एक गुणको भी यथार्थ नहीं जाना है। एक गुणको जाननेसे, उसके साथ अभेदरूप पूर्ण द्रव्यको पकड़ ले तभी गुणको जाना कहा जाता है; क्योंकि गुणीसे पृथक् गुण नहीं रहता। अनेक शक्तियाँ हैं, इसलिये कहीं आत्मामें भेद नहीं पड़ जाता; आत्मामें तो अनंतशक्तिसे अभेदता है। उस अभेदताके आश्रयपूर्वक ही भिन्न-भिन्न शक्तियोंका यथार्थ ज्ञान होता है।

आत्माकी सर्वदर्शित्वशक्ति लोकालोक को देखती है, तथापि वह निराकार है; लोकालोकको देखनेसे वह साकार नहीं हो जाती, क्योंकि वह भेद किए बिना सर्वको सत्तामात्र ही देखती है; स्वयं निराकार आत्मदर्शनरूप परिणमित होकर सर्वको भेदरहित देखती

हैं। जड़ या चेतन, सिद्ध या संसारी, भव्य या अभव्य—ऐसे विशेष भेद वह ज्ञानका विषय है। दर्शन वैसे भेद किए बिना सामान्य सत्ताका प्रतिभास करता है। अनंतगुणोंके पिण्ड अखण्ड आत्माको भी दर्शनशक्ति देखती है, इसलिये सर्वदर्शी शक्तिकी प्रतीतिमें अखण्ड आत्माकी प्रतीति भी साथ ही है।

लोकालोकको देखनेका सर्वदर्शित्वशक्तिका सामर्थ्य है वह उपचारसे नहीं है परन्तु स्वभावसे ही है। ऐसी सर्वदर्शित्वशक्ति आत्माके ज्ञानमात्र भावके साथ ही परिणमित हो रही है। आत्मामें ज्ञान-दर्शनादि अनंतगुणोंका परिणमन एकसाथ ही हो रहा है। केवली भगवानके पहले ज्ञान परिणमित होता है और फिर दर्शन;—इसप्रकार जो ज्ञान-दर्शनका क्रम मानता है उसने एकसाथ अनंतशक्तिवाले आत्माको नहीं जाना है; उसे वास्तवमें केवली प्रभुकी प्रतीति नहीं है और आत्माकी भी प्रतीति नहीं है। ज्ञान जहाँ स्वभावका आश्रय करके परिणमित हुआ वहाँ अनंतगुणोंका परिणमन उसके साथ ही उछल रहा है। ऐसे अनंत धर्मोंसे परिणमित एक आत्माको जाननेका नाम अनेकान्तधर्म है और वही मोक्षमार्ग है।

[यहाँ नववीं सर्वदर्शित्वशक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

[१०]

सर्वज्ञत्वशक्ति

"धर्मका मूल सर्वज्ञ है" उस सर्वज्ञताके निर्णयमें अत्यन्त गंभीरता विद्यमान है। यहाँ, प्रत्येक आत्मामें विद्यमान सर्वज्ञत्वशक्तिके प्रवचनमें पूज्य स्वामीजी ने जैन-धर्मके अनेक मूलभूत रहस्य प्रकाशित किये हैं। प्रत्येक आत्मार्थी जीवको यह प्रवचन मननपूर्वक समझनेका नम्र अनुरोध है।

प्रत्येक आत्मामें अनंतशक्तियाँ हैं; इसलिये वह अनेकान्तमूर्ति है। उस अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्माको बतलानेके लिये यहाँ उसकी कुछ शक्तियोंका वर्णन चल रहा है। उसमें सर्वदर्शित्वशक्तिका वर्णन किया; अब उसके साथ सर्वज्ञत्वशक्तिका वर्णन करते हैं।

समस्त विश्वके विशेष भावोंको जाननेरूप परिणमित ऐसे आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्ति है। दर्शन तो 'सर्व है'—ऐसा सामान्य सत्तामात्र भावको देखता है; परन्तु, जगतके समस्त पदार्थ सत्तारूपसे समान होने पर भी उनके स्वरूपमें विशेषता है; कोई जीव है, कोई अजीव है, कोई सिद्ध है, कोई साधक है, कोई अज्ञानी है;—इसप्रकार

अनन्त प्रकारके भिन्न-भिन्न भाव हैं उन सबको विशेषरूपसे जाने ऐसी आत्माकी सर्वज्ञत्वशक्ति है। यह शक्ति दूरवर्ती या निकटवर्ती, वर्तमान या भूत-भविष्यके समस्त पदार्थोंको एकसमयमें जानती है परन्तु उनमें से किसीका अच्छा-बुरा नहीं मानती; इसमें मात्र जाननेका ही भाव है; राग-द्वेषका भाव सर्वज्ञत्वशक्तिमें नहीं है। "सर्वं भाव ज्ञाता-द्रष्टा सह शुद्धता"—ऐसा इन शक्तियोंका परिणमन है।

आत्माकी समस्त शक्तियोंमें ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि जो परको या विकारको करे; परन्तु परको या विकारको न करे ऐसी अकर्तृत्व शक्ति आत्मामें त्रिकाल है; और परको या विकारको जाने ऐसी सर्वज्ञत्वशक्ति भी त्रिकाल है।

अहो ! समस्त विश्वको जाननेकी शक्ति आत्मामें त्रिकाल विद्यमान है। उसकी प्रतीति करनेवाला जीव धर्मी है। वह धर्मी जीव शरीर-मन-वाणी इत्यादि की जो भी क्रिया हो उसे जाननेकी क्रिया करता है; परन्तु "मैं उसे करता हूँ, अथवा यह हो तो मुझे अच्छा, और न हो तो बुरा"—ऐसी मान्यतारूप मिथ्यात्वकी क्रियाको वह नहीं करता। वह जानता है कि मेरे आत्मामें परको जाननेका गुण है परन्तु परका ग्रहण-त्याग करनेका कोई गुण मुझमें नहीं है; जगतके सर्व पदार्थोंको यथावत् भिन्न-भिन्न स्वरूपसे जानने रूप परिणमित हो ऐसी सर्वज्ञत्वशक्तिका मैं स्वामी हूँ, परन्तु परकी क्रियाका मैं स्वामी नहीं हूँ। अपनी क्रियाशक्तिसे अपने अनन्तगुणके परिणमन रूप क्रियाका मैं कर्ता हूँ, परन्तु परकी क्रियाको या विकारको मैं नहीं करता। जड़में भी क्रियाशक्ति है; उसकी क्रिया उसके अपनेसे होती है; मैं तो उसका ज्ञाता हूँ। आत्माकी शक्तिका विकास होनेसे अपनेमें सर्वज्ञता प्रगट होती है, परन्तु आत्माकी शक्तिका विकास होनेसे वह परका कुछ कर दे अथवा जगतका उद्धार कर दे—ऐसा नहीं होता।

साधकको पर्यायमें सर्वज्ञता प्रगट न होने पर भी वह अपनी सर्वज्ञत्व शक्तिकी प्रतीति करता है; वह प्रतीति पर्यायके समक्ष देख-

कर नहीं की है परन्तु स्वभावसन्मुख देखकर की है। वर्तमान पर्याय तो स्वयं ही अल्पज्ञ है, उस अल्पज्ञताके आश्रयसे सर्वज्ञताकी प्रतीति कैसे हो सकती है? अल्पज्ञ पर्याय द्वारा सर्वज्ञताकी प्रतीति होती है, परन्तु अल्पज्ञताके आश्रयसे सर्वज्ञताकी प्रतीति नहीं होती; त्रिकाली स्वभावके आश्रयसे ही सर्वज्ञताकी प्रतीति होती है। प्रतीति करनेवाली तो पर्याय है, परन्तु उसे आश्रय द्रव्यका है। द्रव्यके आश्रयसे सर्वज्ञताकी प्रतीति करनेवाले जीवको सर्वज्ञतारूप परिणमन हुए बिना नहीं रहता।

अभी अपनेको सर्वज्ञता प्रगट होनेसे पूर्व भी 'मेरा आत्मा त्रिकाल सर्वज्ञतारूप परिणमित होनेकी शक्तिवाला है'—इसप्रकार जिसने स्वसन्मुख होकर निर्णय किया वह जीव अल्पज्ञताको, रागको या परको अपना स्वरूप नहीं मानता। अल्पज्ञ पर्यायके समय भी सर्वज्ञत्वशक्ति होनेका जिसने निर्णय किया उसकी रुचिका बल अल्पज्ञ-पर्याय परसे हटकर अखण्ड स्वभावमें ढल गया है, इसलिये वह 'सर्वज्ञ भगवानका नन्दन' हुआ है।

आत्माके सर्व गुण अपनेमें ही कार्य करते हैं। आत्मा अपने अनन्त गुण पर्यायका विभु है, अनन्त गुण-पर्यायोंमें उसकी सत्ता व्याप्त है; परन्तु आत्मा परका विभु नहीं है, परके ऊपर उसकी सत्ता नहीं है। और जगतके समस्त पदार्थोंको, उनके गुणोंको और उनकी भावान्तर या क्षेत्रान्तररूप पर्यायोंको—सबको एक साथ जाने ऐसा आत्माके ज्ञानका विभुत्व है; जो आत्मा अपनी ऐसी ज्ञानशक्तिकी प्रतीति करे वही सच्चा जैन और सर्वज्ञदेवका भक्त है; परन्तु आत्मा परका ग्रहण-त्याग और परिवर्तन करता है,—ऐसा जो मानता है वह आत्माकी शक्तिको, सर्वज्ञदेवको अथवा जैनशासनको नहीं मानता है; वह वास्तवमें जैन ही नहीं है।

देखो भाई! यह क्या कहा जा रहा है? आत्मा महान भगवान है, उसकी महानताके यह गीत गाये जा रहे हैं। यह कहीं कल्पनासे नहीं कहा जाता, परन्तु आत्माका स्वभाव ही ऐसा है। सर्व

आत्माओंमें सर्वज्ञशक्ति विद्यमान है। 'सर्वज्ञ...' अर्थात् सर्वका ज्ञाता। अनन्त द्रव्य, अनन्त गुण, अनन्त पर्यायें—इन सबको जाने ऐसा महा महिमावान अपना स्वभाव है, उसे अन्यरूप—विकारी स्वरूपसे मानना ही आत्माकी महान हिंसा है। भाई रे ! तू सर्वका 'ज्ञ' अर्थात् ज्ञाता है, परन्तु परका तो कभी कुछ कर ही नहीं सकता। जहाँ प्रत्येक वस्तु पृथक्–पृथक् है वहाँ पृथक् वस्तुका तू क्या करेगा? तू भी स्वतंत्र और वह भी स्वतंत्र; सब स्वतंत्र हैं। अहो ! अनेकांतमें तो अकेली वीतरागता है। 'मैं स्व-रूप हूँ और पर-रूप नहीं हूँ'—ऐसा निर्णय करते ही अनन्त पर तत्त्वोंसे उदास होकर स्वतत्त्वमें स्थिर हो गया इसलिये वीतरागता हो गई;—इसप्रकार अनेकान्तमें वीतरागता आजाती है। अनेकान्त कहो या भेदज्ञान कहो, उसके बिना वीतरागता होती ही नहीं।

अनेकान्त वह वीतरागी विज्ञान है; उसमें सम्यग्ज्ञानपूर्वककी वीतरागता है; और एकान्तमें अर्थात् स्व-परकी एकत्वबुद्धिमें अज्ञानसहितका कषायभाव है। अनेकान्तमें तो वीतरागी श्रद्धा, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी चारित्रकी स्थापना है इसलिये अनेकान्त ही मोक्षमार्ग है, वही परम अमृत है। जहाँ परका कर्तृत्व माना वहाँ एकान्त है, उसमें मिथ्यात्व और राग-द्वेष भरे हैं, वही संसारका मूल है।

अनेकान्त प्रत्येक पर्यायका स्वाधीन स्वरूप बतलाता है; प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे ही अनन्त धर्मात्मक है ऐसा अनेकान्त बतलाता है। 'अनेकान्त' कहते ही स्वसे अस्ति और परसे नास्ति अर्थात् अपनेसे परिपूर्ण और परसे पृथक् वस्तु सिद्ध होती है। मैं परसे शून्य हूँ और अपने स्वभावसे स्वाधीन–परिपूर्ण हूँ;—इसप्रकार अनेकान्तमें वीतरागी श्रद्धा है, स्व-पर तत्त्वकी भिन्नताका वीतरागी ज्ञान है, और उसीमें स्वरूपस्थिरतारूप वीतरागी चारित्र है; क्योंकि परसे भिन्नत्वको जाना इसलिये ज्ञान परमें युक्त न होकर स्वमें स्थिर

हुआ। इसप्रकार वीतरागी श्रद्धा, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी चारित्र—यह तीनों अनेकान्तमें आजाते हैं।

मैं परका कुछ कर दूँ;—ऐसी जिसकी मान्यता है उसने सामनेवाले तत्त्वको पराधीन माना है। जिसने एक भी तत्त्वको पराधीन माना उसने जगतके समस्त पदार्थोंको पराधीन स्वरूपसे माना है, और स्वाधीन तत्त्वका कथन करनेवाले तीनकालके संतोंका उसने विरोध किया है। इसप्रकार परका कर्तृत्व माननेवाले एकान्तवादी जीवका अनन्तवीर्य विपरीत श्रद्धामें, विपरीत ज्ञानमें और विपरीत चारित्रमें रुक गया है, इसलिये वह अनन्त संसारमें भटकता है। अनेकान्तका फल मोक्ष और एकान्तका फल संसार है। एकान्तवादीको आचार्यदेवने 'पशु' कहा है, क्योंकि वह अपने आत्मस्वभावको परसे भिन्नरूप नहीं देखता, किन्तु कर्म इत्यादि परको ही आत्मारूपसे देखता है। अनेकान्तवादी तो अपने आत्माकी परसे भिन्नरूप साधना करता है। अनेकान्तमें बहुत गंभीरता है।

'मैं परका कुछ करूँ'—इसका अर्थ यह हुआ कि मेरा अस्तित्व परमें है; अर्थात् मैं अपनेरूप नहीं हूँ। और जिसप्रकार 'मैं अपनेरूप नहीं हूँ' उसीप्रकार जगतका कोई तत्त्व अपनेरूपसे नहीं है—ऐसा भी उसमें गर्भितरूपसे आ गया; इसलिये उसके अभिप्रायमें जगतका कोई पदार्थ सत् रहा ही नहीं; इसप्रकार 'मैं परका करूँ' —ऐसे अभिप्रायमें तीनलोकके सत्‌का घात होता है, इसलिये उस विपरीत अभिप्रायको महान पाप कहा है। जगतके पदार्थ तो जैसे हैं वैसे सत् हैं; उनका तो कहीं अभाव नहीं होता, परन्तु विपरीत अभिप्रायका सेवन करनेवाले जीवको अपनी पर्यायमें मिथ्यात्वका महान पाप उत्पन्न होता है। यदि इस अनेकान्तसे वस्तुस्वरूपको समझे तो सर्व विपरीत अभिप्राय छूट जाएँ। मैं अपनेरूप सत् हूँ और पर पररूपसे सत् है, मैं पररूपसे असत् हूँ और पर मेरे रूपसे असत् है—ऐसा समझनेसे कहीं परावलम्बनका भाव नहीं रहता; स्वाव-

लम्बनसे मात्र वीतरागता ही प्रगट होती है। सारा जगत ऐसेका ऐसा अपने-अपने स्वरूपमें विराजमान है; उसमें कहाँ राग और कहाँ द्वेष ? राग-द्वेष कहीं हैं ही नहीं; मैं तो सबका ज्ञाता ही हूँ, सर्वज्ञत्वशक्तिका पिण्ड हूँ—ऐसा धर्मी जानता है।

यह आत्मवैभवका वर्णन चलता है। अपनेमें ही स्थिर रहकर एक समयमें तीनकाल–तीनलोकको जाने ऐसा ज्ञानवैभव आत्मामें विद्यमान है। यदि आत्माकी सर्वज्ञत्वशक्तिका विश्वास करे तो कहीं फेरफार करनेकी बात उड़ जाती है। "निमित्त आए तो कार्य होता है और निमित्त न हो तो कार्य नहीं होता"—ऐसी जिसकी मान्यता है उसे सर्वज्ञत्वशक्तिकी प्रतीति नहीं है। "सर्वज्ञता" कहते ही सर्व पदार्थोंका क्रमबद्ध परिणमन सिद्ध हो जाता है। यदि पदार्थकी त्रिकालकी पर्यायें नियमित क्रमबद्ध न हों और उल्टी-सीधी होती हों तो सर्वज्ञता ही सिद्ध नहीं हो सकती; इसलिये सर्वज्ञताका स्वोकार करनेवालेको यह सब स्वीकार करना ही पड़ेगा।

आत्मामें सर्वज्ञशक्ति त्रिकाल है; वह सर्वज्ञशक्ति आत्मज्ञानमय है। आत्मा परके साथ तन्मय होकर परको नहीं जानता परन्तु स्वमें तन्मय रहकर जानता है। किसी परके कारण सर्वज्ञत्वशक्ति परिणमित नहीं होती परन्तु आत्माके आश्रयसे ही परिणमित होती है। आत्मसन्मुख रहकर आत्माको जाननेसे लोकालोक ज्ञात हो जाता है; इसलिये सर्वज्ञत्वशक्ति आत्मज्ञानमय है; जिसने आत्माको जाना उसने सर्व जाना। लोकालोकको जानने पर भो सर्वज्ञत्वशक्ति तो आत्मज्ञानमय ही है; लोकालोकके कारण केवलज्ञान नहीं है।—यह बात सर्वदर्शित्वशक्तिके वर्णनमें विस्तारसे आगई है, तदनुसार यहाँ भी जानना।

हे जीव ! तेरे ज्ञानमात्र आत्माके परिणमनमें अनन्त धर्म एकसाथ उछल रहे हैं; उसीमें झाँककर अपने धर्म को ढूंढ़। जिसने अपनी सर्वज्ञताकी प्रतीति की वह जीव देहादिकी क्रियाका ज्ञाता

रहा। परकी क्रियाको बदलनेकी बात तो दूर रही, परन्तु अपनी क्रियावती शक्तिसे आत्माका जो क्षेत्रान्तर होता है उसे भी ज्ञान करता नहीं है, मात्र जानता ही है। 'सर्वज्ञता' कहनेसे दूरवर्ती या निकटवर्ती पदार्थको जाननेमें भेद नहीं रहा; पदार्थ दूर हो या निकट हो उसके कारण ज्ञान करनेमें कुछ भी फेर नहीं पड़ता। दूरवर्ती पदार्थको निकटवर्ती करना या निकटवर्ती पदार्थको दूरवर्ती करना वह ज्ञानका कार्य नहीं है; परन्तु निकटवर्ती पदार्थकी भांति दूरवर्ती पदार्थको भी स्पष्ट जानना ज्ञानका कार्य है। जगतके विशेष भावोंको ज्ञान समान रीतिसे जानता है। केवली भगवानको समुद्घात होनेसे पूर्व उसे जाननेरूप परिणमन हो गया है; भविष्यकी अनन्तानन्त सुख पर्यायोंका वेदन होनेसे पूर्व सर्वज्ञत्वशक्ति उसे जाननेरूप परिणमित हो गई है। भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजामें "सीमंधर जिन चरण कमल पर..." इत्यादि बोलनेकी क्रिया ज्ञान नहीं करता; इच्छा—विकल्पका भी वह कार्य नहीं है, और चावल आदि आठ प्रकारकी वस्तुएँ एकत्रित करनेका कार्य ज्ञानका नहीं है, तथा शुभ विकल्प हो वह कार्य भी ज्ञानका नहीं है; ज्ञानका कार्य तो मात्र "जानना" ही है; उसमें भी अपूर्ण जाननेरूप परिणमित हो ऐसा ज्ञानका मूल स्वरूप नहीं है; सर्वको जाननेरूप परिणमित होनेका ही ज्ञानका स्वरूप है;—ऐसा यहाँ आचार्यदेवने सर्वज्ञत्वशक्तिका वर्णन करके बतलाया है।

रुपया आये या जाये, शरीरमें आहारका प्रवेश हो या न हो, पुस्तक लिखी जाये या भाषा बोली जाये—उनमें कुछ भी करनेकी आत्माकी शक्ति नहीं है; परन्तु उन सबको जाननेकी आत्माकी शक्ति है। गलेमें कफ अटक गया हो; ज्ञान ज्ञानता है कि यहां कफ अटका है, परन्तु उस कफको निकालनेकी शक्ति ज्ञानमें नहीं है; शरीरमें रोग हो, वहाँ वह रोग कब हुआ–कितना हुआ उसे ज्ञान जानता है, परन्तु उस रोगको दूर करनेकी शक्ति ज्ञानमें नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि "तिनकेके दो टुकड़े करनेकी शक्ति भी

हम में नहीं है''—इसका आशय यह है कि हम तो ज्ञायक हैं, एक परमाणुमात्रको बदलनेका कर्तृत्व भी हम नहीं मानते। तिनके के दो टुकड़े हों उसे करनेकी हमारी शक्ति नहीं है, किन्तु जाननेकी शक्ति है। और वह भी इतना ही जाननेकी शक्ति नहीं है परन्तु परिपूर्ण जाननेकी शक्ति है। जो ज्ञानकी पूर्ण जाननेकी शक्तिको माने वह अपूर्णदशा या रागको अपना स्वरूप नहीं मानता; इसलिये उसे ज्ञानके विकासका अहंकार कहाँसे होगा ? जहाँ पूर्ण स्वभावका आदर है वहाँ अल्पज्ञानका अहंकार होता ही नहीं। ज्ञानस्वभावी आत्मा संयोगरहित और परमें रुकनेके भाव रहित है; किसी अन्य द्वारा उसका मान या अपमान नहीं है। सर्वज्ञता अर्थात् अकेला ज्ञान...परिपूर्ण ज्ञान...ऐसे ज्ञानसे परिपूर्ण आत्माकी प्रतीति करना वह धर्मकी नींव है।

× × × ×

निमित्तसे आत्माको लाभ होता है—ऐसा माननेवालेको विषयोंमें सुखबुद्धि दूर नहीं हुई है। निमित्तसे आत्माको लाभ होता है ऐसा माननेवालेने आत्माकी सर्वज्ञत्वशक्तिको स्वीकार नहीं किया है। मुझमें ही सर्वज्ञरूप परिणमित होनेकी शक्ति है, उसीसे मेरा ज्ञान परिणमित होता है,—ऐसा न मानकर शास्त्रादिके निमित्तसे मेरा ज्ञान परिणमित होता है—ऐसा जिसने माना है उसने संयोगसे लाभ माना है। जो जिससे लाभ माने उसे उसीमें सुखबुद्धि होती है। संयोगसे लाभ माने उसे संयोगमें सुखबुद्धि है; निमित्तसे सुख माने उसे निमित्तमें सुखबुद्धि है। संयोग अर्थात् पर विषय; निमित्त भी पर विषय है। जिसे निमित्तके आश्रयकी बुद्धि है उसे पर विषयमें सुखबुद्धि है। जिसने आत्माको किसी भी संयोगसे या निमित्तसे लाभ माना उसके अन्तरमें पर विषयोंकी ही रुचि है; उसे आत्माके स्वाधीन सुखकी रुचि नहीं हुई है और स्वविषय उसकी दृष्टिमें नहीं आया है। जिसे वास्तवमें आत्माके सुखकी रुचि हो, वह किसी भी परविषयसे

लाभ नहीं मानता; चैतन्यबिम्ब स्वतत्त्वके अतिरिक्त अन्यसे लाभ मानना वह मैथुनबुद्धि अर्थात् विषयोंमें सुखबुद्धि है।

'मेरा आत्मा ही सर्वज्ञता और परमसुखसे परिपूर्ण है'—ऐसी जिसे प्रतीति नहीं है वह जीव भोगहेतु धर्मकी अर्थात् पुण्यकी ही श्रद्धा रखता है; चैतन्यके निर्विषय सुखका उसे अनुभव नहीं है इसलिये उसके अंतरकी गहराईमें भोगका हेतु ही विद्यमान है।

सर्वज्ञत्वरूपसे परिणमित होनेकी आत्माकी शक्ति है; उसके बदले निमित्तके आश्रयसे ज्ञान विकसित होता है—ऐसा जो मानता है उसे पंचेन्द्रियके विषयोंमें सुखबुद्धि दूर नहीं हुई है; निमित्त और विषय दोनों एक ही हैं। निमित्तसे लाभ माननेवाला या विषयोंमें सुख माननेवाला इन दोनोंकी एक ही जाति है। वे आत्मस्वभावके आश्रयसे परिणमित न होकर संयोगका आश्रय करके ही परिणमित हो रहे हैं; भले ही शुभभाव हो, तथापि उनके विषयोंकी रुचि दूर होकर स्वभावसुखकी रुचि नहीं हुई है।

परमेंसे कुछ भी लाभ ले ऐसी कोई शक्ति आत्मामें नहीं है; और आत्माको लाभदायी हो ऐसी कोई शक्ति परवस्तुमें नहीं है; तथापि परका आश्रय करके जो लाभ लेना मानता है उसे स्वविषयकी रुचि नहीं है परन्तु अन्तरमें विषयोंके सुखकी रुचि विद्यमान है; उसने अपने आत्माको ध्येयरूप नहीं किया है परन्तु विषयोंको ही ध्येयरूप बनाया है। यहाँ विषय कहनेसे मात्र अशुभरागके निमित्त ही नहीं समझना, परन्तु देव–गुरु–शास्त्रादि शुभरागके निमित्त भी पर विषय ही हैं। अपने चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त समस्त पदार्थ पर विषय हैं; उनके आश्रयसे जो लाभ माने उसे पर विषयोंकी प्रीति है।

प्रत्येक आत्मामें सर्वज्ञत्वशक्ति है; उसकी श्रद्धा करनेवालेको पर विषयोंके आश्रयसे लाभकी बुद्धि नहीं होती। "अहो! मेरे आत्मामें सर्वज्ञताका सामर्थ्य है"—ऐसी जिसने प्रतीति की उसने वह प्रतीति

परसन्मुख देखकर की है या अपनी शक्तिसन्मुख देखकर की है ? आत्माकी शक्तिकी प्रतीति आत्माको ध्येय बनाकर होती है या परको ध्येय बनाकर होती है ? किसी निमित्त, राग अथवा अपूर्ण पर्यायके लक्षसे पूर्णताकी प्रतीति नहीं होती परन्तु अखण्ड स्वभावके लक्षसे ही पूर्णताकी प्रतीति होती है। परमार्थसे अरिहंत भगवान इस आत्माके ध्येय नहीं हैं; उनके लक्षसे तो राग होता है। अरिहन्त भगवानकी शक्ति उनमें है, किन्तु उनके पाससे कहीं इस आत्माकी शक्ति नहीं आती। अरिहन्त भगवान जैसी इस आत्माकी शक्ति अपनेमें विद्यमान है। यदि अरिहन्त भगवानके सन्मुख ही देखता रहे और अपने आत्माकी ओर न ढले तो मोहका क्षय नहीं होता। जैसे शुद्ध अरिहन्त भगवान हैं वैसा ही मैं हूँ—ऐसा जानकर यदि अपने आत्माकी ओर ढले तो सम्यग्दर्शन प्रगट होकर मोहका क्षय होता है। प्रभो ! तेरी चैतन्यसत्ताके असंख्यप्रदेशी क्षेत्रमें तेरे अचिंत्य निधान भरे हैं; तेरी सर्वज्ञशक्ति तेरे ही निधानमें भरी है, उसकी प्रतीति करके स्थिरता द्वारा खोद तो तेरे निधानमेंसे सर्वज्ञता प्रगट हो।

विश्वके समस्त भावोंको विशेष प्रकारसे जाननेकी आत्माकी शक्ति है। जड़-चेतन, मूर्त-अमूर्त, सिद्ध-संसारी, भव्य-अभव्य इत्यादि समस्त विविध और विषमभावोंको वीतरागरूपसे जानले ऐसा सर्वज्ञताका सामर्थ्य आत्मामें भरा है। किसी निमित्तके कारण यह ज्ञानसामर्थ्य विकसित नहीं होता। यदि आत्मा निमित्तसे जानता हो तो सर्वज्ञत्वशक्ति निमित्तमयी होगई किन्तु आत्मज्ञानमयी नहीं रही ! जिसप्रकार पूर्णताको प्राप्त ज्ञानमें निमित्तका अवलम्बन नहीं है, उसीप्रकार निचली दशामें भी निमित्तके कारण ज्ञान नहीं होता; इसलिये वास्तवमें पूर्णताकी प्रतीति करनेवाला साधक अपने ज्ञानको परावलम्बनसे नहीं मानता, परन्तु स्वभावके अवलम्बनसे मानकर स्वोन्मुख करता है। परसन्मुख देखनेसे आत्माका कुछ भी नहीं हो सकता; सर्वज्ञशक्तिवाले अपने आत्माकी ओर देखनेसे सर्वज्ञताकी प्राप्ति हो सकती है। अनंतकाल परसन्मुख देखता रहे तथापि, वहाँ

से सर्वज्ञताकी प्राप्ति नहीं होगी, और निजस्वभावसन्मुख देखकर स्थिर होनेसे क्षणमात्रमें सर्वज्ञता प्रगट हो सकती है।

अपने स्वभावके अवलम्बनसे तीनकाल तीनलोकको जाननेरूप परिणमित होनेकी आत्माकी शक्ति है; उसके बदले स्वभावगृहको छोड़कर निमित्तादि पर द्रव्योंके अवलम्बनसे जो अपना परिणमन मानता है उस अज्ञानीकी व्यभिचारी बुद्धि है। निमित्तके आश्रयसे लाभ होता है—ऐसी मान्यता कहो, मिथ्यात्व कहो, मूढ़ता कहो, संयोगी दृष्टि कहो, विषयोंमें सुखबुद्धि कहो, व्यभिचार कहो, अधर्म कहो या अनंत संसारका मूल कारण कहो—उन सबका एक ही भाव है। जहाँ अपने सहज स्वरूपकी रुचि नहीं है और पराश्रयभावकी रुचि है वहाँ उपरोक्त समस्त भाव उसमें भरे ही हैं।

सर्वज्ञता प्रगट होनेसे पूर्व साधकदशामें ही आत्माकी पूर्ण शक्तिकी प्रतीति करनेकी यह बात है। पूर्ण शक्तिकी प्रतीति करके उसका आश्रय लेनेसे ही साधक दशा प्रारम्भ होकर पूर्ण दशा प्रगट होती है।

साधकको शाश्वत तीर्थ सम्मेदशिखर आदिकी यात्राका भाव आता है, परन्तु उन तीर्थोंके कारण मुझे शीघ्र भगवानका ज्ञान हो जायेगा—ऐसा वह नहीं मानता। उसे ऐसी प्रतीति है कि निकटवर्ती और दूरवर्ती समस्त पदार्थोंको समानरूपसे जाननेकी मेरे ज्ञानकी शक्ति है; मेरे ज्ञानसामर्थ्यको दूरका या निकटका जाननेमें फेर नहीं पड़ता। जहाँ पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य विकसित होगया वहाँ दूर क्या और निकट क्या? ज्ञान तो आत्मामें रहकर जानता है; कहीं पदार्थोंके समीप जाकर उन्हें नहीं जानता। एक सर्वज्ञ ढाई द्वीपके मध्यमें हों और दूसरे ढाई द्वीपके छोर पर हों, तो वहां बीचमें विराजमान सर्वज्ञको चारों ओरके पदार्थोंका अधिक स्पष्ट ज्ञान हो और छोर पर विद्यमान सर्वज्ञको सामनेवाले छोरके पदार्थोंका दूर होनेके कारण कुछ कम ज्ञान हो—ऐसा नहीं है; दोनोंकी सर्वज्ञता

समान ही है। यहां के पदार्थका जैसा स्पष्ट ज्ञान निकटवर्ती सर्वज्ञको होता है वैसा ही स्पष्ट ज्ञान लाखों–करोड़ों योजन दूर विद्यमान सिद्ध भगवन्तोंको होता है; सर्वज्ञतामें अन्तर नहीं पड़ता। ऐसी सर्वज्ञतारूप परिणमित होनेकी शक्ति प्रत्येक जीवमें त्रिकाल विद्यमान है।

"अहो ! मेरा सर्वज्ञपद प्रगट होनेकी शक्ति मुझमें वर्तमान ही भरी है"—इसप्रकार स्वभावसामर्थ्यकी श्रद्धा करनेसे ही वह अपूर्व श्रद्धा जीवको बाह्यमें उछाले मारनेसे रोक देती है और उसके परिणमनको अन्तर्मुख कर देती है। इसप्रकार एक सर्वज्ञत्वशक्तिकी प्रतीति करनेसे उसमें मोक्षकी क्रिया धर्मकी क्रिया आजाती है। जो जीव स्वभावसन्मुख होकर उसकी प्रतीति नहीं करता और निमित्तकी सन्मुखतासे लाभ मानता है उस जीवको विषयोंमेंसे सुखबुद्धि दूर नहीं हुई है और न स्वभाव बुद्धि हुई है। मस्तक काटनेवाला निमित्त मुझे हानिकर्ता है और भगवानकी वाणी लाभदायी है;—इसप्रकार पर विषयोंसे लाभ-हानि होनेकी जिसकी मान्यता है वह जीव मिथ्यादृष्टि, विषयबुद्धिवाला है। स्वभावकी बुद्धिवाला धर्मी जीव तो ऐसा जानता है कि मस्तक काटनेवाला हिंसक या दिव्यध्वनि सुनानेवाले सर्वज्ञ-वीतरागदेव—दोनों मेरे ज्ञानके ज्ञेय हैं। उन ज्ञेयोंके कारण मुझे-कोई लाभ-हानि नहीं है और न उन ज्ञेयोंके कारण मैं उन्हें जानता हूँ। राग-द्वेषके बिना समस्त ज्ञेयोंको जान लेनेकी सर्वज्ञत्वशक्ति मुझ में विद्यमान है। कदाचित् अस्थिरताका विकल्प आजाये तथापि धर्मीको ऐसी श्रद्धा तो हटती ही नहीं। इसलिये जिस पूर्ण स्वभाव-को प्रतीतिमें लिया है उसीके अवलम्बनके बलसे अल्पकालमें उनके पूर्ण सर्वज्ञता विकसित हो जाती है।

[अनेकान्तस्वरूपी आत्माकी सर्वज्ञत्वशक्तिका वर्णन यहाँ पूर्ण हुआ।]

★

[११]

स्वच्छत्वशक्ति

हे जीव ! अपनेमें ऐसी स्वच्छत्व शक्ति है कि तेरे उपयोग दर्पणमें लोकालोक एकसाथ ज्ञात हो जाय। तूं उसे जाननेकी आकुलता छोड़ (ज्ञान ज्ञेयको जानता है ऐसा नहीं किन्तु वह तो तेरे ज्ञानमें स्वच्छ स्वभावका उदय है) तूं अंतर्मुख होकर नित्यनिर्मल स्वरूपमें निश्चल होते ही सर्वपदार्थ स्वयमेव तेरे उपयोगमें प्रतिभासित होगा—ज्ञेयोंको जाननेके लिये तुझे बाह्यदृष्टि देनेकी आवश्यकता नहीं है। जैसे तेरे शुद्धस्वरूपमें किंचित मलिनता नहीं है इस प्रकार पूर्ण निर्मलदशा प्रगट होने पर प्रगट उपयोगमय चैतन्यकी स्वच्छतामें विकारका अंश भी रह सकता नहीं !

अमूर्तिक आत्मप्रदेशोंमें प्रकाशमान लोकालोकके आकारोंसे मेचक (अनेक-आकाररूप)—ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है ऐसी स्वच्छत्वशक्ति आत्मामें है। जिसप्रकार दर्पणकी स्वच्छत्वशक्तिसे उसकी पर्यायमें घटपटादि प्रकाशित होते हैं; उसीप्रकार आत्माकी

स्वच्छत्वशक्तिसे उसके उपयोगमें लोकालोकके आकार झलकानेवाली स्वच्छता प्रकाशित होती है।

अनन्त शक्तिवाले आत्माके आधारसे धर्म होता है, इसलिये उसकी शक्तियों द्वारा उसे पहिचाननेके लिये यह वर्णन चलता है। आत्माके उपयोगमें लोकालोक ज्ञात हों ऐसा उसका स्वच्छ स्वभाव है। बाह्यमें शरीरके धोनेसे आत्मा की स्वच्छता नहीं हो सकती; स्वच्छता तो आत्माका ही गुण है, वह कहीं बाहरसे नहीं आता। अज्ञानीजन चैतन्यके स्वच्छ स्वभावको भूलकर शरीरकी स्वच्छतामें धर्म मानते हैं और शरीरकी अशुचि होनेसे मानों अपने आत्मामें मलिनता लग गई हो ऐसा वे मानते हैं; परन्तु आत्मा तो स्वयं स्वच्छ है, उसके उपयोगमें लोकालोक ज्ञात होनेपर भी मलिनता न लगे ऐसा उसका स्वच्छ स्वभाव है।

हे जीव! तेरी स्वच्छता ऐसी है कि उसमें जगतका कोई पदार्थ ज्ञात हुए बिना नहीं रहता। जिसप्रकार दर्पणकी स्वच्छतामें सब दिखाई देता है उसीप्रकार स्वच्छत्वशक्तिके कारण आत्माके उपयोगमें लोकालोक ज्ञात होता है। शरीर तो जड़ है; उसमें किसीको जाननेकी शक्ति नहीं है; रागादिभावोंमें भी ऐसी स्वच्छता नहीं है कि वे किसीको जान सकें; वे तो अंध हैं; आत्मामें ही ऐसी स्वच्छता है कि उसके उपयोगमें सब ज्ञात होता है। स्वच्छताके कारण आत्माका उपयोग ही लोकालोकके ज्ञानरूपसे परिणमित हो जाता है। शरीर स्वच्छ हो तो आत्माके भाव निर्मल हों—ऐसा नहीं है। जगतके सर्व पदार्थ मेरे उपयोगमें भले ही ज्ञात हों परन्तु वे कोई पदार्थ मेरी स्वच्छताको बिगाड़नेमें समर्थ नहीं हैं। बाह्य पदार्थ कहीं ज्ञानमें नहीं आजाते; परन्तु ज्ञानके उपयोगका ऐसा मेचक स्वभाव है कि वह समस्त पदार्थोंके ज्ञानरूपसे परिणमित होता है; तथापि अपनी स्वच्छताको नहीं छोड़ता। जिसने अपने ऐसे पवित्र उपयोग-स्वभावकी प्रतीति की वह जीव स्वसन्मुखतासे पर्याय-पर्यायमें पवित्रता

प्रगट करता हुआ केवलज्ञानके सन्मुख होता जाता है।

लोकालोकको देखनेके लिये जीवको कहीं बाहर नहीं देखना पड़ता; परन्तु जहाँ ज्ञानका उपयोग स्वरूपमें लीन होकर स्वच्छरूपसे परिणमित हुआ वहां उसकी स्वच्छतामें लोकालोक अपने आप आकर झलकते हैं। वस्तुपाल–तेजपालके सम्बन्धमें एक ऐसी किंवदन्ति प्रचलित है कि एकबार वे चोरोंके भयसे रुपये तथा गहने आदि सम्पत्तिको धरतीमें गाड़नेके लिये गड्ढा खोद रहे थे; वहाँ उस गड्ढे मेंसे ही स्वर्ण–मुहरोंके निधान निकल पड़े। यह देखकर उनकी स्त्री कहने लगी कि अरे! आपका धरतीमें गाड़नेसे क्या प्रयोजन है? जहाँ पग-पग पर निधान निकल रहे हैं वहाँ गाड़ना किसलिये? इस लक्ष्मीका तो ऐसा सदुपयोग करो कि जिसे कोई चुरा न सके।—इस घटनाके बाद उन्होंने मन्दिर बनवाए। उसीप्रकार यहाँ चैतन्यमें ऐसी उपयोगलक्ष्मीका भण्डार भरा है कि अन्तर्मुख गहराई तक उतरकर खोदनेसे केवलज्ञानके निधान प्रगट होते हैं, और लोकालोक आकर उनमें झलकते हैं। उस उपयोगकी स्वच्छताको कोई चुरा नहीं सकता। जिसके स्वभावमें ऐसे निधान भरे हैं उसे किसी परका आश्रय क्यों होगा? स्वभावके आश्रयसे पर्याय-पर्यायमें पूर्ण निधान प्रगट होते हैं। आत्मामें ही ऐसी स्वच्छता भरी है कि कोई परवस्तु या मंदकषायके आश्रय बिना ही उसका उपयोग लोकालोकको जाननेरूप परिणमित होता है।

स्वच्छ दर्पणके सामने मोर हो वहां दर्पणमें ऐसा स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई देता है—मानों मोर दर्पणमें प्रविष्ट हो गया हो! वहाँ वास्तवमें दर्पणमें मोर दिखलाई नहीं देता परन्तु दर्पणकी स्वच्छताका ही वैसा परिणमन है। उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्माका उपयोग ही सारे जगतका मंगलदर्पण है; उसकी स्वच्छतामें लोकालोक ऐसे स्पष्टरूपसे ज्ञात होते हैं—मानों लोकालोक उसमें प्रविष्ट हो गये हों। वास्तवमें कहीं लोकालोक आत्माके उपयोगमें प्रविष्ट नहीं हो

जाते; लोकालोक तो बाहर ही हैं; आत्माका स्वच्छ उपयोग ही उस स्वरूपसे परिणमित हुआ है। ऐसी स्वच्छत्वशक्ति आत्मामें त्रिकाल है। कहीं बाह्यके लक्षसे उपयोगकी स्वच्छता नहीं होती परन्तु त्रिकाली स्वच्छ उपयोगस्वभावके सन्मुख होनेसे उपयोगकी स्वच्छता प्रगट होती है। इसप्रकार स्वच्छत्वशक्ति द्रव्य–गुण–पर्याय तीनोंमें व्याप्त है। एक समयमें जगतके अनेक पदार्थोंको जाने वैसे स्वच्छ आकाररूप उपयोगका परिणमन होने पर भी उसके खण्ड-खण्ड या उसमें मलिनता नहीं हो जाती।—ऐसा स्वच्छत्वशक्तिका प्रताप है।

परसन्मुख देखनेसे अथवा शुभरागके कारण उपयोगका स्वच्छत्व नहीं होता; शुभराग तो स्वयं मलिनता है आत्माका त्रिकाली स्वच्छ स्वभाव है, उसकी प्रतीति करके परिणमित होनेसे लोकालोकको प्रकाशित करे ऐसा स्वच्छ उपयोग प्रगट होता है। वह उपयोग परसन्मुख देखे बिना स्वयं अपनेमें लीन रहकर अपनी स्वच्छतामें सबको जान लेता है। जैसे—कभी-कभी स्वयंवर आदिमें कन्याको राजकुमारोंकी ओर देखना न पड़े इसके लिये एक बड़ा स्वच्छ दर्पण रखते हैं; उस दर्पणमें कन्या राजकुमारोंकी सूरत देख लेती है; उसमें किसीकी ओर देखनेकी या दूसरेके आश्रयकी कन्याको आवश्यकता नहीं रहती; उसीप्रकार आत्मामें ऐसी स्वच्छता है कि पर—लोकालोक के सन्मुख देखे बिना, स्वयं अपने स्वभावकी ओर देखते हुए निर्मल उपयोगभूमिमें लोकालोकको देख लेता है। जिसप्रकार सती स्त्रियाँ पर पुरुषकी ओर आँख उठाकर नहीं देखतीं, उसीप्रकार पवित्र मूर्ति आत्मा परसन्मुख देखे बिना ही लोकालोकको प्रकाशित करनेरूप परिणमित होनेकी शक्तिवाला है।

द्रौपदी, सीताजी आदि महान सती थीं; एक पतिके अतिरिक्त किसी अन्यकी स्वप्नमें भी उनके इच्छा नहीं थी। द्रौपदी सतीके एक ही पति था; स्वयंवरमें उन्होंने पाँच पाण्डवोंको वरमाला नहीं पहिनाई, परन्तु एक अर्जुनका ही वरण किया था। पूर्व प्रारब्धके

योगसे ऐसी झूठी बात उड़ गई कि द्रौपदीके पांच पति थे। अहो! युधिष्ठिर और भीम जैसे जेठ तो पितातुल्य थे तथा नकुल, सहदेव जैसे देवर उन्हें पुत्रतुल्य थे। ऐसी पवित्र सतीको पाँच पति माननेवाले मूढ़–मिथ्याभाषी हैं। सतीके स्वप्नमें भी ऐसा नहीं होता। सती सीता, द्रौपदी, राजुल आदि तो जगतकी चन्द्रिकाएँ थीं, उन्हें आत्माका भान था; अन्तरमें ब्रह्मआनन्दका रसास्वादन किया था इसलिये विषय नीरस लगते थे, विषयोंमें किंचित् सुख नहीं मानती थीं। ऐसी पवित्र सतियां किसी अन्यकी ओर नहीं देख सकतीं। यहाँ सतियोंका दृष्टान्त देकर यह समझाना है कि जिसप्रकार पवित्र सतियां अन्य पुरुषोंके सामने नहीं देखतीं उसीप्रकार भगवान आत्मा ऐसा स्वच्छ–पवित्र स्वभावी है कि किसी अन्यकी ओर देखे बिना, स्वयं अपने स्वभावसे ही लोकालोक को जाननेरूप परिणमित हो जाता है। आत्मा इन्द्रियोंके अवलम्बनसे या परज्ञेयोंकी सन्मुखतासे नहीं जानता।

यह द्रव्यदृष्टिकी बात वर्तमान पर्यायमें कचाश होने पर भी स्वसन्मुख स्वभावकी प्रतीति करनेकी यह बात है। जितनी बहिर्मुख वृत्ति हो वह मेरा स्वरूप नहीं है; मेरा पूर्ण स्वभाव अन्तर्मुख है। मेरे स्वभावकी स्वच्छता ऐसी है कि उसकी ओर देखनेसे सब ज्ञात हो जाता है। बाह्यमें देखते हुए तो विकल्प उठते हैं और पूर्ण ज्ञात नहीं होता; लोकालोकको जाननेके लिये बाह्यमें लक्ष नहीं बढ़ाना पड़ता परन्तु अन्तरमें एकाग्र होना पड़ता है। अनंत अलोकक्षेत्र, अनंतकाल और लोकके अनंत पदार्थ—वह सब स्वभावसन्मुख देखनेसे ज्ञात हो जाता है। लोकालोकके सन्मुख देखकर कोई जीव लोकालोकका पार नहीं पा सकता, परन्तु ज्ञान अन्तरमें स्थिर होनेसे लोकालोकका पार पा लेता है। इसप्रकार धर्मीको अपने अन्तर्मुख स्वभावकी प्रतीति है।

आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! तू परको जाननेकी आकुलता छोड़कर अपनेमें स्थिर हो! परको जाननेकी आकुलता

करनेसे तो सारा ज्ञान विपरीत रुक जायेगा और पूर्ण नहीं जान सकेगा। परन्तु यदि स्वरूपमें स्थिर हो तो तेरे ज्ञानका ऐसा विकास प्रगट हो जायेगा कि लोकालोक सहज ही उसमें ज्ञात होंगे। इसलिये स्वभावसन्मुख होकर अपनी स्वच्छताके सामर्थ्यकी प्रतीति कर और उसमें स्थिर हो। देखो, यह लोकालोकको जाननेका उपाय !

अमूर्तिक आत्मप्रदेशोंमें ही लोकालोक झलकते हैं। लोकमें मूर्तिक पदार्थ हैं वे भी अमूर्तिक ज्ञानमें ज्ञात होते हैं। मूर्तिक पदार्थोंको जाननेसे ज्ञान कहीं मूर्तिक नहीं हो जाता, क्योंकि मूर्तिक पदार्थोंका ज्ञान तो अमूर्तिक ही है। जगतमें अनंत आत्मा सदा पृथक्-पृथक् है; उनमें ज्ञानगुण हैं, उनके उपयोगका परिणमन है, उनका पूर्ण स्वच्छ परिणमन होनेसे उसमें लोकालोक ज्ञात होते हैं। सामने ज्ञेयरूप लोकालोक हैं, परन्तु लोकालोकको जाननेवाला ज्ञान उनसे पृथक् है; लोकालोकका ज्ञान तो आत्मप्रदेशोंमें ही समा जाता है।—एक स्वच्छत्वशक्तिको माननेसे उसमें यह सब आजाता है। जो यह सब स्वीकार न करे उसे आत्माके स्वच्छत्वस्वभावकी प्रतीति नहीं है।

दर्पणकी स्वच्छताके कारण उसमें मयूरादि स्वयं प्रकाशित होते हैं। जिनमंदिरमें लगे हुए दोनों ओरके दर्पणोंमें अनेक जिनप्रतिमाओंकी पंक्ति हो ऐसा दिखाई देता है; वहां कहीं दर्पणमें जिनप्रतिमा नहीं है, किन्तु दर्पणकी स्वच्छताका ही वैसा परिणमन है। अनेक प्रकारके रंग और आकृतियाँ दर्पणमें दिखलाई देती हैं वह कहीं बाह्यकी उपाधि नहीं है परन्तु दर्पणकी स्वच्छताकी ही अवस्था है। उसीप्रकार आत्माका ऐसा स्वच्छ स्वभाव है कि उसके उपयोगके परिणमनमें लोकालोकका प्रतिबिंब झलक रहा है, अनंत सिद्ध भगवन्त एक साथ ज्ञानमें झलक रहे हैं; वहाँ ज्ञानमें कहीं वे पर द्रव्य नहीं हैं परन्तु ज्ञानकी स्वच्छताका ही वैसा परिणमन है। ज्ञानमें लोकालोककी उपाधि नहीं है। अहो ! ऐसे स्वच्छ ज्ञानस्वभावमें कहीं परका अवलम्बन, विकार या अपूर्णता है ही कहाँ ?

जिसप्रकार बाजारमें किसी दुकानमें दर्पण लगा हो; उसमें बाजारमें आने-जानेवाले हाथी, घोड़े, मोटर, साइकिल, मनुष्य, स्त्री, कोयला, विष्टा इत्यादि विचित्र पदार्थ झलकते हैं, परन्तु दर्पणको किसी पर राग-द्वेष नहीं होता; दर्पण स्वयं स्थिर रहता है और पदार्थ स्वयमेव उसमें झलकते हैं। उसीप्रकार आत्माके चैतन्य-दर्पणमें विश्वके समस्त चित्र-विचित्र पदार्थ झलकते हैं ऐसा उसका स्वभाव है परन्तु उनमेंसे किसी पर राग द्वेष करनेका उसका स्वभाव नहीं है। सिद्ध पर राग और अभव्य पर द्वेष करे ऐसा उसमें नहीं है; वह तो निजस्वरूपमें स्थिर रहकर वीतरागरूपसे विश्वके प्रतिबिम्बको अपनेमें झलका रहा है। दर्पणका दृष्टान्त दिया वह दर्पण तो जड़ है; उसे परको या अपने स्वभावकी खबर नहीं है; आत्मा तो लोकालोक-प्रकाशक चैतन्य-दर्पण है; वह स्वयं अपने स्वभावका तथा परका प्रकाशक है। स्थिर होकर स्वयं अपने अतीन्द्रिय ज्ञानदर्पणमें देखे तो उसमें अपना शुद्ध स्वरूप दिखाई दे, और लोकालोकका भी ज्ञान हो जाये।

देखो, यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि निजस्वरूपको जाननेसे परका ज्ञान हो जाता है। स्वभावको जाने बिना मात्र परको ही जानने जाये तो वह मिथ्याज्ञान है, उसमें परका भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जहां स्वप्रकाशकतारूप निश्चय हो वहीं परप्रकाशकतारूप व्यवहार होता है।

जगतमें स्व-पर दोनों वस्तुएँ हैं, और उन दोनोंको जाननेका ज्ञानका सामर्थ्य है; परन्तु स्वमें परका अभाव है और परमें स्वका अभाव है।—ऐसा जानना वह अनेकान्त है, और वही सत्य स्वरूप है। ऐसा सत्य स्वरूप जाने बिना कोई सत्यवादी नहीं हो सकता। एकान्तवादी जो कुछ बोलता है वह सब मिथ्या है—असत्य है। स्याद्वाद ही सच्चा सत्यवाद है। प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वभाव-सामर्थ्यसे परिपूर्ण है और पर से पृथक् है—इसप्रकार अनेकान्त द्वारा

सत्यवस्तुस्वरूपको पहिचाने बिना वीतरागी सत्यकी घोषणा नहीं हो सकती।

आत्माकी स्वच्छशक्तिमें विकार नहीं है और उस स्वच्छशक्तिमें अभेद होकर परिणमित होनेसे पर्यायमें भी मलिनता नहीं रह सकती। जिसप्रकार आँखके भीतर एक रजकण भी नहीं रह सकता, उसीप्रकार आत्माके स्वच्छ उपयोगमें विकारका अंश भी नहीं रह सकता।

[यहाँ ११ वीं अनंतधर्मात्मक आत्माकी स्वच्छत्वशक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

★

सच्चा उद्यम

समयसारमें आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! तू जगतका व्यर्थ कोलाहल छोड़कर अन्तरमें चैतन्यवस्तुके अनुभवनका छह महीने तक प्रयत्न कर, तो अपने अन्तरमें तुझे अवश्य उसकी प्राप्ति होगी। अन्य रुचि छोड़कर चैतन्य रुचिपूर्वक यदि अन्तरमें अभ्यास करे तो अल्पकालमें उसका अनुभव हुए बिना न रहे। सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये अन्तरमें तत्त्वनिर्णय और अनुभवका अपूर्व उद्यम करना चाहिए।

[१२]

प्रकाश शक्ति

चैतन्यकी महिमा ऐसी है कि स्वयं अपने स्वसंवेदनसे स्पष्ट अनुभवमें आती है। चैतन्यकी ऐसी महिमाको जाने तो अपूर्व कल्याण प्रगटे। आत्माकी महिमा अपनी अनंत शक्तियोंसे ही है, किसी बाह्यवस्तुसे आत्माकी महिमा नहीं। जिसको मोक्षमें जाना हो उसके लिए आचार्यदेव यह चैतन्यका दहेज देते हैं।

आत्माकी अनंतशक्तियोंमें एक प्रकाश नामकी शक्ति है। कैसी है वह शक्ति ? स्वयं प्रकाशमान विशद (स्पष्ट) ऐसी स्वसंवेदनमयी अर्थात् स्वानुभवस्वरूप प्रकाश शक्ति है।

ज्ञानमूर्ति आत्माका स्वसंवेदन कैसा है ? कि स्वयं प्रकाशमान है और स्पष्ट है, प्रत्यक्ष है। आत्मा स्वयं अपनेसे ही प्रत्यक्ष स्वानुभवमें आये ऐसी उसकी प्रकाशशक्ति है। आत्मामें अनादि–अनंत ऐसा प्रकाशस्वभाव है कि स्वयं अपनेसे प्रकाशमान है और स्वयं ही अपना स्पष्ट संवेदन करता है। आत्माको अपना स्वसंवेदन करनेमें किसी परके आश्रय की आवश्यक्ता नहीं होती। इन्द्रियादि निमित्तोंका

संयोग हो तो आत्माको अपना संवेदन हो—ऐसा नहीं है; और आत्मा स्वयं अपनेको प्रत्यक्ष न कर सके, परोक्षरूपसे ही आत्माकी श्रद्धा–ज्ञान हो—ऐसा भी नहीं है; क्योंकि प्रकाशशक्तिके कारण आत्माका स्वभाव स्वयं प्रकाशमान स्पष्ट स्वसंवेदनरूप है। इन्द्रियोंके आश्रयसे जो व्यवहार श्रद्धा–ज्ञान करता है वह आत्माकी एक समयपर्यंतकी योग्यता है परन्तु आत्माका त्रिकाली स्वभाव वैसा नहीं है। किसी संयोगसे या रागसे अनुभवमें आये ऐसा आत्मस्वभाव नहीं है और मात्र परोक्षज्ञानसे अनुभवमें आये ऐसा भी आत्मा नहीं है; आत्माका स्वभाव तो स्वयं अपनेसे अनुभवमें आये और प्रत्यक्ष अनुभवमें आये ऐसा है। यदि निमित्तके अवलम्बनसे आत्माके स्वानुभवका प्रकाश होता हो तो आत्मामें स्वयंसिद्ध प्रकाशशक्ति नहीं रहती। श्रद्धा–ज्ञान–अनुभव इत्यादि सबका स्वयं आत्मवस्तुमें ही समावेश होता है; अपने श्रद्धा–ज्ञान–अनुभवके लिये आत्माको किसी पराश्रयकी आवश्यकता नहीं है। परसे आत्माको लाभ हो अथवा आत्मा परको लाभ दे—ऐसी शक्ति आत्मामें नहीं है।

आत्मामें जीवत्व, श्रद्धा, ज्ञान, सुख, प्रभुत्वादि अनंतगुण हैं; वे सब स्वयं प्रकाशमान हैं; किसी पर निमित्तके कारण प्रकाशित हों ऐसा आत्माकी ज्ञानादि शक्तियोंका स्वभाव नहीं है; स्वयं अपनेसे ही स्पष्टतया अपने ज्ञान–आनंद–शान्ति आदिका स्वसंवेदन करें—ऐसा आत्माका त्रिकाल स्वभाव है। ज्ञानादिमें परोक्षता रहे वह आत्माका स्वभाव नहीं है। यदि आत्माकी ऐसी शक्तिको न माने और एकान्त परोक्ष ही माने तो उसने आत्माको जाना ही नहीं है।

श्री वीतरागी प्रतिमा, शास्त्र, इन्द्रियादि निमित्तोंके कारण अथवा उस ओर के शुभविकल्पके कारण मेरा ज्ञान प्रकाशित होता है—ऐसा जो माने उसने आत्माकी स्वयंसिद्ध स्पष्टस्वानुभवरूप प्रकाशशक्तिको नहीं माना है, इसलिये उस शक्तिवाले आत्माको भी उसने नहीं माना है। यदि ज्ञान एक समयपर्यंतके राग और निमित्तोंके

लक्षसे जाननेमें ही रुक जाए परन्तु स्वसन्मुख होकर आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव न करे तो आत्माका हित नहीं होता; क्योंकि पराश्रितरूपसे कार्य करे ऐसा आत्माका स्वभाव नहीं है; आत्मा तो स्वयं प्रकाशमान स्वभाववाला है। आत्माको अपने आश्रयसे निर्मलता प्रगट हो— ऐसा उसका स्वभाव है; परन्तु अपनी निर्मलदशा प्रगट करनेके लिये किसी निमित्तका अथवा परका अवलम्बन करना पड़े ऐसा उसका स्वभाव नहीं है।

देखो, यह चैतन्यकी महिमा ! अपनेमें ऐसी अनंतशक्तियाँ भरी हैं, उन्हींसे आत्माकी महिमा है; इसके अतिरिक्त लक्ष्मी इत्यादि बाह्य वस्तुओंसे आत्माकी महिमा नहीं है। जिसप्रकार कन्याको ससुराल भेजते समय दहेज देते हैं, उसीप्रकार जिन्हें मोक्षमें जाना हो उन्हें आचार्यदेव आत्माका दहेज बतलाते हैं। देख भाई ! तेरे आत्मामें तेरी अनंतशक्तियाँ भरी हैं; उसकी महिमाको तू पहिचान तो उसके अवलम्बनसे अल्पकालमें तेरी सिद्धदशा प्रगट हो जायेगी। जिसप्रकार आत्मवस्तुको किसीने बनाया नहीं है परन्तु उसकी सत्ता स्वयंसिद्ध है, उसीप्रकार उसके ज्ञानादि अनंतगुण भी स्वयं प्रकाशमान हैं। क्या इन्द्रियां हैं इसलिये आत्मा है ? क्या मन है इसलिये आत्मा है ? क्या पुण्य–पाप हैं इसलिये आत्मा टिका है ? नहीं; इन्द्रियाँ, मन, पुण्य–पापके कारण आत्मा नहीं टिका है, परन्तु आत्मा तो स्वयंसिद्ध अनादि–अनंत तत्व है; उसकी ज्ञानादि अनंतशक्तियां भी स्वयंसिद्ध अनादि–अनंत प्रकाशमान हैं और उसकी प्रति समयकी अवस्था भी अपनेसे ही स्वयं होती है। देखो, यह आत्माकी प्रकाशशक्तिकी महिमा ! आत्माकी ऐसी महिमाको जाने तो अपूर्व कल्याण प्रगट हो !

अपनेसे पृथक्–बाह्य पदार्थ हैं, उनमें एकमेक हुए बिना उन्हें स्पष्ट प्रकाशित करनेका आत्माका स्वभाव है। उन बाह्य पदार्थोंके कारण कहीं आत्मा उन्हें प्रकाशित नहीं करता परन्तु स्वतः अपने प्रकाशस्वभावसे ही वह प्रकाशित करता है। परको जाननेके लिये

बाह्यका अवलम्बन लेना पड़े ऐसा आत्माका स्वभाव नहीं है। आत्मा त्रिकाल है, वह स्वयं सत् है, किसीके द्वारा उसका निर्माण नहीं हुआ है। आत्माके ज्ञानादि अनंतगुणोंमें भी स्वयं प्रकाशित होनेका स्वभाव है। पर्यायमें परके अवलम्बनके कारण एक समय पर्यंतका जो विकार होता है वह आत्माका स्वभाव नहीं है, उस पर धर्मी की दृष्टि नहीं है, और उसके आश्रयसे आत्माको धर्म नहीं होता। यदि ज्ञान अपने आत्माका आश्रय छोड़कर रागके या परके आश्रयसे ही कार्य करे तो वहाँ अधर्म होता है। परसे तो आत्मा पृथक् है और अपने एक अंशमें विकार है; उसमें अहंबुद्धि छोड़कर त्रिकाली ध्रुव सामर्थ्यसे परिपूर्ण आत्मस्वभावकी श्रद्धा–ज्ञान करनेकी शक्ति आत्मामें अनादि–अनंत है, और वह श्रद्धा–ज्ञान आत्माके अपने ही अवलम्बनसे होता है, इसलिये वह स्वयं प्रकाशमान है; ऐसे श्रद्धा–ज्ञान करनेसे ही जीवको धर्म होता है। इसके अतिरिक्त परके अवलम्बनसे जो श्रद्धा–ज्ञान हो उससे जीवको कुछ भी लाभ नहीं होता। राग या निमित्तादि परका अवलम्बन करनेसे आत्माको कुछ भी लाभ हो—ऐसा कोई गुण आत्मामें नहीं है, और परमें भी ऐसा कोई गुण नहीं है कि उसका अवलम्बन करनेसे वह आत्माको कुछ लाभ दे। पराश्रयके किसी भी भावसे आत्माको लाभ होता है—ऐसी मान्यता वह मिथ्याबुद्धि है। जो पराश्रयसे लाभ होना मानता है वह परका अवलम्बन छोड़कर आत्माका अवलम्बन कहाँसे करेगा? पराश्रयसे लाभ माननेवालेको आत्माकी महिमा नहीं है परन्तु परकी महिमा है; इसलिये वह जीव मिथ्यादृष्टि—अधर्मी है।

अनेक जीव निमित्तके कारण आत्माको लाभ-हानि होना मान रहे हैं, वे निमित्ताधीन दृष्टिवाले जीव तो स्थूल मिथ्यादृष्टि हैं। निमित्त अर्थात् पर द्रव्य; वह आत्माको कुछ भी लाभ–हानि नहीं कर सकता। कुदेव–गुरु–शास्त्र तो धर्मके निमित्त भी नहीं हैं, और सच्चे देव–गुरु–शास्त्र भी अपनेसे पर द्रव्य हैं; उनके आधारसे ही धर्म होता है।—ऐसे स्वाश्रयकी प्रतीतिमें मुक्तिका परम पुरुषार्थ है।

आत्मा अनादि–अनंत स्वयंसिद्ध है और उसकी तीनोंकालकी अवस्थाएँ भी स्वयंसिद्ध हैं; उसकी कोई भी अवस्था क्या परके कारण हो सकती है ? अपनी अवस्था परके कारण होती है—ऐसा जो मानता है वह जीव स्वसन्मुख पुरुषार्थसे रहित है, इसलिये परमार्थतः वह नपुंसक है; उसमें स्वभावका पुरुषार्थ करनेका–सामर्थ्य नहीं है इसलिये वह पुरुष नहीं है; विपरीत दृष्टिके फलमें परम्परासे वह निगोदका नपुंसक हो जायेगा। स्वयं प्रकाशमान ऐसे आत्मस्वभावकी दृष्टिका फल सिद्धदशा है और निमित्ताधीन दृष्टिका फल निगोददशा है।

कैसा है आत्माका प्रकाशस्वभाव ? एक तो स्वयं प्रकाशमान है और स्पष्ट स्वसंवेदनमय है। स्वयं प्रकाशमान है इसलिये आत्मा अपने स्वरूपके सन्मुख रहकर स्वयं प्रकाशित होता है; इसलिये उसमें प्रत्यक्षपना ही आया। परलक्षसे जो ज्ञान होता है वह परोक्ष है, वह वास्तवमें स्वयं प्रकाशमान स्वभाव नहीं है। परलक्षसे जो परोक्ष ज्ञान होता है उससे सम्यक् श्रद्धा–ज्ञान या चारित्र नहीं होता। परका लक्ष छोड़कर और परलक्षसे होनेवाले रागादिको हेय करके अर्थात् ज्ञानको अन्तर्मुख करके त्रिकाली आत्मस्वभावसन्मुख होना ही सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान और चारित्रका उपाय है। आत्माके सन्मुख होकर उसकी प्रतीति किए बिना भी सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान या चारित्र नहीं होते।

आत्माका स्वरूप स्वयं अपनेसे प्रगट हो—ऐसा है। परिपूर्ण आत्मा स्वयं अपने स्वसंवेदनसे प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है—ऐसा उसका स्वभाव है, परोक्षपना रहे ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। परके लक्षसे आत्माको लाभ होगा—ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, उसे आत्माके स्वभावकी खबर नहीं है। निमित्तके अवलम्बनसे जो परोक्षज्ञान होता है वह आत्माका त्रिकाल स्वभाव नहीं है; वह एक समयकी पर्यायकी योग्यता है परन्तु वह हेय है; स्वयं प्रकाशमान ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञानपिण्ड ही उपादेय है। परोक्षज्ञानसे लाभ हो ऐसा कोई गुण आत्मामें नहीं है

परन्तु प्रत्यक्ष स्वसंवेदनरूप ऐसे अपने आत्मस्वभावके आश्रयसे पूर्ण लाभ प्राप्त कर सके—ऐसी शक्ति आत्मामें त्रिकाल है।

आत्मामें प्रकाश शक्ति है, वह प्रकाशशक्ति कहीं पुस्तकमें या भाषामें नहीं भरी है परन्तु आत्माके ज्ञानमें विद्यमान है; इसलिये आत्मा स्वयं प्रकाशित होता है। पहले मंगलाचरणमें भी आचार्यदेवने कहा था कि—"नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते" स्वयं अपनी ही अनुभूतिसे प्रकाशमान—ऐसे शुद्ध आत्माको नमस्कार हो! निमित्त–व्यवहार अथवा परोक्षज्ञानके अवलम्बन बिना ही चिदानन्द मूर्ति भगवान आत्मा स्वयं अपने स्वभावसे ही प्रकाशमान है। वास्तवमें ऐसे आत्मस्वभावमें कोई निमित्त–राग–व्यवहार या परोक्षज्ञान है ही नहीं, इसलिये उस निमित्त–राग–व्यवहार या परोक्षज्ञानका अभाव करनेकी बात भी नहीं रहती; स्वयं प्रकाशशक्तिवाले शुद्धआत्माका अवलम्बन लेनेसे अन्य सबका अवलम्बन छूट जाता है। निमित्तके लक्षसे जो ज्ञान तथा राग होता है वह पराश्रित व्यवहार है, उसके कारण आत्माके किसी गुणका विकास हो—ऐसा नहीं है; और उस पराश्रित व्यवहारका ग्रहण या त्याग करे ऐसा कोई गुण भी आत्मामें नहीं है, क्योंकि स्वभावमें तो उसका अभाव है ही; और स्वभावसे प्रकाशमान ऐसे आत्माका अवलम्बन लेनेसे पर्यायमेंसे भी उस पराश्रित ज्ञान तथा रागका अभाव सहज ही हो जाता है; अर्थात् स्वाश्रित पर्यायमें उस पराश्रित भावकी उत्पत्ति ही नहीं होती। व्यवहारके आश्रयसे आत्माको लाभ हो ऐसा तो नहीं होता, और व्यवहारके लक्षसे व्यवहारका अभाव करना चाहे तो वह भी नहीं हो सकता। "यह व्यवहार है और इसका अभाव करूँ"—ऐसे विकल्पसे व्यवहारका अभाव नहीं होता परन्तु रागकी उत्पत्ति होती है। शुद्धआत्माकी सन्मुखता द्वारा स्वयं प्रकाशशक्तिका परिणमन प्रगट होनेसे पराश्रयरूप व्यवहारका अभाव हो जाता है। जिसप्रकार जहाँ सूर्य–प्रकाशका विस्तार हो वहाँ अंधकार रहता ही नहीं; उसीप्रकार स्पष्ट स्वानुभवद्वारा जहाँ आत्माकी स्वयं प्रकाशमान शक्ति

विस्तृत हो वहाँ पराश्रय भावरूप व्यवहार, राग अथवा परोक्षज्ञान नहीं रहते; स्वयं अपनेसे अपना प्रत्यक्ष स्वसंवेदन करे ऐसा आत्माका प्रकाशक स्वभाव है और उसमें परोक्षपनेका अभाव है। ज्यों–ज्यों आत्माका प्रत्यक्ष स्वसंवेदन बढ़ता जाता है त्यों–त्यों परोक्षपना छूटता जाता है। देव गुरुके अवलम्बनसे, शास्त्रके अवलम्बनसे, इन्द्रियादि निमित्तके अवलम्बनसे अथवा मनके विकल्पसे ज्ञान करनेका आत्माका स्वभाव नहीं है, तथा परोक्षज्ञान भी आत्माका स्वभाव नहीं है परन्तु स्वयं अपने स्वभावसे ही प्रत्यक्ष स्वानुभव करे—ऐसी प्रकाशशक्ति आत्मामें सदैव है। यद्यपि साधकके अभी पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट नहीं हुआ है और परोक्षज्ञान भी प्रवर्तमान है, परन्तु उसे आत्माके स्वभावका अंशतः प्रत्यक्ष स्वसंवेदन हो गया है। यदि अंशतः भी प्रत्यक्ष संवेदन न हुआ हो और सर्वथा परोक्ष ही ज्ञान हो तो वह जीव अज्ञानी है; और यदि सम्पूर्ण प्रत्यक्ष स्वसंवेदन प्रगट हो गया हो तथा किंचित् भी परोक्षपना न हो–तो वह जीव केवलज्ञानी होता है। साधकजीवकी प्रतीतिमें तो सम्पूर्ण प्रत्यक्ष स्वसंवेदनमय आत्मा आगया है और पर्यायमें अंशतः स्वसंवेदन प्रत्यक्ष प्रगट हुआ है तथा अंशतः परोक्षपना भी है; परन्तु साधककी प्रतीतिका बल स्वयंप्रकाशमान, परिपूर्ण, प्रत्यक्ष स्वसंवेदनमय स्वभाव पर होनेसे उसकी दृष्टिमें परोक्षपना गौण है; स्वभावके आश्रयसे वह अपनी पूर्णताकी साधना करता है।

यथार्थरूपसे आत्माकी एक भी शक्तिको समझे तो शक्तिमान ऐसा पूर्ण आत्मा और समस्त जैनशासन समझमें आजाता है। समस्त जैनशासनका सार शुद्ध आत्मा है, इसलिये जो शुद्ध आत्माको समझा उसने समस्त जैनशासन जान लिया। पर्यायमें तो व्यवहार, परोक्षपना और निमित्तादि हैं, तब तो उनका निषेध किया जाता है। पर्यायमें व्यवहार, परोक्षपना और निमित्तका अवलम्बन अनादिसे चले आ रहे हैं परन्तु उनके अवलम्बनसे काम नहीं होता। इसलिये यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि अरे जीव! तेरी पूर्ण शक्ति तुझमें ही

भरी है उसे तू संभाल और उसका अवलम्बन कर! अनादिकालसे अपनी स्वभावशक्तिको भूलकर निमित्तके अवलम्बनसे ज्ञान करता आया है तथापि अपनी स्वयंप्रकाशशक्तिका अभाव नहीं हुआ। अपने स्वसंवेदनप्रत्यक्ष आत्माको एकबार तो स्वीकार कर!—किसप्रकार?—कि इन्द्रियों और मनसे पार होकर स्वयंप्रकाशमान ऐसे आत्माके प्रत्यक्ष स्वानुभवपूर्वक एकबार स्वीकार कर, तो तेरे भवभ्रमणका नाश हो जाये।

आत्मामें प्रकाशशक्ति है वह स्वयंप्रकाशमान है और स्पष्ट स्वसंवेदनमय है, इसलिये उसमें परके अवलम्बनका और परोक्षपनेका अभाव है। परोक्षज्ञान होनेका आत्माका स्वभाव नहीं है; आत्माका स्वभावतो प्रत्यक्ष–स्पष्ट ज्ञान करनेका है। ऐसे ज्ञानस्वभावकी प्रतीति और अनुभव करे उसने आत्माकी प्रकाशशक्तिको यथार्थरूपसे जाना कहा जाता है।

देखो, यह आत्माका प्रकाश! इसके अतिरिक्त अन्य लोग ऐसा कहते हैं कि 'आत्माके ध्यानमें हमें प्रकाशका पुंज दिखाई देता है।'—वह तो उनकी भ्रमणा है। अभी आत्मा कैसा है उसकी भी खबर नहीं है तो उसका ध्यान कहाँसे होगा? आत्मामें कहीं मूर्तिक प्रकाश नहीं है परन्तु अतीन्द्रिय चैतन्यप्रकाश है। वास्तवमें ज्ञानप्रकाशी आत्मा ही सबका प्रकाशक है। यदि आत्माका ज्ञानप्रकाश न हो तो सूर्यादिके प्रकाशको जानेगा कौन? सूर्यका प्रकाश स्वयं अपनेको नहीं जानता, उसे जाननेवाला तो ज्ञान है; और वह ज्ञान स्वयं प्रकाशमान है; वह स्वयं अपनेको प्रत्यक्ष जानता है। यह प्रत्यक्ष स्वसंवेदनमय प्रकाशशक्ति आत्माके समस्त गुणोंमें व्याप्त है, वह पृथक् नहीं रहती; इसलिये उस एक शक्तिकी प्रतीति करते हुए अनंत गुणोंका पिण्ड पूर्ण आत्मा ही दृष्टिमें आजाता है। अखण्ड आत्माको दृष्टिमें किये बिना उसकी एक–एक शक्तिकी यथार्थ प्रतीति नहीं होती। इस सम्बन्धमें पांच बोल पहले कहे जा चुके हैं; उन्हें यहाँ भी लागू करना।

(१) आत्माकी प्रकाशशक्ति किसी परके आश्रयसे विद्यमान नहीं है इसलिये परसन्मुख देखनेसे उस शक्तिकी प्रतीति नहीं होती।

(२) आत्माकी प्रकाशशक्ति विकारके आश्रयसे विद्यमान नहीं है इसलिये विकारसन्मुख देखनेसे भी उसकी प्रतीति नहीं होती।

(३) आत्माकी प्रकाशशक्ति त्रिकाल है, वह क्षणिक पर्यायके आश्रयसे विद्यमान नहीं है इसलिये पर्यायसन्मुख देखनेसे भी उसकी प्रतीति नहीं होती।

(४) आत्मामें एक प्रकाशशक्ति पृथक् विद्यमान नहीं है, इसलिये अनंतशक्तिके पिण्डमेंसे एक शक्तिका भेद करके लक्षमें लेनेसे भी उसकी यथार्थ प्रतीति नहीं होती।

(५) आत्मा अनंत धर्मका पिण्ड है, उसीके आश्रयसे यह प्रकाशशक्ति विद्यमान है; इसलिये उस अभेद आत्माके सन्मुख देखनेसे ही इस शक्तिकी यथार्थ स्वीकृति होती है। जहाँ अभेद आत्माकी दृष्टि हुई वहाँ एकसाथ अनन्तशक्तियाँ प्रतीतिमें आगईं।

निमित्तादि परवस्तुएँ तो आत्मामें कभी एक क्षण भी व्याप्त नहीं होतीं, विकार और परोक्षपना एक समय पर्यंतकी पर्यायमें ही व्यापक हैं; त्रिकाली आत्मामें वे व्यापक नहीं हैं; और यह प्रत्यक्ष स्वसंवेदनरूप प्रकाशशक्ति तो आत्मामें त्रिकाल व्यापक है; सम्पूर्ण आत्माके समस्तगुण–पर्यायोंमें वह व्यापक है। जिसने आत्माकी ऐसी स्वयंप्रकाशशक्तिको स्वीकार किया, उसके पर्यायमें परोक्षज्ञान होने पर भी उसका आदर नहीं रहा, परन्तु त्रिकाली स्वभावका ही आदर रहा; उसीके आश्रयसे सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र और मोक्षदशा होती है। यहाँ तो, आत्मा स्वयं प्रकाशमान स्पष्ट स्वानुभवरूप है—इसप्रकार अस्तिसे बात की, परन्तु परोक्षपना नहीं है—इसप्रकार नास्तिकी बात नहीं की। निश्चयकी अस्तिके अवलम्बनमें व्यवहारका निषेध आ ही गया।

अज्ञानी कहते हैं कि "निमित्त और व्यवहारके आश्रयसे धर्म होनेको आप अस्वीकार करते हैं, तो क्या निमित्त नहीं है? व्यवहार नहीं है?"—ऐसा कहकर वे निमित्त और व्यवहारके आश्रयसे लाभ मनाना चाहते हैं। परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई! निमित्त और व्यवहार नहीं हैं ऐसा किसने कहा?—परन्तु उनके आश्रयसे लाभ होता है—ऐसी बात कहाँ से लाया? जगतमें तो सब है; निमित्त है–उससे क्या?—क्या उसके आश्रयसे आत्माको ज्ञान होता है? व्यवहारका राग और विकल्प है उससे क्या?—क्या उसके द्वारा सम्यक्‌श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र होते हैं? ऐसा कभी नहीं होता। जीवको संसार है; लेकिन क्या वह संसार है इसलिये आत्माकी मुक्ति होती है? जैसे संसार है, परन्तु वह कहीं मोक्षका कारण नहीं है, उसीप्रकार निमित्त और व्यवहार हैं, परन्तु वे कहीं धर्मके कारण नहीं हैं, संसारका नाश होनेसे मोक्ष दशा प्रगट होती है, उसीप्रकार निमित्त और व्यवहारका अवलम्बन छोड़कर परमार्थरूप आत्मद्रव्यका अवलम्बन करनेसे धर्म होता है। देखो, इसमें व्यवहार और निमित्तकी स्थापना होती है या उत्थापना? व्यवहार और निमित्त हैं इसप्रकार उनकी स्थापना होती है, परन्तु उन निमित्त या व्यवहारके आश्रयसे किसी भी प्रकार धर्म होता है—इस बातकी उत्थापना होती है। जो निमित्त या व्यवहारका अवलम्बन करते–करते धर्म होना मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं—ऐसा निश्चय जानना और स्वयं ऐसी मान्यता छोड़कर शुद्ध स्वभावकी रुचि तथा अवलम्बन करना वह कल्याणका उपाय है।

अहो! आचार्यदेवने एक-एक शक्तिके वर्णनमें पूर्ण भगवानको बतला दिया है। दिव्यध्वनिका सार, बारह अंगोंका सार शुद्ध आत्मा है। ऐसे शुद्ध आत्मद्रव्यकी प्रतीति वह धर्मका प्रथम सोपान है; वही मुक्तिकी प्रथम सीढ़ी है। पहले अपने शुद्ध आत्मद्रव्यका आश्रय किए बिना सम्यक् प्रतीति नहीं होती; और सम्यक् प्रतीतिके बिना अपनेको व्रत प्रतिमा या मुनित्वका मानना वह तो अरण्य-

रुदनके समान है; उसे कौन सुनेगा ? आत्मसन्मुख होकर उसकी प्रतीति किये बिना अन्तरसे आत्मा उत्तर नहीं देता ।

देखो, यह किसका वर्णन चल रहा है ? यह किसी बाह्य वस्तुका वर्णन नहीं है, परन्तु अन्तरमें अपनी चैतन्यवस्तु अनंतगुणोंसे परिपूर्ण है—उसकी आचार्यदेव पहिचान कराते हैं। तेरे आत्मामें प्रकाशशक्ति ऐसी है कि जो स्वयंप्रकाशमान है; लोकालोकको स्पष्ट जाने ऐसा उसका सामर्थ्य; और वह अपने आत्माके स्वसंवेदनमय है । अपनेको स्वसंवेदनसे प्रत्यक्ष जानती है और परको भी प्रत्यक्ष जानती है। परसे आत्मा पृथक् है इसलिये परका प्रत्यक्षज्ञान न हो —ऐसा नहीं है; परसे भिन्न होने पर भी परको भी स्पष्ट–प्रत्यक्ष जानता है—ऐसा आत्माका प्रकाशस्वभाव है । प्रत्यक्षपना कहीं परमें नहीं रहता; प्रत्यक्षपना तो ज्ञानमें है। कोई ऐसा कहे कि "आत्मा स्वयं अपनेको प्रत्यक्ष नहीं जान सकता;"—तो ऐसा कहनेवालेने चैतन्यतत्त्वको अंध माना है अर्थात् उसने चैतन्यतत्त्वको नहीं जाना है। चैतन्यतत्त्व अंध नहीं है कि उसे स्वयं अपना अनुभव करनेके लिये किसी परकी सहायताकी आवश्यकता हो !—वह तो ऐसा स्पष्ट प्रकाशमान है कि स्वयं ही अपना प्रत्यक्ष स्वानुभव करता है ।

कोई कहे कि आत्माका पूर्णप्रत्यक्ष अनुभव तो केवलीको होता है; निचली दशामें नहीं होता। तो उसका समाधानः—यहाँ वस्तुके स्वभावकी बात है; वस्तु तो त्रिकाली केवली ही है । यदि वस्तुमें पूर्णप्रत्यक्ष केवलज्ञान–सामर्थ्य न हो तो वह आयेगा कहाँ से ? और जहाँ ऐसी वस्तुकी प्रतीति हुई वहाँ स्वयंको अपनी मुक्तिकी भी निःशंक खबर हो जाती है। आत्माका स्वभाव स्वयं प्रकाशमान है इसलिये उसे स्वयं अपनी खबर पड़ती है । "हमारी मुक्ति कौन जाने कब होगी !—इसकी हमें कोई खबर नहीं पड़ती; अथवा तो आत्मामें कितनी शुद्धता हुई और कितनी अशुद्धता दूर हुई–उसकी भी हमें खबर नहीं पड़ती"—ऐसा जो मानता है उसने स्वयंप्रकाश-

मान आत्माको जाना ही नहीं। स्वयंको अपनी खबर न पड़े—ऐसी बात आत्मामें है ही नहीं। अपने अपूर्व स्वानुभवके वेदनका प्रकाश स्वयं अपनी प्रकाशशक्ति ही करती है। सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान होने पर आत्माके अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्दका वेदन हो और उसकी अपनेको खबर न पड़े—ऐसा हो ही नहीं सकता, क्योंकि आत्मा स्वयं ही स्वप्रकाशक है। आत्मा अपने प्रत्यक्ष अनुभवसे प्रकाशमान है; मात्र अनुमानसे परोक्ष जाने कि "आत्मा ऐसा होना चाहिए"—तो वह ज्ञान यथार्थ नहीं है। आत्मा अकेले परोक्षज्ञानसे प्रकाशित नहीं होता परन्तु स्पष्ट प्रगटरूपसे अपने स्वसंवेदन की साक्षी लाता हुआ स्वयं अपनेसे ही प्रकाशमान है, अन्य किसीकी साक्षी लेने नहीं जाना पड़ता। अपने स्वभावका परिणमन हुआ, अपनेको स्वभावका वेदन हुआ—उसें प्रगटरूपसे प्रकाशित करनेकी शक्ति आत्मामें त्रिकाल है। कोई कहे कि हमें अपनी खबर नहीं पड़ती। तो उससे कहते हैं अरे मूर्ख! तुझे अपनी खबर नहीं पड़ती!! तू चेतन है या जड़? जड़ को अपनी खबर नहीं पड़ती, परन्तु चेतनमें तो स्वयं को और परको जाननेकी परिपूर्ण शक्ति है। भाई! तू अपनी पूर्ण शक्ति को पहिचान।

स्वयं अपनेसे अजान रहे—ऐसा आत्माका स्वभाव ही नहीं है; "न जानना"—ऐसी शक्ति ही आत्मवस्तुमें नहीं है। "मैं अपनेको ज्ञात नहीं हो सकता"—यह तो अज्ञानसे खड़ी की हुई कल्पना है। आत्मा चैतन्यप्रकाशी प्रभु है; वह स्वयं अपनेको यथार्थरूपसे जान सकता है; स्वयं अपना साक्षात् अनुभव कर सकता है; उसमें शास्त्रसे, भगवानसे पूछने नहीं जाना पड़ता। शास्त्रमें आत्माका चाहे जितना वर्णन किया हो, परन्तु उस शास्त्रका मर्म जानेगा कौन? जाननेवाला तो आत्मा ही है न! इसलिये आत्मा स्वयं अपनेसे ही प्रकाशमान है।

कोई कोई जीव ऐसी शंका करते हैं कि अपनेको अपनी खबर नहीं पड़ती, भगवानने ज्ञानमें देखा हो सो सच्चा! परन्तु

भाई ! तेरे ज्ञानमें संदेहका वेदन होता होगा तो भगवान तदनुसार जानेंगे, और तू अपना अनुभव प्रगट करके निःशंकता प्रगट कर तो भगवान वैसा जानेंगे। जैसी वस्तुस्थिति हो वैसी ही भगवान जानेंगे न ? और "भगवानने ज्ञानमें देखा हो सो सच्चा !"—ऐसा कहा, वहाँ भगवानके ज्ञानका निर्णय तो तूने किया न ?—तो, जो भगवान के ज्ञानका निर्णय करता है वह स्वयं अपने ज्ञानस्वभावका निर्णय क्यों नहीं कर सकेगा ? जो जीव ज्ञानस्वभावके सन्मुख होकर आत्माका अनुभव करता है उसे अपने अनुभवकी निःशंक प्रतीति होती है।

अज्ञानीको आत्माकी रुचि नहीं है इसलिये वह ऐसा कहता है कि हमें आत्माकी खबर नहीं पड़ती। परन्तु भाई ! तू आत्माकी रुचि करके उसकी सन्मुखताका बराबर प्रयत्न कर तो आत्माकी खबर पड़े बिना नहीं रहेगी। सांसारिक व्यापार-धंधा, अथवा रसोई इत्यादिके काममें "हमें नहीं आता"—ऐसा नहीं कहते; वहाँ तो "हम जानते हैं"—इसप्रकार अपने ज्ञातृत्वकी बुद्धिमानी बतलाते हैं; और यहाँ स्वयं अपनेको जाननेकी बात आये वहाँ इन्कार करते हैं। अरे भाई ! विपरीत दृष्टिके कारण तेरे ज्ञानमें स्वकी नास्ति और परकी अस्ति हो गई है। "सबको कौन जानता है ?"—तो कहता है कि मैं। "तो तुझे अपनी खबर नहीं पड़ेगी ?" तो कहता है कि ना। वाह रे वाह ! आश्चर्यकी बात है ! "अमुक देशमें ऐसे हवाई जहाजोंका आविष्कार हुआ है जो अपने आप चलते हैं; इस लड़ाईमें फलाँ देश हार जायेगा"—इसप्रकार वहाँ तो अपनी जानकारी बतलाता है—वहाँ अनजान नहीं बनता। तो हे भाई ! "मेरा आत्मा चैतन्यमूर्ति है, मुझमें ऐसी अनन्तशक्तियाँ हैं और उनके आश्रयसे अल्पकालमें केवलज्ञान होकर मेरी मुक्ति होगी"—इसप्रकार अपने आत्माका निर्णय करनेकी शक्ति तुझमें है या नहीं ? जो पर पदार्थोंको प्रकाशित कर रहा है उसका अपना स्वयंप्रकाशमान स्वभाव है; इसलिये आत्मा स्वानुभवसे अपनेको स्पष्ट जाने ऐसा उसका प्रकाशस्वभाव है। इसलिये आचार्यभगवान

कहते हैं कि हे जीव। मुझे अपनी खबर नहीं पड़ती—यह बात हृदयसे निकाल दे, और तेरे आत्मामें प्रकाशशक्ति त्रिकाल है उसका विश्वास कर, उसके सन्मुख होकर उसकी प्रतीति कर! प्रकाशस्वभावी आत्माकी प्रतीति करनेसे तुझे अपने आत्माका प्रत्यक्ष स्वसंवेदन होगा, और अल्पकालमें तेरी मुक्ति होगी!

[—आत्माकी अनन्तशक्तियोंमेंसे प्रकाशशक्तिका वर्णन पूर्ण हुआ। १२]

— आत्महितके लिये —

संतोंकी शिक्षा

जगतमें दूसरे जीव धर्म प्राप्त करें या न करें, उससे अपनेको क्या? अपनेको तो अपने आत्मामें देखना है। दूसरे जीव मुक्ति प्राप्त करें उससे कहीं इस जीवका हित नहीं हो जाता, और दूसरे जीव संसारमें भटकते फिरें तो उससे कहीं इस जीवका हित रुकता नहीं है। स्वयं जीव अपने आत्माको समझे तब अपना हित होता है, इसप्रकार अपने आत्माके लिये यह बात है। सत्यतत्त्व तो तीनों काल दुर्लभ है और उसे समझनेवाले जीव भी विरले ही होते हैं; स्वयं समझकर अपने आत्माका हित साध लेना चाहिये।

★

[१३]

असंकुचित विकासत्वशक्ति

हे जीव ! तेरी शक्ति ऐसी है कि संकोचके बिना विकास होवे। जिस भावसे तेरी पर्यायमें संकोच होवे व विकास रुके वह भाव तेरा स्वरूप नहीं, ऐसा जानकर उसका अवलम्बन छोड़ और अनन्त स्वभावशक्तिको धारण करनेवाला ध्रुव ज्ञायक स्वरूपका अवलम्बन कर। उसके अवलम्बनसे तेरी परिणतिका ऐसा विकास होगा कि जिसमें संकोच न रहे, विकार या अपूर्णता न रहे।

ज्ञानस्वभावी आत्मामें विद्यमान शक्तियोंका वर्णन चल रहा है। उसमें तेरहवीं असंकुचित–विकासत्व शक्तिका विवेचन चलता है। आत्माके असंख्यप्रदेशी क्षेत्रमें चैतन्यस्वभावकी अमर्यादित शक्ति है; असंख्यप्रदेशमें प्रभुताकी शक्ति भरी है। सिद्धकी शक्ति इतने ही क्षेत्रमें है; तीनकाल तीनलोकका ज्ञाता इतने स्वक्षेत्रमें ही विद्यमान है। वहाँ, "इतने अल्पक्षेत्रमें ऐसा अपार स्वभाव कैसे होसकता है ?"—इसप्रकार अल्पक्षेत्रके सन्मुख देखकर जो अपार स्वभावमें शंका करता है वह जीव पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि है। आत्माका प्रदेश भले असंख्यप्रदेशी ही हो;

परन्तु इतने क्षेत्रमें ही उसमें अनन्त ज्ञान–दर्शन–आनन्द उत्पन्न करनेकी शक्ति भरी है।—इसप्रकार आत्मस्वभावकी मर्यादित प्रभुताका विश्वास करनेसे पर्याय विकसित होती है; छोटेबड़ेके साथ उसका सम्बन्ध नहीं है। किसीका आकार पांचसौ हाथका हो वह महामूढ़ होता है, तथा किसीका आकार सातका हो और केवलज्ञान प्राप्त करता है। इसलिये क्षेत्र परसे स्वभावका माप नहीं निकलता। देखो, आकाश लोकव्यापी अनंतानंत प्रदेशी है, और परमाणु एकप्रदेशी ही है; तथापि, जिसप्रकार अनन्तप्रदेशी आकाश अपने स्वभावसे त्रिकालस्थित रहता है, उसीप्रकार एकप्रदेशी परमाणु भी अपने स्वभावसे त्रिकालस्थायी है; अपनी-अपनी सत्तासे दोनों परिपूर्ण हैं। आकाशमें जितने—अनन्त गुण हैं उतने ही गुण एक परमाणुमें भी हैं; आकाशका क्षेत्र बड़ा और परमाणुका क्षेत्र छोटा है—तथापि उन दोनोंमें अपने–अपने समान ही गुण हैं। आकाशका क्षेत्र बड़ा है इसलिये उसमें अधिक गुण हैं और परमाणुका क्षेत्र छोटा है इसलिये उसमें कम गुण हैं—ऐसा नहीं है। इसप्रकार क्षेत्र परसे स्वभावकी शक्तिका माप नहीं निकलता। जीव असंख्यप्रदेशी द्रव्य है तथापि उसके स्वभावमें अनंतकाल और अनंत क्षेत्रके पदार्थोंको जाननेकी शक्ति भरी है। जो उस स्वभावका विश्वास करे उसकी अपार शक्तिका विकास हो जाता है। स्वभावसन्मुख देखनेसे ही स्वभावका विश्वास होता है; इसके अतिरिक्त बाह्यमें उसका अन्य कोई उपाय नहीं है।

आत्मद्रव्यके एक समयके परिणमनमें अनन्त अमर्यादित शक्ति प्रगट होनेकी शक्ति है; वह शक्ति परके या पर्यायके आश्रयसे नहीं परन्तु द्रव्यके ही आश्रयसे प्रगट होती है। ऐसा अमर्यादित चिद्विलास है। निमित्त तो पर है और पर्याय अपूर्ण है; उस पर जोर देनेसे उस मर्यादितके लक्षसे मर्यादितपना ही रहता है, परन्तु विकास नहीं होता। त्रिकालीस्वभाव पर जोर देनेसे पर्यायमें भी अमर्यादित शक्तिका विकास होता है।

जैसे—जो लोग उदार होते हैं वे ऐसा कहते हैं कि तुम्हें जितना चाहिये हो ले जाओ; हमें कमी नहीं पड़ेगी। उसीप्रकार अनंतशक्तिका पिण्ड प्रभु आत्मा ऐसा उदार है कि यदि उसकी श्रद्धा करो तो वह विकासमें किंचित् भी संकोच नहीं रखेगा। अनंत केवलज्ञानकी पर्यायोंका विकास हो तथापि आत्मामें कभी संकोच नहीं आता। आत्मामें ऐसी शक्ति है कि उसका विश्वास करके अवलम्बन लेनेसे पूर्ण केवलज्ञान विकसित होता है; उसमें संकोच नहीं रहता। परन्तु ऐसे आत्माको समझनेकी दरकार करना चाहिए। बाह्यमें बुद्धि लगाकर व्यर्थका अभिमान करता है, उसके बदले अन्तरमें अपने आत्माको पकड़नेके लिये बुद्धि लगाना चाहिए; उसकी रुचि और उत्साह लाना चाहिए। अनन्तकालमें पहले कभी नहीं की ऐसी अपूर्व समझका प्रयत्न भी अपूर्व होना चाहिए।

अहो ! चैतन्यका विलास, चैतन्यका आनन्द, चैतन्यका मोक्षमार्ग और चैतन्यका मोक्ष—यह सब मेरे चैतन्यद्रव्यके ही आश्रय से हैं;—ऐसी अन्तरश्रद्धा, ज्ञान करनेसे पर्यायका विकास प्रगट होता है, विकार (दोष) दूर होता है, शुद्धता बढ़ती है और अमर्यादित ज्ञान–आनन्दका विलास विकसित होता है। जो जीव ऐसा नहीं जानता वह वास्तवमें देव–गुरु–शास्त्रको नहीं जानता, आत्माको नहीं जानता और न जैनशासनको भी जानता है।

पर्यायबुद्धिसे लाभ होता है यह तो बात ही नहीं है; परन्तु 'पर्यायबुद्धि छोड़ दूँ'—ऐसी बात यहाँ नहीं ली है; त्रिकाली शक्तिके पिण्डरूप अभेद चैतन्यद्रव्यको ही दृष्टिमें लेनेकी बात की है; उस द्रव्य पर दृष्टि करनेसे पर्यायदृष्टि रहती ही नहीं। अनादिकालसे पर्यायबुद्धिके कारण ही जीवके यह संसार बना है। अन्तरमें परिपूर्ण शक्तिके पिण्डरूप द्रव्य सदैव है; परन्तु पर्यायबुद्धि छोड़कर कभी उस द्रव्यकी ओर नहीं देखा है। अहो ! त्रिकालस्वभावके अन्तर-अवलोकनके आलस्यसे ही मुक्ति रुकी है जैसे—भगवान सामने ही

विराजमान हों, परन्तु आँखें खोलनेका आलस्य करे तो भगवान कैसे दिखाई देंगे ? उसीप्रकार आत्मा स्वयं चैतन्यभगवान है, वह अपने पास ही है, परन्तु अन्तर्नेत्रोंके आलस्यसे उसे नहीं देखता और संसारमें भटकता है। लोग कहते हैं कि—"मारा नयणानी आलसे रे...निरख्या न हरिने जरी।" हरि अर्थात् अन्य कोई नहीं परन्तु अपना आत्मा; 'नयणानी आलसे' अर्थात् ज्ञानचक्षुके प्रमादके कारण स्वयं अपनेको नहीं देखा। जो पापोंके ओघको हरे वह हरि;—किसप्रकार हरे? कि हरि जो अपना शुद्ध चैतन्यपरमेश्वर, उसे दृष्टिमें लेते ही मिथ्यात्वादि पापसमूहोंका नाश हो जाता है। मिथ्यात्वादिका नाश करना—यह कथन भी व्यवहारका है; वास्तवमें तो शुद्ध चैतन्यकी दृष्टिमें उन मिथ्यात्वादिकी उत्पत्ति ही नहीं होती। देखो; यह प्रभुके दर्शनोंकी रीति ! यहाँ आचार्यदेव आत्माको पामर कहकर उपदेश नहीं करते परन्तु आत्माकी प्रभुता बतलाते हैं; साक्षात् चैतन्यप्रभुकी प्रगटता बतलाई जा रही है; तू अपने ज्ञाननेत्र खोलकर देखे—इतनी ही देर है। संकोच और विकार हुआ है वह क्षणिकपर्यायकी योग्यता है परन्तु तेरी त्रिकाली शक्ति वैसी नहीं है; इसलिये उस विकार और संकुचित पर्यायकी ही ओर देखनेसे आत्माकी प्रतीति नहीं होती; त्रिकाली आत्मस्वभावकी ओर देखनेसे आत्माकी प्रतीति होती है और उसमेंसे अमर्यादित असंकुचितविकास प्रगट होता है।

कोई कहे कि आत्मामें असंकुचित-विकासत्व स्वभाव होने पर भी अभीतक उसकी पर्यायमें संकोच क्यों रहा? तो उसका कारण यह है कि जीवको अनादिकालसे पर्यायबुद्धि है इसलिये वह क्षणिक पर्याय जितना ही अपनेको मानता है; परन्तु अपने स्वभावसामर्थ्यको ध्यानमें नहीं लेता। यदि स्वभावको लक्षमें लेकर उसमें एकाग्र हो तो पर्यायमेंसे संकोच दूर होकर विकास हुए बिना न रहे। यहाँ तो द्रव्य–पर्याय सहितकी बात है—अर्थात् साधककी बात है; साधक जीवने अपनी स्वभावशक्तिको प्रतीतिमें लिया है और पर्यायमें उसे उन शक्तियोंका निर्मल परिणमन उछलता है। जो जीव अपनी

स्वभावशक्तिको प्रतीतिमें नहीं लेता उसे उसका निर्मल परिणमन नहीं उछलता;—ऐसे जीवकी यहाँ बात नहीं है।

जीवकी पर्यायमें अनादिसे जो संकोच है वह किसी परके कारण नहीं है परन्तु अपनी ही पर्यायमें भूलके कारण है। जो जीव अपनी पर्यायकी भूलको न पकड़े और परके कारण मेरी पर्याय संकुचित है—ऐसा माने, वह जीव भले ही राग कम करके अनेक शास्त्रोंकी धारणा कर ले, तथापि उसे आत्माका लाभ नहीं होता। और मेरी पर्यायमें जो संकोच है वह मेरी अपनी भूलके कारण है; किसी परके कारण नहीं है—ऐसा तो माने, परन्तु यदि भूलरहित स्वभावकी ओर देखकर उस भूलका नाश न करे तो उसे भी आत्माका लाभ नहीं होता। आत्मा त्रिकाली चैतन्यस्वभावका पिण्ड है, उसकी सन्मुखतासे ही आत्माका लाभ होता है और संकोच दूर होकर विकास प्रगट होता है। मेरा त्रिकाली स्वभाव क्या है और परिणमनमें संकोच क्यों है—वह समझे बिना किसकी ओर देखकर पर्यायका विकास करेगा? मंदकषायको ही जो जीव चैतन्यका विकास मान बैठा हो उसे कषायसे भिन्न चैतन्यस्वभावका भान नहीं है इसलिये उसके चैतन्यका विलास प्रगट नहीं होता। मुख्य भूल कौनसी है और उस भूलरहित स्वभाव क्या है—वह न जाने और भ्रमणामें रह जाये उसके चैतन्यका विकास नहीं होता। उसके कदाचित् कषायकी मंदता और ज्ञानका विकास भले हो, परन्तु उसमें आत्माका हित नहीं है; वह चैतन्यका सच्चा विलास नहीं है। चैतन्यके विलासकी अतीन्द्रिय मौज तो परम अद्भुत है!

कोई जीव ज्ञानविकासके बलसे यह बात मनमें धारण भी करले, परन्तु आत्माकी पर्यायमें जो अपनी भूल है वह न समझकर मात्र परसन्मुख ज्ञानके विकाससे अन्य अनेक बातें जानता हो तो भी उसकी भूल दूर नहीं होगी और न उसका अपूर्व कल्याण होगा। जिसे भूलका ही पता न हो, वह भूल दूर करके भगवान कैसे होगा? और यदि अपने स्वभावमें ही भगवानपना न भरा हो तो भी

भगवान कैसे होगा ? भगवानपना और भूल—इन दोनोंको जो जीव समझ ले उसके भूल दूर होकर अपनेमें भगवानपनेका विकास हुए बिना नहीं रह सकता। मेरा स्वभाव क्या है और अन्तरकी सूक्ष्म भूल कहाँ रह जाती है—उसकी खबर पड़े बिना, भले ही ग्यारह अंग पढ़ा हो तथापि, जीवकी भूल दूर नहीं हो सकती। यदि वर्तमानमें भूल है तो निश्चित् होता है कि निजस्वभावकी जैसी रुचि होना चाहिये वैसी रुचि नहीं की है; और यदि भूल न हो तो निजस्वरूप समझमें आजाना चाहिए और उसके आनन्दादिका विलास खिलना चाहिए। मेरा संकोचरहित स्वभाव कैसा है और अभीतक पर्यायमें संकुचित क्यों रहा—इस बातको जो नहीं पकड़ सकता वह जीव संकोच पर्यायका नाश नहीं कर सकता और न उसके संकोचरहित विकास प्रगट हो सकता है।

कई लोगोंको ऐसा प्रश्न उठता है कि—द्रव्यकी पर्यायें तो क्रमबद्ध ही होती हैं ऐसा आप कहते हैं; तो उसमें पुरुषार्थ कहाँ आया ?—उनका समाधानः—देखो भाई! द्रव्यकी क्रमबद्ध पर्यायें होती हैं—ऐसा जिसने निर्णय किया, उसने यह भी निर्णय किया ही है कि वे पर्यायें द्रव्यमेंसे आती हैं—बाहरसे नहीं आतीं; इसलिये ऐसा निर्णय करनेवालेकी दृष्टि बाह्यमें नहीं रहती परन्तु अन्तरमें अपने द्रव्य पर उसकी दृष्टि जाती है; और द्रव्यमें तो संकोचरहित विकास होनेका स्वभाव है, इसलिये उस द्रव्यदृष्टिके बलसे पर्यायमें क्रमबद्ध विकास ही होता जाता है। इसप्रकार क्रमबद्ध पर्यायके निर्णयमें द्रव्यदृष्टि और मोक्षमार्गका अपूर्व पुरुषार्थ आजाता है।

प्रत्येक वस्तु दूसरी अनन्त वस्तुओंसे पृथक् है और निजस्वभावसे एकत्वरूप है; ऐसी स्वतंत्र वस्तुका स्वभावसामर्थ्य अमर्यादित है; उस वस्तुस्वभावके आश्रयसे होनेवाली अवस्था भी परसे पृथक् और स्वभावके साथ एकत्वरूप है; उस पर्यायमें भी अमर्यादित शक्ति है। आत्मा अमुक क्षेत्र और अमुक कालको ही जान सके—ऐसी मर्यादा नहीं है; परन्तु अमर्यादित क्षेत्र और अमर्यादित

कालको जान ले—ऐसी उसके चैतन्यविलासकी अमर्यादित शक्ति है। पाँच करोड़ मनुष्योंके समूहमें कोई लाउड-स्पीकर द्वारा ऐसा बोले कि "आत्मा अनन्तगुणोंका भण्डार है, उसे पहिचानो !"—तो वहाँ सभी सुननेवालोंको वैसा ही ख्याल आता है; और "इससमय पाँच करोड़ मनुष्य ऐसा कथन सुन रहे हैं"—इसप्रकार पाँच करोड़का ज्ञान एक क्षणमें हो जाता है; पाँच करोड़ मनुष्योंका ज्ञान करनेमें पाँच करोड़ क्षणकी देर नहीं लगती। ज्ञानका स्वभाव तो एक ही साथ सब जान लेनेका है; उसमें मर्यादा अर्थात् हीनता रहे ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। जहाँ आत्माकी ऐसी शक्तिका भान हुआ और उसका विकास हुआ वहाँ अनन्त सिद्ध भगवन्त, तीर्थंकर, केवली भगवन्त, संत इत्यादिका ख्याल अपने ज्ञानमें आगया, फिर उस जीवको शंका नहीं रहती; दूसरोंसे पूछना नहीं पड़ता। आत्माका ज्ञानसामर्थ्य ऐसा अपार और विशाल है कि एक उसीको जाननेसे सबका ज्ञान हो जाता है।

किसी भी एक शक्तिसे आत्माको पहिचाननेसे उसमें बहुत रहस्य आजाता है। आत्माका स्वभाव कैसा है; पर्यायमें संकोच क्यों है; विकास क्यों नहीं है और वह कैसे प्रगट होगा; स्वभावकी रुचि और पहिचान कैसी होती है; जिनके स्वभावका पूर्ण विकास प्रगट हो गया हो—ऐसे केवलीकी अन्तर्‌बाह्यदशा कैसी होती है; उस स्वभावके साधक संत–मुनियोंकी दशा कैसी होती है; सम्यग्दृष्टि जीवोंकी दशा कैसी होती है; पर्यायबुद्धि मिथ्यादृष्टियोंकी दशा कैसी होती है—यह सब उसमें आजाता है। आत्माकी एक भी शक्तिका ज्ञान करनेसे सारे द्रव्यका, गुणोंका, पर्यायका, विपरीत दशाका, सम्यक्‌दशाका, सात तत्त्वोंका, साधकका और सिद्धका—सभीका ज्ञान हो जाता है। चैतन्यका अपार विलास प्रगट करके निरन्तर अतीन्द्रिय आनन्दकी मौज करे ऐसा अनादि-अनंत गुण आत्मामें है। अविनाशी चैतन्यतत्त्वका विकास किसके आश्रयसे प्रगट होता है? क्या नाश होने योग्य ऐसे शुभ विकल्परूप व्यवहारके आश्रयसे,

संयोगके आश्रयसे, या क्षणिक पर्यायके आश्रयसे अविनाशी चैतन्यतत्त्वका विकास होता है ? अपना जो त्रिकाल अमर्यादित स्वभाव है उसका विश्वास करनेसे चैतन्यका परिपूर्ण विकास होजाता है। जिसका आश्रय करनेसे क्षणमात्रमें संकोच दूर होकर अमर्यादित चैतन्यशक्तिका विकास हो जाये—ऐसा इस आत्माका स्वभाव है। ऐसे आत्माका निर्णय करके उसका आश्रय करना ही धर्म है। देखो, इसमें अपने आत्माके अतिरिक्त देव–गुरु–शास्त्रके आश्रयकी बात नहीं की, भक्तिके शुभरागसे धर्म होता है यह बात भी उड़ गई, व्यवहारके अवलम्बनका चूरा हो गया। निश्चय आत्मस्वभावकी दृष्टिमें व्यवहारके अवलम्बनका अभाव है; तब फिर निमित्त और संयोग तो कहीं दूर रहे ! सम्मेदशिखर या महाविदेहक्षेत्र इत्यादि बाह्य क्षेत्रोंमें जाऊँ तो मेरे चैतन्यका विकास हो जाए—यह बात नहीं रही; परन्तु अंतरकी चैतन्यसत्ताका आश्रय करनेसे अपार ज्ञानसामर्थ्य विकसित हो जाता है; उस ज्ञानमें सम्मेदशिखर और महाविदेह क्षेत्र आदि सब ज्ञात हो जाते हैं। सारी आत्मवस्तु ही अन्तर्मुखदृष्टिका विषय है। जैनशासनका एक भी रहस्य अन्तरकी दृष्टिके बिना समझमें नहीं आ सकता।

जैसे—कोई सेठ हो और उसका मकान बाहरसे झोंपड़े जैसा मालूम होता हो; परन्तु अन्दर जाकर देखे तो बड़ी विशालता हो और करोड़ोंके मूल्यके हीरे–जवाहिरात पड़े हों ! उसीप्रकार सेठ अर्थात् सर्व पदार्थोंमें श्रेष्ठ ऐसा चैतन्यमूर्ति आत्मा असंख्यप्रदेशी क्षेत्रवाला होने पर भी उसमें अनन्त स्वभावसामर्थ्य भरा है। बाहरसे शरीर या पर्यायको देखो तो कोठरी जैसा छोटा मालूम होता है परन्तु अन्तर्‌द्रव्यको देखनेसे उसमें अनंतशक्तिका भण्डार भरा है। जैसे कोई अच्छा उदार सेठ हो, वह दुष्कालके समय दूसरोंकी सहायता नहीं माँगता किन्तु दूसरोंकी सहायताके बिना स्वयं अकेला ही गुजारा करता है; उसीप्रकार जगत् का राजा चैतन्यभगवान आत्मा स्वयं अनंत सामर्थ्यका भण्डार है; वह ऐसा उदार है कि अपनेसे संसारपर्यायरूपी दुष्काल दूर करके अनंत आनन्दमय

मोक्षदशा प्रगट करनेके लिये किसी परकी सहायता ले ऐसा नहीं है—स्वयं अकेला ही अपनी स्वभावशक्तिसे पर्यायका संकोच दूर करके, विकास करके मोक्षदशा प्रगट करता है। असंकुचित–विकासत्व शक्तिवाले भगवान आत्माका आश्रय करनेसे पर्यायमें पूर्ण विकास प्रगट हो जाता है। प्रथम जो ऐसी श्रद्धा भी न करे उसमें चारित्रदशाकी या मुनिपनेकी योग्यता ही नहीं होती।

सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप मोक्षमार्ग तथा मुनिपना तो आत्मस्वभावके ही आश्रयसे है; मोक्षमार्गमें निजस्वभावकी ही अपेक्षा है और परको–निमित्तकी उपेक्षा है; निश्चयस्वभावका ही आश्रय है और व्यवहारकी उपेक्षा है; अभेद द्रव्यकी ही प्रधानता है और पर्यायकी गौणता है।—ऐसे मोक्षमार्गकी साधना करनेसे साधककी पर्यायमेंसे संकोच दूर होकर पूर्ण विकास प्रगट हो जाता है। चैतन्यस्वभावमें ऐसे अक्षय निधान भरे हैं कि उसमेंसे चाहे जितना निकालते ही रहो, तथापि न्यूनता नहीं आती। आत्मा कहता है कि मुझमें परिपूर्ण निधान भरे हैं; जो चाहिए हो ले जाओ; जितनी दशा चाहिए हो प्रगट करो; मुझमें कभी संकोच नहीं आ सकता। परम अवगाढ़ श्रद्धा, दिव्य केवलज्ञान, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द और अनन्तवीर्य—ऐसे अनन्त स्वचतुष्टयरूप अमर्यादित दशा मुझमेंसे प्रगट करो! परन्तु वे प्रगट कैसे होते हैं? कि—अन्तर्मुख अवलोकन द्वारा ही वे प्रगट होते हैं; बाह्यमें देखनेसे वे प्रगट नहीं होते। अन्तर्मुख होकर स्वभावशक्तिकी प्रतीति करने पर उसके अवलम्बनसे पर्यायमेंसे क्रमशः संकोच दूर होकर विकास होता जाता है और अल्पकालमें पूर्णता प्रगट होजाती है। वह पूर्णता प्रगट हो जानेके पश्चात् उसमें फिर कभी संकोच नहीं होता। ऐसी तेरहवीं शक्तिकी प्रतीति वह तेरहवें गुणस्थानका कारण है।

[—तेरहवीं असंकुचित-विकासत्वशक्तिका वर्णन यहाँ समाप्त हुआ।]

★

[१४]

अकार्यकारणत्वशक्ति

सर्वज्ञ भगवानने आत्मामें ऐसी कोई शक्ति नहीं देखी कि जिससे वह शरीरादिके कार्योंको करे। तो हे मूढ़! तूं फिर सर्वज्ञसे अधिक चतुर कहाँ से हुआ? कि मुफ्तमें ही परको करनेका मानता है?

आत्माके स्वभावको तो विकारके साथ भी कारण-कार्यपना नहीं। क्योंकि स्वभावसे आत्मा विकारका कारण हो तो, वीतरागता होनेका अवसर तो दूर रहो परन्तु भेदज्ञान होनेका अवसर भी न रहे। आत्माका स्वभाव तो सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायोंका ही कारण बने ऐसा है। ऐसे स्वभावको जो जाने उसको वैसा कार्य प्रगटे वह विकारका अकर्ता होवे।

ज्ञानस्वरूपी आत्मामें अनन्तशक्तियाँ विद्यमान हैं उनका यह वर्णन चल रहा है; अभीतक तेरह शक्तियोंका विवेचन हो गया है। चौदहवीं अकार्यकारणत्व है। आत्माके द्रव्य, गुण या पर्यायको कोई

परवस्तु नहीं करता इसलिये आत्मा अकार्य है, और आत्मा किसी परवस्तुके द्रव्य–गुण या पर्यायको नहीं करता इसलिये आत्मा अकारण है, परके साथके कार्य–कारण भावसे रहित आत्मा स्वयं सर्वसे भिन्न एक द्रव्यस्वरूप है। ऐसे आत्माको जो पहिचाने उसके स्वभावका कार्य प्रगट हुए बिना नहीं रहता। आत्मस्वभावके अवलम्बनसे जो पर्याय प्रगट हुई वह आत्माका कार्य है और आत्मा ही उसका कारण है। इसके अतिरिक्त कोई भी पर वस्तु आत्माके कार्यका कारण है ही नहीं। आत्मामें अनन्तशक्तियाँ हैं परन्तु उसमें कोई ऐसी शक्तियाँ नहीं हैं कि जिससे आत्माका पर कारण हो। आत्माका कारण पर नहीं है और परका कारण आत्मा नहीं है; आत्माके कारण–कार्य आत्मामें ही हैं और परके कारण–कार्य परमें हैं।

यह अकार्यकारणत्वशक्ति आत्मामें त्रिकाल है, इसलिये वास्तवमें तो क्षणिक विकारका कार्य–कारणपना भी आत्मामें नहीं है। यदि त्रिकाली आत्मा विकारका कारण हो, तब तो विकार सदैव होता ही रहे—परन्तु ऐसा नहीं है। और आत्मा विकारका कार्य भी नहीं है; अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय वह कारण और आत्माका निश्चय सम्यग्दर्शन वह कार्य—ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें प्रगट हुई वे आत्मामें अभेद हैं; इसलिये जिसप्रकार व्यवहार रत्नत्रयके कारणसे आत्मद्रव्य नहीं बनता उसीप्रकार उसकी निर्मल पर्याय भी नहीं बनती। कारण–कार्य अभेद हैं; यहाँ विकारके साथ भी आत्माका कारणकार्यपना स्वीकार नहीं किया है। परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं समझना कि कर्मके कारण विकार होता है! यहाँ तो आत्माकी त्रिकाली शक्तियोंकी बात है; त्रिकाली स्वभावकी दृष्टिसे देखनेसे आत्मामें विकार होता ही नहीं, इसलिये आत्मा विकारका कारण नहीं है—ऐसा समझना चाहिये।

चैतन्यस्वरूप आत्मामें अपनी ज्ञानादि अनन्तशक्तियाँ

त्रिकाल हैं, परन्तु शरीर–मन–वाणी या पुण्य–पाप–वे कोई आत्माके त्रिकाली स्वरूपमें नहीं हैं; इसलिये उन शरीर–मन–वाणी द्वारा या पुण्य–पाप द्वारा आत्माकी महिमा नहीं है, परन्तु अपनी अनन्त-शक्तियों द्वारा ही आत्माकी महिमा है। जिसप्रकार हलवाईकी दुकानपर अफीम या घड़े नहीं मिलते परन्तु मावा मिलता है, और अफीमवालेकी दुकान पर मावा नहीं किन्तु अफीम ही मिलती है; जिसके पास जो हो वह उसीके पाससे मिलता है; उसीप्रकार आत्मा ज्ञान–आनन्दादि अनन्तगुणोंका भण्डार है; उसकी श्रद्धा–ज्ञान–एकाग्रता करनेसे उसमेंसे गुण मिलते हैं, किन्तु विकार या जड़ उसमें से नहीं मिल सकते। पुण्य–पाप तो अफीमके गोले समान हैं उनकी दुकान अलग है; और शरीर–मन–वाणीकी क्रिया वह कुंभारके घड़े जैसी है, उसमेंसे कहींसे आत्माका धर्म मिले ऐसा नहीं है; और आत्मस्वभावकी दुकानसे वह किसी काल नहीं मिल सकती। जड़का कोई भी तत्व अथवा जड़की क्रिया या पुण्य-पापके विकारी भावोंको आत्माके अंतर्स्वरूपमें ढूंढ़े तो वे नहीं मिल सकते; और जड़की क्रियामें या विकारी भावमें आत्माके अंतर्तत्वको ढूंढ़े तो वह भी नहीं मिल सकता। जैसे—अफीमवालेकी दुकान पर जाकर कोई कहे कि–'शुद्ध दूधका दस सेर मावा दे दीजिये!'—तो वह मूर्ख ही माना जायेगा। अफीमवालेके पास अफीमका मावा होता है किन्तु दूधका मावा नहीं होता। और कुँभारके घर जाकर कोई कहे कि—'दस सेर ताजे पेड़े दे दीजिये!'—तो वह भी मूर्ख ही कहलायेगा। कुँभारके घर तो मिट्टीके पिण्ड होते हैं—वहाँ पेड़े नहीं मिल सकते। और हलवाईकी दुकान पर आकर कोई कहे कि—'पाँच तोला असली अफीम दे दीजिये, अथवा पाँच घड़े दे दीजिये।'—तो वह भी मूर्ख ही है। उसीप्रकार आत्मा अनन्तगुणोंकी मूर्ति हलवाईकी दुकान जैसा है; उसके पाससे आनन्दरसकी प्राप्ति होती है, उसके बदले विकारमें या जड़की क्रियामें आनन्द लेने जाये अथवा उससे धर्म माने तो वह जीव परमार्थतः महान मूर्खमिथ्यादृष्टि है; जो जीव शरीरकी क्रिया

से या पुण्यसे धर्म मानता है वह जीव लोकव्यवहारमें भले चाहे जैसा बुद्धिशाली माना जाता हो, परन्तु परमार्थमार्गमें तो वह मूर्ख ही है। और जिसप्रकार हलवाईकी दुकान पर अफीम या घड़े लेनेके लिये जानेवाला मूर्ख है, उसीप्रकार चिदानन्द भगवान आत्माके पास जड़की क्रिया और विकारका कराना मानता है वह भी मूढ़–मिथ्यादृष्टि ही है। अज्ञानी शरीरकी क्रियासे और पुण्यसे आत्माका बड़प्पन मानते हैं, परन्तु शरीरकी क्रियाका या पुण्यका कारण हो ऐसा आत्माका स्वभाव ही नहीं है—इसका अज्ञानीको भान ही नहीं है।

आत्माके स्वभावमें ऐसा अकार्यकारणपना है कि अपने स्वभावसे अन्य ऐसे कोई भी परद्रव्य या परभावोंके साथ उसे कार्य-कारणपना नहीं है। शरीर–मन वाणी या देव–गुरु–शास्त्र सब आत्मासे अन्य हैं। उनसे इस आत्माका कुछ भी कार्य नहीं होता और यह आत्मा उनके कार्यको नहीं करता। और पुण्य–पाप भी आत्माके स्वभावसे अन्य हैं इसलिये उनसे आत्माके सम्यग्दर्शनादि कुछ कार्य हों—ऐसा नहीं है; और आत्मा कारण होकर उन विकारीभावोंरूप कार्यको उत्पन्न करे—ऐसा भी नहीं है। ऐसा आत्माका अनादि अनंत अकार्यकारण स्वभाव है। अपना कार्य परसे नहीं होता और स्वयं परका कार्य नहीं करता—ऐसी अकार्यकारणत्वशक्ति तो यद्यपि समस्त द्रव्योंमें है, परन्तु इस समय आत्माकी पहिचान करानेके लिये उसकी शक्तियोंका वर्णन चलता है। किसी भी द्रव्यमें ऐसी शक्ति नहीं है कि अन्यके कार्यको करे। और कोई भी द्रव्य ऐसा पराधीन नहीं है कि अपने कार्यके लिये पृथक् कारणकी अपेक्षा रखे।—ऐसा वस्तुस्वरूप है; यह जैनदर्शनका रहस्य है।

ऐसे यथार्थ वस्तुस्वरूपकी लोगोंको खबर नहीं है, इसलिये अज्ञानके कारण वे ऐसा देखते हैं कि मैंने परका कार्य किया और परके कारण मेरा कार्य हुआ। मकानके ऊपर मुंडेर डालनेके लिये सौ मनकी कैंची ऊपर चढ़ रही हो, वहाँ भ्रमसे—संयोगी दृष्टिसे—अज्ञानी ऐसा समझता है कि पचास मजदूरों ने मिलकर शक्ति

लगाई इसलिये यह कैंची ऊपर उठी है। अब यथार्थ दृष्टिसे देखने पर वस्तुस्वरूप तो ऐसा है कि मजदूर और कैंची दोनों बिलकुल पृथक्-पृथक् वस्तुयें हैं, इसलिये किसीके कारण दूसरेमें कुछ भी कार्य नहीं हो सकता। मजदूरोंका कार्य मजदूरोंमें है और कैंचीका ऊपर उठनेका कार्य कैंचीमें है। इसलिये कैंची उसके अपने कारण ऊपर उठी है, मजदूरोंके कारण नहीं।

और सूक्ष्मदृष्टिसे देखने पर कैंची स्वयं भी मूल वस्तु नहीं है; कैंची तो अनन्त रजकणों समूहसे उत्पन्न हुई संयोगी वस्तु है; वास्तवमें एक रजकण ने दूसरे रजकणका स्पर्श ही नहीं किया है; कैंचीका प्रत्येक रजकण स्वयं अपने भिन्न कार्यको कर रहा है; दो रजकण एकत्रित होकर एकमेकरूपसे कार्य करते ही नहीं हैं। यदि इसप्रकार प्रत्येक रणकणके भिन्न-भिन्न कार्यको समझे तो परकी क्रिया करनेका अभिमान उड़ जाता है, और आत्मस्वभावकी ओर उन्मुखता हो जाती है।

और तर्कसे देखें तो भी मजदूरों ने कैंचीको उठाया यह बात नहीं रहती; क्योंकि प्रत्येक मजदूर पृथक्–पृथक् है, एक मजदूर ने दूसरेको स्पर्श नहीं किया है; प्रत्येक मजदूरकी शक्ति अपने–अपनें में पृथक्–पृथक् है। सभी मजदूरोंकी शक्ति एकत्रित हुई ही नहीं है, तब फिर मजदूरों ने कैंची को उठाया—यह बात कहाँ रही ? क्या एक मजदूरसे सौ मनकी कैंची उठती है ? नहीं उठ सकती। यदि एक मजदूर से कैंची न उठे तो दूसरे से भी नहीं उठ सकती, तीसरेसे भी नहीं उठ सकती, इसप्रकार किसी मजदूरसे नहीं उठ सकती। तब फिर सब मजदूर एकत्रित होकर कैंची उठाएँ यह बात भी नहीं रहती; क्योंकि प्रत्येक मजदूरकी शक्ति अपने–अपने में है; किसी की शक्ति अपनेमें से निकलकर दूसरेमें नहीं जाती, इसलिये दो मजदूरोंकी शक्ति कभी एकत्रित नहीं होती। देखो यह वीतरागी विज्ञानकी दृष्टि ! ! सामने कैंचीमें दो परमाणु एकत्रित होकर कार्य

नहीं करते और यहाँ दो मजदूर एकत्रित होकर कार्य नहीं करते; इसलिये किसीके कारण दूसरेका कार्य हुआ—यह बात नहीं रहती। इसप्रकार समस्त वस्तुओंमें परस्पर अकार्यकारणपना है।

आत्मद्रव्यका कार्य अन्य किसी वस्तु द्वारा नहीं होता और आत्मा अन्य किसी वस्तुके कार्यको नहीं करता; इसलिये आत्माको धर्मकार्य किसी अन्यके आश्रयसे नहीं होता परन्तु एक अपने द्रव्यके आश्रयसे ही धर्मकार्य होता है। 'अकार्यकारण' शब्दमें जो 'अ' है वह कार्य और कारण दोनोंके साथ लागू होता है, अर्थात् आत्मद्रव्य परका कार्य नहीं है और परका कारण भी नहीं है। जो जीव वास्तवमें समस्त परद्रव्योंके साथ अपना अकार्यकारणपना समझे उसे स्वद्रव्यके आश्रयसे निर्मलकार्य प्रगट हुए बिना नहीं रहेगा। आत्मामें ऐसी शक्ति ही नहीं है कि वह परके कार्यका कारण हो; और अपने कार्यके लिये पर कारणकी अपेक्षा रखे ऐसी पराधीनता भी उसमें नहीं है। ऐसा समझ ले उसे कहीं भी परके साथ "यह मेरा कार्य और यह मेरा कारण"—ऐसी एकत्वबुद्धि न रहे, इसलिये स्वभावके आश्रयसे निर्मलकार्य प्रगट हो। उसका कारण भी आत्मा स्वयं ही है, अन्य कोई कारण है ही नहीं; प्रत्येक समयकी पर्याय स्वयं ही अपने कारण–कार्यरूपसे वर्तती है। परमशुद्धदृष्टिमें तो कारण–कार्यके भेद ही नहीं हैं; कारणकार्यके भेद कहना वह भी व्यवहार है।

निमित्तकारण द्वारा कार्य होता है—ऐसा जो माने वह मिथ्यादृष्टि है; उसे आत्माके अकार्य-कारण स्वभावका भान नहीं है। निमित्तकी पहिचान करानेके लिये 'इस निमित्तसे यह कार्य हुआ'–ऐसा कहा जाता है, परन्तु वह व्यवहारसे ही है; वास्तवमें निमित्तको कारण-कार्य होना मान ले तो उसके स्व-पर तत्वकी एकत्वबुद्धि है, उसे यथार्थ कारण-कार्यकी खबर नहीं है। कारण और कार्य पृथक्-पृथक् द्रव्योंमें होते ही नहीं। कारण एक द्रव्यमें हो और उसका कार्य दूसरे द्रव्यमें

हो—ऐसा नहीं हो सकता; तथापि जो ऐसा मानता है उसे दो द्रव्यों में एकत्वबुद्धि है ।

आत्मा स्वयंसिद्ध वस्तु है; उसके द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों स्वयं सिद्ध हैं । आत्मा किसी ईश्वरका कार्य नहीं है, अर्थात् किसी ईश्वरने आत्माको नहीं बनाया है; अमुक पदार्थ एकत्रित होकर उसमेंसे आत्मा उत्पन्न हुआ—ऐसा नहीं है । और निमित्त द्वारा, पुण्य-पाप द्वारा या व्यवहार द्वारा आत्मद्रव्यकी रचना नहीं हो सकती, अर्थात् उन किसीके द्वारा आत्मद्रव्यका अनुभव नहीं होता । कोई कहे कि व्यवहारके कारण आत्माके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी रचना हुई है, तो ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी रचनामें आत्माके स्वभावके अतिरिक्त अन्य कोई कारण है ही नहीं । आत्मा अपने कार्यमें किसी अन्यकी सहायता नहीं लेता और न स्वयं किसी अन्यका कारण होता है—ऐसी स्वयंसिद्ध अकार्यकारणत्व शक्ति उसमें त्रिकाल है । भले लाखों वर्ष तक भगवान की भक्ति करे, परन्तु परके कारण आत्मामें कार्य हो—ऐसा गुण आत्मामें नहीं है, और उस भक्तिका राग कारण होकर उससे सम्यग्दर्शनरूप कार्य प्रगट हो जाये ऐसा भी नहीं होता ।

आत्माका कार्य दूसरेसे नहीं होता और आत्मा किसी अन्यकी क्रिया नहीं करता । पर जीव बचा वहाँ उसके बचनेमें आत्मा कारण नहीं है; शरीरके हलन-चलन या बोलनेमें आत्मा कारण नहीं है, पुण्य-पापके परिणाम हों उनमें भी आत्मद्रव्य कारण नहीं है;—ऐसा आत्माकी अकार्यकारणत्वशक्तिका सामर्थ्य है । ऐसा स्वभाव समझनेसे परके ऊपर दृष्टि नहीं रहती परन्तु द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि जाती है । जड़ कर्म हों उनका कारण आत्मा नहीं है । क्षणिक विकारी परिणाम हों उनके कारणरूपसे सम्पूर्ण द्रव्य नहीं है; इसलिये ऐसे द्रव्यके सन्मुख देखनेवाले जीवको क्षणिक विकारकी कर्तृत्वबुद्धि नहीं रहती । त्रिकाली द्रव्यका आश्रय करनेसे विकारकी उत्पत्ति नहीं होती इसलिये त्रिकाली

द्रव्य विकारका कारण नहीं है। त्रिकाली द्रव्यके आश्रयसे तो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी ही उत्पत्ति होती है, इसलिये वह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रका कारण हो ऐसा द्रव्यका स्वभाव है।

व्यवहाररत्नत्रयसे आत्मा नहीं बनता। यदि व्यवहार रत्नत्रयसे आत्मा बनता हो तो व्यवहाररत्नत्रयका नाश होनेसे आत्माका भी नाश हो जायेगा ! और, द्रव्यके आश्रयसे जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई वह तो द्रव्यमें अभेद है इसलिये जिसप्रकार व्यवहाररत्नत्रयसे द्रव्य नहीं बनता उसीप्रकार निर्मल पर्याय भी उससे नहीं बनती। पर्याय द्रव्यमेंसे आती है या परमेंसे ? पर्याय तो द्रव्यमेंसे ही आती है इसलिये पर्यायका पिता स्वद्रव्य है। स्वद्रव्य ही अपनी पर्यायका उत्पादक है, उसके बदले अन्यको उत्पादक मानना वह कलंक है। जसप्रकार पुत्रका जो पिता हो उसके बदले किसी अन्यको पिता बतलाए तो वह लोकव्यवहारमें कलंक है; उसीप्रकार निर्मल पर्यायरूप प्रजाका पिता द्रव्य है; द्रव्यके आश्रयसे वह पर्याय प्रगट हुई है उसके बदले अन्य को उसका कारण बतलाना वह कलंक है। पुण्य-पापमें से, निमित्तमेंसे या व्यवहारमें से आत्माका कुछ भी कार्य नहीं होता, और द्रव्यदृष्टिसे देखो तो आत्माका स्वभाव उस पुण्य-पापका या व्यवहारका कर्ता नहीं है। तब फिर आत्मा देशका, समाजका कुछ करे या शरीरका कुछ करे अथवा पैसादिके लेनदेनकी क्रिया करे—यह बात तो है ही नहीं।

जड़की या परकी क्रिया तो आत्मा से नहीं हुई है; परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि—पुण्य-पाप आत्मासे हुए ऐसा भी नहीं है। पर्यायदृष्टिमें पुण्य-पाप होता है, परन्तु त्रिकाली दृष्टिसे देखने पर आत्मामें पुण्य-पाप है ही नहीं; इसलिये आत्मा उसका कर्ता नहीं है। पर्याय बुद्धिवाला जीव यह बात यथार्थ रूपसे नहीं मान सकता। आत्मा तो ज्ञान-दर्शन-सुख इत्यादि अनंत स्वभावकी मूर्ति है, उसमें कोई स्वभाव नहीं है कि जो विकारका कारण हो !– अथवा परके कार्य को करे !

यह आत्मा हो तो जगतका कार्य हो–ऐसा नहीं हैं; और

जगतके पदार्थ हों उनके कारण आत्माका कार्य होता है–ऐसा भी नहीं है। आत्माके ऐसे स्वभावको जो न पहिचाने वह जीव आत्मासे अनभिज्ञ अर्थात् भान रहित है। सर्वज्ञ भगवानने आत्मामें ऐसा कोई गुण नहीं देखा है कि शरीर-मन वाणी इत्यादि बराबर हों तो आत्मामें धर्मका कार्य हो; और आत्माके कारण शरीर-मन-वाणी बराबर रहते हों ऐसा भी कोई गुण भगवानने नहीं देखा है। तो हे मूढ़! तू सर्वज्ञसे अधिक चतुर कहाँसे निकला! आत्मासे परका कार्य कभी होता ही नहीं तब फिर तू व्यर्थ परका कर्तापन क्यों मानता है? यदि शरीर-मन-वाणी इत्यादिके कार्य आत्मासे होते हों तो उनसे आत्मा कभी पृथक् हो ही नहीं सकता और न अपना स्वकार्य करनेके लिये उसे कभी निवृत्ति मिलेगी। इसीप्रकार द्रव्य स्वयं कारण होकर यदि पुण्य-पापकी रचना करे तो द्रव्यमेंसे पुण्य-पाप कभी पृथक् ही न हो सकें, इसलिये वीतरागता तो न हो परन्तु भेदज्ञान होनेका अवसर भी न रहे। इसलिये द्रव्य स्वयं विकारका कारण नहीं है। ऐसा समझनेसे स्वभाव और विकारका भेदज्ञान होता है और स्वभावके अवलम्बनसे विकार दूर होकर वीतरागता प्रगट होती है।

(१) यदि अपना कार्य दूसरेसे होता हो तो अपनेमें कुछ करना नहीं रहता; स्वकार्य प्रगट करनेके लिये अपने स्वभावसन्मुख देखना भी नहीं रहता।

(२) और यदि आत्मा परका कार्य करता हो तो वह परकी ओर ही देखता रहे, और अपना कार्य करनेके लिये उसे अवकाश न मिले; इसलिये उसमें भी स्वसन्मुख देखना नहीं आता। जिसे अपने आत्माका हित करना हो और मोक्षमार्गकी साधना करना हो वह जीव जगतकी दरकार नहीं करता। "जगतका क्या होगा ?"—ऐसी चिंतामें पड़ा रहे तो आत्महितकी साधना कब करेगा? जगतका तो उसके अपने कारणसे जैसा होना है वैसा हो रहा है; जगतका भार मेरे सिर पर नहीं है, मैं अपने आत्माको साध लूँ;—इसप्रकार धर्मी

जीव स्वसन्मुख होकर स्वयं अपना हित साध लेता है।

यहाँ भगवान कहते हैं कि—आत्मामें ऐसा अकार्यकारण स्वभाव है कि वह परका कारण नहीं है, और परका कार्य भी नहीं है। इस शरीरके परमाणुओंमें आत्माका निवास नहीं है। शरीरसे आत्माका कुछ भी कार्य नहीं होता, और आत्मासे शरीरका कोई कार्य नहीं होता, तथापि अज्ञानी जीव परका मोह करता है। परमें कर्तृत्वका राग और ज्ञातामात्रस्वभाव पर द्वेष रूप तिरस्कारको करता है।

प्रत्येक आत्मामें अनंतशक्तियाँ हैं, उनका यह वर्णन चल रहा है। मेरी अनंतशक्तियाँ मुझ में हैं—ऐसा यदि जीव जान ले तो उसे अपनी अनंत महिमा आये और परकी महिमा दूर हो जाये, और क्षणिक विकारकी महिमा भी दूर हो जाये, इसलिये परका स्वामित्व छोड़कर स्वयं अपनी शक्तिकी सँभाल करके सिद्ध दशाकी साधना करे। संसारी जीव अनादिसे अपनी निजनिधिको भूल रहा है; उसे सर्वज्ञदेव उसकी निधि बतलाते हैं। जिसप्रकार पुत्रीको ससुराल भेजते समय दहेज देते हैं उसीप्रकार जीवको सिद्ध-दशारूपी ससुराल भेजनेके लिये केवली भगवान दहेज देते हैं। कोई पूछे कि—यह आत्माकी अनंतशक्तियोंकी बात किसलिये सुनाते हो ? तो कहते हैं कि अब तुझे संसारसे सिद्धदशामें भेजना है, इसलिये तुझे तेरी ऋद्धि सौंपी जा रही है। 'तो आत्माके साथ क्या देंगे ?'—आत्मामें अपनी अनंतशक्ति है, उसे बतलाकर उसकी अनंती निर्मल पर्यायें प्रगट करके आत्माको सिद्धदशामें साथ भेजेंगे। उसका उपभोग सादि अनंतकाल तक सिद्धदशामें साथ रहेगा। अर्थात् आत्माकी अनंत-शक्तियोंकी प्रतीति करे उसके अल्पकालमें ऐसी सिद्धदशा हुए बिना नहीं रहेगी।

'अहो ! मेरी अनंतशक्ति मुझमें है, अपने हितके लिये मुझे किसी अन्यका आश्रय नहीं है'—ऐसा समझनेसे दृष्टि बदल जाती है। जो ऐसा समझा उसने संसारके साथका सम्बन्ध तोड़कर आत्माकी

सिद्धदशाके साथ सम्बन्ध बाँधा है। जिसप्रकार पुत्री जबतक माता-पिताके गृहमें होती है तबतक तो ऐसा मानती है कि यह मेरा घर है, और यह हमारी सम्पत्ति है; परन्तु सगाई होते ही उसकी दृष्टि पलट जाती है कि यह घर और सम्पत्ति मेरी नहीं है, यह सब मेरे साथ नहीं आयेंगे; किन्तु जहाँ सगाई हुई है वह घर और उसकी सम्पत्ति मेरी है। उसीप्रकार अज्ञानी जीव अनादिकालसे संसारमें पल रहा है; शरीर सो मैं हूँ, पुण्य-पाप मैं हूँ,—इसप्रकार बालकरूपसे वह मान रहा है। अब अनंतशक्तिके पिण्ड अपने भगवान आत्माके साथ उसकी सगाई कराके ज्ञानी कहते हैं कि देख भाई! तुझे सिद्ध होना है न! ...'हाँ'...तो तेरे साथ तेरे अनंत -गुणोंकी ऋद्धि आयेगी; परन्तु यह शरीर, मन, वाणी, लक्ष्मी, कुटुम्ब अथवा पुण्य-पाप कोई तेरे साथ नहीं आयेंगे। तेरे अनंतगुणोंकी ऋद्धि सदैव तेरे साथ रहती है, परन्तु शरीर या पुण्य-पाप वे कोई तेरे साथ सदैव रहनेवाले नहीं हैं।—ऐसा समझते ही जीवकी दृष्टि पलट जाती है कि अहो! मेरी अनंतशक्तियाँ मुझमें हैं; उनका ही मैं स्वामी हूँ; वही मेरा स्वरूप है; उन्हें भूलकर मैंने भ्रमसे शरीर तथा पुण्य-पापको अपना स्वरूप माना था, परन्तु वे कोई मेरा स्वरूप नहीं हैं, वे कोई मेरे साथ रहनेवाले नहीं हैं। देखो, सत्य समझते हीदृष्टि पलट जाती है; परसन्मुखदृष्टि थी वह छूटकर स्वसन्मुखदृष्टि हो जाती है; उसमें अपूर्व पुरुषार्थ है।

धर्मात्मा समझता है कि त्रिकाल स्थित रहनेवाला अनन्त शक्तिरूप स्वभाव है सो मैं हूँ, और क्षणिक राग-द्वेष मैं नहीं हूँ, शरीर मैं नहीं हूँ, जगतकी वस्तुयें मुझे कारण नहीं हैं; उनसे मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, और मेरे कारण जगतकी वस्तुयें नहीं हैं;—इसप्रकार धर्मात्मा जीव परका स्वामित्व छोड़कर अपनी स्वभावऋद्धि-का स्वामी होता है। परसे लाभहानि होते हैं—ऐसी दृष्टि उसके छूट गई और आत्माके साथ सगाई की।

अहो! ज्ञानी कैसी मिष्ट-मधुर बात करते हैं! परन्तु

अज्ञानी जीवको अनादिकालीन मोह है इसलिये ऐसी हितकारी सत्य बात उसे नहीं रुचती; और उल्टा झुँझला उठता है। भाई ! तेरे अनन्त-गुण त्रिकाल तेरे साथ रहनेवाले हैं; इसके अतिरिक्त पुण्य-पाप या शरीर, कुटुम्बादि कोई तेरे साथ नहीं आयेंगे। इसलिये पर मेरा कारण और मैं परका कारण–ऐसी बुद्धि छोड़; परके साथ जो कारणकार्यपना माना है वह मिथ्यात्व है। यहाँ तो कहते हैं कि उस मिथ्या मान्यताका कारण भी त्रिकाली आत्म द्रव्य नहीं है, परन्तु जो ऐसा समझे उसकी पर्यायमें मिथ्यात्व रहेगा ही नहीं।

और उपादान–निमित्तकी बात सुनकर कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि भाई ! जगतके कार्य तो उसके उपादानसे होते हैं, हम तो मात्र उसके निमित्त हैं। परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि अरे भाई ! अपनी दृष्टिमेंसे एकबार परके साथका सब सम्बन्ध तोड़ दे ! निमित्त होनेकी जिसकी दृष्टि है उसकी दृष्टि परके ऊपर है; जिसकी दृष्टि अनन्तगुणके पिण्ड आत्मा पर है उसकी परके ऊपर दृष्टि ही नहीं है, इसलिये 'मैं परको निमित्त हूँ'–यह बात उसकी दृष्टिमें कहाँ रही ? परका निमित्त होने पर जिसकी दृष्टि है उसके स्वसन्मुख दृष्टि नहीं है परन्तु उसकी दृष्टि परोन्मुख है। स्वसन्मुखदृष्टिमें तो आत्माको परके साथ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं है। ऐसी दृष्टि प्रगट हुए बिना पर्यायके निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्धका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। त्रिकाली आत्मा तो परका या राग–द्वेषका निमित्तकारण भी नहीं है; यदि त्रिकाली आत्मा रागादिका निमित्तकारण हो तो वह निमित्तपना कभी दूर नहीं हो सकता; सिद्धमें भी राग-द्वेष होते रहेंगे। इसलिये त्रिकाली स्वभाव राग-द्वेषादिका निमित्तकारण भी नहीं है। पर्यायका अशुद्ध उपादान वह राग-द्वेषादिका कारण है, परन्तु वह एक समय पर्यंतका है, उसकी यहाँ बात नहीं है; यहाँ तो आत्माके त्रिकाली स्वभावकी बात चल रही है। पुण्य-पाप आत्माके अशुद्ध उपादानसे होते हैं और कर्म उसमें निमित्त है—यह दोनों बातें परमें जाती हैं; आत्माके शुद्धस्वभावमें वह कुछ है ही नहीं।

देखो, यह तो द्रव्यदृष्टिके अजरप्यालेकी बात है। ऐसी दृष्टि पचानेके लिये अन्तरमें जीवकी कितनी पात्रता होती है ! सद्गुरुके प्रति विनय, बहुमान तथा वैराग्यादिकी योग्यता उसमें होती ही है। चाहे जैसे स्वच्छन्द पूर्वक वर्ते और यह बात समझमें आजाये—ऐसा नहीं हो सकता। ज्ञानप्रधान वर्णनमें यह सब बात विस्तारपूर्वक आती है; इस समय तो दर्शनप्रधान वर्णन चल रहा है।

आत्मसिद्धिमें कहा है कि:—

'सर्व जीव छे सिद्धसम जे समजे ते थाय।'

इसमें आत्माके स्वभावकी और उसे समझनेकी बात की है। परन्तु उसे समझनेवाले जीवको कैसे निमित्त होते हैं ?–कि–'सद्गुरु आज्ञा जिनदशा निमित्तकारणमांय।' सर्वज्ञ-वीतराग जिनदशा कैसी होती है उसका विचार और सद्गुरुकी आज्ञा उस आत्माका स्वरूप समझनेमें निमित्तकारण हैं; कुदेव–कुगुरुको मानता हो और आत्माका स्वरूप समझ जाये—ऐसा नहीं हो सकता; उसके लिये यह बात की है। द्रव्यदृष्टिके विषयमें अकेला अभेद आत्मा ही है, उसमें निमित्तकी बात नहीं आती। ऐसी अभेद दृष्टिसे ही विकल्प टूटकर निर्विकल्पका अनुभव होता है। आत्मा अकारण स्वभाव है, उसका अनुभव करनेके लिये कोई अन्य कोई कारण है ही नहीं। देव–गुरुका विचार करे, अथवा आत्मा है, वह नित्य है—इसप्रकार भेदसे आत्माके विचार करे, तो वह भी वास्तवमें आत्मानुभवका कारण नहीं है। अपने अनुभवमें व्यवहारकी या परकी सहायता लेना पड़े ऐसा आत्माका स्वभाव ही नहीं है। और आत्मा परका कारण हो ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है।

प्रश्नः—क्या आत्माके बिना बोला जा सकता है ? मुर्दे क्यों नहीं बोलते ? आत्मा हो तो भाषा बोली जाती है; इसलिये भाषाका कारण आत्मा है या नहीं ?

उत्तरः—आत्माकी उपस्थिति हो और भाषा बोली जाये

उस समय भी उस भाषाका कारण आत्मा नहीं है, परन्तु जड़ परमाणुओंके कारण भाषा हुई है। यदि भाषाका कारण आत्मा हो तो जबतक आत्मा हो तबतक भाषा निकलती ही रहे! शरीर ठीक रहे वह जड़की क्रिया है, आत्माके कारण शरीर ठीक नहीं रहता। सर्प काटे और विष चढ़ जाये, उससमय आत्मा होने पर भी क्यों अचेत पड़ा रहता है?—वह जड़का कार्य है, आत्मा उसका अकारण है। शरीर निरोगी हो, वज्रर्षभनाराचसंहनन हो, ब्राह्ममुहूर्तका समय हो, निर्जन वन हो, सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी उपस्थिति हो,—तो यह सब बाह्य पदार्थ कारण होकर आत्माका कुछ कर देंगे,—ऐसा जो मानता है उसे आत्माके अकार्यस्वभावकी खबर नहीं है; किन्हीं अन्य कारणोंसे आत्माका कार्य हो ऐसा आत्माका स्वभाव नहीं है। यदि आत्मा परका कारणकार्य हो तो वह एकद्रव्यस्वरूप न रहकर अनेकद्रव्यस्वरूप हो जाये। परन्तु आत्मा तो परका कारण नहीं है और परका कार्य भी नहीं है—ऐसा एकद्रव्यस्वरूप है; ऐसा उसका अकार्यकारणस्वभाव है। ऐसे स्वभावको दृष्टिमें लेनेसे मुक्तिरूपी कार्य प्रगट हो जाता है।

आत्माकी अनन्तशक्तिका स्वयंमें ही समावेश है। परसे तो वह बिलकुल भिन्न है, इसलिये परका कुछ करे ऐसी आत्माकी एक भी शक्ति नहीं है। अज्ञानी कहते हैं कि आत्मामें तो अनन्तशक्ति है, इसलिये वह परका भी कर सकता है! परन्तु ऐसा माननेवाला मूढ़ है, उसने आत्माको या आत्माकी शक्तियोंको जाना ही नहीं है। आत्माकी अनन्तशक्तियोंका कार्य आत्मामें होगा या आत्मासे बाहरके पदार्थोंमें होगा? और यदि आत्मा परका कार्य करे, तो क्या पर पदार्थोंमें उनका अपना कार्य करनेकी शक्ति नहीं है? आत्मा परका करता है—ऐसा माननेवालेने परद्रव्योंकी शक्तिको भी नहीं जाना है और परसे भिन्न अपनी आत्मशक्तिको भी नहीं जाना है।

आत्मामें एकसाथ अनन्तशक्तियां होने पर भी, आत्मा ज्ञायक है, आत्मा ज्ञानस्वभाव है—ऐसा कहकर आत्माकी पहिचान

करायी जाती है, वहाँ ज्ञान कहनेसे दूसरी अनन्तशक्तियाँ भी ज्ञानके साथ आजाती हैं—ऐसा अनेकान्तका स्वरूप है। यह बात स्पष्ट करनेके लिये आचार्यदेवने आत्माकी कुछ मुख्य-मुख्य शक्तियोंका वर्णन किया है। अनन्तशक्तियाँ हैं वे सब वचनगोचर नहीं हो सकतीं; वचनमें तो अमुक ही आसकती हैं। अनन्तशक्तियोंको एकसाथ प्रतीतिमें लेते हुए शक्तिमान अभेद आत्मा दृष्टिमें आजाता है और निर्विकल्प सम्यग्दर्शन होता है।

आत्मा त्रिकाली वस्तु है और उसमें अपनी अनन्तशक्तियाँ अनादिअनन्त हैं। अहो ! विचार तो करो कि आत्मामें अनन्तशक्तियाँ हैं तो उसकी महिमा कितनी !! जीव ने अपनी महिमाका कभी यथार्थरूपसे विचार किया ही नहीं। केवलज्ञान तो जिसके एकगुणकी मात्र "एक समयकी पर्याय, ऐसी-ऐसी अनन्त पर्यायें होनेका एक ज्ञान गुणका सामर्थ्य है; और ऐसे अनन्त गुण जिसमें विद्यमान हैं उस वस्तुकी महिमाकी क्या बात !! उस वस्तुकी महिमा समझे तो उसमें अन्तर्मुख होकर आनन्दका वेदन करे !

भगवान आत्मा ज्ञानमूर्तिस्वभावसे त्रिकाल सत् है; उसके अस्तित्वमें अन्य कोई पदार्थ कारणरूप नहीं है; कोई ईश्वरादि उसका कर्ता नहीं है। आत्मा किसी कारणसे नहीं बना है किन्तु स्वयंसिद्ध वस्तु है। किसी भी परवस्तुको या उसके कार्यको आत्मा नहीं करता और आत्माको या आत्माके किसी कार्यको परवस्तु नहीं करती। इसप्रकार आत्मा किसीका या परका कारण नहीं है। शरीरादि जड़ पदार्थोंमें जो कार्य होता है उसका कारण आत्मा नहीं है, तथा आत्मामें जो कार्य होता है उसमें जड़ पदार्थ कारण नहीं हैं। आत्माका ऐसा त्रिकाली स्वभाव है कि स्वयं किसीका कार्य या कारण नहीं है। इसलिये आत्मा किसी अन्यका कार्य नहीं है, और न स्वयं कारणरूप होकर किसीके कार्यको उत्पन्न करता है। कोई पर कारण हुआ और आत्मा उसके कार्यरूपसे उत्पन्न हुआ—ऐसा नहीं है; तथा

आत्मा कारण हुआ और कोई परद्रव्य उसका कार्य हुआ—ऐसा भी नहीं है। इसप्रकार किसी भी परवस्तुके द्रव्य, गुण या पर्यायके साथ कार्य–कारणसम्बन्धसे रहित एकद्रव्यरूप—ऐसा आत्माका अकार्य–कारणस्वभाव है। आत्मवस्तुमें ज्ञानादि अनन्त गुणोंके साथ एक ऐसी "अकार्यकारण" शक्ति भी है। "अकार्य"—आत्माके द्रव्य, गुण या पर्याय परसे नहीं हुए हैं; और "अकारण" आत्मा स्वयं परवस्तुके द्रव्य–गुण या पर्यायको नहीं करता।

प्रभु! तेरे आत्मामें जिसप्रकार जाननेरूप ज्ञानगुण त्रिकाल है, उसीप्रकार किसी अन्यका कार्य या कारण न हो—ऐसा अकार्य–कारण स्वभाव भी उसमें त्रिकाल है। देखो, ऐसी समझमें तो महान सम्यक् एकान्त है, अर्थात् ज्ञान परकी लीनतासे विमुख होकर अपने स्वभावमें स्थित होता है। "मेरा कोई करता है, अथवा मैं किसीका करता हूँ"—ऐसी मान्यतामें तो स्वपरकी एकत्वबुद्धिरूप मिथ्या एकान्त हो जाता है; परन्तु "मैं किसीका कार्य या कारण नहीं हूँ; मेरा कोई कर्ता नहीं है"—ऐसे ज्ञानमें स्व-परकी पृथकतारूप अनेकांत है। परमें एकत्वबुद्धि वह मिथ्या एकान्त है और स्वमें एकत्वबुद्धि वह सम्यक्–एकान्त है, और स्व–परके भेदज्ञानकी अपेक्षासे वही सम्यक् अनेकान्त है। जो जीव परपदार्थोंके साथ अपना कार्य–कारणपना मानता है उसे स्व–परकी एकत्वबुद्धिका मिथ्यात्व है; ऐसे जीवको मुनित्वका या श्रावकत्वका कोई धर्म होता ही नहीं। और उनका व्रतादि शुभराग व्यवहाराभास है, उपचारसे भी धर्मका कारण नहीं।

कोई पूछे कि "मैं किस कारण हूँ? मैं न होऊँ तो क्या आपत्ति है?"

उत्तरः— अरे भाई! "मैं न होऊँ"—इसका अर्थ क्या? तू तो सत् है, तेरा अकारण स्वभाव है इसलिये तेरे अस्तित्वमें कोई कारण है ही नहीं। प्रश्नकर्ता तू स्वयं बैठा है; फिर "न होऊँ तो"—

यह बात ही कहाँ रही ? तथा तू जगतकी सत् वस्तु है, तो सत्को अन्य कौन कारण होगा ? इसलिये द्रव्यका कोई कारण है ही नहीं।

और कोई ऐसा पूछे कि—द्रव्यका कारण भले कोई न हो, परन्तु "मैं चेतन हूँ और जड़ नहीं हूँ"—इसका कारण क्या ? कोई द्रव्य चेतन और कोई जड़—इसका क्या कारण ?

उत्तरः— जो चेतन है वह अपने स्वभावसे ही चेतन है, और जो जड़ है वह अपने स्वभावसे ही जड़ है, उस स्वभावमें कोई कारण है ही नहीं; इसलिये यह चेतन क्यों और यह जड़ क्यों—ऐसा प्रश्न ही नहीं रहता।

इसीप्रकार कोई पर्याय में भी ऐसा पूछे कि—"इससमय ऐसी ही पर्याय क्यों हुई ? दूसरी क्यों न हुई ?" तो उसका उत्तर यह है कि—उस द्रव्यका पर्यायस्वभाव ही वैसा है। जिस द्रव्यमें जिससमय जो पर्याय होनेका स्वभाव हो वही होती है, अन्य पर्याय नहीं होती— ऐसा उसका स्वभाव है; उसमें अन्य कोई कारण नहीं है।

इसप्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय तीनोंमें अकार्यकारणस्वभाव विद्यमान है। "ऐसा क्यों ?"—ऐसा कारण ढूंढ़ना नहीं रहता। द्रव्य–गुण–पर्याय जिसप्रकार सत् हैं उन्हें वैसा ही जान लेना आत्माका स्वभाव है; जाननेमें बीचमें "ऐसा क्यों?"—ऐसा प्रश्न उठानेका ज्ञानका स्वभाव नहीं है।

प्रश्नः—वस्तुमें अकार्यकारणशक्ति है इसलिये त्रिकाली द्रव्यको या गुणको तो परका कार्यकारणपना नहीं है —यह बात ठीक है; परन्तु पर्याय तो नवीन प्रगट होती है, इसलिये उसका कारण तो पर है न ? पर्यायमें तो परका कार्य-कारणपना है न ?

उत्तरः—जो अकार्यकारणस्वभाव है वह द्रव्य-गुण और पर्याय तीनोंमें विद्यमान है, इसलिये जिसप्रकार द्रव्य-गुणका कारण कोई अन्य नहीं है, उसीप्रकार पर्यायका कारण भी अन्य कोई नहीं है। अरे भाई ! क्या त्रिकाली द्रव्य कभी भी वर्तमान पर्यायरहित

होता है ? द्रव्य अपनी किसी न किसी पर्यायसहित ही होता है; पर्यायरहित द्रव्य कभी होता ही नहीं । यदि पर्यायका कारण परको कहा जाये तो उसका अर्थ यह हुआ कि द्रव्य स्वयं पर्यायरहित अर्थात् द्रव्य ही नहीं है । भेद करके कहना हो तो द्रव्य कारण और पर्याय कार्य—ऐसा कहा जा सकता है; क्योंकि पर्याय उस द्रव्यकी ही है । परन्तु यहाँ तो यह भेदकी बात ही नहीं लेना है; यहाँ तो द्रव्य-गुण-पर्याय—तीनोंको अकारण सिद्ध करना है । तब फिर पर्यायका कारण परवस्तु है—यह तो बात ही कहाँ रही ? जिसने अकार्यकारणरूप द्रव्यस्वभावको स्वीकार किया उसकी पर्याय भी अन्तर्मुख होकर द्रव्यमें अभेद हुई है, इसलिये वह पर्याय भी रागादि-अशुद्धताका कार्य-कारण नहीं है । और यदि परका कार्यकारणपना माने तो वह पर्याय परसन्मुख है, उसने अन्तर्के द्रव्यको स्वीकार नहीं किया है, उसकी दृष्टि भिन्न कारण-कार्य पर नहीं होती ।

प्रत्येक शक्तिके वर्णनमें खूब रहस्य है । इस एक अकार्य-कारणशक्तिको बराबर समझे तो आत्माकी स्वतंत्रता समझमें आजाये; पश्चात् चाहे जैसे संयोगोंमें भी ऐसा न माने कि परके कारण मुझे कुछ होता है; और यह भी न माने कि मैं परका कुछ कर देता हूँ; इसलिये उसकी प्रतीतिमें कहीं भी रागद्वेष करना नहीं रहा । ऐसी वीतरागी श्रद्धा होनेके पश्चात् अल्प राग-द्वेष हों वहाँ धर्मी जानता है कि यह राग-द्वेष कोई पर नहीं कराता और न इन राग-द्वेषोंके द्वारा मैं परके कोई कार्य कर सकता हूँ; मेरे निर्मलद्रव्यस्वभावमें यह राग-द्वेष हैं ही नहीं, इसलिये मेरा द्रव्य भी रागका कारण नहीं है, मात्र अवस्थाकी उसप्रकारकी भूमिका है परन्तु उतना ही मेरा स्वरूप नहीं है । इसप्रकार धर्मी जीवको सर्व समाधान और विवेक वर्तता है ।

आत्माका अकार्यकारणस्वभाव होनेसे उसका त्रिकाल पर-वस्तुके कारण बिना ही चल रहा है; आत्माको अपने कार्यके लिये

परवस्तुकी आवश्यकता हो—ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। तथापि, मेरा परवस्तुके बिना नहीं चल सकता—ऐसा अज्ञानी मान बैठा है, वह उसका मिथ्या अभिप्राय है। यह मिथ्या अभिप्राय ही संसारका मूल कारण है। जहाँ मिथ्या अभिप्राय हो वहाँ तीव्र राग-द्वेष हुए बिना नहीं रह सकते।

मैं एक स्वतःसिद्ध वस्तु हूँ, मेरा कोई कारण नहीं है और न मैं किसीका कारण हूँ। यदि मुझे परके साथ कारण–कार्यपना हो तो स्वपरकी एकता हो जाए, इसलिए मैं परसे भिन्न एक स्वद्रव्यरूप ही न रहूँ किन्तु परद्रव्यरूप हो जाऊँ! परन्तु मैं तो मेरा एक द्रव्यस्वरूप ही हूँ; किसी भी परद्रव्यके साथ मुझे कारण–कार्यपना नहीं है।—ऐसी यथार्थ समझ करना वह संसारके नाशका कारण है।

[वीर सं० २४८८ भाद्रपद शुक्ला ५–६ के दिन का प्रवचन]

१४ वीं अकार्यकारणत्वशक्ति भी अनन्त शक्तियोंके साथ ही भगवान आत्मामें सदा विद्यमान है। जो अन्यसे नहीं किया जाता और अन्यको नहीं करता ऐसे एक स्वद्रव्यस्वरूप अकार्यकारणत्वशक्ति आत्मामें है। राग द्वारा या निमित्तसे जीवका कार्य होगा, पराश्रयव्यवहारसे शुद्ध श्रद्धा–ज्ञान–चारित्ररूपी कार्य होगा, तथा जीवसे रागके कार्य—पर पदार्थोंके कार्य हों—ऐसी शक्ति आत्मामें नहीं है–ऐसी अनेकान्तमय जैनधर्मकी नीति है।

पर द्रव्य–क्षेत्र–काल वह कारण तथा (आत्मामें) सम्यग्दर्शनादि शुद्ध पर्याय वह कार्य—ऐसा नहीं है। देखो, निमित्ताधीन दृष्टिको उड़ा दिया है। भगवानका समवशरण, महाविदेहक्षेत्र, चौथाकाल, वज्रनाराचऋषभनाराचसंहनन (वज्रकाय) इत्यादि बाह्य सामग्री हो तो आत्मामें धर्मरूपी कार्य होगा ऐसा नहीं है। व्यवहाररत्नत्रयरूप शुभभाव हो तो आत्मामें वीतरागता प्रगट होगी ऐसा नहीं

है, क्योंकि अकार्यकारणत्व गुण आत्मामें है, किन्तु उससे विरुद्ध कोई गुण आत्मामें नहीं है।

शास्त्रमें निमित्तके कथन बहुत आते हैं, ज्ञानीके समीप धर्म श्रवण, जातिस्मरण, वेदना, देवदर्शन आदि सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके निमित्तकारण हैं—उसका अर्थ ऐसा है कि भेदज्ञान द्वारा रागसे तथा परसे निरपेक्ष निश्चय चैतन्यदेव स्वयं जागृत हो, स्वसन्मुख हो,—उस निश्चय सम्यग्दर्शनका नाम देवदर्शन है। जब आत्मामें निश्चयदशारूपी कार्य प्रगट किया तब वहाँ निमित्त कौन था यह बतानेके लिये उसको व्यवहारसाधन कहा जाता है। निश्चयके बिना व्यवहार किसका ?

प्रश्नः—जिनेन्द्रदेवके दर्शनसे निद्धत और निकाचित् कर्मोंका नाश हो जाता है—इसका अर्थ भी इसी प्रकारसे है कि निमित्तका ज्ञान करानेके लिये यह व्यवहारनयका कथन है; किन्तु कोई भी परद्रव्य तेरा कार्य करनेके लिये अयोग्य ही है। अनन्तबार निमित्तोंके समीपमें गया, किन्तु कार्य क्यों नहीं हुआ ? घातिया कर्मोंका उपशम, क्षयोपशम या क्षय वह कारण है और उसके द्वारा आत्मामें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रका कार्य होगा ऐसा नहीं है। जीवने ऐसा भाव किया तो उसे निमित्तकारण कहा जाता है। निमित्त, निमित्तरूपसे है किन्तु किसी भी समयमें उपादानके कार्यका कारण हो सके ऐसी उसमें शक्ति नहीं है, तथा उसके द्वारा आत्मामें कार्य हो सके ऐसा कोई भी गुण आत्मामें नहीं है।

निचली भूमिकामें राग होता है, परन्तु नवतत्त्वोंका विकल्प, सच्चे देव-शास्त्र-गुरुकी भक्तिका राग, महाव्रतका राग, नयपक्ष आदिका राग है इसलिये आत्मामें शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र है ऐसा नहीं है; और भूमिकानुसार ऐसा राग बिलकुल न हो, मात्र छट्ठे गुणस्थानके योग्य (केवल) वीतरागता ही हो ऐसा भी नहीं है। अंशतः बाधक-दशा है इसलिये साधकदशा है ऐसा भी नहीं है। अपूर्ण ज्ञान है इसलिये राग है ऐसा नहीं है। यहाँ न्यायसे कहा जा रहा है। जैसा वस्तुका स्वरूप

है और उसकी जहाँ जो मर्यादा है उसको जाननेकी ओर ज्ञानको सम्यक्‌रूपसे ले जाना उसे न्याय कहते हैं।

वीतरागभाव है वही मोक्षमार्ग है; उस कार्यकी उत्पत्तिके लिए कोई क्षेत्र, संयोग, काल कारण हो सकते हैं ऐसा नहीं है। शास्त्रमें व्यवहारके कथन आते हैं किन्तु उसका अर्थ इतना है; कि "उपादान निजगुण जहाँ, तहँ निमित्त पर होय,"—ऐसा जानना वह व्यवहारके ज्ञानका प्रयोजन है।

भगवान् श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि तुझमें "अकार्य-कारणत्व" नामका एक गुण ऐसा है कि परसे तेरा कार्य नहीं होता और तू परका कर्ता नहीं है—स्वामी नहीं है। केवल अभूतार्थनयसे निमित्तकर्त्ता कहना वह तो कथन मात्र ही है, वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है।

श्री समयसारजीकी ११ वीं गाथा जिनशासनका प्राण है।

"व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है।
भूतार्थ आश्रित आत्मा, सुदृष्टि निश्चय होय है ॥११॥

क्या किसीसे किसी अन्यका कार्य नहीं हो सकता ? विरोध है—एकान्त है, निमित्त-व्यवहारको उड़ाते हैं—ऐसा संयोगी दृष्टिवाले पुकार करते हैं। लेकिन यह सब जो ज्ञेयरूपसे है उसे कौन उड़ा सकता है? शास्त्रमें स्पष्ट लिखा है कि अकार्यकारणत्व शक्ति और छः कारक—कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरणशक्ति प्रत्येक द्रव्यमें प्रत्येक समयमें स्वतंत्र है, इसलिये अन्य कारणोंकी खोज करनेकी व्यग्रता व्यर्थ है।

आत्मामें तीनोंकाल स्वभावरूप अनन्तशक्तियाँ हैं। शक्तिवान आत्मामें रागादि विभावभाव नहीं हैं, दया, दान, व्रत, तप, भक्तिका शुभ राग आता है, किन्तु उसकी मर्यादा आस्रव और बंध तत्त्वमें है, संसार ही उसका फल है। शक्तिवान आत्मामें आस्रव है ही नहीं।

स्वभावरूप शुद्धकारणकार्यशक्ति तुझमें है। यदि तुझमें न हो तो कहाँसे आयेगी? श्री धवलशास्त्रमें एक स्थानमें निमित्त-व्यवहारका ज्ञान करानेके लिए ऐसा कथन किया है कि ज्ञानीको शुभभावसे कथंचित् संवर–निर्जरा होती है; छहढालामें आता है कि सत्यार्थ कारण वह निश्चय है और वहाँ निमित्त बताना सो व्यवहारकारण है। तथा व्यवहारको निश्चयका कारण कहा है उसका अर्थ यह है कि—इस भूमिकामें इस कालमें ऐसा ही निमित्त होता है इतनी बात सत्य है; किन्तु निमित्तसे उपादान में कार्य होगा, शुभरागसे आत्मामें धीरे–धीरे शुद्धि होगी यह बात तीनोंकालमें असत्य है।

यहाँ तो ४७ शक्तियों द्वारा स्पष्ट कह दिया है कि प्रत्येक शक्ति स्वतंत्रतासे सुशोभित अखण्डित प्रतापसंपदासे परिपूर्ण है, परके कारण—कार्यपनेसे रहित है तथा प्रत्येक शक्तिमें दूसरी अनन्तशक्तियोंका भाव (रूप), प्रभुत्व और सामर्थ्य है वह निश्चयसे है। इससे यह सिद्ध होता है कि हे आत्मा ! तेरी अनन्तशक्तियोंका कार्य–कारण तुझसे ही है, परसे नहीं है। परद्रव्य, क्षेत्र, काल और पर भावके द्वारा तेरा कोई भी कार्य नहीं होता। प्रथमसे ही इस परम सत्यकी श्रद्धा करके, अनादिकी मिथ्या श्रद्धाका त्याग करनेकी यह बात है।

जो कुछ भी नहीं समझते ऐसे अज्ञानी जीवोंको पहले पुण्य करनेका उपदेश देना चाहिये; शुभरागरूप व्यवहार करते–करते धीरे–धीरे निश्चय सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूपी कार्य होगा ऐसी मान्यता मिथ्या है और ऐसा उपदेश सम्यग्दर्शनका नाश करनेवाली विकथा है। मिथ्या मान्यताके समान दूसरा कोई बड़ा पाप नहीं है—इसकी लोगोंको खबर ही नहीं है।

निमित्त तथा व्यवहार उनके स्थानमें होते हैं इसका निषेध नहीं है, तथा उनका ज्ञान करानेके लिये सच्चे निमित्तका, शुभभावका स्वरूप बतलाया जाता है, किन्तु कोई ऐसा मानें कि उसके द्वारा

कल्याण हो जायेगा, प्रथम शुभराग करने योग्य है तो वे जीव मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीके महापापका बन्ध करते हैं। अज्ञानता कोई बचाव नहीं है।

विकथाके पच्चीस प्रकार कहे हैं; किन्तु उन शब्दोंमें विकथा नहीं है; उस प्रकारका बुरा भाव वह विकथा है। उसमें एक बोल दंसण भेदिनी कथा है, उसे मिथ्यात्वरूपी महापापको पुष्ट करनेवाली पापकथा कहा है।

श्री समयसारजी गाथा ३ में कहा है कि विश्वके समस्त पदार्थ अपने अपने गुण–पर्यायको ही प्राप्त होकर परिणमन करते हैं। अपनेमें एकाकार विद्यमान रहते हुए अपने अनन्त धर्मोंके समूहका स्पर्श करते हैं, तथापि परस्पर एक–दूसरेको स्पर्श नहीं करते, अत्यन्त निकट एक आकाश क्षेत्रमें विद्यमान हैं फिर भी अपना अंशमात्र भी स्वरूप नहीं छोड़ते और पररूप परिणमन नहीं करते।

जाग रे जाग, तेरी अनंत चैतन्य ऋद्धि, अक्षय गुणोंका निधान तेरे स्वाधीन है, तुझमें एकसाथ है, निकट ही है, उसको देख। जड़कर्म और रागादि आत्माको स्पर्श नहीं कर सकते। आत्मा नित्य अरूपी है वह जड़ शरीरको स्पर्श नहीं करता। सभी पदार्थ अपनेमें, अपने द्वारा अपना कार्य अपने आधारसे, अपनेसे ही करते हैं। अन्यका आश्रय करना, अन्य कारकोंकी अपेक्षा मानना, अपनेसे भिन्न पदार्थकी आवश्यकता मानना वह व्यर्थ खेद है।

प्रत्येकके अपने स्वतंत्र कारण-कार्य हैं। स्वरूपके लक्षसे इतना निःसंदेह निर्णय करे तो—"मैं परका करूं, पर मेरा करे, मैं दूसरेको निमित्त बनूं तो उसके कार्य होंगे इस मिथ्या अहंकारकी महान आकुलता नष्ट होकर, त्रिकाली ज्ञाता स्वभावकी दृष्टि सहित सच्ची समता प्रगट होती है।

तीनकाल और तीनलोकमें प्रत्येक द्रव्यकी स्वतंत्रताको देखनेवाले सर्वज्ञ भगवान् फरमाते हैं कि एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यका अत्यन्त अभाव है। स्वचतुष्टयमें पर चतुष्टय किसी प्रकारसे नहीं है। जो जिसमें नहीं है वह उसका क्या कर सकता है? कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिए कोई भी द्रव्य किसी भी प्रकारसे दूसरेको स्पर्श नहीं कर सकता। तेरा काम तुझमें है, तेरे आधीन है—ऐसा द्रव्य–गुण–पर्यायका स्वतंत्र स्वभाव तीनोंकाल है। सत्यस्वरूपका ज्ञान नहीं है, सत्यको समझना भी नहीं है और धर्म तो करना है। क्या धर्म परमेंसे आता है?

वर्तमानकी चतुराईसे पैसेकी प्राप्ति नहीं होती। चतुराईकी पर्याय जीवमें जीवके आधारसे होती है और रुपयोंकी जाने आनेकी या रुकनेकी पर्याय जड़में जड़के आधारसे होती है।

अकारणकार्यत्वशक्ति आत्मामें तथा उसके गुण-पर्यायमें व्याप्त है; उसमें "कोई कार्य किसी अन्यसे नहीं किया जा सकता" इन शब्दोंमें महान मर्मरूप सिद्धांत भरा है। विश्वके समस्त द्रव्योंको स्वतंत्रता ऐसा बतलाती है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका न तो कुछ कर सकता है और न करा सकता है; ऐसा गुण आत्माकी अनन्त शक्तिका रूप (स्वसामर्थ्य) धारण करके विद्यमान है।

अपना मोक्षमार्गरूपी कार्य देव–शास्त्र–गुरु और समवशरणमें नहीं है, उनके द्वारा तेरा कार्य नहीं होता। दर्शनमोहका क्षय अपने द्रव्यस्वभावका अवलम्बन लेनेसे होता है। अपनेमें ऐसा यथार्थ प्रयत्न करे तो केवली, श्रुतकेवलीको निमित्त कहा जाता है। निमित्त है इसलिए उपादानमें कार्य हुआ ऐसा नहीं है। परको कारण कहना वह उपचार है, व्यवहार है, इसलिये वह सच्चा कारण नहीं है। अनंत-गुण संपन्न स्वद्रव्यके ऊपर दृष्टि देनेसे शुद्ध पर्यायरूपी कार्य प्रगट होता है ऐसी शक्ति आत्मामें है; लेकिन परका तथा रागका कारण-कार्य बने ऐसी कोई शक्ति आत्मामें नहीं है। शुभराग कारण, व्यवहार

रत्नत्रय कारण और निश्चय रत्नत्रय कार्य—ऐसा आत्मामें नहीं है। अहो ! यह तेरे स्वाधीनताकी आश्चर्यजनक महिमा है। यदि मुक्तिके उपायके प्रारम्भमें ही स्वाधीनताकी श्रद्धा और यथार्थ पुरुषार्थ न हो तो उसे मुक्तिका क्या स्वरूप है, स्वतंत्रताका स्वरूप क्या है, हितका ग्रहण और अहितका त्याग किसे कहते हैं, सर्वज्ञ वीतरागदेवने क्या कहा है, उसका कुछ भी ज्ञान नहीं है। संयोगीदृष्टिवाला स्वतंत्रताको स्वीकार नहीं कर सकता। आत्माकी इच्छासे शरीर चले, शुभरागसे वीतरागता हो—ऐसी कोई शक्ति आत्मामें नहीं है।

शरीरकी क्रिया हो, सामने पदार्थ हो, इंद्रियाँ हों, प्रकाश हो, तो आत्माको ज्ञान होता है ऐसा नहीं है। पूर्वकी पर्याय कारण तथा वर्तमान पर्याय उसका कार्य ऐसा नहीं है, पर्यायमेंसे पर्याय नहीं आती, परपदार्थ कारण और सम्यग्दर्शन कार्य ऐसा नहीं है। परद्रव्य, क्षेत्र, काल, तथा परभाव कारण और आत्मामें शुद्धता या अशुद्धता प्रगट होना वह कार्य—ऐसा नहीं है। व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप शुभराग कारण तथा निश्चय रत्नत्रय कार्य ऐसा कारण-कार्य आत्मामें तीनोंकालमें नहीं है। पहले व्यवहार बादमें निश्चय—ऐसा नहीं है। लहसुन खाते खाते कस्तूरीकी डकार आजाय ऐसा नहीं बनता, उसीप्रकार राग करते करते वीतरागता हो जाय ऐसा नहीं बनता।

मैं एक समयमें अनंत शक्तियोंका भंडार परिपूर्ण ज्ञानघन हूँ उसमें दृष्टि देनेसे आत्माही कारण और उसकी शुद्धपर्याय कार्यरूप प्रगट होती है—ऐसी शक्ति आत्मामें है; किन्तु अपनी पर्याय कारण और शरीरादि परपदार्थोंमें हलन-चलन आदि फेरफार हो, एक जीवके कारण दूसरेकी पर्याय उत्पन्न होजाय ऐसा कोई गुण आत्मामें नहीं है। अपनेसे ही अपने आधारसे अपना कार्य होता है, परसे अपना कुछ भी न हो और स्वयं परका कुछ भी करनेके लिए समर्थ न होसके ऐसी शक्ति आत्मामें है। इससे ऐसा समझना कि आत्माका तीनोंकाल परवस्तुके बिना ही चल रहा है, अपने कार्यके लिए परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल तथा परभावकी आवश्यकता पड़े ऐसा आत्माका स्वरूप नहीं

है। तथापि उससे विपरीत माने तो उसका मिथ्या अभिप्राय ही अनन्त दुःखरूप संसारका कारण बनता है। जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ पराश्रयकी और रागकी रुचि होती ही है, इसलिये उसको किसी भी प्रकारसे रागका अभाव नहीं होता। अभिप्रायमें निरंतर तीव्र राग–द्वेष होते हैं, इसप्रकार युक्तिसे, परीक्षा द्वारा, वस्तुकी मर्यादाको जानकर, परके साथ मेरा किसीभी प्रकारसे कारण-कार्य नहीं है। मैं तो परसे भिन्न और अपनी अनन्त शक्तियोंसे अभिन्न हूँ—इसप्रकार निर्णय करके परमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व और स्वामित्वकी श्रद्धा छोड़कर सर्वथा रागकी उपेक्षा करनेवाले ज्ञायक स्वभाव–सन्मुख दृष्टि करना, स्वसंवेदन ज्ञान और निजस्वरूपमें लीनता करना ही सुखी होनेका सच्चा उपाय है।

आचार्यदेवने कहा है कि सुखी होनेके लिये बाह्य साधनोंको मिलानेकी व्यग्रतासे जीव व्यर्थ ही परतंत्र होते हैं। परतंत्र होनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आत्मामें अकार्यकारणत्वशक्ति सदा ही विद्यमान है, जिससे अपने कार्यके लिये अन्य कारणोंकी अपेक्षा नहीं है, आत्मा परका कारण बने तो परद्रव्य परिणमन करेगा ऐसा भी नहीं है। प्रत्येक आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु देहसे भिन्न है। मन, वाणी, शुभाशुभ विकल्पोंसे रहित और ज्ञानानन्दसे परिपूर्ण हूँ—इसप्रकार सम्यग्दृष्टिकी दृष्टि शक्तिवान चैतन्यद्रव्यके ऊपर पड़ी है, वह दृष्टि स्वरूपको स्वतंत्र तथा अनन्त शक्तियोंके भंडाररूप अवलोकन करती है।

द्रव्य अर्थात् अनन्त गुणोंका पिंड, संख्या अपेक्षासे अपनी अनंत शक्तियोंसे (गुणोंसे) परिपूर्ण यह पदार्थ है और प्रत्येक समयमें द्रव्यके आश्रयसे अनंतगुणोंकी अनंत पर्यायें प्रगट होती हैं। गुण प्रगट नहीं होते। गुण सामान्य एकरूप नित्य रहते हैं उनके विशेषरूप कार्यको पर्याय कहते हैं, वे अपनेसे हैं; और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल तथा परभावसे नहीं हैं, परके कारणकार्यरूपसे नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि जीव प्रारम्भसे ही स्व-परको इसप्रकारसे स्वतंत्र जानता है तथा अपनी

अकारणकार्यत्व आदि अनंतशक्तियोंको धारण करनेवाले अपने आत्मद्रव्यको अपने रूपसे मानता है, उसीको उत्कृष्ट-ध्रुव और शरणरूप मानता है। स्वद्रव्यको कारण बनानेसे उसका शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दरूप कार्य प्रगट होने लगता है, किसी संयोग या शुभ विकल्प—व्यवहारको कारण बनाये तो शुद्धता प्रगट होगी ऐसा नहीं है।

जैसे सुवर्ण सुवर्णरूपसे है, अन्य धातुरूपसे नहीं है। सुवर्णमें पीलापन, चिकनापन और वजन आदि एक ही साथ है; उसी प्रकार एक सेकन्डके असंख्यवें भागमें अर्थात् एक समयमें अनंतानन्त गुणोंका समूह प्रत्येक आत्मामें अनादि अनन्त एक साथ है, इसलिये उसका आदि और अन्त नहीं है; उसमें रही हुई अकार्यकारणत्वशक्ति ऐसा बतलाती है कि—आत्मामें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्वच्छता, प्रभुता आदि गुण और उनकी विकासरूप पर्यायें प्रत्येक समयमें उत्पाद-व्ययरूप उनसे ही हुआ करती हैं। जो हैं वे उन्हींसे किये जा सकते हैं, इसलिये परद्रव्य, परक्षेत्र, परकालादि द्वारा नहीं किये जा सकते। ज्ञानीको निचली भूमिकामें राग होता है, किन्तु उस शुभरागसे आत्माके गुणकी पर्यायका उत्पन्न होना—वृद्धि होना या ध्रुवरूपसे रहना ऐसा नहीं बनता। आत्मा स्वयं निज शक्तिसे अखंड, अभेद है, उसके आश्रयसे, स्वसन्मुखतारूप पुरुषार्थसे भूमिकानुसार निर्विकल्प वीतराग भावरूपसे अनंतगुणोंकी पर्यायोंका उत्पाद प्रत्येक समयमें हुआ ही करता है; उसका अस्तित्व, उत्पन्न होना, बदलना तथा ध्रुवरूपसे रहना आत्मद्रव्यके आश्रयसे ही है, परके आश्रयसे नहीं है।

व्यवहारके (—शुभरागके) आश्रयसे भी अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव अथवा वीतरागभाव त्रिकालमें नहीं होता। राग तो चैतन्यकी जागृतिको रोकनेवाला विपरीत भाव है, आस्रव है। आस्रव तो बंधका ही कारण है; बंधका कारण वह मोक्षका कारण नहीं हो सकता। इस परसे सिद्ध होता है कि व्यवहारके आश्रयसे किसीका शुद्धतारूपी कार्य होता ही नहीं। व्यवहार साधन तथा निश्चय साध्य ऐसा कथन आये तो वहाँ ऐसा

समझना कि इसका अर्थ ऐसा नहीं है किन्तु स्वद्रव्यके आश्रयसे ही वीतरागता प्रगट होती है वहाँ पर निमित्तरूपसे किस प्रकारका राग था, उससे विरुद्ध प्रकारका राग निमित्तरूपसे नहीं था, यह बतानेके लिये उसको व्यवहार साधन कहा जाता है तथा इसप्रकारके रागरूप निमित्तका अभाव करके जीव वीतरागता प्रगट करता है ऐसा बतानेके लिये उस प्रकारके शुभरागको व्यवहाररत्नत्रयको परंपरा मोक्षका कारण कहा जाता है, किन्तु वास्तवमें राग वह वीतरागताका सच्चा कारण नहीं हो सकता—ऐसा प्रथमसे ही निर्णय करना चाहिये।

जैसे लेंडी पीपलमें परिपूर्ण चरपराहट और हरा रंग प्रगट होनेकी योग्यता शक्तिरूपसे विद्यमान है; उसे घिसनेपर चरपराहटका प्रगट अनुभव होता है, उसीप्रकार आत्मामें अनादिअनंत अनंतगुण हैं, उनके साथ ही अकारणकार्यत्वशक्ति भी द्रव्यमें, गुणमें और पर्यायमें व्याप्त है; उसकी स्वाधीनताकी दृष्टि, स्वाधीनताका ज्ञान और आचरण न करके पराश्रयकी रुचि रखकर अनंतबार द्रव्यलिंगी मुनि हुआ उससे क्या हुआ ?

“द्रव्य संयमसे ग्रैवेयक पायो, फेर पीछो पटक्यो।” अकेले शुभमें—पुण्यमें अधिक समयतक कोई जीव रहता ही नहीं है, पुण्यके बाद पाप आता ही है।

शास्त्र पढ़े, हजारों लोगोंको उपदेश दिया, किन्तु अंतरमें अपनी अविनाशी चैतन्य ऋद्धि और अनंत स्वाधीन शक्तिकी महिमाका स्वीकार नहीं किया इसलिये चोरासीके अवतार विद्यमान हैं।

अहो ! अन्य किसीसे तेरा कोई भी कार्य नहीं होता, और न तू किसीके लिये कारण है—यह संक्षिप्त महान मंत्र है। सम्यग्दर्शनादि कार्य तेरे स्वद्रव्यके आश्रयसे प्रगट होते हैं। आत्मद्रव्य स्वयं ही कारण परमात्मा है, उसके ऊपर दृष्टि करे तो शुद्ध सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्रकी दशा प्रगट होती है। तीनोंकाल इसी प्रकार शुद्धिरूपी कार्यका उत्पन्न

होना, वृद्धि होना और टिकना स्वद्रव्यके आश्रयसे ही होता है; रागसे या निमित्तसे नहीं होता। इस बातका सर्व प्रथम निर्णय करना चाहिये। परीक्षा किये बिना परपदमें अपना भला–बुरा मानकर दुःखी होता है। दुःखी होनेके उपायको भ्रान्तिसे सुखका उपाय मान लेता है.....जो भूलको समझेगा वह उसे दूर कर सकता है। भूल अर्थात् अशुद्धतारूपी कार्य आत्मद्रव्यके आश्रयसे नहीं होता, इसलिये अशुद्धतारूपो कार्यको आत्मद्रव्यका कार्य कहते ही नहीं हैं। यहाँ पर द्रव्यदृष्टिसे आत्मद्रव्यका वर्णन चलता है। द्रव्यदृष्टि सो सम्यग्दृष्टि, अर्थात् पुण्यपापकी रुचिको छोड़कर-अनंत गुणोंको धारण करनेवाला मैं आत्मद्रव्य हूँ, उसमें एकमेकपनेकी दृष्टि देनेसे ज्ञानदर्शनादि तथा अकार्यकारणत्वशक्ति अपने द्रव्य-गुण-पर्याय तीनोंमें व्यापती है, उसमें अन्य कारण नहीं है। व्यवहारकारण और निश्चयकार्य ऐसा नहीं है। निश्चय रत्नत्रय तो शुद्धभाव है। वह अन्यके द्वारा किया जाय—ऐसा भाव नहीं है। शुद्ध पर्यायरूपी कार्यका मैं कर्त्ता तथा वह मेरा कार्य है, किन्तु शुभरागसे वह कार्य होता है ऐसा कोई गुण आत्मामें नहीं है तथा आत्मा रागकी उत्पत्तिमें कारण हो—ऐसा कोई भी गुण आत्मामें नहीं है। यदि ऐसा गुण हो तो रागादि कभी भी दूर होंगे ही नहीं।

क्या परको कारण मानना ही नहीं? यह सूक्ष्म बात है। व्यवहार कारण तो कथन मात्र कारण है, सच्चा कारण नहीं है। वास्तवमें जो निमित्तसे कार्य होना मानता है वह निमित्तको निमित्तरूपसे न मानकर उसीको निश्चय, उपादान मानता है, जो दो द्रव्योंको एक माननेरूप मिथ्यात्व है।

जीवको अपनी पर्यायमें जब तक पूर्ण वीतरागताकी प्राप्ति नहीं होती, तब तक दया, दान, व्रतादिका शुभराग भी आता है; किन्तु किसी भी प्रकारका राग आत्मामें शुद्धिरूपी कार्यका कारण हो सके ऐसा गुण (ऐसी शक्ति) रागमें नहीं है; और शुभरागसे अर्थात् व्यवहार रत्नत्रयसे आत्मामें निश्चयरत्नत्रयरूपी कार्य हो ऐसा कोई

गुण आत्मामें नहीं है। पुण्यसे, भक्ति आदिके शुभ रागसे, व्यवहारसे, भगवानकी मूर्तिसे अथवा साक्षात् तीर्थंकर भगवानके दर्शनसे—वाणीसे आत्माको शांति या भेदज्ञानकी प्राप्ति हो जाय ऐसा कोई गुण किसी भी आत्मामें नहीं है। अहो! ऐसी स्पष्ट बात सुनकर रागकी रुचिवाले पुकार करेंगे, लेकिन अरे प्रभु!......सुन, तुझमें पूर्ण सामर्थ्य सहित अकार्यकारणत्व नामका गुण है वह यह प्रसिद्ध करता है कि अन्यसे तेरा कोई कार्य किंचित् भी नहीं हो सकता। परसे मेरा कार्य और मुझसे परका कार्य होता ही नहीं; किन्तु स्वसे ही स्वका कार्य होता है—यह त्रिकाल अबाधित नियम है। संयोगमें एकताबुद्धिसे देखनेवाला दो द्रव्योंकी स्वतंत्रताको स्वीकार नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य स्वशक्तिसे ही ध्रुव रहकर उसकी पर्यायके कारणकार्यभाव द्वारा नवीन-नवीन पर्यायरूप कार्यको करता है। यदि तुझमें परके कार्यका कारण बननेकी शक्ति हो तो सदा उसके कार्यमें तुझे वहाँ उपस्थित रहना पड़ेगा; और परसे तथा रागसे तेरा कार्य होता है—यह बात सत्य हो तो परका संयोग और राग तेरे किसी भी कार्यसे कभी भी पृथक् नहीं हो सकते।

यदि व्यवहारसे निश्चयधर्म प्रगट होता हो तो सदा व्यवहारका लक्ष्य रखकर संसारमें रुकना पड़ेगा और स्वलक्ष्य-स्वसन्मुख होनेका अवसर ही नहीं रहेगा, इसलिये एक ही सिद्धांत सत्य सिद्ध होता है कि भेदज्ञानपूर्वक मेरे अखंड ज्ञानानन्दस्वरूपी स्वद्रव्यमें एकाग्र होनेसे, स्वका आश्रय करनेसे ही सम्यग्दर्शनादि शुद्धिरूपी कार्य प्रगट होता है।

पराश्रय करते-करते स्वाश्रयरूप वीतरागताकी उत्पत्ति होती हो तो वह तो अनंतकालसे करता आया है, तो फिर स्वसन्मुख होनेका क्या प्रयोजन है? परलक्ष्यसे, परद्रव्यके अवलंबनसे तो संकल्प-विकल्पकी उत्पत्ति होती है, वह तो राग है। रागके लक्ष्यसे अंतरमें एकाग्रदृष्टि होती ही नहीं। जब तक व्यवहारसे, निमित्तके आश्रयसे कार्य होना मानता है तबतक त्रिकाली स्वभावमें राग-व्यवहार नहीं है तथा

स्वाश्रयसे ही लाभ होता है ऐसी यथार्थ दृष्टि नहीं होती।

अकार्यकारणत्वगुण यह प्रसिद्ध करता है कि रागसे तथा निमित्तसे तेरा कार्य नहीं होता; यदि होता हो तो राग और निमित्तोंका आश्रय करनेरूप कार्यको जीव छोड़े ही नहीं, किन्तु अनंत ज्ञानी महापुरुष शुद्धनिश्चयनयके विषयरूप एक शुद्धात्मामें ही लीन होकर स्वाश्रयसे ही मुक्तिके सुखको प्राप्त हुए हैं।

जो ऐसा मानता है कि मैं परद्रव्यके कार्यमें कारण हूँ वह अपने अभिप्रायमें तीनोंकालके अनंत परद्रव्योंके कार्योंमें मैं कारण हूँ ऐसा मानता है, इसलिये उसको परका संग कभी छूटेगा ही नहीं।

प्रत्येक वस्तु अपने अनंत गुणोंसे ध्रुव रहकर प्रत्येक समयमें नवीन-नवीन पर्याय उत्पन्न करती है—उत्पादव्यय और ध्रुवरूपसे स्वयं ही वर्तती है। यदि परके कारण उत्पाद-व्यय होते हों तो परके संबंधसे छूट सकेगा नहीं, तथा स्वभावमें एकाग्रता भी नहीं कर सकता। राग मेरा कार्य है—ऐसा जो मानता है वह रागकी रुचिमें पड़ा है, राग मेरा कारण और शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान मेरा कार्य अथवा राग-द्वेष-मोहभावका मैं कारण-ऐसी मान्यतावाला संसारमें परिभ्रमण करता ही रहेगा।

आत्मद्रव्य तो त्रिकाल अनंत अविकारी गुणोंका पिंड है, उसमें एक अंश भी आस्रव—मलिनताका प्रवेश नहीं है, उसका ग्रहण-त्याग नहीं है—ऐसा निर्णय करे तभी भावभासन सहित शुद्धात्मानुभवरूप सम्यग्दर्शन होगा।

आत्मा वीतरागतामें कारण है और रागमें कारण नहीं है—इसका नाम अनेकान्त है। अपने दोषसे क्षणिक पर्यायमें राग होता है किन्तु ज्ञानी उसे आत्माका कार्य मानते ही नहीं, क्योंकि आत्मा विकारी और विकार जितना नहीं है। आस्रव और उसके कारण कार्यको जीवतत्त्व नहीं माना गया। आत्मद्रव्य रागमें कारण हो, या रागका (व्यवहार रत्नत्रयका) कारण हो तो राग करनेका उसका स्वभाव सिद्ध हुआ, जो कभी भी नहीं छूट सकता। वस्तु एक समयमें

परिपूर्ण है। अबंध परिणामी आत्मा रागको और बंधको कभी स्पर्शता ही नहीं है; यदि रागको और बंधको स्पर्श करे तो आत्मा और आस्रव दो तत्त्व भिन्न सिद्ध नहीं होते।

सम्यग्दृष्टि जीवकी दृष्टि मात्र स्वभावके ऊपर होनेसे अपनेको नये कर्मके बन्धनरूपी कार्यका मैं कारण हूँ, परकी क्रियाका मैं निमित्तकर्त्ता हूँ— ऐसा नहीं मानता। जीव परके कार्यका निमित्तकर्त्ता हो तो परद्रव्योंके कार्योंके समय उसको उपस्थित रहना ही पड़ेगा, तथा वह वहाँसे नहीं छूट सकेगा। आत्मद्रव्य रागका कारण हो तो वह रागसे नहीं छूट सकेगा, ऐसा जाने तो ही ४७ शक्तियाँ तथा ऐसी अनंत शक्तियोंको धारण करनेवाले आत्मामें दृष्टि करके अपूर्व अनुभव कर सकेगा।

अहो ! अपूर्व कार्य क्या है, सत्य क्या है, द्रव्य, गुण, पर्याय तथा उनकी स्वतंत्रता किसप्रकारसे है यह कभी सुना ही नहीं। सर्वज्ञ भगवानके कथनानुसार मिथ्यात्वादि आस्रव तत्त्व क्या है तथा उससे रहित आत्मतत्त्व क्या है, ज्ञातापना क्या है–इन बातोंको अज्ञानी जीवोंने अनंतकालमें कभी लक्ष्यमें लिया ही नहीं। कहा है कि—

दौड़त दौड़त दौड़त दोड़ियो, जेती मननी दोड़ जिनेश्वर, प्रेम प्रतीत विचारो ढूंकड़ी। गुरुगम लेजो जोड़ जिनेश्वर, धर्मजिनेश्वर गाऊं रंग शुं।

जबतक अपनी दृष्टि संयोग और पुण्यपापमें पड़ी है तबतक अपनी कल्पना द्वारा परसे लाभ और हानि मानता है। परंतु सत्य-असत्यका निर्णय करके अपूर्व वस्तु अपनेमें ही है, स्वाश्रय करना ही मुक्तिका उपाय है ऐसी दृढ़ता न करे तो उसने गुरुको पहिचाना ही नहीं है तथा उसने वीतराग देवकी आज्ञा नहीं मानी है। देव, शास्त्र, गुरु ये परपदार्थ हैं वे तेरे कार्यके कारण नहीं हो सकते तथा तुझमें ऐसी शक्ति नहीं है कि परद्रव्यके कारण तेरा कार्य हो जाय।

चैतन्यद्रव्यमें अनादिअनंत अनंतगुण विद्यमान हैं, जो द्रव्यके संपूर्ण भागमें और तीनोंकालकी संपूर्ण अवस्थाओंमें रहते हैं, उसमें

स्वयं कारणकार्यरूपसे होना, परसे न होना, परके आधीन कभी न होना ऐसा गुण है और परके लिये निमित्तकारण होसके, परसे-रागसे उसका कार्य हो सके ऐसा गुण आत्मामें नहीं है। इस बातको अनेकांत प्रमाणसे निश्चित करे तभी पराश्रयसे छूटकर स्वाश्रयरूप धर्म अर्थात् सुखी होनेका उपाय कर सकता है।

श्री समयसारजी गाथा १०५ में यह बात आई है कि आत्मामें कर्म बन्धनमें निमित्त होनेका स्वभाव ही नहीं है, यदि हो तो छूट नहीं सकता, रागकी उत्पत्ति करनेका जीवका स्वभाव हो तो वह भी छूट नहीं सकता। भूमिकानुसार योग्य शुभराग होता अवश्य है, लेकिन शुभराग है इसलिये चौथे-पाँचवें-छठे-सातवें गुणस्थानोंमें वीतरागता है ऐसा नहीं है। परके कारण, रागके आश्रयसे, व्यवहारके आलम्बनसे वीतरागताका अर्थात् शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रका उत्पन्न होना, वृद्धि होना या टिकना नहीं है—ऐसा अकार्यकारणत्वशक्ति प्रसिद्ध करती है।

तेरा वीतरागविज्ञानघन स्वभाव है। जैसे लेंडी पीपलमें पूर्ण शक्ति थी वह प्रगट हुई है, उसीप्रकार तुझमें पूर्ण सामर्थ्यसे भरपूर अनंतगुण सदा भरे पड़े हैं। जो है उसमें एकत्वकी दृष्टि करके स्वसन्मुख हो तो सम्यक् भावश्रुतज्ञानमें तेरा सच्चा स्वरूप लक्ष्यमें आजायेगा। ध्रुव ध्येय प्राप्त करनेकी दृष्टि होनेपर दृष्टिमेंसे संसार बंधन छूट जाता है। इसप्रकार स्वाश्रयसे ही जन्म-मरण तथा औपाधिक भावोंका नाश होकर शक्तिमें जो शुद्धता थी वह प्राप्त होती है।

परके कार्योंमें निमित्तकर्त्ताकी दृष्टिवालेको राग और विकारकी रुचि रहती ही है, इसलिये उसे ज्ञातास्वभावका अनादर और परमें कर्तृत्वका आदर है। इसलिये उसके फलस्वरूप एकेंद्रियनिगोदमें उसे (निमित्तकर्त्ताको) जाना ही पड़ेगा, क्योंकि वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा न मानकर विरुद्ध ही मानता है, वह सर्वज्ञको तथा उनकी वाणीके अर्थको भी नहीं मानता। सत्यके विरोधका फल एकेंद्रिय पशुपद है; किन्तु आत्माके स्वभावमें ऐसा पद है ही नहीं तथा उसके कारणरूप

गुण भी नहीं है। आत्मामें प्रमाण–प्रमेय शक्ति है, परन्तु किसीके साथ कारण कार्यरूप होनेकी शक्ति नहीं है–परके कारण कार्यके लिये प्रत्येक द्रव्य, गुण तथा उनकी पर्याय अयोग्य है, लायक नहीं है। श्री समयसारजी गाथा ३७२ तथा उसकी टीकामें यह बात आचार्यदेवने अत्यन्त स्पष्ट कही है।

सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा मानता है कि कर्म बंधमें मेरा निमित्तपना नहीं है, वर्तमानमें चारित्रका अल्प दोष है, किन्तु वह स्वाश्रयकी दृष्टिका कार्य नहीं है। चैतन्यस्वरूप जीवद्रव्यका कार्य रागादि आस्रव नहीं है कारण कि–आस्रवका कार्य निश्चयसे परमें जाता है।

अहो ! तुझमें चैतन्यसामर्थ्यको सुशोभित करें ऐसी अनंत शक्तियाँ, प्रतापवंत ऐसे स्वद्रव्यके आश्रयसे भरी पड़ी हैं। ऐसे स्वद्रव्यके आश्रयसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धपर्यायरूपी कार्य प्रगट होता है। परमार्थका पंथ तीनोंकालमें एक ही प्रकारका होता है। यह तो अमृत परोसा जा रहा है। यह कठिन तथा उच्च भूमिकाकी बात नहीं है। समझनेकी योग्यतावाले चैतन्यको ही आचार्यदेवने आत्मऋद्धि बतायी है। इसीका आदर, आश्रय, महिमा करे तो पराश्रयकी पामरता छूट जायेगी।

अहो ! चैतन्य........तेरी ऋद्धि तुझमें ही है। अनन्त, अपार ज्ञानानंदका भण्डार तुझमें सदा विद्यमान है। "ज्यां चेतन त्यां सकल गुण केवली बोले ऐम; प्रगट अनुभव स्वरूपनो निर्मल करो सप्रेम रे, चैतन्यप्रभु, प्रभुता तारि रे चैतन्यधाममां।"

प्रत्येक आत्मा असंख्य प्रदेशी है। उसका सच्चा स्वरूप शरीरसे, रागसे, पुण्यसे–व्यवहाररत्नत्रयसे भिन्न है। ज्ञानानन्दस्वभावसे तू अस्तिरूप है तथा तुझमें व्यवहार, निमित्त, पुण्य–पापकी नास्ति है, ऐसे स्वतंत्र अस्ति नास्ति स्वभावके कारण तू सदा स्वतंत्र है।

प्रत्येक आत्माकी अनंतगुणसंपन्न प्रभुता शुद्ध है, उसमें एकत्वकी दृष्टि करके, उसमें ही शुद्ध प्रेम करो। व्यवहार, निमित्त

उनके स्थानमें होते हैं किन्तु उनकी रुचि ,छोड़े तभी पूर्ण स्वभावके लक्ष्यसे पूर्ण स्वरूपकी रुचि और सम्यग्दर्शन होगा। दूसरे किसी भी प्रकारसे दुःखसे मुक्त हुआ नहीं जा सकता। बाह्यमें पुण्यमें, देहकी क्रियामें, रागमें अंशमात्र भी चैतन्यका अस्तित्व नहीं है। बाह्यमें तो हो-हा, मान-बड़ाई तथा कामभोगबन्धनकी बात ही सुननेमें आयेगी।

अरे! भगवान आत्मा, तू परके कारण—कार्य—रूपसे नहीं है। यह बहुत ही सुगम सिद्धांत है। समयसारजीमें ४७ शक्तियोंका वर्णन करके ४७ कर्म प्रकृतियोंका नाश तथा सर्वज्ञ पदको प्राप्त करनेका उपाय बतला दिया है। भेदज्ञान द्वारा प्रथमसे ही श्रद्धामें सर्व प्रकारके रागका त्याग और सर्वज्ञ वीतराग स्वभावका आदर करनेकी यह बात है। राग होने पर भी ज्ञानी उसे हेयरूपसे जानता है। जो किसी भी प्रकारके रागको हितकर मानता है, परद्रव्यसे लाभ—हानिका होना मानता है, मैं परका कार्य कर सकता हूँ—ऐसा मानता है उसे आत्माकी एक भी शक्तिकी प्रतीति नहीं है।

अरे प्रभु, एक बार स्वतंत्रताकी श्रद्धा तो कर! मेरा आत्मा रागका कारण नहीं तथा रागके कारणसे, निमित्तसे शुद्धतारूपी कार्य हो जाय ऐसा कोई गुण मुझमें नहीं है। जो रागसे, निमित्तसे लाभ मानता है उसे सम्यग्दर्शन नहीं है; सम्यग्दर्शनके बिना व्रत, चारित्र, निश्चय या व्यवहार कुछ भी नहीं होता।

अनन्तकालके बाद बड़ी कठिनाईसे इस अत्यन्त दुर्लभ अवसरमें सत्य स्वरूप श्रवण करनेको मिलता है तथापि उसकी उपेक्षा करता है कि यह तो निश्चयनयका कथन है। धर्मके नामसे बाह्यमें खूब धन खर्च करे किन्तु व्याख्यान सुनते समय निद्रा आवे तो वह सत्य-असत्यका निश्चय कैसे करेगा? और अंतरमें स्वसन्मुख होकर यथार्थ परिणमन भी कैसे करेगा?

आत्मा आदि छहों द्रव्य तथा प्रत्येक द्रव्यके गुण-पर्याय परके द्वारा किये हुये नहीं हैं, परन्तु अकृत्रिम हैं। है उसे कौन बना सकता है? पर्याय तो

नयी-नयी होती है, उस कार्यका नियामक 'कोई जड़ कर्म या भगवान कर्त्ता है ? नहीं, क्योंकि वस्तु अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध है, तथा उसकी शक्तियाँ भी अनादिअनन्त स्वयंसिद्ध हैं। प्रत्येक समयमें अनन्त गुणोंकी पर्यायें उत्पाद–व्ययरूपसे बदलती ही रहती हैं, इसलिये कहा है कि वस्तुकी शक्ति किसी अन्य कारणोंकी अपेक्षा रखती ही नहीं। अन्यको कारण कहना वह तो निमित्त बतानेके लिये व्यवहारकथन है।

वास्तवमें द्रव्य–गुण–पर्याय–यह तीनों प्रत्येक द्रव्यमें अपने सत्पनेसे ही हैं; परसे, रागसे नहीं हैं। इसलिये जीवमें भी चाहे उसकी पर्याय अशुद्ध हो या शुद्ध हो, उसका कर्त्ता उसके साथ तन्मय रहनेवाला द्रव्य ही है। उसका कर्ता कोई ईश्वर अथवा जड़-कर्म नहीं है। अन्यमती ईश्वर, ब्रह्मा, विधाताको कर्ता मानते हैं, उसी प्रकार जैन नाम धारण करके अपनेको परके कार्यका निमित्तकर्त्ता माने, जड़ कर्म जीवको रागद्वेष, सुख-दुःख कराता है ऐसा माने वह भी प्रत्येक द्रव्यकी स्वतंत्रताका नाश करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। अशुद्ध दृष्टिसे वह मात्र अपनेमें मिथ्या मान्यताका कर्त्ता हो सकता है, किन्तु परका कर्त्ता तो तीन काल और तीनलोकमें भी नहीं हो सकता।

यदि निमित्तसे कार्य होता हो तो साक्षात् परमात्मा तीर्थंकर देवके पास समवशरणमें (धर्मसभामें) गया, वहाँ सच्चा ज्ञान क्यों नहीं हुआ ? क्या भगवानके पास किसीका कल्याण रखा है कि वे दे दें ? सर्वज्ञ देव आत्माको हाथमें पकड़कर समझायें ऐसा नहीं है। यदि सर्वज्ञ भगवानसे कल्याण होता हो तो एक ज्ञानी सभीका कल्याण कर देगा, किन्तु ऐसा कभी बनता ही नहीं। भगवान तो प्रत्यक्ष अपने ज्ञान द्वारा देखकर कहते हैं कि तू मेरे जैसी परिपूर्ण अमर्यादित शक्तिका स्वामी है। तुझमें अकार्यकारणत्व शक्ति विद्यमान है, वह प्रत्येक समयमें तेरी स्वतंत्रता दिखलाती है। देव, शास्त्र, गुरु और शरीर सभी परद्रव्य हैं। क्षायिक सम्यक्त्व श्रद्धागुणकी पर्याय तेरे कारणसे उत्पन्न होती है, परद्रव्यके कारणसे नहीं। रागरूपी कार्यमें सम्यग्दर्शन कारण नहीं है। स्वद्रव्यके आलंबनके अनुसार जितनी वीतराग परिणति प्रगट

हुई वह भी रागकी क्रियाका कारण नहीं है, अन्य तो निमित्त मात्र ही है। उपादान और निमित्तके झगड़े अज्ञानतासे ही उत्पन्न होते हैं। वस्तुकी कोई भी शक्ति अन्य कारणोंकी अपेक्षा नहीं रखती, तथा अन्यका कार्य करे ऐसी शक्ति (योग्यता) वस्तुमें नहीं है। ऐसा निर्णय करे तभी स्वद्रव्यको पहिचान सकेगा और स्वाश्रित दृष्टिसे ही सम्यग्दर्शन होगा। शुद्ध पर्यायरूपी कार्य स्वद्रव्यसे ही होता है; शरीरसे, मन, विकल्प या वाणीसे नहीं होता—ऐसी स्वतंत्र वस्तुस्थिति लक्ष्यमें न आये तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा।

स्वतंत्रतासे सुशोभित अनन्तशक्तियोंका धारक मैं आत्मा हूँ, उसमें स्वसंवेदनज्ञान प्रगट न करे तो शुभराग तथा निमित्तका पक्ष नहीं छूटेगा। धर्मकी प्राप्तिके लिये अपने माने हुये विधिविधान अनन्तबार किये, तथापि आत्महितरूप कार्य कभी नहीं हुआ। सत्य बात श्रवण करनेको मिले तो उससे क्या हुआ ? मजदूरोंके यहाँ भी भाट—बारोट आकर उनकी सैंकड़ों हजारों वर्ष पुरानी वंशावलीको पढ़कर सुनाते हैं किन्तु दिन भरके श्रमसे थके हुए वे मजदूर लोग हुक्का—बीड़ी तथा बातोंमें तल्लीन रहते हैं तब बारोट उनको कहता है कि तुमारे पूर्वज महान प्रतापी हो गए, उनके गुणगान सुनाता हूँ, जरा सुनो तो सही। तब वे कहते हैं कि “लवती गला” अर्थात् तुम अपनी सुनाते रहो, हम अपना कार्य कर रहे हैं। ठीक इसीप्रकार आचार्यदेव संसारी दुःखी प्राणीको सत्य बात श्रवण कराते हैं कि तेरे कुलमें ही सर्वज्ञ पिता हो गये हैं उनकी बात कहता हूँ। शुद्ध पर्यायके पिता चैतन्य द्रव्य हैं, उनमें कितनी शक्तियाँ हैं, उनका क्या स्वरूप है, उसे आचार्यदेव तुझे समझाते हैं। अरे ! तेरी अपार शक्तियोंकी महिमा बतलायी जा रही है।

ज्ञानानन्दमय पूर्ण-अखण्ड द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि देनेसे शुद्ध पर्याय उत्पन्न होती है—यह अपूर्व बात कही जा रही है। सांसारिक रुचिवाले प्राणी कहते हैं कि—आपके पास बहुत ऊँची दशाकी बात है,

वह बात इस समय नहीं, अभी हममें इतनी योग्यता कहाँ है ? ऐसा माननेवालेका अमूल्य समय तत्त्वका अनादर करनेमें चला जाता है।

अहो ! आत्माकी पर्यायमें राग कारण नहीं है तथा रागकी उत्पत्तिमें आत्म-द्रव्य कारण नहीं है। परकी पर्यायका भी मैं कारण नहीं हूँ—ऐसा प्रथम निर्णय करे वह जीव स्वसन्मुख हो सकता है। अतींद्रिय आनन्दके अनुभव सहित सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, और उसमें विशेष आनन्दमय लीनताका होना सो चारित्र है।

बाह्यमें, शरीरकी या शुभरागकी क्रियामें, विकल्पमें आत्माका चारित्र नहीं है—ऐसा भगवानने कहा है।

[इसप्रकार १४ वीं अकार्यकारणत्वशक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

आत्मार्थी जीवोंके प्रमाद को छुड़ाकर, आत्माकी परिणतिको मोक्षमार्गके प्रति उल्लसित करनेवाले संतोंको तथा उनकी पवित्र वाणीको नमस्कार हो !

[१५]

परिणम्य–परिणामकत्वशक्ति

स्व-परको परिपूर्ण रीतिसे जाने ऐसा आत्माका स्वभाव सामर्थ्य है। आत्माके स्वभाव सामर्थ्यको जो जाने उस जीवको "मैं मेरा कार्य नहीं साध सकूंगा" ऐसा अनुत्साहका भाव नहीं रहेगा, उसीप्रकार 'मैं परका करूं' ऐसा अभिमान भी न रहे, अर्थात् परसे उदासीन होकर स्वभावका उत्साह बढ़े। स्वभावशक्तिके विश्वाससे चाहे जैसे प्रसंगोंमें भी वह उत्साहहीन नहीं होगा...किन्तु उत्साहपूर्वक वह स्वकार्यको साधेगा।

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा परसे निराला है, उसके स्वभावमें अपने अनन्तगुण एकसाथ विद्यमान हैं, उनका यह वर्णन चलता है। अभीतक चौदह शक्तियोंका वर्णन हुआ है। चौदहवीं शक्तिमें ऐसा कहा है कि आत्माको किसी भी पर द्रव्यके साथ कार्यकारणपना नहीं है। अब आत्मामें स्व–परके ज्ञाता होनेका और स्व–परके ज्ञेय होनेका स्वभाव है—वह बात करते हैं। पर और स्वयं जिनका निमित्त है

ऐसे ज्ञेयाकार तथा ज्ञानाकारोंको ग्रहण करने और ग्रहण करानेके स्वभावरूप परिणम्यपरिणामकशक्ति आत्मामें है इसलिये आत्मा स्व-परका ज्ञाता हो और स्व-परका ज्ञेय हो ऐसा उसका स्वभाव है। परका करनेकी बात उड़ाकर फिर यह बात की है। आत्मामें परका करनेकी शक्ति नहीं है, परन्तु परको जाननेकी शक्ति है, और वह भी अकेले परको जाननेकी नहीं किन्तु स्व-पर दोनोंको जाननेकी शक्ति है। तथा आत्मा अन्यका कार्य नहीं होता परन्तु अन्यके ज्ञानका ज्ञेय हो ऐसा उसका स्वभाव है। आत्मा मात्र परको ज्ञात हो और स्वयं अपनेको ज्ञात न हो—ऐसा नहीं है; परन्तु स्व और पर दोनोंका ज्ञेय हो ऐसा उसका स्वभाव है।

आत्मा स्व-पर दोनोंको जानता तो है ही, परन्तु परका कार्य नहीं करता, कार्य तो मात्र स्वका ही करता है। आत्मा स्वयं ज्ञान-रूप होकर स्व-परको जानता है, आत्माके ज्ञानाकारमें पर ज्ञेय निमित्त हैं, और परके ज्ञानमें यह आत्मा ज्ञात हो ऐसा उसका स्वभाव है। अपने ज्ञानको और पर ज्ञेयोंको—इसप्रकार स्व-पर दोनोंको ग्रहण करे अर्थात् जाने ऐसी आत्माकी परिणम्यशक्ति है। तथा स्व-पर दोनोंके ज्ञानमें ग्रहण हो अर्थात् ज्ञात हो ऐसी आत्माकी परिणामक शक्ति है; इसप्रकार आत्मा परिणम्य-परिणामक शक्तिवाला है। इस शक्तिमें ज्ञान और प्रमेयत्व दोनों भावोंका समावेश हो जाता है।

आत्मा स्वयं अपनेको और परको जाने ऐसी उसकी शक्ति है, और अपने तथा परके ज्ञानका ज्ञेय हो ऐसी आत्माकी शक्ति है। इसके अतिरिक्त परके साथ कारणकार्यादि कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्माके ज्ञानपरिणाममें भी ज्ञेय निमित्त हैं, और पर जीवोंके ज्ञानमें स्वयं निमित्त है; पर-ज्ञेयोंको जाननेके स्वभावरूप परिणमित होनेकी शक्ति तो आत्माकी अपनी है, कहीं पर ज्ञेयोंके कारण ज्ञान नहीं होता। और आत्मा स्वयं अपने ज्ञानमें ज्ञात हो यह बात भी इस शक्तिमें समा जाती है।

वाणी ज्ञेय है, उस ज्ञेयको जाननेकी आत्माकी शक्ति है परन्तु उस ज्ञेयके कारण ज्ञान हुआ ऐसा नहीं है। और अनंत सिद्ध भगवन्त, अरहन्त भगवंतादिके ज्ञानमें प्रमेय होनेका आत्माका स्वभाव है, और स्वयं अपने ज्ञानमें अनंत सिद्ध भगवन्त, अरिहन्त भगवन्तादिको जाने ऐसी आत्माकी शक्ति है। भगवान ! यह तेरे सामर्थ्यकी बात चल रही है। तुझे अपनी सामर्थ्यकी महिमा भासित नहीं हुई है, इसलिये परको महिमा देकर भटक रहा है; यदि स्वभाव-सामर्थ्यकी महिमाको समझले तो परकी महिमा दूर हो जाए और परिभ्रमणका अन्त आए। तुझमें अपना स्वयंका और परका ज्ञान करनेकी शक्ति है, और अपना तथा परका ज्ञेय होनेकी शक्ति है। तेरी एक एक पर्यायमें स्व-परका ज्ञान करनेकी और स्व-परका ज्ञेय होनेकी शक्ति है।—यह समझे तो 'स्वयं अपनेको ज्ञात नहीं हो सकता'—ऐसी शंका न रहे। आत्मा मात्र परको ही जानता है—ऐसा जो मानता है, उसे आत्माके स्वभावका भान नहीं है। आत्मामें ऐसी दुगुनी शक्ति है कि वह स्व और पर दोनोंको एक समयमें जान सकता है। शरीर चले अथवा रोग हो उसे जाननेकी आत्माकी शक्ति है परन्तु शरीरको लानेकी अथवा रोगको दूर करनेकी आत्माकी शक्ति नहीं है।

जगतमें कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है कि उसे जाननेकी सामर्थ्य आत्मामें न हो। परिपूर्ण जाने ऐसा आत्माका स्वरूप है, अपूर्ण जाने राग-द्वेष हो वह आत्माका स्वरूप नहीं है। आत्माको पर्यायमें धर्म होता है और स्वयंको उसकी खबर नहीं हो सकती ऐसा जो मानता है उसने आत्माकी इस शक्तिको नहीं माना है। आत्मामें जो धर्म पर्याय प्रगट हुई वह पर्याय स्वयं अपनेको जानती है, त्रिकाली द्रव्य-गुणको जानती है और परको जानती है ऐसी उनकी सामर्थ्य है। ज्ञान कहीं अंधा नहीं है कि वह स्वयं अपनेको न जाने। धर्मी जानता है कि 'स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी।' आत्माके ज्ञाता स्वभावमें स्वयं अपनेको जानते हुए लोकालोक भी ज्ञात हो—ऐसा स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य है।

स्व-परको जाने और स्व-परका ज्ञेय हो ऐसी परिणम्य-

परिणामक शक्ति मात्र जीवमें ही है इसलिये वह विशेष है; प्रमेयत्व गुण तो समस्त द्रव्योंमें है, परन्तु स्व–परको जाननेकी सामर्थ्य जीवके अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्यमें नहीं है। जीवमें तो ज्ञातापना और प्रमेयत्वपना (–ज्ञेयपना) दोनों हैं, इसलिये जीवकी सामर्थ्य दुगुनी है। जड़ द्रव्यमें अपनेको अथवा परको जाननेकी शक्ति नहीं है; मात्र जीवका प्रमेय होनेकी उसकी शक्ति है, जीवको कुछ करे ऐसी कोई शक्ति जड़में नहीं है। जड़में ज्ञान नहीं है इसलिये वे जड़ पदार्थ आत्माको विषय (प्रमेय) बनाए ऐसी उनमें शक्ति नहीं है। आत्मामें ही ऐसी शक्ति है कि स्वयं स्व-पर ज्ञेयोंको ज्ञानका विषय बनाए, और स्व-परके ज्ञानका विषय बने। जो ऐसे स्वभावको जान ले उसे परकी ओर से उदासीनता हुए बिना नहीं रहती, और स्वभाव धर्ममें शंका नहीं रहती; स्वयं अपने धर्मको वह निःशंक रूपसे जान लेता है। आत्माके ऐसे स्वभावको जानता हो उस जीवको "मैं अपना कार्य नहीं कर सकता" ऐसा अनुत्साह भाव नहीं रहता, इसलिये परसे उदासीनता होकर स्वभावका उत्साह बढ़ता है। मैं अपने आत्माको नहीं पहिचान सकता—ऐसा वह अनुत्साहित नहीं होता, इसलिये जो ऐसी प्रतीति करे उसके आत्माकी कोई शक्ति हीन नहीं रहती, परन्तु अल्पकालमें पूर्णता हो जाती है।

मैं स्व-परका प्रकाशक हूँ और स्व–परके ज्ञानका ज्ञेय होनेका मेरा स्वभाव है, ऐसा जानकर स्वयं अपने आत्माको ही अपने ज्ञानका ज्ञेय बनाकर एकाग्र होनेसे उस पर्यायमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप–इन चारों आराधनाओंका समावेश हो जाता है। ज्ञानको अन्तर्मुख करके अपने आत्माको ज्ञेय बनाना वह मोक्षमार्ग है।

अहो ! आत्माके आनन्दमें झूलते-झूलते वीतरागी संतों ने आत्माकी शक्तियोंका अद्भुत वर्णन किया है। आत्मामें तो एक साथ अनन्त शक्तियां हैं, परन्तु भाषामें तो कुछ ही आती हैं; इसलिये यहाँ ४७ शक्तियोंका वर्णन करके फिर "इत्यादि..." कहकर आचार्यदेव समेट लेंगे। संत कहते हैं कि अहो ! कितने नाम लिये जायें ? शब्द अल्प हैं

और आत्माकी शक्तियाँ अनंत हैं, तब फिर भाषासे कैसे पूरा पड़ सका है ? अनंत शक्तियोंका पृथक्-पृथक् वर्णन हो सके ऐसे शब्द ही कहाँ हैं ? और ऐसा समय भी कहाँ है ? हमें तो अपने आत्माका कार्य करना चाहिए ! हमें अपना केवलज्ञान लेनेका कार्य करना है । हम केवलज्ञान प्रगट करेंगे उसमें अनंत शक्तियाँ प्रत्यक्ष दिखाई देंगी; वाणीमें सब कुछ नहीं आता, तथापि यहाँ जो शक्तियोंका वर्णन किया है उसमें आचार्यदेवने बहुत-बहुत रहस्य भर दिया है ।

आत्मामें अनादि अनंत एक ऐसी शक्ति है कि स्वयं ज्ञाता भी हो और ज्ञेय भी हो, स्वयं अपना भी हो और परका भी ज्ञाता हो; और अपना ज्ञेय हो और परके ज्ञानका भी ज्ञेय हो ।—आत्माकी ऐसी शक्तिको परिणम्य-परिणामक शक्ति कहते हैं। आत्मा परको नहीं जानता अथवा स्वयं अपनेको नहीं जानता—ऐसा जो मानता है उसने आत्माकी इस शक्तिको नहीं जाना है, इसलिये वह आत्माको ही नहीं समझा है ।

आत्मामें स्व-परका ज्ञेय होनेका स्वभाव है ऐसा कहा, परन्तु उससे ऐसा नहीं समझना कि इन्द्रियज्ञानसे भी आत्मा ज्ञाता होता है । आत्मा इन्द्रियज्ञानसे ज्ञात नहीं होता ऐसा उसका सूक्ष्म स्वभाव है, और अतीन्द्रिय ज्ञानसे ज्ञात हुए बिना न रहे ऐसा उसका स्वभाव है ।

आत्माका ज्ञान स्व-पर दोनोंको जानने वाला है, इसलिये सबको जाननेका ज्ञानका स्वभाव है, परन्तु कहीं राग-द्वेष करनेका ज्ञानका स्वभाव नहीं है । चारित्रके अपराधसे राग-द्वेष हों उन्हें भी जाननेकी ज्ञानकी शक्ति है, और वे राग–द्वेष ज्ञानके ज्ञेय होते हैं । देखो रागमें ऐसी शक्ति नहीं है कि स्व-परको जान सके, परन्तु ज्ञानमें ऐसी शक्ति है कि स्व-परको जान ले और शरीरादि पर वस्तुओंमें ऐसी योग्यता है कि ज्ञानके ज्ञेय हों, परन्तु ज्ञानको कुछ लाभ हानि करें ऐसी सामर्थ्य उनमें नहीं है । और ज्ञानमें ऐसी शक्ति है कि समस्त ज्ञेयोंको जाने, परन्तु किसी ज्ञेयमें फेरफार करे ऐसी उसकी शक्ति नहीं है । जिसप्रकार स्वच्छ दर्पणमें सामने वाले पदार्थ ज्ञात हों ऐसी उसकी योग्यता है और सामने वाले पदार्थोंमें भी उस प्रकारकी योग्यता है;

किन्तु सामनेवाले पदार्थोंमें दर्पण कुछ भी नहीं करता; उसी प्रकार आत्माके स्वच्छ ज्ञान-दर्पणमें समस्त पदार्थ अवभासित हो अर्थात ज्ञात हो ऐसी उसकी शक्ति और सामने वाले पदार्थोंमें भी ऐसा प्रमेय स्वभाव है। परन्तु इस समय सामने वाले पदार्थोंकी शक्तिका वर्णन नहीं करना है, इस समय तो आत्माकी शक्तियोंका वर्णन करना है। स्व-परको जाननेकी और स्व-परका प्रमेय होनेकी आत्माकी शक्ति है। आत्माकी यह शक्ति उसके द्रव्य-गुण-पर्याय तीनोंमें व्याप्त है, इसलिये द्रव्य भी ज्ञात होता है। गुण भी ज्ञात होते हैं और पर्यायें भी ज्ञात होती हैं; ज्ञान उन सबको जानता है।

आत्माका ज्ञान स्वभाव तो द्रव्य-गुण-पर्याय तीनोंमें विद्यमान है, परन्तु राग-द्वेषादि भाव कहीं द्रव्य-गुण-पर्याय तीनोंमें विद्यमान नहीं हैं वे तो मात्र चारित्र गुणकी एक समयकी पर्यायमें व्यापक हैं, उसी समय साथमें दूसरे अनंत गुणोंकी पर्यायें वर्तती हैं, उनमें वह राग व्याप्त नहीं होता। ऐसा होने पर भी अनंत गुणोंके शुद्ध पिण्ड पर दृष्टि न रखकर क्षणिक राग जितना ही मैं हूँ—राग हितकर है, ऐसा अज्ञानी अनुभवन करता है, वह मिथ्यात्व है क्षणिक रागका आदर करके अनंत गुणोंका अनादर करना वह अनंत संसारका अर्थात् अनंत दुःखका कारण है।

राग सम्पूर्ण आत्मामें व्याप्त नहीं है परन्तु ज्ञान सम्पूर्ण आत्मामें व्याप्त है, और प्रमेयत्व भी सम्पूर्ण आत्मामें व्याप्त है। आत्माके ज्ञानमें सब कुछ जाननेकी शक्ति है; कोई भी द्रव्य गुण-पर्याय आत्माके ज्ञानमें ज्ञात हुए बिना नहीं रहते। यदि पूरा न जाने तो उस ज्ञानका परिणमन अपूर्ण है; पूर्ण ज्ञानमें कुछ भी ज्ञात हुए बिना नहीं रहता। यहां दृष्टिके विषयमें तो पूर्ण स्वभावसामर्थ्यकी ही बात है। अन्तर्मुख होकर उसकी प्रतीति करनेसे शरीर-मन वाणी अथवा राग-द्वेष यह सब ज्ञानसे पृथक् रहे और ज्ञात करने योग्य ही रहे; आत्मा स्व-परका ज्ञाता हुआ और स्वयं अपना ज्ञेय भी हुआ—ऐसा ज्ञान करना वह

धर्म है। ऐसे ज्ञानके बिना अन्य किसी प्रकारसे धर्म नहीं हो सकता।

चौदहवीं अकार्यकारणशक्तिमें ऐसा कहा है कि—आत्मा परका कारण नहीं है। शरीरका हलन चलन ज्ञानमें ज्ञात हो ऐसी आत्माकी शक्ति है, परन्तु शरीरके हलन–चलनमें कारण हो सके ऐसी कोई शक्ति आत्मामें नहीं है; और पर वस्तु ऐसी पराधीन नहीं है कि वह आत्माके कारण हलन–चलन करे, और उसमें ऐसी भी शक्ति नहीं है कि वह आत्माको ज्ञान करनेमें सहायक हो; उसमें मात्र ज्ञेय होनेका स्वभाव है और आत्माका ज्ञाता स्वभाव है। बस! परके साथ ज्ञेय ज्ञायकके अतिरिक्त अन्य कोई सम्बन्ध नहीं है। स्व–परको जाननेवाला और स्व–परके ज्ञानमें ज्ञात होने योग्य ऐसा मेरा स्वभाव है, परन्तु उससे आगे बढ़कर रागादिको करे ऐसी कोई त्रैकालिक शक्ति नहीं है। पर्यायमें जो क्षणिक रागादि होते हैं वे कहीं परके कारण नहीं होते परन्तु वह अपनी ही पर्यायका अपराध है, परन्तु सदैव रागको करता ही रहे ऐसा आत्माका स्वरूप नहीं है, और आत्मा शरीरादि परके कार्य करे अथवा पर वस्तु आत्माका कार्य करे ऐसा कदापि नहीं होता। निमित्तकी मुख्यतासे कभी कार्य नहीं होता मात्र कथन–होता है जैसे घीका घड़ा कहा जाता–होता नहीं।

आत्मा स्व–परका ज्ञेय होता है ऐसा कहा, वहाँ परका अर्थात् दूसरे जीवोंके ज्ञानका ज्ञेय होता है परन्तु कहीं जड़का ज्ञेय नहीं होता; क्योंकि जड़में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह किसीको ज्ञेय बना सके। जड़को किंचित् खबर नहीं है, परन्तु आत्माको अपनी और जड़की—दोनोंकी खबर है। आत्माके ऐसे स्वभावको जाननेसे स्वयंको अपनी खबर पड़ती है। "सम्यक्दर्शन तो अरूपी सूक्ष्म वस्तु है, इसलिये आत्माको उसकी खबर नहीं पड़ती"—ऐसा अज्ञानी मानते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है। अपनेमें सम्यक्दर्शन पर्याय प्रगट हुई उसे भी ज्ञेय करनेकी आत्माकी शक्ति है। यदि स्वयंको अपनी खबर न पड़े तो निःशंकता कैसे हो? और स्वभावकी प्रतीतिमें निःशंकता हुए बिना साधक जीव

वस्तुकी साधना कैसे करे ? ज्ञान जागृत हुआ और प्रतीति हुई वहाँ स्वभावका सन्देह नहीं रहता।

राग-द्वेषमें ज्ञानका ज्ञेय होनेकी योग्यता है, परन्तु उस राग-द्वेषमें ऐसी शक्ति नहीं है कि वह जाने, अथवा जाननेकी सहायता दे। व्यवहाररत्नत्रयका जो शुभराग है वह ज्ञानका ज्ञेय है, परन्तु वह ज्ञानमें सहायक नहीं है। और ज्ञान स्वभावमें ऐसी शक्ति है कि वह स्व-पर सबको जाने, रागको भी जाने; परन्तु रागको उत्पन्न करे अथवा उससे लाभ ले ऐसा उसका (ज्ञान स्वभावका) स्वरूप नहीं है।

इस जगत्के अनन्तानन्त पदार्थोंमें कोई जीव है, कोई जड़ है; जीव है वह जीवके कारण है और जड़ है वह जड़के कारण है, किसीके कारण कोई नहीं है। कोई कहे कि 'यह जीव क्यों?'—तो कहते हैं कि ऐसा ही उसका स्वभाव है; 'यह जड़ क्यों ?' तो कहते हैं कि ऐसा ही उसका स्वभाव है। जिसप्रकार चेतन और जड़ पदार्थ अपने-अपने स्वभावसे ही चेतन या जड़ हैं, उनका अन्य कोई कारण नहीं है; उसी-प्रकार उन चेतन और जड़ पदार्थोंकी प्रत्येक समयकी अवस्था भी अपने-अपने कारणसे है। कोई पूछे कि 'ऐसी पर्याय क्यों हुई ?'—तो कहते हैं कि ऐसा ही उनका पर्याय स्वभाव है, अन्य कोई उनका कारण नहीं है। जो द्रव्य, जो गुण, जो पर्याय जैसी है, वैसा ही उसे जाने ऐसा आत्माका ज्ञायकस्वभाव है, ऐसे स्वभावके निर्णयसे सम्यग्ज्ञान और वीतरागता होती है। ऐसे स्वभावका निर्णय किये बिना कभी भी सम्यग्ज्ञान या वीतरागता नहीं हो सकती।

आत्माका ऐसा स्वभाव है कि शरीरादिकी जो क्रिया हो उसके ज्ञानरूपसे परिणमित हो, परन्तु शरीरादिकी क्रियाको करने रूप परिणमित हो ऐसी आत्माकी शक्ति नहीं है। मिथ्यादृष्टि आत्माके ज्ञान स्वभावको नहीं जानता और पर कर्तृत्व मानता है; परन्तु परका कर्ता तो वह भी नहीं हो सकता, वह अपने राग-द्वेष-मोहका कर्ता होता है।

कोई कहे कि इस समय तो जीवको देहका संयोग है न ?

परन्तु संयोगका अर्थ है पृथक् । जीव और देह इस समय भी पृथक् हैं इसलिये उनका संयोग कहा गया । यदि वे पृथक न होते किन्तु एकमेक होते तो उसे संयोग नहीं कहा जाता, परन्तु स्वभाव कहा जाता । संयोग तो दो पृथक् पदार्थोंका होता है, इसलिये दो पदार्थोंका संयोग कहते ही उन दोनोंका भिन्नत्व सिद्ध होता है । इस समय भी जीव और शरीर—दोनों 'दो' पदार्थ हैं कि 'एक' हैं ? जो दोनों एक हों तो संयोग नहीं कहा जा सकता । इस समय भी वे दोनों पृथक्–पृथक् दो पदार्थ हैं । इस प्रकार भिन्नत्वके ज्ञानपूर्वक संयोगको जानना वह व्यवहार है, परन्तु भिन्नत्वके ज्ञान बिना मात्र संयोगको जानने जायेगा तो उसमें जड़–चेतनकी एकत्वबुद्धिसे मिथ्याज्ञान हुए बिना नहीं रहेगा । देखो, दूध और पानीका संयोग है परन्तु उन दोनोंका स्वभाव भिन्न है, इसलिये अग्नि पर चढ़ानेसे पानी भाप बनकर उड़ जाता है और दूध गाढ़ा होकर उसका मावा बन जाता है । दोनों एक ही स्थान पर विद्यमान होने पर भी और दोनोंको अग्निका एक–सा निमित्त होने पर भी दोनोंके स्वभाव पृथक् हैं इसलिये ऐसा होता है । उसीप्रकार आत्मा और शरीर एक ही क्षेत्रमें होने पर भी उनका स्वभाव भिन्न है; आत्मामें तो सिद्ध दशाका अभेद भाव प्रगट होता है और शरीरके परमाणु छिन्न–भिन्न होकर उड़ जाते हैं । संयोगके समय भी स्वभावकी भिन्नता है । मिथ्यादृष्टि जीव त्रिकाली स्वभावको न देखकर मात्र संयोगको देखते हैं, इसलिये उनकी दृष्टि परमेंसे नहीं हटती । छहों द्रव्योंका स्वभाव भिन्न–भिन्न है, और प्रत्येक द्रव्यमें अपनी–अपनी काललब्धि है । अकेले जीवमें ही काललब्धि है । ऐसा नहीं है, परन्तु प्रत्येक परमाणुमें भी उसकी अपनी समय–समयकी काललब्धि है, सभी स्वतंत्रतया अपनी काललब्धिसे परिणमित हो रहे हैं, जीव उनका कर्ता नहीं है किन्तु ज्ञाता है ।

जीवका स्वभाव स्व–पर ज्ञेयोंको "ग्रहण करनेका" है, "ग्रहण"का अर्थ यह नहीं है कि हाथसे परद्रव्यको पकड़ता है; जीवके कहीं हाथ–पैर नहीं हैं कि वह परद्रव्यको पकड़े; ग्रहण करना अर्थात्

जानना—ऐसा समझना चाहिये। स्व-पर ज्ञेय कहे उसमें त्रिकाली द्रव्य-गुण और उनमें अभेद हुई वीतरागी पर्याय वह स्वज्ञेय है, और व्यवहाररत्नत्रयका राग वह पर ज्ञेय है, क्योंकि वह जीवका स्वभाव नहीं है। यह समझनेसे श्रद्धा-ज्ञानमें शुद्ध चैतन्यका ग्रहण हुआ और विपरीत मान्यताका त्याग हुआ वह अपूर्व धर्म है। यहां द्रव्यदृष्टिसे आत्माके त्रिकाली स्वभावकी बात है; यदि उसकी श्रद्धा करे तो पर्यायके रागादिकी मुख्यता न रहे परन्तु ज्ञान-स्वभावकी मुख्यता—अधिकता रहे; इसलिये जो रागादि हों उनमें पर्यायबुद्धि न रहे।

बीस वर्षका इकलौता पुत्र बीमार हो जाये वहाँ ज्ञान उसे जानता है, तथा बचानेकी इच्छा होती है उसे भी ज्ञान जानता है; परन्तु ज्ञानमें या इच्छामें ऐसी शक्ति नहीं है कि पुत्रके शरीरको निरोगी बना दे। इच्छा और राग—दोनों ज्ञानके ज्ञेय हैं; ज्ञान वास्तवमें इच्छाको भी नहीं करता, तब फिर वह परको बचाए यह बात ही कहाँ रही ?

समवशरणमें साक्षात् भगवान बिराज रहे हों उनकी सेवाका भाव हो और भगवानकी मूर्तिकी स्थापना करके उनकी भक्तिका भाव आये, परन्तु वहाँ धर्मात्मा जानते हैं कि वास्तवमें भगवान इस आत्माका कुछ भी नहीं कर देते; भगवान भी मेरे ज्ञानके ज्ञेय हैं। इसीप्रकार जड़कर्म भी ज्ञानके ज्ञेय हैं, राग कराके आत्माको परिभ्रमण कराएँ ऐसी शक्ति उनमें नहीं है। कर्मोंमें ऐसा कोई गुण नहीं है कि वे आत्माको परिभ्रमण कराएँ; तब फिर कर्म आत्माको परिभ्रमण कराते हैं यह बात कहाँसे लाया ? कर्म भी ज्ञेय हैं और तुझमें उन्हें भी जाननेकी शक्ति है। देखो यह ज्ञानसामर्थ्यकी महिमा ! अमुक निमित्तसे लाभ होता है और अमुकसे हानि होती है यह बात ही नहीं रहती; ज्ञानमें सब ज्ञेय है, उसमें वीतरागभाव है। यह इष्ट और यह अनिष्ट ऐसा ज्ञानमें नहीं है और ज्ञेयमें भी नहीं है। इसमें ज्ञानकी पुष्टि होती है और निमित्ताधीन दृष्टि नाश होती है।

विकारको करे ऐसा भी आत्माका त्रिकालीस्वभाव नहीं है; तब फिर जड़को या परको करे—यह तो बात ही कहाँ रही ? जिस-प्रकार ईश्वर जगतका कर्ता है—ऐसा माननेवाले अन्यमती मिथ्यादृष्टि हैं, उसीप्रकार कोई जैनमतानुयायी भी यदि ऐसा माने कि जड़कर्म जीवके गुण-दोषका कर्ता है; आत्मा परका कर्ता है, तो वे भी मिथ्यादृष्टि ही हैं। जीव कर्मोंको नहीं करते और कर्म जीवको परिभ्रमण नहीं कराते; जीव न तो शरीरमें रहता है और न शरीरको चलाता है; जीव तो नित्य अपने अनंतगुणधाम असंख्यप्रदेशोंमें रहता है। वास्तवमें जीव या शरीर कोई मरते नहीं हैं, क्योंकि जीवका या शरीरके रजकणोंका सर्वथा नाश नहीं होता, मात्र उनकी अवस्था अपने-अपने कारण बदलती रहती है। इसलिये मैं पर जीवको मारता हूँ या बचाता हूँ—ऐसी मान्यता वह अज्ञान है। आत्मामें ऐसी शक्ति है कि स्व-पर सबको जाने और स्व-परके ज्ञानमें ज्ञात हो। आत्माके ऐसे स्वभावको समझे बिना राग कम करके पुण्य-बंध करे तो भी मिथ्या-अभिप्रायके कारण चौरासीके अवतारमें परिभ्रमण करेगा ही परन्तु जन्म-मरणका अन्त नहीं आयेगा।

यह आत्माकी त्रिकाली शक्तियोंका वर्णन चल रहा है। आत्माकी कोई भी शक्ति परके या रागके आश्रयसे नहीं है, क्षणिक पर्यायके अथवा एक-एक शक्तिके आश्रयसे भी वह नहीं है, परन्तु अनंतशक्तिके पिण्डरूप आत्मद्रव्यके आश्रयसे ही सब शक्तियाँ विद्यमान हैं; इसलिये उस द्रव्यसन्मुख देखकर ही इन समस्त शक्तियोंकी यथार्थ स्वीकृति हो सकती है।

आत्मामें ऐसी शक्ति नहीं है कि वह दूसरोंको समझा दे; परन्तु दूसरोंके ज्ञानमें ज्ञात हो और स्वयं दूसरोंको जाने ऐसी उसकी सामर्थ्य है। ज्ञानस्वभावकी महिमाका विश्वास करनेसे अपनेमें स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य प्रगट हो जाता है, और अन्य जिन जीवोंमें उसप्रकारका ज्ञानसामर्थ्य प्रगट हो उनके ज्ञानमें ज्ञेय होनेका भी आत्माका

स्वभाव है। यदि कोई ऐसा माने कि केवली भगवान इस आत्माकी तीनों कालकी पर्यायोंको वर्तमानमें नहीं जानते, किन्तु जब जो पर्याय हो उससमय उसे जानते हैं;—तो उसने आत्माके प्रमेय स्वभावको ही नहीं माना है और केवलीको भी नहीं माना है; वह जीव स्थूल मिथ्यादृष्टि है। अपने स्वभावसे ही स्व–परको जाने ऐसा आत्माका सामर्थ्य है उसके बदले जो वाणी–शास्त्रादिसे ज्ञानका होना मानता है उसे भी आत्माके ज्ञान–स्वभावकी खबर नहीं है। पर पदार्थोंमें आत्माके ज्ञानका ज्ञेय होनेका स्वभाव है, परन्तु वे ज्ञानके कारण हों ऐसा तो उनका भी स्वभाव नहीं है। द्रव्य–गुण–पर्याय तीनों ज्ञानमें ज्ञात हों ऐसा स्वभाव है; यदि तीनों ज्ञानमें ज्ञात न हों तो वे ज्ञेय नहीं रहते और उनका सत्‌पना ही सिद्ध नहीं होता; और यदि ज्ञानमें उन तीनों को जाननेका सामर्थ्य न हो तो वह ज्ञान ही नहीं रहता। ज्ञानका स्वभाव सबको जाननेका है और ज्ञेयका स्वभाव ज्ञानमें प्रमेय होनेका है। द्रव्य–गुण–पर्याय तीनोंको न जाने और वस्तुको मात्र नित्य ही माने अथवा सर्वथा क्षणिक ही माने तो वह ज्ञान अप्रमाण है उसे प्रमाण ज्ञान ही नहीं है परन्तु मिथ्याज्ञान है; उस ज्ञानके अनुसार प्रमेय वस्तु जगतमें नहीं है और जैसी वस्तु है वैसा उसे ज्ञान नहीं है। आत्माके परिणम्यपरिणामक स्वभावको बराबर समझ ले तो मिथ्याज्ञान न रहे। इस एक शक्तिमें स्व–पर प्रकाशक ज्ञान और प्रमेयत्व—दोनोंकी सिद्धि हो जाती है।

[—यहाँ पन्द्रहवीं परिणम्यपरिणामकत्व शक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

* * *

[१६]

त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति

अनंत शक्तियोंका पिण्ड ज्ञानस्वरूप मेरा आत्मा है, वह अग्राह्य ऐसे परद्रव्यको अथवा विकारको ग्रहता नहीं, व गृहीत ऐसे निजस्वभावको कभी छोड़ता नहीं, सदा अपने ज्ञानस्वरूपमें निश्चल रहता है।—इस प्रकार धर्मी अपनी आत्माको ग्रहण–त्याग रहित एकरूप देखता है। ऐसे स्वरूपके अवलंबनसे उसकी पर्यायमें मोक्षमार्ग प्रगट होता है व रागादि टलते जाते हैं।

ज्ञानस्वरूप कहकर आत्माकी पहिचान करायी वहाँ ज्ञानके साथ दूसरे अनंत धर्म भी विद्यमान हैं। उनमें एक त्यागोपादानशून्यत्व नामकी शक्ति है, इसलिये आत्मा नियतरूपसे ऐसे स्वरूपमें रहता है जो न्यूनाधिक नहीं होता। देखो, इसमें पर्यायबुद्धिके धुर्रे उड़ जाते हैं। परका ग्रहण–त्याग तो आत्मामें है ही नहीं और विकारका ग्रहण–त्याग भी आत्माके त्रिकालीस्वरूपमें नहीं है। त्रिकाली स्वरूपमें

विकारको छोड़ूं और निर्मल पर्यायको ग्रहण करूं—ऐसा भी नहीं है; वह तो पर्यायदृष्टिमें है। द्रव्यदृष्टिसे देखने पर आत्मा अपने ज्योंका त्यों स्वरूपमें निश्चलरूपसे विद्यमान है; वह त्रिकाल सिद्धसमान है, उसके स्वभावमें किंचित् न्यूनाधिकता नहीं होती। पर्यायमें विकार हो और वह दूर होकर निर्मलता प्रगट हो, परन्तु उससे त्रिकाली द्रव्यमें कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं हो जाती। वर्तमान अंशकी ओर देखें तो पर्यायमें न्यूनाधिकता दिखाई देती है, परन्तु त्रिकाली द्रव्यस्वभावसे देखने पर आत्मा न्यूनाधिकता रहित नियत एकरूप स्वरूपमें ही स्थित है, एकरूप है। पर्यायके अंशमें जो न्यूनाधिकता दिखाई देती है वह व्यवहारनयका विषय है, इसलिये अभूतार्थ है; यहाँ भूतार्थदृष्टिमें उसका निषेध करके कहते हैं कि—आत्माका त्रिकाली स्वभाव ग्रहण–त्यागसे रहित है, उसमें कुछ भी न्यूनाधिक नहीं होता। ऐसे स्वभावकी दृष्टि करनेसे पर्यायमें राग दूर होकर वीतरागभाव हो जाता है; परन्तु वह भी व्यवहारका विषय है। यहाँ तो सम्यक् निश्चयकी प्रधानता है। व्यवहारकी प्रधानता नहीं है।

आत्मामें पर द्रव्यका तो ग्रहण–त्याग नहीं है, परन्तु रागका ग्रहण–त्याग भी आत्माके त्रिकाली स्वभावमें नहीं है। त्रिकाली स्वभाव तो रागके अभाव स्वरूप ही है; रागका त्याग करूं और निर्मलपर्यायको ग्रहण करूं—ऐसा त्रिकाली स्वभावमें नहीं है। यदि त्रिकाली स्वभावमें रागका ग्रहण–त्याग हो तो वह त्रिकाल होता ही रहे। सिद्धदशामें भी आत्मा रागका ग्रहण–त्याग करता ही रहे; तो पूर्णता कभी हो ही नहीं सकती, इसलिये द्रव्यस्वभावसे आत्माको रागका ग्रहण–त्याग नहीं है ऐसा त्यागोपादानशून्यत्व स्वभाव है।

और त्रिकाली स्वभावसे देखने पर आत्मा एकरूप है, उसके स्वरूपमें कुछ न्यूनाधिकता नहीं होती। संसार पर्यायके समय आत्माके त्रिकाली गुणोंमेंसे कुछ कम हो गया और मोक्षपर्याय प्रगट होने पर कुछ बढ़ गया—ऐसा नहीं है; अथवा संसार दशामें अल्प पर्याय प्रगट हो,

उस समय द्रव्यमें शक्तिरूपसे बहुत कुछ शेष रहा, और मोक्षकी पूर्ण पर्याय प्रगट हुई उस समय द्रव्यमें शक्ति अल्प रह गई—ऐसा भी नहीं है। इस समय तो आत्माके एकरूप अस्तित्वभावकी बात है, पर्यायमें रागका त्याग अथवा शुद्धताकी वृद्धि होती है उसकी प्रधानता नहीं है, क्योंकि वह पर्याय तो अभेद स्वभावोन्मुख है, इसलिये उस पर्यायकी प्रधानता नहीं रही, परन्तु अभेद द्रव्यकी ही प्रधानता रही। इसलिये अभेद दृष्टि करना वह धर्मका मूल है।

जिस प्रकार कड़ा–कुण्डल–हार इत्यादि अनेक अवस्थाएँ बदलने पर भी सुवर्ण कम–अधिक नहीं होता, उसी प्रकार आत्माकी पर्यायमें हीनता–अधिकतारूप परिणमन होनेपर भी उसके त्रिकाली द्रव्य–गुणका सामर्थ्य न्यूनाधिक नहीं होता। धर्मात्मा जीवकी दृष्टि ऐसे स्वभाव पर है, विकारको दूर करने पर धर्मात्माकी दृष्टि नहीं है; स्वभावकी दृष्टिसे उसका विकार दूर अवश्य होता जाता है परन्तु वह विकार दूर करने पर उसकी दृष्टि नहीं है। विकारको दूर करूँ—ऐसी जिसकी दृष्टि है वह पर्यायबुद्धि है; क्योंकि विकारके लक्षसे विकार दूर नहीं होता। त्रिकाली स्वभावकी दृष्टिमें तो हीन पर्यायका त्याग और पूर्ण पर्यायका ग्रहण भी नहीं है; त्रिकाली स्वभावकी दृष्टिसे पर्यायमें वैसा हो अवश्य जाता है, परन्तु उस पर्यायके सन्मुख दृष्टि नहीं है, दृष्टि तो द्रव्योन्मुख हो गई है। मैं इस रागको छोड़ूँ—ऐसी बुद्धिसे जो लाभ माने वह मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि "रागको छोड दूँ"—ऐसे लक्षसे भी विकारकी उत्पत्ति ही होती है; तथापि उसे विकारको छोड़नेका साधन मानता है इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। आत्माके मूल स्वभावमें राग नहीं है इसलिये उस स्वभावकी दृष्टि करके उसमें एकाग्र रहनेसे पर्यायमें रागकी उत्पत्ति ही नहीं होती।—यही रागके त्यागकी रीति है। इसके अतिरिक्त किसी अन्य उपायसे रागका त्याग करना माने वह अज्ञानी है।

आत्माके त्रिकाली गुणोंमें विकारका ग्रहण–त्याग नहीं है,

और उनमें कुछ न्यूनाधिकता नहीं होती;—ऐसे स्वभावकी दृष्टि वह द्रव्यदृष्टि है, वह सम्यक् दृष्टि है और वही प्रथम धर्म है। देखो, आत्माका ज्ञानगुण त्रिकाल है, उसमें पहले मतिश्रुतरूप अल्प पर्याय थी और पश्चात् पूर्ण केवलज्ञान पर्याय प्रगट हुई; वहाँ मतिश्रुतरूप अल्प पर्यायके समय ज्ञानगुणकी शक्ति अधिक थी, और केवलज्ञानरूप पूर्ण पर्याय प्रगट होने पर ज्ञानगुणकी शक्ति अल्प रही—ऐसा नहीं है। हीन या अधिक चाहे जैसी पर्याय प्रगट हो, परन्तु द्रव्य-गुणका सामर्थ्य तो अनादि-अनंत एकरूप है, वह न्यूनाधिक नहीं होता, ऐसा द्रव्यस्वभाव है। अहो ! ऐसी दृष्टिमें कितनी वीतरागता है !! पर्यायकी बुद्धि छोड़कर दृष्टि त्रिकाली द्रव्यमें अभेद हुई वहाँ प्रतिक्षण धर्म होता है।

पर्यायमें विपरीत मान्यता वह अधर्म है, त्रिकाली द्रव्यमें उसका ग्रहण नहीं है; और ऐसा जो समझे उसके तो पर्यायमें भी विपरीत मान्यता नहीं रहती।

प्रश्नः—मिथ्यात्वको दूर करूँ और सम्यक्त्व प्रगट करूँ—ऐसा विचार करे तो ?

उत्तरः—यह ठीक है, लेकिन उसकी रीति क्या है वह समझना चाहिये न ? "मिथ्यात्वको दूर करूँ"—ऐसे लक्षसे क्या मिथ्यात्व दूर होता है ? और "सम्यक्त्व प्रगट करूँ"— ऐसे विकल्पसे क्या सम्यक्त्व प्रगट होता है ?—ऐसा तो नहीं होता। ध्रुव चिदानंद स्वभाव अनादि-अनन्त एकरूप है उसमें मिथ्यात्वको दूर करूँ और सम्यक्त्व प्रगट करूँ—ऐसे भेद नहीं हैं, उस स्वभावकी रुचि और महिमा करके उसमें एकाग्र होनेसे पर्यायमें मिथ्यात्वका व्यय और सम्यक्त्वका उत्पाद हो जाता है। इसलिये ऐसे एकरूप स्वभावको जानकर उसमें दृष्टि और एकाग्रता करना वह धर्मकी रीति है।

अज्ञानी जीव देहके संयोगको और रागको ही आत्मा मान रहे हैं, परन्तु आत्मा तो ज्ञानादि अनन्त गुणोंका पिण्ड है; रागकी

उपाधि या देहका संयोग वह सच्चा स्वरूप नहीं है;—ऐसे आत्माको अज्ञानी नहीं पहिचानता, इसलिये यहाँ आत्माके स्वभावका वर्णन करके उसकी पहिचान कराते हैं। हे भाई! राग तेरा असली–नित्य (स्थायी) स्वरूप नहीं है किन्तु क्षणिक उपाधिभाव है; वह राग छूट जानेसे तेरे स्वभावमेंसे कुछ भी कम नहीं हो जाता; और पर्यायमें ज्ञानादिकी वृद्धि होती है वह तेरे स्वरूपमेंसे आती है, वह कहीं बाहरसे नहीं आती, इसलिये उस शुद्धताकी वृद्धि होनेसे द्रव्यमें कुछ वृद्धि हो गई ऐसा नहीं है।

आत्मा परके ग्रहण–त्यागसे रहित अपने एकरूप स्वरूपमें निश्चल है। यदि आत्मा परका ग्रहण करे तो बढ़ जाये, और यदि अपने ज्ञानादि गुणोंको छोड़ दे तो कम हो जाये;—ऐसा कभी नहीं होता। आत्माने अपने स्वभावको कभी छोड़ा नहीं है और न परको कभी ग्रहण किया है। समाधितंत्रमें श्री पूज्यपाद स्वामी भी कहते हैं कि:—

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुंचति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥ २० ॥

जो अग्राह्यको अर्थात् ग्रहण न होने योग्य—ऐसे पर पदार्थको और विकारको ग्रहण नहीं करता, और गृहीतको अर्थात् ग्रहण किए हुए ऐसे अपने शाश्वत स्वभावको छोड़ता नहीं है, सर्वको सर्वप्रकारसे जानता है, ऐसा स्वसंवेद्य तत्त्व मैं हूँ। आत्मा सदैव अपने एकरूप स्वरूपमें निश्चल है; उसकी दृष्टि और उसका अनुभव वह मोक्षमार्ग है।

अनेक लोग ऐसा कहते हैं कि "जैनधर्म तो त्याग–प्रधान धर्म है;" परन्तु यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा परको ग्रहण करे या छोड़े यह बात ही जैनधर्ममें नहीं है। जैनधर्म तो अनेकान्त मार्ग है और उसमें स्वभावकी अस्तिकी प्रधानता है, रागके त्यागकी प्रधानता नहीं; क्योंकि रागका त्याग तो "नास्ति" है, परन्तु किसकी "अस्ति"

के बल पर रागकी नास्ति करेगा ? स्वभावकी अस्तिके अवलम्बनसे पर्यायमें रागकी नास्ति हो जाती है, इसलिये जैनधर्ममें भूतार्थस्वभावकी अस्तिकी प्रधानता है ।

आत्माकी अस्तिमें परकी तो नास्ति है, इसलिये परका त्याग करूँ—यह बात तो वस्तुमें है ही नहीं । और रागका त्याग सत् वस्तुके अवलम्बनके बिना नहीं हो सकता, इसलिये ध्रुववस्तुका अवलम्बन ही जैनधर्म है । जैनमार्ग कहो, वीतराग मार्ग कहो, अनेकान्तमार्ग कहो, मोक्षमार्ग कहो अथवा अहिंसाधर्म कहो,—अपने आत्मस्वभावके अवलम्बनमें ही उन सबका समावेश हो जाता है ।

"त्यागोपादानशून्य" कहकर आत्माके त्रिकाल अस्तिरूपस्वभावकी स्थापना की है । परको ग्रहण करूँ या छोड़ूँ वह तो आत्मामें नहीं है, और अपनी पर्यायमें अशुद्धताको छोड़कर शुद्धता ग्रहण करना वह भी व्यवहार है । निश्चयसे तो वस्तु अपने स्वरूपमें ही त्रिकाल एकरूप है, उसमें कहीं ग्रहण या त्याग नहीं है, उसमें कुछ न्यूनाधिक नहीं होता । अज्ञानीके भी ऐसा ही स्वभाव है, परन्तु उसे अपने स्वभावका भान नहीं है । अपने ऐसे स्वभावका भान होनेसे पर्यायमें मोक्षमार्ग प्रगट होता है ।

वस्तु अखण्ड परिपूर्ण है, उस अखण्ड वस्तुकी दृष्टि करनेसे अवस्थामें निर्मलता होती है और अशुद्धता दूर होती है । धर्मी जीवकी दृष्टिके विषयमें अखण्ड निर्मल तत्व है, इसलिये वस्तुमें नयूनाधिकता नहीं है—ऐसा कहकर यहाँ वस्तुस्वभावकी दृष्टि करायी है । परन्तु अपनी अवस्थामें विकार है उसका बिलकुल स्वीकार ही न करे तो उसे दूर करनेका उद्यम कहाँसे करेगा ? और विकार रहित अपने शुद्ध स्वभावको न पहिचाने तो विकारको किसके अवलम्बनसे दूर करेगा ? इसलिये द्रव्य और पर्याय दोनोंको यथावत् जानना चाहिये । द्रव्य-पर्यायकी संधि किए बिना एकान्तको पकड़ ले तो कहीं धर्म नहीं हो सकता ।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्माको अपने स्वरूपका भान है । उस स्वरूपमें

निर्विकल्प एकाग्रता न रह सके उस समय वे शुभ विकल्पमें भी युक्त होते हैं, परन्तु वास्तवमें शुभराग कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। कोई अज्ञानी प्राणी भी व्यवहारमें तीव्र कषायभाव छोड़कर रागको कम करता हो, तो वहाँ वह मन्द राग कहीं धर्म नहीं है, तथापि उसे राग कम करनेको मना नहीं किया जा सकता। जब धर्मीकी दृष्टिमें पुण्यभावका भी आदर नहीं है तब फिर पापभावोंको बढ़ानेकी तो बात ही कहाँसे हो सकती है? परन्तु कोई पापभावोंको कम करके पुण्यभावोंमें धर्म मानकर संतोष मान ले, तो उससे कहते हैं कि भाई! यह धर्म नहीं है; धर्म तो अन्तरमें तेरे सहज स्वभावकी वस्तु है। परके ग्रहण–त्यागसे रहित अखण्ड एकरूप वस्तु तेरे अन्तरमें विराजमान है, उसकी दृष्टिके बिना तुझे सच्ची स्थिरता नहीं होगी, और स्थिरताके बिना चारित्र अथवा केवलज्ञान नहीं होगा; इसलिये प्रथम यथार्थ वस्तुकी महिमा समझकर उसमें दृष्टि कर।

आत्मामें अनन्त शक्तियाँ हैं वे सब एकसाथ ही वर्त रही हैं; उनमें यह शक्ति पहली और यह दूसरी—ऐसे नंबर नहीं लिखे हैं, परन्तु भाषामें तो क्रमसे ही आती हैं। और आत्माकी अनन्त शक्तियोंमें एक ही महिमा अधिक और दूसरीकी महिमा कम—ऐसे भेद नहीं हैं, सर्व शक्तियाँ अपनी अपनी पूर्ण महिमा धारण करती हैं। ज्ञानकी महिमा अधिक और दर्शनकी महिमा कम—ऐसा नहीं है। अभेद आत्मद्रव्यमें सर्व शक्तियाँ एक साथ ही प्रवर्तमान हैं, उनमें कालभेद या क्षेत्रभेद नहीं है।

आत्मामें त्यागोपादानशून्यत्व स्वभाव है इसलिये आत्माके द्रव्य–गुण–पर्याय तीनों परके ग्रहण–त्यागसे रहित हैं। आत्माकी चारित्रदशा–मुनिदशा प्रगट हो वहाँ वस्त्रोंका संयोग देखा ही नहीं–यह बराबर है, तथापि वस्त्रादिको छोड़े या निर्दोष आहारको ग्रहण करे—ऐसा चारित्रका स्वभाव नहीं है, चारित्रका स्वभाव तो आत्मामें लीन होनेका है। उसी प्रकार ज्ञान गुणमें जाननेका स्वभाव है परन्तु परज्ञेयोंको ग्रहण करे या

छोड़े ऐसा उसका स्वभाव नहीं है । इस प्रकार आत्माके सर्व गुण–पर्यायें परके ग्रहण–त्यागसे रहित हैं; ऐसा स्वरूप समझे उसका परिणमन परसे विमुख होकर स्वद्रव्योन्मुख हुए बिना नहीं रहता । मुझमें परका ग्रहण—त्याग तो है ही नहीं, मेरे श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र–सुख इत्यादि किन्हीं भी गुणोंका परमेंसे ग्रहण नहीं होता इसलिये मुझे परसन्मुख देखना नहीं रहता, और मुझमें हीनाधिक पर्यायके समय भी मेरा द्रव्यतो अपने एकरूप स्वरूपमें ही निश्चलरूपसे स्थित है ।—इस प्रकार द्रव्यस्वभावकी दृष्टिमें पर्यायकी मुख्यता नहीं रहती अर्थात् द्रव्यके आश्रयसे मोक्षमार्गरूपपरिणमन हो जाता है ।

आत्माके अपने स्वरूपको भूलकर अनादिसे चार गतियोंमें परिभ्रमण किया, परन्तु वहाँ उसने अपने द्रव्यस्वभावको कभी छोड़ा नहीं है और जड़ शरीरादिको वास्तवमें कभी ग्रहण नहीं किया है; जड़से तो वह सदैव पृथक् ही रहा है । आत्माके द्रव्यमें, गुणमें अथवा पर्यायमें परद्रव्यका ग्रहण है ही नहीं । धर्मात्मा जीवकी दृष्टिमें मात्र अपने शुद्ध चिदानन्द आत्मा ही है । अज्ञानी जीव भ्रांतिसे विकारको ग्रहण करता है, परन्तु परद्रव्यका ग्रहण या त्याग तो ज्ञानी या अज्ञानी किसीके नहीं है । 'अरिहंत' अर्थात् कर्मरूपी शत्रुका हनन करनेवाले—ऐसा उपचारसे कहा जाता है; परन्तु वास्तवमें अरिहंत भगवानके आत्मामें जड़कर्मका ग्रहण या त्याग नहीं है । जड़–चेतनकी भिन्नताको भी न समझे और ऐसा माने कि आत्मा जड़का ग्रहण–त्याग करता है, तो उसे धर्म कहाँसे होगा ? ऐसा जीव अपनी मिथ्याकल्पनासे अपनेको धर्मी, व्रतधारी या मुनि भले मानता हो, परन्तु धर्म किसे कहते हैं इसकी भी उसे खबर नहीं है ।

आत्माका अपना जो असली स्वरूप है उसे आत्मा कभी छोड़ता नहीं है, और पर द्रव्योंका आत्मामें अभाव है इसलिये उन्हें वह कभी ग्रहण नहीं करता है । अज्ञानी मानते हैं कि बाह्य त्याग वह धर्म है; परन्तु भगवान कहते हैं कि अरे भाई ! बाह्य वस्तुका त्याग

आत्मा कभी करता ही नहीं; आत्मामें बाह्य वस्तु हो तब तो वह उसे छोड़े न ? "मैंने बाह्य वस्तुका त्याग किया"—ऐसा जिसका अभिप्राय है उसने बाह्य वस्तुको आत्मामें प्रविष्ट हुआ माना है, उसकी उस मान्यतामें स्व–परकी एकत्वबुद्धिका मिथ्यात्व है !

भगवान आत्मा तो अखण्ड विज्ञानघन है, उसमें बीचमें ऐसी पोल नहीं है कि परवस्तु उसमें प्रविष्ट हो जाये ।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ऐसे चार प्रकारके पुरुषार्थ कहे हैं, वे चारों प्रकार जीवकी पर्यायमें ही हैं; कहीं पर द्रव्यमें आत्माका पुरुषार्थ नहीं है । अर्थ अर्थात् लक्ष्मी आदि प्राप्त कर लूं ऐसी इच्छारूप विपरीत पुरुषार्थ करता है और वह जीवकी पर्यायमें उस प्रकारका पापभाव होता है उसे अर्थपुरुषार्थ कहा है; परन्तु कहीं जड़ लक्ष्मीका ग्रहण आत्मामें नहीं है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ऐसे चार प्रकारके पुरुषार्थ कहे, उनमें धर्म पुरुषार्थ वह पुण्यभाव है, अर्थपुरुषार्थ अर्थात् धनप्राप्तिका पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थ अर्थात् विषय—वासनाका भाव–वे दोनों पापभाव हैं; चौथा मोक्ष पुरुषार्थ वह आत्मस्वभावके श्रद्धा–ज्ञान–चारित्ररूप पवित्रभाव है ।—इनमें पहले तीन प्रकारका पुरुषार्थ जीव ने पूर्वकालमें अनन्तबार किया है, परन्तु मोक्षका पुरुषार्थ पहले कभी क्षणमात्र भी नहीं किया है, इसलिये वह अपूर्व है । पूर्व अनन्तकालमें जीवने अपनी पर्यायमें पुण्य–पापका पुरुषार्थ किया, परन्तु परद्रव्यका ग्रहण–त्याग तो किसी जीवने कभी किया ही नहीं है ।–ऐसी ही वस्तुस्थितिकी मर्यादा है ।

(छह बहिनोंके ब्रह्मचर्य–ग्रहण का दिन)

[वीर सं. २४७५, कार्तिक शुक्ला १३, रविवार]

यह आत्माके स्वभावकी बात चल रही है । भगवान आत्मामें त्रिकाल अनन्त शक्तियाँ हैं; जितनी शक्ति सिद्ध भगवानमें है उतनी ही शक्ति प्रत्येक आत्मामें है; प्रत्येक आत्मा अपनी प्रभुताका पिण्ड है ।

आत्मामें त्यागोपादानशून्यत्व नामकी शक्ति है, इसलिये जो कभी न्यूनाधिक नहीं होती ऐसे अपने निश्चित् स्वरूपमें आत्मा विद्यमान है। पहले अनादिकाल निगोद दशामें रहा, इसलिये कहीं द्रव्य कम नहीं हो गया है और सिद्धदशा प्रगट होनेसे द्रव्य बढ़ नहीं जाता; उसीप्रकार जब अल्पदशा प्रगट हो उस समय द्रव्यमें बहुत शक्ति शेष रही और परिपूर्ण सिद्धदशा प्रगट होनेसे द्रव्यमें कम शक्ति रही—ऐसा भी नहीं है। द्रव्य सामर्थ्य सदैव ज्योंका त्यों है, वह कभी न्यूनाधिक नहीं होता। ऐसे द्रव्यको लक्षमें लेकर उसमें पर्यायको एकाग्र करनेसे आनंदका अनुभव होता है।

आत्मा चैतन्यमूर्ति है और शरीर–मन–वाणी तो मृत कलेवरमें हैं, उस शरीर मन वाणीको आत्माने कभी ग्रहण नहीं किया है और न उन्हें आत्मा कभी छोड़ता है। और पर्यायमें जो पुण्य पापादि विकार होते हैं, वे भी त्रिकाली स्वभावमें नहीं हैं; इसलिये उस विकारको छोड़ूं और निर्मल दशाको ग्रहण करूं—ऐसा भी त्रिकाली स्वभावकी दृष्टिमें नहीं है। पर्यायमें वैसा होता अवश्य है, किन्तु त्रिकाली द्रव्यकी दृष्टिसे देखें तो आत्मा न्यूनाधिक नहीं होता। ऐसे आत्माको दृष्टिमें लेना वह धर्म है। दृष्टि स्वयं पर्याय है, परन्तु वह द्रव्यमें अन्तर्मुख होकर अभेद होती है।

परके ग्रहण–त्यागकी बात आत्माके द्रव्य–गुणमें तो नहीं है, और एक समय पर्यंतकी पर्यायमें भी परका ग्रहण या त्याग नहीं है। एक समयपर्यंतकी अवस्थामें पुण्य–पाप है परन्तु त्रिकाली स्वभावमें तो उनका भी ग्रहण–त्याग नहीं है।—ऐसे एकरूप स्वभावकी दृष्टि वह द्रव्यदृष्टि है और वह द्रव्यदृष्टि सो सम्यग्दृष्टि है।

केवलज्ञान पर्याय त्रिकाली ज्ञान गुणमेंसे प्रगट होती है; तथापि गुण कम होकर वह पर्याय नहीं होती, गुणका सामर्थ्य तो ज्योंका त्यों परिपूर्ण रहकर पर्याय होती है। जिस प्रकार थैलीमें सौ रुपये हों; उसमेंसे एक रुपया निकाल लेने पर एक रुपया कम हो जाता है,

वैसा यहाँ गुणमें नहीं है; पर्याय प्रगट होनेसे गुणका सामर्थ्य कम नहीं हो जाता ।—ऐसा ही अचिंत्य स्वभाव है । केवलज्ञान और सिद्धदशा आये कहाँ से?...तो कहते हैं कि द्रव्यमेंसे; द्रव्यमें कुछ कम हुआ ?...तो कहते हैं कि नहीं । देखो, यह वस्तुस्वभाव ! संसारदशा हो, साधकदशा हो या सिद्धदशा हो—परन्तु द्रव्य–गुणमें कुछ न्यूनाधिकता नहीं होती । अल्प–अधिकदशा होती है वह पर्यायदृष्टिका विषय है; यहाँ द्रव्य–स्वभावकी प्रधानता है, क्योंकि द्रव्यकी दृष्टिपूर्वक ही पर्यायका यथार्थ ज्ञान होता है ।

बाह्यका ग्रहण–त्याग तो आत्मामें नहीं है; अंतरमें निर्मल दशाका ग्रहण और विकारका त्याग वह पर्याय अपेक्षासे है; किंतु त्रिकाली द्रव्यकी अपेक्षासे तो वह भी नहीं है । आत्मा अपनी पर्यायमें पुण्य पाप करे अथवा वीतरागता करे, तो भी ऐसी शक्ति नहीं है कि परका ग्रहण या त्याग करे । राग करके दूसरेको सहायता दे सके या द्वेष करके दूसरेको हानि पहुँचा सके—ऐसी उसकी शक्ति नहीं है । आत्मा अपनेमें सच्चे श्रद्धा ज्ञान प्रगट करे, किन्तु उससे कहीं वह सच्चे देव–गुरु–शास्त्र निकट लाये या कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्रको दूर करे—ऐसी शक्ति उसमें नहीं आ-जाती। आत्माके द्रव्य–गुण या पर्यायमें परको ग्रहण करने या छोड़नेकी शक्ति नहीं है ।परकी बात तो दूर रही, किन्तु अपनी पर्यायमें विकारका त्याग या अविकार भावका ग्रहण, वह भी एक समय पर्यन्तकी पर्यायका—अंशका ही स्वभाव है, अंशी ऐसे त्रिकाली द्रव्यके स्वभावमें कुछ नया ग्रहण–त्याग नहीं है—ऐसा आत्माका त्यागोपादानशून्य स्वभाव है । आत्माका ऐसा स्वभाव पूर्व अनन्त कालमें जीव ने एक क्षण भी नहीं जाना है, यदि उसे जानले तो अल्पकालमें मुक्ति हुए बिना न रहे । जिसको इस संसार परिभ्रमणसे थकान मालूम हुई हो और मुक्तिकी आवश्यकता हो उसे मुक्ति कहाँ ढूंढ़ना चाहिए ?—आत्माकी मुक्ति परमें ढूंढे तब तो नहीं मिल सकती; पुण्य–पापमें भी नहीं मिल सकती; वर्तमान अपूर्ण पर्यायमें नहीं मिल सकती; विकारको छोड़ूँ और निर्मलता प्रगट करूँ—ऐसे लक्षसे भी मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती;

किन्तु जिसमें विकारका भी ग्रहण त्याग नहीं है ऐसे ध्रुव–एकरूप द्रव्यस्वभावमें ढूंढ़े तो उसमेंसे मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। ध्रुवस्वभाव सन्मुख होकर उसका अवलम्बन लेनेसे पर्यायमें मुक्ति हो जाती है।

परका ग्रहण–त्याग तो त्रिकाली द्रव्यमें भी नहीं है और अवस्थामें भी नहीं है; अब अपनेमें देखना रहा। अपनी पर्यायमें भी विकारको दूर करूँ—इस प्रकार पर्याय सन्मुख लक्ष करनेसे विकार दूर नहीं होता, परन्तु विकल्पकी उत्पत्ति होती है; फिर भी जो पर्यायके लक्षसे विकारका छूटना मानता है उसके अभिप्रायमें मिथ्यात्व है। पर्यायके लक्षसे विकार नहीं छूटता, परन्तु द्रव्यके लक्षसे एकाग्र होनेसे विकार दूर होकर निर्विकारी दशा प्रगट हो जाती है; इसलिये यहाँ एक समयकी अवस्था गौण करके—उसपर भार न देकर त्रिकाली द्रव्यकी मुख्यता करके उसीके अवलम्बनका उपदेश है, यही मोक्षमार्गकी रीति है। इसके अतिरिक्त अवस्थाकी मुख्यता करके उसी पर दृष्टि रखनेसे धर्म नहीं होता। द्रव्यस्वभाव सन्मुख दृष्टिके बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता, और मिथ्यात्व दूर नहीं होता। सवेरे प्रवचनसारकी ८०वीं गाथामें ऐसा कहा था कि जो अरिहंतके द्रव्य–गुण–पर्यायको जानता है वह जीव अपने आत्माको जानता है और उसका मोह क्षय हो जाता है;—उसमें भी द्रव्यदृष्टिकी यही बात है। वहाँ अरिहंतके द्रव्य–गुण–पर्याय बतलाकर आत्माका त्रिकाली स्वभाव बतलाया है। विकार छोड़े और निर्विकार रूपसे परिणमित हो ऐसे दो भेद त्रिकाली स्वभावमें नहीं हैं; पर्यायमें वे भेद हैं परन्तु साधककी दृष्टिमें वे गौण हैं, क्योंकि पर्यायके विकारका त्याग पर्यायके लक्षसे नहीं होता परन्तु द्रव्यके लक्षसे ही विकारका त्याग होता है, इसलिये मोक्षमार्गमें सदैव निश्चयकी ही मुख्यता है और कभी कभी पर्यायकी मुख्यता भी साधककी दृष्टिमें हो जाती है—ऐसा नहीं है। त्रिकालके साधक जीवोंकी दृष्टिमें द्रव्यकी ही मुख्यता है साधककी दृष्टिमें से द्रव्यकी मुख्यता एक समय भी नहीं छूटती। विकारका त्याग और निर्विकारका ग्रहण पर्यायमें होता है, परन्तु वह कब होता है?—जब त्रिकाली द्रव्य पर दृष्टि करे तब

वैसा होता है; इसलिये आत्माके स्वभावमें विकारका भी ग्रहण–त्याग नहीं है, इसलिये उसमें कुछ कम–अधिक नहीं होता—ऐसा कहकर यहाँ एकरूप त्रिकाली द्रव्यकी दृष्टि करायी है।

अज्ञानी जीवोंको ऐसा लगता है कि हम यह सब लेते और छोड़ते हैं; परन्तु अरे भाई ! तू तो आत्मा है, पर द्रव्य तुझसे भिन्न हैं; तेरा स्वभाव उन परद्रव्योंके ग्रहण–त्यागसे रहित है; पर द्रव्यको ग्रहण करे या उसका त्याग करे ऐसी शक्ति आत्मामें है ही नहीं। क्या आत्मा है इसलिए जगतके पदार्थ हैं ?—ऐसा नहीं है। और आत्माकी पर्याय है इसलिये जड़की पर्याय है ऐसा भी नहीं है जगतका प्रत्येक तत्त्व अपने–अपनेसे स्वतंत्र है, परके ग्रहण त्यागसे रहित और पर्यायकी हीनाधिकताके भेदोंको गौण करके आत्माके एकरूप निश्चल स्वरूपको देखना वह इन शक्तियोंके वर्णनका सार है।

[—इस प्रकार त्यागोत्पादानशून्यत्व नामकी १६वीं शक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

[१७]

अगुरुलघुत्वशक्ति

अगुरुलघुत्वशक्तिके कारण स्वरूपमें प्रतिष्ठित ऐसा आत्मा स्वयम् शोभायमान है। दूसरेके कारण उसकी शोभा नहीं। आत्मा परमात्मा बने इसके जैसी शोभा कौनसी ? व जिसमेंसे अनंतकालतक परमात्मदशा प्रगट होती रहे—ऐसे आत्मस्वभावकी शोभाकी तो क्या बात ?

अब, आत्माकी अनंतशक्तियोंमें 'अगुरुलघुत्व' नामकी शक्ति है—उसका वर्णन करते हैं। षट्स्थान पतित वृद्धि–हानिरूपसे परिणमित और स्वरूपप्रतिष्ठितपनेके कारणरूप जो विशिष्ट गुण है उस स्वरूप अगुरुलघुत्वशक्ति है। आत्माकी पर्यायमें छह प्रकारकी वृद्धि–हानि होने पर भी वह अपने स्वरूपमें ज्योंका त्यों स्थित रहता है—ऐसा उसका अगुरुलघुत्वस्वभाव है। यह सूक्ष्म स्वभाव केवलीगम्य है।

१–अनंतगुणवृद्धि	१–अनंतभागहानि
२–असंख्यगुणवृद्धि	२–असंख्यभागहानि
३–संख्यातगुणवृद्धि	३–संख्यातभागहानि
४–संख्यातभागवृद्धि	४–संख्यातगुणहानि
५–असंख्यभागवृद्धि	५–असंख्यातगुणहानि
६–अनंतभागवृद्धि	६–अनंतगुणहानि

—उपरोक्तानुसार छह प्रकारसे वृद्धि तथा छह प्रकारसे हानि होती है, उसरूप अगुरुलघु गुणका कोई सूक्ष्मपरिणमन होता है वह केवलीगम्य है।

और इस अगुरुलघुत्वशक्तिके कारण द्रव्य अपने स्वरूपमें ही प्रतिष्ठित रहती है; वस्तु अपने स्वरूपमें स्थिर रहती है। अनंतगुणोंका भंडार आत्मा कदापि अपने स्वरूपको छोड़कर पररूप नहीं होता; उसके अनंतगुण बिखरकर छिन्नभिन्न नहीं हो जाते। यह अगुरुलघु स्वभाव द्रव्य–गुण–पर्याय तीनोंमें व्याप्त है, इसलिये द्रव्य अपने स्वभावको छोड़कर अन्यथा नहीं हो जाता; द्रव्यका कोई भी गुण अपने स्वरूपको छोड़कर अन्य गुणरूप नहीं हो जाता; और द्रव्यकी कोई भी पर्याय दूसरी पर्यायरूप नहीं हो जाती,—सब अपने अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं। द्रव्य अनादि–अनंत अपने स्वरूपमें स्थित है, उसीसे उसकी शोभा है। अपने द्रव्यकी त्रैकालिक शोभाको भूलकर परसे अपनी शोभा मानकर जीव संसार-परिभ्रमण कर रहा है। उसे यहाँ आचार्यदेव स्वभावकी शोभा बतलाते हैं—अरे जीव! सुन्दर-शरीरादि जड़में तो तेरी शोभा नहीं है, और जीव संसारमें भटका—ऐसी बंधनकी बात करनेमें भी तेरी शोभा नहीं है, तेरा आत्मा अपने एकत्व शुद्धस्वरूपमें प्रतिष्ठित है, उसीमें तेरी त्रिकाली शोभा है; और उसकी पहिचानसे पर्यायमें शोभा प्रगट होती है। पर्याय तो नवीन प्रगट होती है, यहाँ द्रव्यकी बात है। अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठासे आत्मा त्रिकाल शोभायमान हो रहा है—ऐसा उसका अगुरुलघुत्व स्वभाव है। लोग बाह्य प्रतिष्ठा

और शोभासे बड़प्पन मानते हैं, यहाँ आचार्यभगवान आत्माकी स्वरूप-प्रतिष्ठा बतलाकर उसकी महिमा समझाते हैं; यह समझनेसे पर्याय भी द्रव्योन्मुख होकर निर्मलरूपसे शोभित हो उठती है। इसके अतिरिक्त पैसेसे, शरीरसे, वस्त्रसे, या गहनोंसे—अरे! पुण्यसे भी आत्माकी शोभा मानना वह सच्ची शोभा नहीं है किन्तु कलंक है। स्वरूप-प्रतिष्ठित आत्मा स्वयं शोभायमान है, किसी दूसरेसे उसकी शोभा नहीं है। आत्मा परमात्मा हो—इससे बढ़कर दूसरी कौन-सी शोभा होगी! और जिसमेंसे अनंतकाल तक परमात्मदशा प्रगट होती रहे—उस द्रव्यसामर्थ्यकी शोभाकी तो क्या बात की जाये!! महान शोभा त्रिकाली द्रव्यमें है, उसीके आधारसे पर्यायमें शोभा प्रगट हो जाती है। सिद्धदशा—वह पर्यायकी शोभा है, वह एक समय पर्यंतकी है और द्रव्यकी शोभा त्रिकाल है। एक समयकी पर्यायमें शोभा कब प्रगट होती है...? त्रिकाल शोभायमान द्रव्यके सन्मुख दृष्टि करे तब! जो ऐसा समझे उसकी उन्मुखता द्रव्यस्वभावकी ओर हो जाती है, वह परसे अपनी शोभा नहीं मानता, इसलिये उसकी दृष्टिमें परके प्रति वीतराग-भाव हो जाता है—इसप्रकार इसमें धर्म आता है।

आत्माका ज्ञानपरिणमन घटते–घटते उस ज्ञानका सर्वथा अभाव होकर आत्मा जड़ हो जाये—ऐसा कभी नहीं हो सकता, और ज्ञानपरिणमन बढ़कर केवलज्ञान होनेके पश्चात् ज्ञान बढ़ता ही रहे—ऐसा भी नहीं हो सकता। और आत्मामें जो अनंतगुण हैं उनमेंसे एक भी गुण कभी न्यूनाधिक नहीं होता। पर्यायमें न्यूनाधिकता होने पर भी त्रिकाली द्रव्य–गुण न्यूनाधिक नहीं होते। हीन अवस्थाके समय आत्माके कुछ गुण कम हो गये—ऐसा नहीं है और पूर्ण अवस्था प्रगट होनेसे आत्माके गुण बढ़ गये ऐसा भी नहीं है। एकरूप स्वरूपमें प्रतिष्ठासे भगवान आत्मा त्रिकाली महिमावन्त रूपसे सुशोभित हो रहा है। ऐसे शोभायमान द्रव्यकी दृष्टि करनेसे पर्यायमें वीतरागी शोभा प्रगट हो जाती है; परन्तु उस पर्याय–भेद पर दृष्टि नहीं है क्योंकि वह पर्याय स्वयं अन्तरोन्मुख होकर त्रिकाली द्रव्यकी शोभामें समा गई है।

आत्माकी अगुरुलघुशक्ति वस्तुको त्रिकाली स्वरूपमें स्थिर रहनेका कारण है। पूर्वकालमें निगोद अवस्था थी उससमय, साधक अवस्थाके समय या सिद्धदशाके समय—सदैव आत्मा अपने स्वरूपमें ही स्थित है। आत्माके अनंतगुण हैं वे सब अगुरुलघु स्वभाववाले हैं। पर्यायमें हानिवृद्धि भले हो, परन्तु अनंतगुण अपने स्वरूपमें ज्योंके त्यों स्थित हैं।—ऐसी स्वरूपप्रतिष्ठा अनादि अनंत है। जिसप्रकार जिनबिम्ब प्रतिष्ठा नवीन भी होती है और अनादिकालीन जिनबिम्ब भी जगतमें है, उसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्य जिनबिम्ब अनादिसे अपने स्वरूपमें ही प्रतिष्ठित है और उसके अवलम्बनसे पर्यायमें नवीन प्रतिष्ठा (निर्मलतारूपी शोभा) प्रगट होती है। इसप्रकार आत्माका अगुरुलघु स्वभाव सदैव स्वरूपमें प्रतिष्ठित रहनेका है। यह अगुरुलघु-स्वभाव सम्पूर्ण द्रव्यमें उसके अनंत गुणोंमें और समस्त पर्यायोंमें विद्यमान है। प्रत्येक पर्याय भी अपने-अपने स्वभावसे अगुरुलघु है।

त्रिकाल ज्योंका त्यों ध्रुव, स्वरूपप्रतिष्ठाका कारण, सर्व गुणोंको समतोल रखनेका कारण, सर्व गुण-पर्यायोंके आधारभूत ऐसा एक स्वभाव अनादि-अनंत है, वह समस्त गुण-पर्यायोंमें अभेद है; उसकी शोभाकी अपार महिमा है। अहो ! ऐसी महिमासे जिसे सम्यग्दर्शन हुआ, सम्यग्ज्ञान हुआ, वह जीव अकेली पर्यायकी शोभामें ही सब-कुछ अर्पण नहीं कर देता, परन्तु द्रव्य-गुणको भी साथ ही साथ रखता है। अपूर्व सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुए, परन्तु वे कहाँसे हुए ? त्रिकाली द्रव्यमें सामर्थ्य था, उसमेंसे हुए हैं। इसलिये उस त्रिकाली सामर्थ्यका अपार माहात्म्य है। इसप्रकार त्रिकाली द्रव्य पर दृष्टि रखकर धर्मी जीव पर्यायका समतोलपना बना रखता है। अज्ञानी जीव अकेली पर्यायकी महिमामें अटक जाता है, द्रव्यकी ध्रुव महिमाकी उसे खबर नहीं है। श्री आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! अपने त्रिकाली स्वरूपसे ही तेरी शोभा है—ऐसा हमने बतलाया है, उसे समझकर तू अकेली पर्यायके बहुमानमें न रखकर त्रिकाली द्रव्यका बहुमान कर, ऐसा करनेसे द्रव्यदृष्टिमें सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें सहज ही प्रगट हो जायेंगी

और तेरा आत्मा पर्यायसे भी सुशोभित हो उठेगा ।

प्रत्येक आत्मा अनंतशक्तिसंपन्न चैतन्य परमेश्वर है। पैसा-मकान-स्त्री परद्रव्य अथवा पुण्य आत्माकी सच्ची सम्पत्ति नहीं है; चक्रवर्तिका वैभव या इन्द्रपदकी विभूतिके द्वारा आत्माकी महत्ता नहीं है, अपनी अनंत शक्तिरूप शाश्वत सम्पत्ति—जो कि आत्मासे कभी पृथक् न हो—वही आत्माकी सच्ची सम्पत्ति है। वही आत्माका सच्चा वैभव है और उसीसे आत्माकी महत्ता है। ऐसे स्वभावके बहुमानसे पर्यायमें ज्ञानादि प्रगट हों उनका अभिमान नहीं होता; जिसे चैतन्यकी महत्ताका भान नहीं है और जो तुच्छबुद्धि है उसीको अल्प पर्यायका और परका अभिमान होता है। पच्चीस पचास वर्ष तक शरीरका संयोग रहे, उसीको अज्ञानी अपनी सारी जिन्दगी मानते हैं; परन्तु आत्मा तो अपनी अनंतशक्तिसे अनादि-अनंत जीवन जीता है, यही उसकी सारी जिन्दगी है। और बाह्यमें लक्ष्मी आदिका संयोग आये वहाँ अपनी सम्पत्ति मानकर अज्ञानी अभिमान करता है, किन्तु वह संयोग तो अल्पकाल रहकर छूट जानेवाला है, वह आत्माके साथ स्थायीरूपसे रहनेवाला नहीं है इसलिये वह आत्माकी सम्पत्ति नहीं है, अनंतगुणोंका निधान भीतर त्रिकाल भरा हुआ है; उस शाश्वत सम्पदाको अज्ञानी नहीं पहिचानता। यदि उस निधानको पहिचाने तो परका अभिमान छूट जाये और अनादिकालीन हीनताका अन्त होकर सिद्धपदके निधान प्रगट हों। इसलिये त्रिकाली शक्तिकी शोभाकी महिमा करना ही सम्यग्दर्शन और सिद्धपदका उपाय है।

आत्माके अनंत गुणोंमें एक ज्ञानगुण है, वह भी त्रिकाल है, उसकी एक समयकी पूर्ण निर्मल केवलज्ञान अवस्थामें तीनकाल-तीनलोकके समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञात होते हैं—ऐसा उसका अनंत सामर्थ्य है। अहो ! अचिंत्य सामर्थ्यवान और विकल्प रहित ऐसा पूर्ण शुद्धस्वभावरूप जो केवलज्ञान है उसकी महिमा कितनी ? और जिस द्रव्यके आश्रयसे वह केवलज्ञान प्रगट हुआ उसके अपार सामर्थ्यकी

महिमाकी तो क्या बात !! केवलज्ञान होनेके पश्चात् ज्योंकी त्यों पर्याय प्रति समय होती रहती है। केवलज्ञानकी एक पर्यायकी अपेक्षा दूसरी पर्यायमें जाननेका सामर्थ्य न्यूनाधिक नहीं होता; सामर्थ्य ज्योंका त्यों रहता है तथापि उसमें भी अगुरुलघुगुणका सूक्ष्म परिणमन तो प्रति समय होता ही रहता है—ऐसा ही कोई अचिंत्य स्वभाव है, वह केवलीगम्य है। देखो, यह केवलज्ञानकी गंभीरता ! छद्मस्थके ज्ञानमें ही यदि सब कुछ ज्ञात हो जाये तब फिर केवलज्ञानका माहात्म्य ही कहाँ रहा ? केवलज्ञानमें जो ज्ञात होता है वह सब छद्मस्थ नहीं जान सकता; परन्तु अपने आत्महितके लिये जो प्रयोजनभूत हो, उसे तो सम्यग्ज्ञानी छद्मस्थ भी बराबर निःसन्देहरूपसे जान सकता है। आत्माके अगुरुलघु स्वभावका कोई ऐसा अचिंत्य सूक्ष्म परिणमन है वह केवलीगम्य है।

[—यहाँ सत्रहवीं अगुरुलघुत्व शक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

[१८]

उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति

वस्तुके स्वभावका यह वर्णन है। वस्तुके स्वभावका जो निर्णय करे उसको अपनेमें स्वभावके आश्रयसे निर्मल पर्याय शुरू हो जाती है। किसी भी शक्तिसे आत्मस्वभावका निर्णय करते समय ज्ञान अंतर्मुख होकर परिणमता है... अर्थात् उस ज्ञानमें आत्माकी प्रसिद्धि होती है...यही उसका फल है।

आत्मामें अनंत धर्म होने पर भी उसे "ज्ञानस्वरूप" कहा है, क्योंकि ज्ञान उसका लक्षण है।—कौन-सा ज्ञान ?—कहते हैं कि जिस ज्ञानने अन्तर्मुख होकर लक्ष्यको लक्षमें लिया, वह ज्ञान लक्षण हुआ और उस लक्षणने अनेकान्त स्वरूप भगवानआत्माको प्रसिद्ध किया। ज्ञानने अन्तर्मुख होकर आत्माको पकड़ लिया, इसलिये उसके साथ श्रद्धा-आनन्द-सुख-जीवन-प्रभुता-स्वच्छता-वीर्य-कर्तृत्वादि अनंत शक्तियाँ भी निर्मलतारूप परिणमित हो रही हैं; किन्तु उनमें ज्ञान ही स्व-परप्रकाशकरूपसे प्रसिद्ध होनेके कारण ज्ञानलक्षण द्वारा आत्माकी पहिचान कराई है। और इसलिये अनंतधर्मस्वरूप

आत्माको ज्ञानमात्र कहनेसे एकान्त नहीं हो जाता, किन्तु ज्ञानके साथ दूसरी अनंत शक्तियाँ उल्लसित होती हैं इसलिये अनेकान्त है। ज्ञान-परिणमनके साथ निर्मलरूपसे उल्लसित होनेवाली शक्तियोंका यह वर्णन चल रहा है। उनमेंसे सत्रह शक्तियोंका विवेचन हो गया है; अब अठारहवीं उत्पाद-व्यय-ध्रुवशक्तिका विवेचन होता है। यह शक्ति मुख्यरूपसे समझने योग्य है।

क्रम प्रवृत्तिरूप और अक्रमप्रवृत्तिरूप वर्तन जिसका लक्षण है ऐसी उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व नामकी शक्ति है; यह शक्ति भी आत्मामें त्रिकाल है।

देखो, अभी हाल क्रमबद्धपर्यायकी बात स्पष्टरूपसे प्रगट होने पर कोई ऐसा कहे कि—"पर्याय क्रमबद्ध ही हो ऐसी कोई शक्ति आत्मामें नहीं है।" किन्तु यहाँ तो स्पष्ट कहते हैं कि सारा द्रव्य ही क्रमबद्धपर्यायरूपसे परिणमित होनेके स्वभाववाला है। द्रव्यकी उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व-शक्ति ही ऐसी है कि क्रमबद्ध पर्यायरूपसे ही परिणमित होती है और गुण अक्रम एकसाथ वर्तते हैं। पर्यायको क्रमबद्ध न माने तो उसने उत्पाद-व्यय-ध्रुवशक्तिको ही नहीं माना है। और यह शक्ति अनंतगुणोंमें व्यापक होनेसे अनंतगुण भी अपनी-अपनी क्रमबद्धपर्यायरूपसे ही परिणमित होते हैं। अज्ञानी तो कहते हैं कि—"आत्मामें क्रमबद्धपर्याय हो ऐसी एक भी शक्ति नहीं है;" जबकि यहाँ कहते हैं कि द्रव्यके समस्त गुणोंका स्वभाव क्रमबद्धपर्यायरूपसे ही परिणमन करनेका है।

पर्यायें उत्पाद-व्ययरूप हैं और गुण ध्रुवरूप हैं; उत्पाद-व्यय-रूप पर्यायें क्रमवर्ती हैं और ध्रुवरूप गुण अक्रमवर्ती हैं। सभी गुण एकसाथ अक्रमसे वर्तते हैं इसलिये उन्हें अक्रमवर्ती कहा है; किन्तु समस्त गुणोंकी पर्यायें तो क्रमबद्ध ही हैं। क्रमबद्धपर्यायका जो सिद्धांत है उसके समक्ष अज्ञानी ऐसी दलील करते हैं कि—"पर्यायें क्रमबद्ध ही हों ऐसा कोई गुण आत्मामें नहीं है।" किन्तु यहाँ उसका स्पष्टीकरण

आ जाता है कि द्रव्यके समस्त गुणोंमें ऐसा स्वभाव है कि गुणरूपसे ध्रुव रहकर क्रमबद्धपर्यायोंरूपसे परिणमित होते हैं। इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्तिसे सारा द्रव्य क्रम-अक्रम स्वभाववाला है।

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकारके प्रारम्भमें गाथा ३०८ से ३११ में आचार्यदेवने यह बात स्पष्ट की है कि जीव और अजीव समस्त द्रव्य अपने क्रमबद्धपर्याय परिणामरूपसे परिणमित होते हैं। अज्ञानी कहते हैं कि क्रमबद्ध परिणमित होनेका कोई गुण नहीं है; आचार्यदेव कहते हैं कि सारा द्रव्य ही ऐसा है। द्रव्यके प्रत्येक गुणमें भी ध्रुवरूप रहने और क्रमरूप परिणमित होनेका स्वभाव है। इस एक उत्पाद-व्यय-ध्रुव शक्तिको बराबर जान ले तो,—पर्याय उल्टी-सीधी या निमित्तके कारण होती है—ऐसी विपरीत दृष्टि न रहे।

पुनश्च, ध्रुव उपादान और क्षणिक उपादानकी बात भी इसमें आ जाती है। त्रिकाली स्वभाव वह ध्रुवउपादान है और एक-एक समयकी पर्यायकी योग्यता वह क्षणिक उपादान है। प्रत्येक समयकी क्रमबद्धपर्याय स्वयं अपना क्षणिक उपादान है, इसलिये निमित्तके कारण पर्याय हो यह बात नहीं रहती। आत्माके गुणका ध्रुवत्व होनेसे वह ध्रुवउपादान है और वह अक्रमवर्ती है तथा पर्यायें उत्पाद-व्ययरूप होनेसे क्षणिक उपादान है और क्रमवर्ती है। इसप्रकार आत्माके उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वस्वभावमें ध्रुव उपादान और क्षणिक उपादान दोनों आ जाते हैं।

ध्रुवउपादान अक्रमवर्ती है अर्थात् समस्त गुण ध्रुवरूपसे एकसाथ सहवर्ती हैं; पहले ज्ञान, फिर दर्शन, फिर सुख—ऐसा क्रम उनमें नहीं है। और क्षणिक उपादान क्रमवर्ती है इसलिये पर्यायें एकके बाद एक होती हैं। सिद्धपर्यायके समय संसारपर्याय नहीं होती; संसार पर्यायके समय सिद्धपर्याय नहीं होती; मतिज्ञानके समय केवलज्ञान नहीं होता, केवलज्ञानके समय मतिज्ञान नहीं होता;—इसप्रकार पर्यायें क्रमवर्ती हैं, किन्तु गुण तो सब एकसाथ ही वर्तते हैं। संसारदशाके समय या सिद्धदशाके समय उतनेके उतने

गुण सदैव एकसाथ वर्तते हैं। इसप्रकार क्रम और अक्रमवर्तीरूप वस्तु स्वभाव है। गुणरूपसे सदैव अचल रहनेकी और पर्यायरूपसे प्रतिसमय पलटनेकी वस्तुकी शक्ति है; उसका नाम उत्पाद–व्यय–ध्रुवत्व शक्ति है। ज्ञानस्वभावी आत्माके परिणमनमें यह उत्पाद–व्यय–ध्रुवशक्ति भी साथ ही परिणमित होती है।

ज्ञानी अपनी ऐसी शक्तिवाले आत्माको पहिचानकर उसके आश्रयसे निर्मलरूपसे परिणमित होते हैं, इसलिये उनके शक्ति निर्मलरूपसे उछलती है। यद्यपि अज्ञानीके भी ऐसी शक्तियोंका परिणमन है, परन्तु उसे उसकी पहिचान नहीं है, इसलिये वह शक्तिस्वभावका आश्रय करके परिणमित नहीं होता और अकेले परके लक्षसे ही परिणमन करता है; इसलिये उसके विपरीत परिणमन होता है। यहाँ तो ऐसी बात है कि—अन्तरमें अनन्त शक्तिके पिण्डरूप आत्मस्वभावका अवलम्बन लेकर, उसके सन्मुख एकाकार अभेद होकर निर्मल पर्यायरूपसे परिणमित हो वही आत्माका सच्चा परिणमन है; उसीमें भगवानआत्मा प्रसिद्ध होता है। स्वभावसे च्युत होकर, एकान्त पराश्रयसे विकाररूप परिणमित हो उसमें वास्तवमें आत्माकी प्रसिद्धि नहीं है इसलिये सचमुच वह आत्मा नहीं है, और इसीसे अज्ञानीके आत्माकी प्रसिद्धि नहीं होती।

पर्यायमें क्रमवर्तीपना तो ज्ञानी और अज्ञानी—दोनोंको है, किन्तु ज्ञानीके स्वभावोन्मुखताके कारण क्रमवर्ती पर्यायें निर्मल होती हैं और अज्ञानीको परोन्मुखताके कारण क्रमवर्ती पर्यायें मलिन होती हैं। विभावरूप परिणमन वह शक्तिका यथार्थ परिणमन नहीं है; शक्तिमें अभेद होकर निर्मलस्वभावरूप परिणमन हो वही उसका यथार्थ परिणमन है। अक्रमरूप गुण और क्रमरूप पर्यायें;—ऐसे गुण–पर्यायोंके पिण्डरूप आत्मस्वभावका आश्रय करके जीव परिणमित हुआ तब उत्पाद–व्यय–ध्रुव इत्यादि शक्तियोंका यथार्थ भान हुआ और तभी शक्तियोंका सच्चा परिणमन प्रगट हुआ। इसप्रकार साधकदशाकी यह

३१

बात है। शक्ति तो त्रिकाल है; किन्तु पहले अभानदशामें उसका विभाव-परिणमन था और भान होने पर उसका स्वभावपरिणमन प्रारम्भ हुआ। इसप्रकार स्वभावके आश्रयसे निर्मल परिणमन होता है वह इन शक्तियोंकी पहिचानका फल है।

आत्मामें शक्तियाँ और उनका परिणमन तो सदैव है; किन्तु अनादिकालसे वह परिणमन पराश्रित होनेसे संसार है। यदि वह परिणमन स्वाश्रित हो तो संसार न रहे। आत्माकी अनंत शक्तियोंमेंसे प्रत्येक शक्तिको पृथक् लक्षमें लेनेसे शक्तिका निर्मल परिणमन नहीं होता किन्तु विकार होता है। आत्मा एकसाथ अनंतशक्ति सम्पन्न है; अनंतशक्तिके पिण्डरूप जो स्वभाव है उसके अवलम्बनसे परिणमित होने पर मोक्षमार्गरूप परिणमन होता है; उस परिणमनमें अनंतशक्तियाँ निर्मलरूपसे उछलती हैं, और वही शक्तियोंका यथार्थ परिणमन है। विभाव आत्माका यथार्थ परिणमन नहीं है—ऐसा कहकर उसकी बात उड़ा दी; यानी अज्ञानियोंको उस शक्तिका निर्मल—मोक्षमार्गरूप परिणमन नहीं होता। यहाँ जो बात चल रही है वह तो शक्तियोंके निर्मल परिणमनकी बात है। ज्ञानको अन्तर्मुख करके अनेकान्त द्वारा जिसने भगवान आत्माको प्रसिद्ध किया है उसके अभेद परिणमनमें यह समस्त शक्तियाँ निर्मलरूपसे उछलती हैं।

उत्पाद–व्यय–ध्रुवत्व तो समस्त जीवोंको अनादिकालसे है ही; उत्पाद–व्यय–ध्रुव रहित कोई जीव एक क्षण भी नहीं हो सकता। किन्तु ज्ञानी अपने ऐसे स्वभावको जानता हुआ उसके आश्रयसे निर्मलतारूप उत्पन्न होता है और अज्ञानी उस स्वभावको नहीं जानता, इसलिये पराश्रयसे विकाररूप उत्पन्न होता है—बस ! इसीमें धर्म–अधर्मका समावेश हो जाता है। स्वाश्रित निर्मल परिणमन वह धर्म और मोक्षमार्ग है, तथा पराश्रित विकारी परिणमन वह अधर्म और संसार है। अभव्य जीवके भी ज्ञानगुण तो अनादि–अनन्त परिणमित होता है; ज्ञानपरिणमनके बिना एक समय भी नहीं होता, किन्तु उसे अपने ज्ञानस्वभावकी खबर नहीं है इसलिये वह ज्ञानशक्तिका आश्रय करके

परिणमित नहीं होता, इसी कारण उसे ज्ञानशक्तिका यथार्थ परिणमन नहीं होता। ज्ञानशक्तिके साथ अभेद होकर परिणमित न होकर परके साथ एकता मानकर परिणमित होता है वह ज्ञानका यथार्थ परिणमन नहीं है। ज्ञानशक्तिके साथ एकता करके परिणमित हो वही ज्ञानका यथार्थ परिणमन है। उसीप्रकार यह उत्पाद-व्यय-ध्रुवशक्ति भी समस्त जीवोमें त्रिकाल है, और उसका परिणमन भी हो रहा है; किन्तु अज्ञानीको स्वभावमें अभेद परिणमन नहीं है इसलिये अकेला विभावरूप परिणमन है; वह विभावरूप परिणमन भी उसकी अपनी शक्तिका विपरीत परिणमन है, वह परके कारण नहीं है। यदि विभावरूप परिणमन परके कारण होता हो तो उससमय उसकी शक्तिका अपना तो कोई कारणपना ही न रहा, इसलिये शक्ति ही नहीं रही, और शक्तिके बिना आत्मा भी नहीं रहा! इसलिये यह दृष्टि विपरीत है। विभावपरिणमन भी उसका अपना है, किन्तु वह स्वभावके साथ एकमेक नहीं है इसलिये वह शक्तिका यथार्थ परिणमन नहीं है—ऐसा ज्ञानी जानते हैं। जो अकेले विभावके ही क्रमरूप परिणमित हो उसे वास्तवमें आत्मा ही नहीं कहते। यद्यपि "आत्मा" मिटकर वह कहीं जड़ नहीं हो गया है, किन्तु उसे स्वयं कहाँ आत्माकी खबर है? उसे स्वयं आत्माकी खबर नहीं है इसलिये उसकी दृष्टिमें तो आत्मा है ही नहीं। क्रम और अक्रमरूपसे वर्तनेके स्वभाववाला आत्मद्रव्य है, उसका आश्रय (रुचि और लीनता) करके जो परिणमित हुआ उसीको आत्माकी प्रसिद्धि हुई है; यानी जो स्वाश्रय करके निर्मलतारूपसे परिणमित हुआ वही वास्तवमें आत्मा है।

"आत्माका क्रम–अक्रम स्वभाव है; इसलिये उसकी पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी;"—ऐसा कोई कहे तो उसकी बात झूठ है; आत्माके क्रम अक्रम स्वभाव (उत्पाद–व्यय–ध्रुवशक्ति) को वह समझा नहीं है। भाई! अक्रमपना तो गुणोंकी ध्रुवता अपेक्षासे है, पर्याय अपेक्षासे कहीं अक्रमपना नहीं है; पर्यायें तो क्रमवर्ती स्वभाववाली ही हैं।

वस्तुके समस्त गुण सहभावी हैं अर्थात् एकसाथ सर्व प्रदेशमें

हैं; एक–दूसरेका साथ नहीं छोड़ते, इसलिये उनसे क्षेत्रभेद या कालभेद नहीं है। और पर्यायें क्रमभावी हैं इसलिये एकके बाद दूसरी होती है, दो पर्यायें एकसाथ नहीं होतीं, इसलिये उनमें कालभेद है।

पर्यायें क्रमवर्ती होने पर भी उल्टी-सीधी नहीं हैं किन्तु नियत हैं। जिसप्रकार वस्तुके सर्व गुण एकसाथ ही वस्तुमें सर्व प्रदेशोंमें व्याप्त हैं; उनमेंसे कभी कोई गुण कम या अधिक नहीं होता; उसीप्रकार वस्तुके अनादि–अनंत प्रवाह-क्रममें तीनकालकी पर्यायें अपने–अपने समयमें व्याप्त हैं। तीनकालकी पर्यायोंका प्रवाह नियत विद्यमान है, पर्यायोंकी क्रमबद्धधाराकी संधि कभी नहीं टूटती। इसप्रकार पर्यायको "क्रमवर्ती" कहनेसे उसका अर्थ "निश्चित् क्रमबद्ध" होता है—उसका स्पष्टीकरण किया। कोई ऐसा कहे कि "क्रमवर्ती" का अर्थ सिर्फ "एकके बाद एक"—इतना ही करना चाहिये; एकके बाद एक होने वाली पर्यायमें अमुक समय अमुक ही पर्याय होगी—ऐसा नहीं मानना चाहिये;–किन्तु उसकी यह बात मिथ्या है। क्रमवर्ती पर्याय कहनेसे एकके बाद एक तो ठीक, किंतु किससमय कौन पर्याय होना है उसका क्रम भी निश्चित् है। प्रमेय कमल मार्तण्ड (३-२८) में "क्रमभाव" के लिये नक्षत्रोंका दृष्टान्त दिया है।

जिसप्रकार २८ नक्षत्र निश्चित् क्रमबद्ध हैं; ७ वार निश्चित् क्रमबद्ध हैं; उसीप्रकार द्रव्यकी तीनों कालकी पर्यायें भी निश्चित् क्रमबद्ध हैं। पर्यायोंको क्रमबद्ध न माने तो वस्तुमें उत्पाद–व्यय सिद्ध नहीं होते, उत्पाद–व्ययके बिना ध्रुवता भी नहीं रह सकती और उत्पाद–व्यय–ध्रुवताके बिना वस्तु ही "सत्" सिद्ध नहीं होती; क्योंकि "सत्" सदैव उत्पाद–व्यय ध्रुवयुक्त ही होता है; उत्पाद–व्यय–ध्रुव रहित कोई भी वस्तु सत् नहीं हो सकती। अहो! एक उत्पाद-व्यय-ध्रुवशक्तिके वर्णनमें ही कितना रहस्य भरा है।

यहाँ २८ नक्षत्रोंका उदाहरण देते समय २८ मूल गुण याद आ गये। देखो, प्रकृतिके नक्षत्र २८ हैं और मुनियोंके मूलगुण भी पूरे २८ हैं;—ऐसा प्राकृतिक मेल है। मुनिदशा भी सहज ही प्राकृतिक

स्वभावके साथ संबन्ध रखनेवाली है न !

—उत्पाद–व्यय–ध्रुवत्वशक्ति तो प्रत्येक आत्मामें सदैव है; किन्तु जो जीव उत्पाद–व्यय–ध्रुव स्वभावी आत्माका लक्ष करके परिणमित हो उसे इस शक्तिका भान हुआ कहा जाता है, और उसीको इसका यथार्थ परिणमन होता है। इसीप्रकार सभी शक्तियोंमें समझना चाहिये। जैसे कि प्रभुत्व शक्ति तो समस्त आत्माओंमें त्रिकाल है, किन्तु अज्ञानदशामें उसका भान न होनेसे उसका विकारी परिणमन है। जब प्रभुत्वस्वभावका भान करके उसके आश्रयसे परिणमित हुआ तब प्रभुताका यथार्थ परिणमन हुआ। और उसी प्रकार अकार्य-कारणशक्ति भी प्रत्येक आत्मामें त्रिकाल है; उसका परिणमन भी सदैव होता ही रहता है; किन्तु अज्ञानीको उस शक्तिका भान नहीं है इसलिये उसे उसका वास्तविक परिणमन नहीं होता। ज्ञानीको अपने अकार्यकारण-स्वभावका (—विकारका कार्य नहीं और विकारका कारण नहीं—ऐसे ज्ञानस्वभावका) भान होनेसे पर्याय भी उस स्वभावरूप परिणमित हो गई, इसलिये पर्यायमें भी अकार्यकारणपना व्याप्त है और इसप्रकार सभी शक्तियाँ द्रव्य–गुण–पर्याय तीनोंमें व्याप्त होती हैं। यह मुख्य समझने योग्य बात है। कोई ऐसा कहे कि अकार्यकारण-पना पर्यायमें नहीं होता–तो उसने वास्तवमें अकार्यकारणशक्तिको जाना ही नहीं है। अकार्यकारणशक्तिको यथार्थरूपसे जान ले और पर्यायमें उसका निर्मल परिणमन न हो ऐसा नहीं हो सकता।

यहाँ उत्पाद–व्यय–ध्रुवत्व शक्तिका वर्णन चल रहा है। उत्पाद–व्यय–ध्रुवत्व शक्ति तो जड़में भी है; किन्तु उसकी शक्ति उसीमें है, आत्मामें उसका नास्तिपना है। यहाँ तो आत्माके ज्ञान मात्र भावके साथ रहनेवाली शक्तियोंका यह वर्णन है। यह शक्तियाँ ज्ञान मात्र भावके साथ परिणमित होती हैं; जिसे ज्ञान मात्र भावकी खबर नहीं है और अकेले विभावका ही परिणमन वर्तता है, उसके शक्तिका यथार्थ परिणमन नहीं है। पर्यायके क्रमको इधर–उधर मोड़ देनेकी बात तो दूर रही, किन्तु अपनी पर्यायके क्रममें जिसके अकेले विभावका ही

परिणमन है उसे भी वस्तुके क्रम–अक्रमस्वभावकी खबर नहीं है। वस्तुके क्रम–अक्रम स्वभावको जाने तो स्वसन्मुख परिणमन हुए बिना न रहे; और उसके क्रममें अकेला विभावपरिणमन सहज नहीं किन्तु साधकदशा हो जाये। विभावपरिणमनमें क्रमपना होने पर भी वह आत्माकी त्रैकालिक शक्तिके अवलम्बनसे हुआ परिणमन नहीं है इसलिये वास्तवमें वह आत्मा ही नहीं है।

उत्पाद–व्यय–ध्रुवत्व नामकी शक्ति एक है, और क्रम–अक्रमरूप वर्तन उसका कार्य है; किन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि क्रम–अक्रमपना अकेली उत्पाद–व्यय–ध्रुवत्व शक्तिमें ही है और दूसरे गुणोंमें नहीं है। उत्पाद–व्यय–ध्रुवत्वशक्ति द्रव्यकी है, इसलिये द्रव्यके सर्व गुणोंमें भी वह व्यापक है; इसीसे प्रत्येक गुण गुणरूपसे ध्रुव रहकर क्रमवर्ती पर्यायरूपसे परिणमित होता है—ऐसा क्रम–अक्रमपना प्रत्येक गुणमें भी है। और ऐसे द्रव्यका आश्रय लेकर परिणमित होनेसे शक्तिका यथार्थ (सम्यक्, निर्मल) परिणमन होता है।— इसप्रकार द्रव्य–गुण–पर्याय अभेद होकर परिणमित हुए उसीको वास्तवमें आत्मा कहा जाता है। उत्पाद–व्यय–ध्रुवस्वरूपको समझने पर ध्रुवके आश्रयसे पर्यायका निर्मल परिणमन होने लगता है।

द्रव्य ध्रुवरूप रहकर पर्याय प्रतिसमय बदलती है; प्रत्येक गुण भी ध्रुव रहकर बदलता है और पर्याय नियमित क्रमानुसार वर्तती है। इसप्रकार क्रम–अक्रमरूपसे प्रवर्तन करनेके स्वभाववाली है। क्रम अक्रमरूप वर्तन कहो या उत्पाद व्यय–ध्रुवता कहो; क्रम तो उत्पाद–व्ययको सूचित करता है और अक्रम ध्रुवताको। विकारी पर्याय या निर्मल पर्याय—प्रत्येक अपने अपने क्रममें वर्तती है; उनमेंसे जो किसी भी पर्यायके निश्चित्‌क्रमको इधर–उधर करनेमें मानता है उसे वस्तुस्वरूपकी खबर नहीं है—ज्ञायकस्वभावकी खबर नहीं है। इसमें मुख्य विशेषता यह है कि वस्तुके ऐसे स्वभावका जो निर्णय करता है वह वस्तुस्वभावका ज्ञाता हुआ इसलिये उसके अपनेमें निर्मल पर्यायका

क्रम प्रारम्भ हो जाता है। स्वभाव शक्तिकी प्रतीति होने पर उसके आश्रयसे निर्मलपर्याय परिणमित होने लगती है। फिर साधकदशामें अल्प विकारका परिणमन रहा उसका वह ज्ञाता है। विकारका वास्तवमें कर्ता नहीं है और न उस पर्यायके क्रमको इधर–उधर करनेकी बुद्धि है। देखो, किसी भी शक्तिसे आत्माका निर्णय करने पर ज्ञान अन्तर्मुख होकर परिणमन करता है—यही उसका फल है।

आत्माकी उत्पाद–व्यय–ध्रुवत्वशक्तिका वर्णन चल रहा है। आत्मामें ज्ञानके साथ उत्पाद–व्यय–ध्रुवता भी प्रतिसमय हो रही है। आत्मामें अनन्त गुण हैं, वे सब गुणरूपसे ध्रुव रहकर प्रतिसमय एक अवस्थासे दूसरी अवस्थारूप परिवर्तित हो जाते हैं। सिद्धके आत्मामें भी आनन्दका अनुभव प्रतिसमय परिवर्तित होता रहता है; आनन्द भले ही ज्योंका त्यों रहता है, किन्तु जो पहले समयका आनन्द था वही दूसरे समय नहीं रहता, दूसरे समय आनन्दकी नई अवस्थाका उत्पाद और पहली अवस्थाका व्यय होता है, तथा आनन्द गुणकी अखण्डरूप से ध्रुवता बनी रहती है।—इसप्रकार पर्याय उत्पाद-व्ययसे क्रमवर्ती है, और गुण ध्रुवरूपसे अक्रमवर्ती हैं ऐसा वस्तुस्वभाव है।

"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"–ऐसा सूत्रका वचन है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रुवता युक्त है। प्रतिसमय नई पर्यायकी उत्पत्ति, पुरानी पर्यायका नाश, और द्रव्य-गुणकी स्थिरता समस्त वस्तुओंमें होती है। उनमें उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें क्रमवर्ती है; एक साथ समस्त पर्यायें नहीं वर्तती, किन्तु एकके बाद एक वर्तती है; और ध्रुवरूप गुण अक्रमवर्ती हैं, समस्त गुण त्रिकाल एक साथ ही वर्तते हैं।

देखो, यह वस्तुस्वरूप ! अपने उत्पाद व्यय-ध्रुव अपनेसे ही हैं। आत्मा स्वयं अपने स्वभावसे ही एक अवस्था बदलकर दूसरी अवस्थारूप होता है। यह बात समझे तो, मेरी अवस्था दूसरा कोई बदल देता है—ऐसी पराश्रयबुद्धि छूट जाये और अपने ध्रुवस्वभावकी ओर उन्मुखता हो; ध्रुवके साथ पर्यायकी एकता होनेसे निर्मल पर्याय-

रूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

जिससमय अपूर्व सिद्धदशाका उत्पाद, उसीसमय संसारदशाका व्यय, और आत्मद्रव्यकी ध्रुवता; जिससमय सम्यग्दर्शनका उत्पाद, उसीसमय मिथ्यात्वदशाका व्यय, और श्रद्धा–गुणकी ध्रुवता;—इसप्रकार एक ही समयमें उत्पाद–व्यय–ध्रुवपना है। ऐसा उत्पाद–व्यय–ध्रुवपना वस्तुमें त्रिकाल है, किन्तु जब उसका भान करके स्वाश्रयसे परिणमित हो तब निर्मलताका उत्पाद और मलिनताका व्यय होता है।

आत्माके उत्पाद–व्यय अपनेसे ही है, इसलिये विकार भी अपनेसे ही होता है;—यह तो ठीक, किन्तु अपनी पर्यायमें जिसे मात्र विकारकी ही उत्पत्ति भासित होती है, उसने वास्तवमें आत्माके स्वभावको नहीं जाना। "मेरे उत्पाद–व्यय–ध्रुव मुझमें ही हैं"—ऐसा जिसने निर्णय किया वह किसकी ओर देखकर किया ? मेरे स्वभावसे ही मेरे उत्पाद–व्यय–ध्रुव हैं—ऐसा निर्णय करनेवालेकी दृष्टि तो अपने स्वभाव पर आये, इसलिये उसके मात्र विकारकी ही उत्पत्ति नहीं रह सकती, उसके तो स्वभावदृष्टिमें निर्मल पर्याय प्रगट होकर साधकदशा प्रारम्भ हो जाती है। जिसे ऐसी साधकदशा होती है उसीको पर्यायके विकारका यथार्थज्ञान होता है,—यह मूलभूत न्याय है।

अपने कारणसे क्रमबद्ध "विकार" होता है—इसप्रकार मात्र विकारदृष्टिवालेको वास्तवमें क्रमबद्धपर्यायकी अथवा उत्पाद–व्यय–ध्रुवत्वशक्तिकी प्रतीति नहीं है; क्योंकि यदि शक्तिकी प्रतीति हो जाये तो शक्तिवानके अवलम्बनसे निर्मल परिणमन प्रारम्भ हुए बिना न रहे। त्रिकाली गुणीके साथ अभेद होकर पर्यायका परिणमन हो वह धर्म है।

"सर्वज्ञ भगवानने क्रमबद्धपर्यायमें देखा है, इसलिये मुझमें मिथ्यात्वादि विकार होते हैं"—इसप्रकार मात्र विकारके क्रमको देखनेवालेकी दृष्टि महान विपरीत है। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे मूढ़ ! तू सर्वज्ञका नाम न ले, तूने सर्वज्ञदेवको माना ही नहीं है। तू सर्वज्ञको

नहीं मानता किन्तु मात्र विकार ही देखता है; तुझे क्रमबद्धपर्यायकी भी खबर नहीं है। जो सर्वज्ञदेवको प्रतीतिमें ले, उसके तो अपनी साधकदशाका क्रम प्रारम्भ हो जाता है, मात्र विकारका क्रम उसके नहीं रहता। जिसे स्वभावके आश्रयसे अमुक निर्मल परिणमन हुआ है और शेष अल्प विकार रहा है—ऐसे साधक जीवकी यह बात है। उसीको अपने क्रम-अक्रम स्वभावकी (उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप स्वभावकी) तथा सर्वज्ञदेवकी सच्ची प्रतीति हुई है। अकेले विकारके वेगमें बहता हुआ आत्मा स्वभावशक्तिकी प्रतीति कहाँसे करेगा? जो विकारके प्रवाहमें बह रहा है वह जीव किसके आधारसे स्वभावकी प्रतीति करेगा, और किसके आधारसे सर्वज्ञको मानेगा? स्वभावोन्मुख जीव विकारको भी यथावत् जानेगा और वही सर्वज्ञताको यथार्थतया मानेगा।

(१) जिसप्रकार कर्मका उदय हो उसीप्रकार विकार होता है—ऐसा माननेवालेकी मान्यता महान विपरीत है।

(२) कोई दूसरा ऐसा कहे कि सर्वज्ञभगवानने अपनी पर्यायमें विकारका होना ही देखा है इसलिये विकार होता है—तो उसकी दृष्टि भी विपरीत है।

(३) तीसरा कोई ऐसा कहे कि पर्यायका क्रमबद्ध होनेका स्वभाव है इसलिये विकार होता है, तो उसकी दृष्टि भी विपरीत है, वास्तवमें उसने क्रमस्वभावको जाना ही नहीं। जिसके मात्र विकारका ही क्रम वर्तता है उसे वास्तवमें क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा नहीं हुई है।

(४) चौथा कोई ऐसा कहे कि विकार होता है उतना ही आत्मा है, अथवा शुभराग वह धर्मका कारण है,—तो उसकी मान्यता भी विपरीत है।

(५) मेरा आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व आदि अनंतशक्तियोंका पिण्ड है—इसप्रकार अनंतगुणोंके पिण्डरूप ज्ञानस्वभावकी दृष्टि करनेसे, गुणोंमें अक्रमता और पर्यायमें निर्मल क्रम—ऐसे आत्माका अनुभव

हुआ, और उसीको शक्तियोंका सच्चा परिणमन हुआ, उसीने यथार्थ रीतिसे सर्वज्ञदेवको जाना, उसीको क्रमबद्ध–पर्यायका भान हुआ; वह कर्मसे विकार होना नहीं मानता, और विकारसे लाभ नहीं मानता। दृष्टिमें ज्ञानानन्दस्वभावकी मुख्यता रखकर, अस्थिरताके अल्पविकारको वह ज्ञाता यथावत् ज्ञेयरूपसे जानता है।

पर्याय अन्तरोन्मुख होकर, त्रिकाली द्रव्यगुणके साथ अभेद होकर परिणमित हुई तभी सचमुच "आत्माको" माना है, और तभी आत्माकी प्रसिद्धि हुई है। उत्पाद–व्यय–ध्रुवरूप अथवा गुणपर्यायरूप स्वभाव है, उसकी सच्ची प्रतीति कब हुई कहलाती है ? तो कहते हैं कि गुणीके अवलम्बनसे निर्मल पर्याय प्रगट करे तब। जो मात्र विकारको ही देखते हैं, और उसीमें तन्मय होकर परिणमित होते हैं उन्होंने वास्तवमें अनंत शक्ति सम्पन्न आत्माको स्वीकार नहीं किया है। यदि अनंतशक्ति सम्पन्न आत्माको माने तो उसके आश्रयसे सम्यग्दर्शनादि निर्मल परिणमन हुए बिना न रहे। किसी भी शक्तिकी प्रतीति ध्रुवस्वभावके आश्रयसे ही होती है। अभेद आत्मस्वभावका आश्रय लिये बिना उसकी एक भी शक्तिकी यथार्थ पहिचान नहीं होती।

❀ ❀ ❀ ❀

आत्माके अनंतस्वभावोंमेंसे एक उत्पाद–व्यय–ध्रुवस्वभाव है, उसका यह वर्णन चल रहा है। आत्मा वस्तुरूपसे नित्यस्थायी रहकर, उसमें प्रतिसमय नई-नई अवस्थाएँ होती रहती हैं—ऐसा उसका स्वभाव है। वह अवस्था यदि अपने स्वभावके साथ एकता करके परिणमित हो तो निर्मल होती है, और यदि परके साथ एकता मानकर परिणमित हो तो मलिन होती है।

यहाँ तो उत्पाद–व्ययरूप पर्यायको क्रमवर्ती कहा है, उसमेंसे "क्रमबद्धपर्याय" की बात निकालना है। इस क्रमबद्धपर्यायरूप स्वभावके निर्णयमें विकारकी बात नहीं है किन्तु निर्मलपर्यायकी ही मुख्य बात है; तथापि उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि विकारपर्याय उल्टीसीधी

हो जाती है ! परन्तु क्रमबद्ध स्वभावका निर्णय करनेवालेकी दृष्टि साधकस्वभाव पर होती है इसलिये वह दृष्टि विकारको स्वीकार नहीं करती, इसलिये निर्मलपर्यायकी ही मुख्यता है।

एक समयमें उत्पाद–व्यय–ध्रुवता यह तो जैनशासनकी मुख्य बात है; उत्पाद–व्यय और ध्रुवता तीनों एक समयमें ऐसे वस्तुस्वभावकी प्रतीति करें तो वीतरागी दृष्टि हो जाये। जिसप्रकार रवि–सोम–मंगल सातों वार एकके बाद क्रमशः होते हैं, उसी प्रकार पर्यायें क्रमशः होती हैं। पहले समयकी अवस्था दूसरे समय नहीं रहती किन्तु उसका व्यय हो जाता है। कोई जीव एक पर्यायको दूसरे समय रखना चाहे तो भी नहीं रह सकती—ऐसा ही स्वभाव है। इसलिये क्या करना चाहिये ?—कि ध्रुवस्वभाव जो नित्य स्थायी शुद्ध ज्योंका त्यों है, उसके सन्मुख देख, और उसमें दृष्टिकी एकाग्रता कर तो उस ध्रुवके आधारसे पर्यायका निर्मल परिवर्तन हो जायेगा। वहाँ भी प्रतिसमय परिवर्तन तो होगा, किन्तु वे पर्यायें निर्मल ज्ञानआनन्दस्वरूप होती जायेंगी।

एक समयकी पर्याय दूसरे समय नहीं रहती, दूसरे समय नई पर्याय हो—ऐसा उत्पाद–व्यय स्वभाव है, और द्रव्यका कभी विनाश न हो ऐसा ध्रुवस्वभाव है, उत्पाद–व्यय और ध्रुव पृथक् पृथक् नहीं है किन्तु एक ही वस्तुका वैसा स्वभाव है। ज्ञानी या अज्ञानी सभी आत्माओंको उत्पाद–व्यय–ध्रुव प्रतिसमय वर्तते ही हैं, किन्तु उनमें अन्तर इतना है कि ज्ञानीके तो स्वभाव दृष्टिसे निर्मल पर्यायोंकी उत्पत्ति होती जाती है और अज्ञानीके विकारमें ही आत्मबुद्धि होनेसे विकारी पर्यायोंकी उत्पत्ति होती है। बस, यही धर्म–अधर्म है; मोक्षमार्ग और संसार–मार्ग इसीमें आ जाते हैं।

मेरे आत्मामें एकसाथ अक्रमरूपसे अनंतगुण प्रवर्तमान हैं और पर्याय प्रतिसमय मेरे उत्पाद–व्यय–ध्रुव स्वभावसे बदलती है; —इसप्रकार उत्पाद–व्यय–ध्रुवस्वभावी आत्माको पहिचानकर उसकी श्रद्धा–ज्ञान करे वहाँ मिथ्यात्वका उत्पाद रहता ही नहीं।

आत्माका कौन–सा समय पर्याय रहित होता है ? उत्पाद–व्यय–ध्रुवशक्ति आत्मामें अनादि अनंत है, इसलिये तीन कालमें एक भी समय पर्याय रहित नहीं है, उत्पाद–व्यय–ध्रुवस्वभावसे प्रतिसमय पर्यायें होती ही रहती हैं। इसलिये निमित्त आये तो पर्याय होती है और न आये तो नहीं होती—यह बात नहीं रहती। ऐसे स्वभावकी श्रद्धा होने पर ज्ञाताद्दष्टापनेका वीतरागभाव प्रगट होता है, पर्यायके क्रमको बदलनेकी या रागके कर्तृत्वकी बुद्धि नहीं रहती। उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वशक्तिमें क्रम–अक्रमता आती है; उस क्रम–अक्रमताकी प्रतीति अकेली पर्यायको देखनेसे नहीं हो सकती; अनंतशक्तिवान स्वभावकी ओर देखनेसे ही क्रम–अक्रमपनेकी प्रतीति होती है, और ऐसी प्रतीति करनेवालेको पर्याय बुद्धि नहीं रहती। इसप्रकार पर्याय बुद्धिका नाश और स्वभाव बुद्धिकी उत्पत्ति इन शक्तियोंको समझनेका फल है।

उत्पाद–व्यय–ध्रुवत्वशक्ति आत्मामें भी है और जड़में भी है। आत्माके उत्पाद–व्यय–ध्रुवमें शरीरकी क्रिया नहीं है, शरीरकी क्रिया तो जड़के उत्पाद–व्यय–ध्रुवमें है। प्रत्येक द्रव्यके उत्पाद-व्यय-ध्रुव दूसरेसे भिन्न हैं। मन–वाणी–देह–लक्ष्मी आदिके उत्पाद-व्ययका आत्मामें अभाव है, उन जड़के उपाद-व्यय आत्मासे भिन्न हैं, इसलिये उनसे आत्मामें कुछ नहीं होता और न आत्मा उनका कुछ करता है। शरीर-लक्ष्मी आदि जड़का सदुपयोग करके मैं धर्म प्राप्त करूँ यह बात भी नहीं रहती। कोई ऐसा विचार करे कि खरगोशके सींगों पर मैं अच्छी चित्रकारी करूँ।—तो वह उसकी भ्रमणा है; क्योंकि खरगोशके सींगोंका अभाव है। जिसप्रकार खरगोशके सींगोंका अभाव है उसी प्रकार आत्मामें देहादि जड़का अभाव है; इसलिये उन देहादिके सदुपयोग द्वारा धर्म करूँ—यह भी अज्ञानीकी भ्रमणा ही है।

अपने ज्ञानस्वभावके उत्पाद–व्यय–ध्रुवमें आत्मा वर्तता है; अकेला पुण्य–पापमें प्रवर्तमान हो वह वास्तवमें आत्मा नहीं है, और जड़की क्रियामें तो आत्मा कभी वर्तता ही नहीं है; जड़के उत्पाद–

व्यय–ध्रुवमें जड़ वर्तता है। अज्ञानी परकी क्रियाका अभिमान करके, अपने अनंतगुणोंका अनादर करता हुआ अनादिकालसे विकारमें ही प्रवर्तमान है, उसमें आत्माकी प्रसिद्धि नहीं है। अपने गुणपर्यायोंमें अभेद होकर वर्ते वह आत्मा है। आत्मा और उसके गुणपर्यायोंमें सचमुच भेद नहीं है, अनादिसे अपने गुण–पर्यायोंमें उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूपसे आत्मा प्रवर्तमान ही है, किन्तु अज्ञानी उस ओर नहीं देखता इसलिये विकाररूप परिणमित होता है। अपने स्वभाव सन्मुख होकर निर्मल दशारूप परिणमित होना और मलिनताका नाश करना तथा ध्रुवरूपसे स्थित रहना–वह आत्माका कर्तव्य है। कर्तव्य कहो, या मोक्षका उपाय कहो। अज्ञानी अपने ऐसे कर्तव्यसे च्युत होकर विकाररूप परिणमित होता है, किन्तु परमें तो वह भी किंचित् कर्तव्य नहीं कर सकता। वस्तुके उत्पाद–ध्रुवस्वभावको बराबर समझे तो सब गुत्थियाँ सुलझ जायें। वस्तु स्वभावको स्वीकार किये बिना किसी प्रकार धर्म नहीं हो सकता और न मिथ्यात्वादि पाप मिट सकते हैं।

जिसने ज्ञानानन्दस्वभाव–सन्मुख होकर उसका स्वीकार किया उसे आत्माके अनंत गुणोंका आदर है, और क्षणिक विकारका आदर नहीं है। जहाँ अनंत गुणोंका आदर है वहाँ चारित्र दोषकी आसक्तिके अल्प पापपरिणाम हों, तथापि वे बहुत मंद हैं, अनंत गुणोंके आदरके निकट उनकी कोई गिनती नहीं है; और अज्ञानी जीव आत्मस्वभावके अनंत गुणोंका अनादर करके क्षणिक विकारका आदर करता है;—वह जीव पुण्यपरिणाम करता हो, तथापि उससमय भी धर्मके अनादरके अनंत पापका सेवन कर रहा है। मूल धर्म क्या है और मूल पाप क्या है उसे समझे बिना जीवोंका अधिकांश भाग पुण्यमें या बाह्यक्रियामें ही धर्म मानकर अटक रहा है। यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं कि भाई! अनंत गुणोंका आधार ऐसा तेरा आत्मस्वभाव है, उसका आदर करना ही मुख्य धर्म है; और उस स्वभावका अनादर ही महान पाप है। स्वभावके आदरसे विकार दूर होता है; उसके बदले जो विकारके

आधारसे विकारको दूर करना चाहता है वह मिथ्यादृष्टि जीव अपने स्वभावका तिरस्कार कर रहा है।

शरीर-मन-वाणीके परिवर्तनकी क्रिया (उत्पाद-व्यय) आत्माके स्वरूपमें नहीं है, इसलिये वह क्रिया आत्माकी नहीं है और न आत्माको उससे धर्म होता है।

पुण्य–पापके उत्पाद-व्ययरूप क्रिया जीवकी पर्यायमें होती है, किन्तु वह विकारी क्रिया है; वह भी जीवको हितका कारण नहीं है, उसके लक्षसे हित नहीं होता।

जीवकी पर्यायमें निर्मलताके उत्पादरूप क्रिया हो वह धर्म है; किन्तु उस निर्मलताकी उत्पत्ति किसके लक्षसे होती है ? पर्याय सन्मुख लक्ष रखनेसे तो विकारकी उत्पत्ति होती है, निर्मल पर्यायके लक्षसे भी निर्मलताकी उत्पत्ति नहीं होती, इसलिये पर्यायका लक्ष भी हितकारी नहीं है। पूर्ण शक्तिसम्पन्न ध्रुवस्वभाव है, उसीके लक्षसे सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याय प्रगट होती है और वही हितरूप है। यहाँ आचार्यभगवान आत्माकी शक्तियाँ बतलाकर उन्हींका आश्रय करना चाहते हैं।

आत्माका एक ऐसा स्वभाव है कि क्रम-अक्रमरूपसे प्रवर्तमान हो। समस्त गुण एक साथ अनादि–अनंत अक्रम विद्यमान हैं, और अनादि अनंतकालकी पर्यायें क्रमवर्तीरूपसे स्थित हैं; वे अपने व्यवस्थित क्रमानुसार एकके बाद एक वर्तती हैं—ऐसा क्रमवर्ती स्वभाव है। ऐसे स्वभावको स्वीकार करने पर एक–एक पर्याय या एक-एक गुण परसे दृष्टि हटकर अनंत गुणोंके पिण्डरूप अखण्ड स्वभाव पर दृष्टि स्थिर हो जाती है, और उस दृष्टिमें क्रमशः निर्मल पर्यायोंकी उत्पत्ति होती है। —इसका नाम साधकदशा और यही मोक्षका मार्ग !

अपने ऐसे स्वभावका यथार्थ श्रवण करके उसका ग्रहण और धारण पूर्व अनंतकालमें एक क्षण भी नहीं किया है। जो जीव एक बार भी ज्ञानीके पाससे ऐसे स्वभावकी बात सुनकर अंतरंग उल्लासपूर्वक उसे ग्रहण कर ले तो अल्पकाल में उसकी मुक्ति हुए बिना न

रहे। मेरा स्वभाव क्या है ?"—ऐसा लक्ष करके जीवने कभी सच्चा श्रवण नहीं किया। पूर्वकालमें कभी सुननेको मिला और धारणा भी की किन्तु आत्मामें उसे अपना बनाकर नहीं जमाया।

देखो, यह आत्मा अनादि–अनंत ज्ञानस्वभावी वस्तु है; उसके ज्ञानादि गुण नये बनाये गये हैं या अकृत्रिम हैं ? यदि नये बनाये गये हों तो वे क्षणिक होंगे और उनका नाश हो जायेगा; इसलिये आत्माका ही नाश हो जायेगा।—किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। "पर्यायें" नवीन उत्पन्न होती हैं और उसका नाश होता है; किन्तु गुण कभी नये उत्पन्न नहीं होते और न उनका कभी नाश होता है। गुण तो वस्तुनिष्ठ हैं, वस्तुमें अनादि-अनंत स्थित हैं। वस्तु या उसके गुण नवीन उत्पन्न नहीं होते, किन्तु उसकी अवस्था नई होती है; और वस्तु या उसके गुणोंका नाश भी नहीं होता; किन्तु उसकी पर्यायें नष्ट होती हैं। जैसे कि–जीवमें सिद्ध–पर्यायकी उत्पत्ति नवीन होती है और संसारपर्याय नष्ट हो जाती है, किन्तु कहीं जीव द्रव्य या उसके ज्ञानादि गुण नये उत्पन्न नहीं होते; और न उनका नाश होता है;—वे तो सिद्धदशा या संसारदशाके समय एकरूप ध्रुव रहते हैं।—ऐसा उत्पाद-व्यय–ध्रुवत्वस्वभाव है।

वस्तुके समस्त गुण ध्रुवरूपसे एक साथ रहते हैं, किन्तु पर्यायें एक साथ प्रवर्तमान नहीं होतीं—एकके पश्चात् एक वर्तती है। जिसप्रकार सुवर्णमें उसका पीलापन, वजन आदि एक साथ रहते हैं, किन्तु उसकी हार, मुकुट आदि अवस्थाएँ एक साथ नहीं वर्ततीं–ऐसा ही उसका पर्याय-स्वभाव है। हार टूटकर मुकुट हुआ, वहाँ वह अवस्था स्वर्णकारने नहीं की है, किन्तु सुवर्णके ही उत्पाद-व्यय–ध्रुवस्वभावके कारण उसमें मुकुट अवस्थाकी उत्पत्ति और हारअवस्थाका व्यय तथा सुवर्णकी ध्रुवता है। जो वस्तुके उत्पाद-व्यय-ध्रुव-स्वभावको नहीं जानता वही दूसरेके कारण अवस्थाका होना मानता है; उसकी मान्यता वस्तुस्वभावसे बिपरीत अर्थात्

मिथ्या है।

पुनश्च, उत्पाद–व्यय-ध्रुवस्वभावके लक्षसे वीतरागता होती है; उत्पाद-व्ययके लक्षसे राग-द्वेष होता है। जिसप्रकार सुवर्णमें हार-अवस्थाका नाश होकर मुकुट-अवस्थाकी उत्पत्ति हुई; वहाँ जो पुरुष हार-अवस्थाकी इच्छा रखता, उसे उस अवस्थाका व्यय होनेसे द्वेष होता है, जो पुरुष मुकुट–अवस्थाकी इच्छा रखता है उसे उस अवस्थाकी उत्पत्ति होनेसे राग होता है; किन्तु जो पुरुष सुवर्णकी ध्रुवताको देखता है उसे तत्सम्बन्धी राग-द्वेष नहीं होता; क्योंकि सुवर्ण तो हार या मुकुट-अवस्थाके समय ज्योंकात्यों ध्रुव है। उसीप्रकार आत्माके ध्रुव ज्ञानानन्दस्वभावके आश्रयसे वीतरागता होती है और क्षणिक पर्यायके उत्पाद-व्ययके लक्षसे तो राग-द्वेष होता है।

परसे उत्पाद–व्यय हो ऐसी बात तो है ही नहीं। जिसप्रकार सुवर्णमें ताँबेका जो भाग होता है वह उसका मूलस्वभाव नहीं है; उसी प्रकार आत्माकी पर्यायमें राग-द्वेष हो वह आत्माका मूल स्वभाव नहीं है, इसलिये आत्माके स्वभावको देखनेवाला राग–द्वेषसे उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वीतरागता—निर्मलतारूपसे उत्पन्न होता है। यहाँ स्वभावदृष्टिमें निर्मलक्रमकी बात है। वस्तुका ऐसा स्वभाव है कि क्रमबद्धपर्यायरूपसे उत्पन्न हो, उस स्वभावको जो बदलना चाहे वह मिथ्यादृष्टि होती है। क्रम–अक्रमरूप प्रवर्तमान जो ज्ञायकस्वभाव है, उसमें एकाग्र होनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि होकर निर्मलपर्यायमें क्रमशः आगे बढ़ता–बढ़ता केवलज्ञान प्राप्त करता है।

वस्तुका स्वभाव सो धर्म है; उसका यह वर्णन है। उत्पाद-व्यय–ध्रुवतारूप जो वस्तुस्वभाव है, उसका भान होने पर पर्यायमें धर्मका प्रारंभ होता है। मेरा ज्ञानस्वभाव अनंतगुणोंका भंडार है—ऐसी जहाँ श्रद्धा हुई वहाँ क्रम–अक्रम वर्तनरूप उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्तिकी प्रतीति भी साथ ही आ जाती है; और ऐसी स्वभावकी प्रतीति होने पर शक्तिके भंडारमेंसे निर्मलपर्यायोंका क्रम भी प्रारम्भ हो गया।–

इसप्रकार शक्तिके साथ पर्यायको सम्मिलित करके यह बात कही है।

क्षणिकपर्यायके लक्षसे रागकी उत्पत्ति होनेसे हानि होती है, उसके बदले पर्यायके लक्षसे लाभ होना (—सम्यग्दर्शनादि होना) माने वह मिथ्यादृष्टि है। पर्यायके आश्रयसे लाभ माननेवाला क्षणिकपर्यायको ही वस्तुका सर्वस्व मानता है, इसलिये वह पर्यायकी दृष्टि छोड़कर द्रव्य स्वभावमें दृष्टि नहीं करता, इसलिये उसे सम्यग्दर्शनादिका लाभ नहीं होता। ध्रुवस्वभावके आश्रयसे ही सम्यग्दर्शनादिका लाभ होता है। ध्रुवस्वभाव अर्थात् परमज्ञायकस्वभाव उसका विश्वास करके उसमें एकाग्रता करनेसे वीतरागीसमभाव रहता है—मात्र पर्यायके विश्वाससे कदापि वीतरागीसमभाव नहीं रह सकता।

आत्माका स्वभाव वीतरागी ज्ञाता है, उसी स्वभावकी ओर ढलकर ज्ञाता रहे तो क्रमबद्धपर्यायोंका वीतरागभावसे यथावत् ज्ञाता रहता है; किन्तु जो ज्ञातृत्वसे च्युत होकर फेरफार करना चाहता है वह मिथ्यादृष्टि होता है। जिसप्रकार प्रकृतिक्रममें सात दिन या अट्ठाईस नक्षत्रोंका जो क्रम है वह कभी बदल नहीं सकता, तथापि जो उसमें फेरफार होना मानता है उसके ज्ञानमें भूल होती है। उसी प्रकार पदार्थोंकी समस्त पर्यायोंका जो क्रम है वह कभी परिवर्तित नहीं होता, तथापि जो उसमें फेरफार होना मानता है उसके ज्ञानमें भूल होती है, इसलिये वह ज्ञाता न रहकर मिथ्यादृष्टि होता है। ज्ञानी अपने ज्ञायकस्वभावकी प्रतीति करके क्रमबद्ध–पर्यायका ज्ञाता ही रहता है, साधकदशाके क्रममें बीचमें अस्थिरताका जो राग होता है उसका भी वह ज्ञाता है।

देखो यह "क्रमबद्धपर्याय" की अटपटी बात है...किन्तु सरल होकर ज्ञानस्वभावकी महिमा लाकर समझना चाहे तो बिलकुल सीधी है, यह अपने स्वभावके घरकी बात है। यह अंतरमें जमे बिना किसी प्रकार मार्ग हाथ नहीं आ सकता। सबका ज्ञाता स्वयं है; स्वयं अपने

ज्ञानस्वभावका निर्णय किये बिना ज्ञानका सच्चा कार्य कहाँसे होगा ? श्रीमद् राजचन्द्र भी कहते हैं कि:—

अपना ज्ञानस्वभाव सबका ज्ञाता है; उस ज्ञानस्वभावका निर्णय किये बिना ज्ञानका सच्चा कार्य कहाँसे होगा ? श्रीमद् राजचन्द्र भी कहते हैं कि—

"घट पट आदि जाण तुं तेथी तेने मान;
जाणनारने मान नहि, कहिये केवुं ज्ञान?"

अपने ज्ञानमें घट–पटादि ज्ञात होते हैं; उन घट–पटादिको तो माने, किन्तु उनका ज्ञान करने वाले अपने ज्ञानस्वभावको न पहिचाने, तो वह ज्ञान कैसा ? वह ज्ञान नहीं किन्तु अज्ञान है। अरे भाई! तू परको तो जानता है और जो ज्ञाता स्वयं है उसे नहीं जानता—यह आश्चर्य है। उसीप्रकार यहाँ क्रमबद्धमें भी विकारका और परका क्रम माने, किन्तु उस क्रमका ज्ञान करनेवाले अपने ज्ञायकस्वभावको न जाने तो वह ज्ञान कैसा है ?—कहते हैं कि मिथ्या है।

पहले अल्प ज्ञान हो और फिर अधिक हो जाये वहाँ —मेरा ज्ञानस्वभाव बदलकर (परिणमित होकर) यह विशेष ज्ञान आया है–ऐसा अज्ञानी नहीं जानता, किन्तु शास्त्रादि बाह्य संयोगोंसे ज्ञान प्राप्त हुआ —ऐसा वह मूढ़ मानता है; इसलिये संयोगोंका लक्ष छोड़कर स्वभावोन्मुख नहीं होता। ज्ञानी तो जानते हैं कि मेरे ज्ञानस्वभावका परिणमन होकर उसमेंसे यह ज्ञान आया है; ऐसा जानने पर ज्ञानस्वभावके आश्रयसे सम्यग्ज्ञान होकर परमात्मदशा प्रगट हो जाती है। यदि रागके आश्रयसे ज्ञानमें वृद्धि होती हो तो राग बढ़नेसे ज्ञान बढ़ता जाये और अतिरागसे परमात्मदशा प्रगट हो जाये; किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। रागका सर्वथा अभाव होनेके पश्चात् ही केवलज्ञान और परमात्मदशा प्रगट होती है, इसलिये राग

ज्ञानका कारण नहीं है। और संयोगके लक्षसे ज्ञानमें वृद्धि होती हो तो ऐसा नहीं दिखता परन्तु संयोगका लक्ष छोड़कर ज्ञानानन्दस्वभावमें लक्ष करके लीन होने पर ही केवलज्ञान होता है; इसलिये संयोगके लक्षसे ज्ञान नहीं बढ़ता। सम्यग्दर्शनके लिये, सम्यग्ज्ञानके लिये या सम्यग्चारित्रके लिये अपने ज्ञानानन्दस्वभावके अतिरिक्त अन्य कोई आधार है ही नहीं। धर्ममें अपने स्वभावके अतिरिक्त अन्य किसीके आश्रय का अभाव है।

उत्पाद–व्यय–ध्रुवस्वभावसे आत्मा तो अपने गुणोंमें अक्रमरूप वर्तता है और पर्यायोंमें क्रमरूप।—इसप्रकार क्रम-अक्रमरूपसे प्रवर्तन ही आत्मा का वर्तन है। इसके सिवा आत्मा कभी अपने गुणपर्यायों से बाहर नहीं वर्तता, इसलिये बाह्यमें आत्माका वर्तन है ही नहीं। अमुक प्रकारसे आहार लेना और अमुक वेशमें रहना—इसप्रकार आहार या वेशमें सचमुच आत्माका वर्तन नहीं है, उसमें तो जड़का वर्तन है। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण–पर्यायमें वर्तता है वही उसका वर्तन है। आत्माका वर्तन कैसे सुधरे ? अनादिकालसे संयोग और विकारमें अपनत्व मानकर विकारी पर्यायमें वर्तता है वह अशुद्ध वर्तन है; संयोग और रागसे पार, ज्ञानानन्दस्वभावको ही अपना स्वरूप माननेसे निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं, उन निर्मल पर्यायोंके क्रममें वर्तना वह आत्माका शुद्ध वर्तन है, और वही मोक्षका कारण है। स्वभावोन्मुख होने पर ऐसा शुद्ध वर्तन हुआ, उसमें त्याग और प्रतिज्ञा आदि सबका समावेश हो जाता है; जो शुद्ध वर्तन प्रगट हुआ उसमें विपरीतताका (असत्यादिका) त्याग ही वर्तता है, और उसमें असत्-का अभाव ही वर्तता है इसलिये न करनेकी प्रतिज्ञा भी उसमें आ ही गई। सर्व प्रथम स्वभावकी सच्ची समझ करना ही अनादिकालीन असत्यका त्याग है। मिथ्यादृष्टिको अनादिसे "धर्मका त्याग" है, वह अधर्म है; आत्माकी सच्ची समझ होने पर उस अधर्मका त्याग हो जाता है। प्रथम सच्ची समझ द्वारा अनादिकालीन मिथ्यात्वका त्याग किये बिना अव्रत आदिका त्याग कभी हो ही नहीं सकता।

यहाँ कहते हैं कि उत्पाद–व्यय–ध्रुवत्व शक्तिसे द्रव्य अपने गुण–पर्यायोंमें वर्तता है। इसमें "वर्तने" पर भार है। गुणमें अक्रमरूप वर्तता है और पर्यायमें क्रमरूप वर्तता है;—कौन वर्तता है? आत्मद्रव्य। इसलिये ऐसा निर्णय करनेवालेको किसी भी पर्यायमें आत्मद्रव्यकी दृष्टि–प्रतीति नहीं छूटती। प्रत्येक पर्यायमें अखण्ड द्रव्य वर्तता है; इसप्रकार वर्तनेवाले पर (द्रव्य पर) दृष्टि गई वहाँ पर्याय बुद्धि छूटकर पर्यायमें निर्मलता हुए बिना नहीं रहती।

प्रत्येक आत्माका ऐसा स्वभाव है; किन्तु यहाँ दूसरे आत्माका काम नहीं है; स्वयं अपने स्वभावका निर्णय करके स्वोन्मुख होनेकी बात है। जो स्वभावोन्मुख होकर ज्ञाता हुआ वह अपने स्व–पर प्रकाशक सामर्थ्यसे परको ज्योंका त्यों जानता है। स्वसन्मुख होकर स्वभावमें वर्तन हो वहाँ विकार या संयोगका वर्तन नहीं रहता और निर्विकार असंयोगी दशा प्रगट होती है उसका नाम मोक्ष है।

आत्मस्वभावोन्मुख होकर, "आत्मा पवित्र है"—ऐसा जिस ज्ञानपर्याय ने जाना वह पर्याय स्वयं भी पवित्र हुई है, पवित्र स्वभावके आश्रयसे उसमें भी पवित्रताकी वृद्धि होती जाती है।—इसप्रकार स्वभावशक्तिकी प्रतीतिका फल मुक्ति है।

बाह्यमें रूखा भोजन करें उसे लोग धर्म मान लेते हैं; किन्तु ज्ञानी तो कहते हैं कि अरे भाई! जड़से और रागसे अपने आत्माकी भिन्नताका तुझे भान नहीं है और उसे तू धर्म मानता है, तो तू रूखा नहीं किन्तु चिकना ही खाता है; तू रागकी चिकनाईका ही उपभोग कर रहा है, किन्तु रागसे रूखा ऐसा जो वीतरागी ज्ञानभाव है उसकी तुझे खबर नहीं है। तुझमें मिथ्यात्वरूपी चिकनाई भरी है, वह महान अधर्म है। रागको या जड़के संयोगको ज्ञानी अपना आत्मस्वरूप नहीं मानते, किन्तु अपने आत्माका रागादिसे भिन्न ही अनुभव करते हैं; ज्ञानानन्दस्वरूपके श्रद्धा–ज्ञानमें उन्हींको रूखा–रागरहित–भाव है; आत्माके शांतरससे परिपूर्ण और रागके रससे रहित ऐसा जो ज्ञानीका

भाव है वही धर्म है।

उत्पाद–व्यय–ध्रुवता स्वभावसे आत्मा स्वयं प्रतिक्षण परिणमित होता है और ध्रुवरूपसे स्थित भी रहता है। शब्दोंके कारण ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु ज्ञानस्वभाव स्वयं ही विशेष ज्ञानरूपसे परिणमित होता है। ध्रुवज्ञानस्वभावके आधारसे अज्ञानका नाश होकर सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति होती है।

प्रश्नः—यदि सुननेके कारण ज्ञान नहीं होता, तो फिर किसलिये सुनें ?

उत्तरः—सुननेके कारण ज्ञान नहीं होता–यह बात सच है, लेकिन वह निर्णय किसने किया ? जिसने ऐसा निर्णय किया है उसके रागकी दिशा बदलकर सत्श्रवणादिकी ओर ढले बिना नहीं रहेगी। जिज्ञासु भूमिकामें मिथ्यात्वके निमित्तोंकी ओरकी वृत्ति छूटकर सत् निमित्तोंकी ओर ही वृत्ति जाती है और ज्ञानीके निकटसे सत्श्रवणका भाव, सत्श्रवणका प्रेम और उत्साह आता है। "वाणीसे ज्ञान नहीं होता, इसलिये सुननेका क्या काम है !"—ऐसा स्वच्छंदका भाव उसे आयेगा ही नहीं। सत्श्रवणके समय भी मंथन तो अपने ही भावका हो रहा है न ! हाँ श्रवणके समयभी राग पर या पर्याय पर उसका भार नहीं होता, किन्तु ज्ञानी जो स्वभाव समझाना चाहते हैं उस स्वभावकी ओर ही उसका भार होता है......जहाँसे ज्ञानका प्रवाह आता है ऐसे द्रव्यस्वभावका अवलम्बन करना ही ज्ञानी बतलाते हैं और सच्चे श्रोताका भार भी उसी पर है। इसके सिवा रागसे या वाणीसे हो लाभ मानकर उस पर जो भार दे वह सच्चा श्रोता नहीं है, क्योंकि ज्ञानी ऐसा नहीं कहते।

पुनश्च, सत् स्वभावका भान होनेके पश्चात् ज्ञानीको भी बारम्बार सत्श्रवणका भाव आता है; वहाँ सचमुच वाणी सुननेका राग नहीं किया है, किन्तु अपनी निर्मल भूमिका होनेसे राग हो गया है, और उस रागका लक्ष सत् निमित्तकी ओर ही ढलता है। उस राग और श्रवणके समय भी ज्ञानकी रुचिका जोर तो अपने सत्

स्वभावकी ओर ही है, निमित्त या राग पर उसकी रुचिका जोर नहीं है। रुचिका जोर किस ओर काम कर रहा है उस पर धर्म-अधर्मका आधार है। आत्माका उत्पाद–व्यय–ध्रुवस्वभाव है उसे पहिचाने तो परकी या विकारकी ओर रुचिका जोर न रहकर ध्रुवस्वभावोन्मुख ही हो जाये। आत्मामें उत्पाद–व्यय–ध्रुवता आदि अनंत शक्तियाँ एक साथ ही परिणमित हो रही हैं।

प्रश्नः—आत्मामें अनंत शक्तियाँ हैं ऐसा भगवान ने देखा है इसलिये कहते हो ?—या आत्मामें है उसे जानकर कहते हो ?

उत्तरः—वस्तुके स्वभावमें ऐसा है और भगवानने भी ऐसा ही देखा है;—लेकिन भगवानकी प्रतीति किसने की ? सर्वज्ञ भगवानकी प्रतीति करनेवालेके अपना ज्ञान है न !! इसलिये अपने ज्ञानस्वभावकी प्रतीति की, उसीमें यह सब आ जाता है। अपने ज्ञानस्वभावकी प्रतीतिको साथ लिये बिना अकेले भगवानके नामसे माने वह यथार्थ मार्ग नहीं है। यह बात तो अपने आत्माको साथ लेकर है। अपने आत्माकी ओर उन्मुख होकर उसकी प्रतीति किये बिना भगवानकी या भगवानके मार्गकी सच्ची पहिचान नहीं होती। यहाँ आत्माकी शक्तियोंके वर्णनमें भी, अभेद आत्मस्वभावके आश्रयपूर्वक ही उसकी शक्तियोंका निर्णय हो सकता है—ऐसा समझना।

[—आत्माकी अनंत शक्तियोंमेंसे, अठारहवीं उत्पाद–व्यय-ध्रुवशक्तिका वर्णन यहाँ पूरा हुआ।]

⁂

[१९]

परिणाम शक्ति

महिमावंत् भगवान्‌आत्मा अनंत धर्मोंसे प्रसिद्ध है। सर्व सन्त व सर्व शास्त्र प्रसिद्धपणे उसकी महिमा गाते हैं......अंतरमें ऐसे आत्माकी प्रसिद्धि किसप्रकार हो उसकी यह बात है। हे जीव! अनंत शक्तिसंपन्न तेरी आत्माको जानकर तूं राजी हो...खुशी हो...आनंदित हो।

आत्माके हितकी सच्ची लालायिततावाला जीव उसके प्रयत्नके लिये मुदत न बनावे...अपूर्व अंतर प्रयत्न जागे तब ही आत्माकी प्राप्ति होगी।

यह आत्माकी शक्तियोंका वर्णन चल रहा है। ज्ञानस्वरूप आत्मामें कैसी–कैसी शक्तियाँ उल्लसित होती हैं वह आचार्यदेवने बतलाया है। उन शक्तियोंके द्वारा अनंतशक्तिके पिण्ड रूप अनेकान्त मूर्ति आत्माको पहिचान कर उसमें एकाग्र होने पर श्रद्धा—आनन्दादिका निर्मल परिणमन होता है उसका नाम धर्म है।

श्रद्धाका मूल, ज्ञानका मूल, आनन्दका मूल आत्मा है; वह आत्मा कैसा है?–इसे जब तक यथार्थरूपसे न जाने–अनुभव न करे

तब तक श्रद्धा-ज्ञान आनन्दके अंकुर नहीं फूटते। आनन्द कौनसे पदार्थमें भरा है ?—जिसके सन्मुख होनेसे आनन्दका वेदन हो। आत्मा क्या वस्तु है ?-जिसे लक्षमें लेकर चिंतवन करनेसे आनंद हो। उसका जब तक यथार्थ श्रवण-ग्रहण-धारण और निर्णय भी न हो तब तक चिंतन कहांसे करेगा ? तथा उसके आनन्दका अनुभव कहांसे होगा ? अहो ! महिमावंत भगवान आत्मा अनंत धर्मोंसे प्रसिद्ध है; उसकी महिमा प्रसिद्धरूपसे सर्व संत और शास्त्र गाते हैं; किन्तु उस ओर उन्मुख होकर अपनी पर्यायमें जीवने कभी उसकी प्रसिद्धि नहीं की। भगवान आत्माकी प्रसिद्धि कैसे हो अर्थात् पर्यायमें उसका प्रगट अनुभव कैसे हो वह यहाँ बतलाते हैं।

स्वसंवेदन ज्ञानरूप लक्षण द्वारा भगवान आत्माकी प्रसिद्धि होती है। ज्ञान लक्षणको अंतरोन्मुख करके आत्माको लक्ष्य बनानेसे चैतन्यमूर्ति आत्माका अनुभव होता है। उस अनुभवमें अकेला ज्ञान ही नहीं है किन्तु ज्ञानके साथ श्रद्धा, आनन्द, वीर्य, प्रभुता, स्वच्छता आदि अनंत शक्तियाँ भी साथ ही उछलती हैं; इसलिये आत्मा अनेकान्त स्वरूप है। उस अनेकान्त मूर्ति भगवान आत्माकी अनंत शक्तियोंमेंसे कुछ शक्तियोंका यहाँ आचार्यदेवने वर्णन किया है, उनमें "जीवत्व" से लेकर "उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व" तककी १८ शक्तियों पर विस्तृत प्रवचन हो गये हैं। अब १९ वीं परिणामशक्ति है।

परिणामशक्ति कैसी है ? "द्रव्यके स्वभावभूत ध्रौव्य-व्यय-उत्पादसे आलिंगित, सदृश और विसदृश जिसका रूप है ऐसे एक अस्तित्व मात्रमयी परिणामशक्ति है।" आत्माके ज्ञान मात्र भावमें यह शक्ति भी साथ ही परिणमित होती है।

पहले तो ऐसा कहा कि ध्रौव्य, व्यय और उत्पाद-यह तीनों द्रव्यके स्वभावभूत हैं किसी अन्यके कारण नहीं हैं। जिस प्रकार ध्रुव-स्थितिपना अपने स्वभावसे ही है, किसी अन्यके कारण नहीं हैं; उसी प्रकार प्रति क्षण नई पर्यायकी उत्पत्ति भी अपने स्वभावसे ही है,

परके कारण नहीं है। जो पर निमित्तके कारण आत्माके परिणामोंका उत्पन्न होना मानता है उसने परिणाम शक्तिवाले आत्माको नहीं जाना। उत्पाद-व्यय-ध्रुव वह द्रव्यके स्वभावभूत है और द्रव्यका अस्तित्व ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुवसे आलिंगित है अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रुवकी भिन्न-भिन्न तीन सत्ताएँ नहीं हैं किन्तु एक ही सत्ता उन तीनों से एक साथ स्पर्शित है; उस सत्ताका अस्तित्व ध्रुवताकी अपेक्षासे तो सदृश है और उत्पाद-व्ययकी अपेक्षासे विसदृश है।—ऐसे अस्तित्व मात्रमय परिणाम शक्ति है। ध्रुवताके बिना परिणाम काहेमें होगा? और उत्पाद-व्ययके बिना परिणाम किसप्रकार होगा? उत्पाद-व्यय और ध्रुवताके बिना परिणाम हो नहीं सकता; इसलिये कहा है कि ध्रौव्य-व्यय-उत्पादसे आलिंगित ऐसे एक अस्तित्वमात्रमय परिणाम शक्ति है। "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" और "सत् लक्षण द्रव्यं"—इन दोनों महत्त्व पूर्ण (तत्वार्थ सूत्रके) सूत्रोंका इसमें समावेश हो जाता है। अस्तित्व मात्र कहकर सत्पना बतलाना है।

यद्यपि परिणाम शक्ति तो आत्मा और जड़ समस्त द्रव्योंमें है, किन्तु इस समय तो आत्माकी बात है। प्रत्येक आत्मामें परिणाम शक्ति त्रिकाल है। अज्ञान दशा, साधक दशा अथवा सिद्धदशा—उस प्रत्येकके समय परिणाम शक्तिका परिणमन तो वर्त ही रहा है; किन्तु परिणाम शक्ति वाले आत्माका भान करके उसका आश्रय करनेसे परिणाम शक्तिका निर्मल परिणमन होता है। इसप्रकार शक्तियोंका निर्मल परिणमन हो वही धर्म है; उसीमें आत्माकी प्रसिद्धि है।

जिसप्रकार घरमें लाखोंके मूल्यका एक आभूषण पड़ा हो, किन्तु जब तक उसकी प्रसिद्धि नहीं है अर्थात् उसकी खबर नहीं है तबतक तो वह घरमें होने पर भी न होनेके समान ही है। उसी प्रकार यह भगवान आत्मा ज्ञान आनंदादि अनंत शक्तियोंरूपी आभूषणोंसे भरपूर है, किन्तु जब तक उसका भान नहीं है तब तक वह अप्रसिद्ध है अर्थात् अज्ञानीका तो आत्मा विद्यमान होने पर भी अविद्यमान जैसा

ही है, उसे उसकी प्रसिद्धि नहीं है, और अंतर्मुख होकर आत्माकी श्रद्धा-ज्ञान करनेसे उसकी प्रसिद्धि होती है, अर्थात् आत्माकी शक्तियाँ निर्मल रूपसे परिणमित होकर उसका प्रगट अनुभव होता है।-ऐसी आत्माकी प्रसिद्धि हो उसका नाम धर्म है।

अठारहवीं उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्तिके वर्णनमें अनेक स्पष्टीकरण आगये हैं; तदनुसार यहाँ भी समझना। अठारहवीं शक्तिमें क्रम प्रवृत्ति और अक्रमप्रवृत्ति कहकर उत्पाद-व्यय-ध्रुव बतलाये थे और यहाँ सदृश तथा विसदृशरूप अस्तित्व कह कर परिणाम शक्ति बतलाई है। ध्रुव अपेक्षासे सदृशता है और उत्पाद-व्यय अपेक्षासे विसदृशता है।—ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुव के बिना परिणाम हो ही नहीं सकता। अकेली ध्रुवरूप नित्यता ही हो और उत्पाद-व्यय न हो तो प्रतिक्षण नयें परिणामकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; उसीप्रकार यदि सर्वथा क्षणिकता ही हो तथा ध्रुवता न हो तो दूसरे क्षण वस्तुका सत्पना ही न रहे इसलिये नये परिणाम भी काहेमें से होंगे ? इस प्रकार, अज्ञान दूर होकर ज्ञान, दुःख दूर होकर आनन्द और संसार दूर होकर मोक्ष इत्यादि परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रुवताके बिना नहीं हो सकते। इसलिये कहा है कि यह परिणाम शक्ति उत्पाद-व्यय-ध्रुवसे बुने हुए अस्तित्वमय है। आचार्यदेवने एक एक शक्तिमें गूढ़रूपसे वस्तु स्वरूपको गूँथ दिया है। अनादिकालीन अज्ञानमेंसे पलट कर अन्तर्मुख होकर नित्य स्थायी ज्ञान स्वभावके साथ एकता करके अनुभव किया वहाँ ज्ञानका निर्मल परिणमन हुआ और उस परिणमनमें ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुवसे बुना हुआ अस्तित्व भी साथ ही है, अर्थात् ज्ञानके साथ परिणमन शक्ति भी साथ ही उछलती है। इसलिये अनेकान्त अबाधितरूपसे वर्तता है।

ध्रुवता तथा व्यय और उत्पाद-यह तीनों मिलकर आत्माका अस्तित्व है। अकेली पर्यायको ही देखे और ध्रुव द्रव्यको प्रतीतिमें न ले तो अस्तित्वकी प्रतीति नहीं होती। इसलिये मात्र पर्याय दृष्टि द्वारा

आत्म शक्तिकी प्रतीति नहीं हो सकती–यह मुख्य रहस्य है।

पुनश्च कहा कि उत्पाद–व्यय–ध्रुव वह द्रव्यके स्वभावभूत है, वह अपनेसे ही होता है। पर्यायकी उत्पत्ति परके कारण होती है अथवा निमित्त आये वैसी पर्याय होती है—ऐसा जो मानता है उसने उत्पादको स्वभावभूत नहीं माना, इसलिये उत्पाद–व्यय–ध्रुवरूप अस्तित्व सिद्ध नहीं हुआ, और ऐसा होनेसे अनंत शक्तिवाला आत्मा ही सिद्ध नहीं हुआ।—इसप्रकार परके कारण जो पर्यायकी उत्पत्ति मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, उसकी पर्यायमें भगवान आत्माकी प्रसिद्धि नहीं होती।

ज्ञान स्वरूप आत्मामें सदृशपना और विसदृशपना दोनों विद्यमान हैं। गुणोंकी ध्रुवता अपेक्षासे सदृशता है अर्थात् एकरूपता रहती है—गुण ज्योंके त्यों रहते हैं; और अवस्थाके उत्पाद–व्ययकी अपेक्षासे विसदृशता है, अर्थात् अन्य–अन्यपना है। एक अवस्थाका व्यय होता है और दूसरीकी उत्पत्ति होती है—इसप्रकार उसमें विसदृशपना है, किन्तु गुणोंमेंसे एकका व्यय होकर दूसरेकी उत्पत्ति हो—ऐसा नहीं है, वे तो ज्योंके त्यों रहते हैं, इसलिये उनमें सदृशपना है। पर्यायमें "विसदृशपना" कहा वह कहीं विकारीपना सूचित नहीं करता परिवर्तनपना सूचित करता है। सिद्ध भगवन्तोंको सदैव ज्योंकी त्यों निर्मल पर्याय ही होती रहती है, तथापि वहाँ भी पर्यायका विसदृशपना तो है ही। ज्योंकी त्यों पर्यायें होने पर भी पहली पर्याय दूसरी नहीं है और दूसरी वह तीसरी नहीं है–इसप्रकार विसदृशपना है।

ध्रुव शक्तिरूपसे वस्तु एकरूप होती है किन्तु पर्यायरूपसे एकरूप नहीं होती। यदि ध्रुवरूपसे एकरूप न हो और विसदृश हो तो आत्मा चेतन मिटकर जड़ हो जाये; किन्तु ऐसा नहीं होता। चेतन तो चेतनरूपसे ध्रुव रहता है और यदि पर्यायसे भी एकरूपता हो तो संसार पर्याय दूर होकर मोक्ष पर्याय हो ही नहीं सकती। किन्तु ऐसा

नहीं है। वस्तु ध्रुवरूपसे सदृश—एकरूप रहती है तथापि पर्यायमें उत्पाद–व्ययरूप विसदृशपना है।—ऐसा वस्तुका स्वभाव है। उत्पाद-व्यय यह दोनों एक ही नहीं हैं; उत्पाद तो सद्भाव है और व्यय अभाव है; वे दोनों एक ही समयमें होने पर भी उनमें भिन्न—भिन्न पर्यायकी विवक्षा है। जो नष्ट होगई उस पर्यायकी अपेक्षासे व्यय है, वर्तमान वर्तती हुई पर्यायकी अपेक्षासे उत्पाद है और अखण्डरूप गुण की अपेक्षासे ध्रुवता है।—ऐसा उत्पाद–व्यय–ध्रुवका स्वरूप है। उत्पाद–व्यय–ध्रुव सहित अस्तित्व है, और ऐसे अस्तित्वमय परिणाम शक्ति है। ज्ञानमात्र आत्माके अनुभवमें यह शक्ति भी साथ ही है। यह शक्ति न हो तो परिणाम ही कहाँसे होगा? ज्ञानको अंतरोन्मुख करके पूर्ण आत्माको लक्ष्य बनाकर उसका अनुभव करनेसे एक साथ यह सब शक्तियाँ उसमें परिणमित हो रही हैं—निर्मलरूपसे उल्लसित हो रही हैं।

प्रश्नः—पर्यायमें विकार भी है तो सही ?

उत्तरः—विकार है वह सचमुच शक्तिका परिणमन नहीं है, क्योंकि शक्तिका परिणमन वास्तवमें उसीको कहते हैं जो शक्तिके साथ अभेद होकर निर्मलरूपसे परिणमित हो। जो शक्तिका आश्रय छोड़कर परके आश्रयसे विकाररूप परिणमित हो उसे वास्तवमें शक्तिका परिणमन नहीं कहते। साधकको अनंत शक्तिके पिण्डरूप आत्माके आश्रयसे शक्तिका निर्मल परिणमन होता है; और किंचित् अशुद्धता है वह शुद्ध द्रव्यकी दृष्टिमें अभूतार्थ है—गौण है, इसलिये उसका अभाव ही माना है। पर्यायमें अल्प विकार होने पर भी उसका अभाव कहना वह अपूर्व अंतर्दृष्टिकी बात है; वह उसीकी समझमें आ सकती है जिसकी दृष्टि शुद्ध द्रव्यपर हो।

यहाँ जिन शक्तियोंका वर्णन किया है उनमेंसे कुछ शक्तियाँ ऐसी हैं जो आत्माके अतिरिक्त जड़में भी हैं; किन्तु यहाँ तो आत्माकी ही बात है; और उसमें भी जिसकी पर्यायमें आत्माकी प्रसिद्धि हुई है ऐसे

साधक जीवको लक्ष्य करके वह बात कही है। ज्ञानमात्र आत्माके अनुभवमें साधकको अनंत शक्तियां किसप्रकार उछलती हैं वह यहां बतलाना है। अज्ञानीको तो आत्माकी प्रसिद्धि नहीं है, आत्माके ज्ञान लक्षणकी भी उसे खबर नहीं है; वह तो राग लक्षण वाला या शरीर लक्षण वाला ही आत्माको मानता है; आत्माकी या उसकी शक्तिकी उसे खबर ही नहीं है। अहो; इन शक्तियोंका वर्णन करके तो आचार्यदेवने आत्माके स्वभावकी अद्भुत महिमा प्रसिद्ध की है; ज्ञानमात्र आत्मामें कितनी गंभीरता भरी है उसे खोलकर बतलाया है।

प्रश्नः—यदि एक ज्ञानमात्र भावमें ही इन सब शक्तियोंका समावेश हो जाता है, तो फिर इतनी सारी शक्तियोंका अलग-अलग वर्णन किसलिये करते हो ? इन सब शक्तियोंको समझनेमें तो बड़ी मेहनत होती है।

उत्तरः—अरे भाई ! इन शक्तियोंको समझले तो अंतरमें आनंदकी तरंगें उछलने लगें। इसे समझनेमें "मेहनत" नहीं है किन्तु अनन्तकालकी थकावट दूर करनेका यह मार्ग है। और "ज्ञानमात्र भावमें समस्त शक्तियोंका समावेश हो जाता है"—ऐसा कहा वह तो अभेद अनुभवकी अपेक्षासे कहा है अर्थात् ज्ञानको अंतरोन्मुख करके जहाँ अभेदआत्माको अनुभवमें लिया वहाँ कहीं भिन्न—भिन्न शक्तियोंका विचार नहीं है, वहाँ तो अभेद आत्माके परिणमनमें समस्त शक्तियाँ एक साथ निर्मल रूपसे परिणमित हो रही हैं।—इसप्रकार ज्ञानमात्र भावमें समस्त शक्तियोंका समावेश हो जाता है ऐसा कहा है; किंतु अकेले ज्ञानगुणमें कहीं अन्य समस्त गुण नहीं आजाते। यदि एक गुणमें दूसरे समस्त गुण आजायें तब तो एक गुण स्वयं ही पूर्ण द्रव्य हो गया !—किंतु ऐसा नहीं है। "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" द्रव्यके आश्रयसे अनंत गुण विद्यमान हैं, किंतु एक गुणके आश्रयसे दूसरे गुण नहीं हैं—इसप्रकार अनंतगुणोसे अभेदरूप आत्मवस्तुकी दृष्टि करनेके लिये यह वर्णन है। आत्माका स्वभाव अनेकान्तमय किसप्रकार है अर्थात् उसमें अनंतधर्म किसप्रकार हैं

वह स्पष्ट समझानेके लिये आचार्यदेवने यह वर्णन किया है। इसलिये जिज्ञासुओंको यह बात अवश्य ही समझना चाहिये।

इस एक आत्माका अन्य पदार्थोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिये यहाँ परके साथ सम्बन्धकी बात ही नहीं है; और विकारकी भी बात नहीं है, क्योंकि परके साथका सम्बन्ध छोड़ देनेसे अकेले आत्मस्वभावमें विकार नहीं है, विकार वह आत्माका स्वभाव नहीं है। यह तो आत्माके स्वभावकी बात है; आत्माके स्वभावमें कैसे–कैसे धर्म विद्यमान हैं वह यहाँ बतलाते हैं। इसप्रकार "अनेकान्त" आत्माको परसे अत्यन्त भिन्न और अपने अनंत धर्मोंसे परिपूर्ण बतलाता है।—ऐसे आत्माको जानना, उसकी श्रद्धा करना, अनुभव करना वह मुक्तिमार्ग है।

जगतमें अनंत द्रव्य हैं, वे सब "सत्" हैं। आत्माभी अनंत हैं, प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न स्वतंत्र द्रव्य है; द्रव्यका लक्षण "सत्" है, वह सत्पना उत्पाद-व्यय-ध्रुवता सहित है; और वह उत्पाद-व्यय-ध्रुव अपने स्वभावभूत ही है; उत्पाद व्यय–और ध्रुवता यह तीनों मिलकर द्रव्यका सत्पना है। "ध्रुवता" अर्थात् वस्तुमें नित्य स्थायी रहनेका भी स्वभाव है और "उत्पाद-व्यय" अर्थात् बदलनेका भी स्वभाव है। स्थायी रहना और बदलना—यह दोनों एक–दूसरे से विरुद्ध नहीं हैं किन्तु यह दोनों मिलकर ही द्रव्यका सत्पना है।—ऐसे उत्पाद–व्यय–ध्रुवतायुक्त सत्ताके बिना द्रव्यके परिणाम सिद्ध नहीं हो सकते। इसप्रकार ज्ञानस्वरूप आत्माकी परिणाम शक्ति उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप सत्तामय है। एक परिणाम शक्तिमें नित्यपना और अनित्यपना दोनोंका समावेश होता है। नित्यताका निर्णय करनेवाला तो अनित्य है; यदि पर्याय बदलती न हो तो अनादिकालीन अज्ञान दशा पलटकर ज्ञानदशा हुए बिना, आत्मद्रव्यकी नित्यताका निर्णय कौन करेगा? नित्यताका निर्णय तो पर्यायमें होता है और वह पर्याय अनित्य है। तथा, यदि निर्णय करनेवाला आत्मा अखंड नित्यस्थायी न हो तो

उस निर्णयके फलको कौन भोगे ? और वह निर्णय किसके आधारसे करे ? इसलिये वस्तुरूपसे आत्मा स्वयं नित्य भी है; सदैव "मैं...मैं"–ऐसे संवेदनसे उसकी नित्यताका अनुभव होता है; और पर्यायमें दुःख सुख, अज्ञान–ज्ञान इत्यादि अनेक परिवर्तनोंके अनुभवसे उसकी अनित्यता सिद्ध होती है। हे जीव ! शरीर और रागादिको अलग कर देनेसे अकेला ज्ञान रहा, वह भी स्वतः ऐसे परिणाम स्वभाववाला है; उसमें आनन्द है, प्रभुता है, स्वच्छता है, चैतन्यमय जीवन है।–इत्यादि अनंत शक्तियाँ तेरे ज्ञानमात्र स्वभावका अभिनन्दन करती हैं। इसलिये तू पर की ओर न देखकर अंतर्दृष्टि करके ऐसे अपने आत्मस्वभावको देख...अपने आत्माके अनंत निधानको देख। उसे देखते ही तुझे अतीन्द्रिय आनन्दका अनुभव होगा और कहीं परके आश्रयसे लाभ होनेको तेरी मिथ्याबुद्धि दूर हो जायेगी।

सदृशता और विसदृशता—ऐसे दोनों स्वभाववाला तेरा अस्तित्व है। अशुभ विचार बदलकर शुभ होते हैं—यह तो सबको अनुभव सिद्ध है; विसदृशताके बिना विचार परिवर्तन नहीं हो सकता। और पहले मैं अशुभ विचारमें था तथा अब शुभविचारमें हूँ–इसप्रकार अपनी अखण्डताका अनुभव होता है वह सदृशताके बिना नहीं हो सकता।–इसप्रकार सदृशता और विसदृशता (अर्थात् उत्पाद–व्यय और ध्रुवता) के बिना परिणामरूप कार्य हो ही नहीं सकता। एक परिणामशक्तिमें यह सब आजाता है। परिणाम शक्ति आत्माकी है इसलिये अपनी पर्यायके उत्पाद–व्यय (सम्यक्त्वका उत्पाद, मिथ्यात्वका व्यय इत्यादि) अपने स्वभावसे ही होते हैं, किन्हीं कर्म आदि निमित्तोंके कारण आत्माके परिणाम नहीं होते।

आत्मा गुणरूपसे स्थायी रहता है और अवस्थासे बदलता है; उत्पाद–व्ययरूपसे बदलना और ध्रुवरूपसे स्थायी रहना–ऐसा ही उसका स्वभाव है। उत्पाद–व्यय और ध्रुव–यह तीन भिन्न—भिन्न सत्ताएँ नहीं हैं किन्तु तीनोंरूप एक ही सत्ता है। यदि वस्तु स्थित

रहकर बदले तभी नया कार्य होता है। यदि स्थित ही न रहे तो उसका नाश हो जाये और यदि बदले ही नहीं तो कार्य न हो। जैसे कि— लकड़ीके रजकरण बदलें तो वह जलकर राख हो जाती है; यदि वे बदलें ही नहीं तो राख न हो। इसीप्रकार प्रत्येक वस्तुका उत्पाद—व्यय—ध्रुव स्वभाव है।

जैसे—दस तोला सुवर्णकी वर्तमान में हार अवस्था है, वह बदलकर चूड़ी हुई; वहाँ पूरा दस तोला सुवर्ण स्थित रहकर हारमेंसे चूड़ी अवस्थारूप परिवर्तित हुआ है; इसलिये वह सुवर्ण स्थित भी रहा है और बदला भी है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु उत्पाद—व्यय—ध्रुवरूप परिणाम स्वभाववाली है। यहाँ वस्तुका सूक्ष्म स्वभाव समझानेके लिये सुवर्णका स्थूल उदाहरण है। आत्मा तो स्वाभाविक वस्तु है, सुवर्ण कहीं मूल—स्वाभाविक वस्तु नहीं है, वह तो संयोगी वस्तु है; वह संयोगकी बात स्वभावमें पूरी तरह लागू नहीं होती। सुवर्णके भाग करते—करते, जिसके किसी प्रकार दो भाग न हो सकें ऐसा अन्तिम पोइन्ट (—परमाणु) रहे वह मूल वस्तु है। सुवर्ण तो नष्ट भी हो सकता है, किन्तु परमाणुका कभी नाश नहीं होता। यहाँ तो दृष्टान्त रूपसे समझानेके लिये सुवर्णको मूलवस्तु माना जाता है। जिसप्रकार आकार बदलने पर भी सुवर्ण तो सुवर्ण ही रहता है, लकड़ी नहीं हो जाता; और सुवर्णरूपसे ध्रुव रहने पर भी उसके विविध आकार बदलते हैं। सुवर्ण तो संयोगी वस्तु होनेसे अल्पकाल टिकता है; उस अल्पकाल के दृष्टान्त परसे त्रिकाली वस्तुका स्वभाव समझ लेना चाहिये। आत्मा में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, केवलज्ञानादि अवस्थाएँ बदलती हैं और ज्ञान-स्वभावरूपसे आत्मा ज्यों का त्यों रहता है। यहाँ तो यह विशेष बतलाना है कि स्थित रहकर अवस्था बदलती है वह अपने स्वभावभूत है। किसी अन्यके कारण आत्मा स्थित नहीं रहता, और किसी अन्यके कारण उसकी अवस्था नहीं होती। इसीप्रकार अन्य समस्त पदार्थोंमें भी अपने-अपने स्वभावसे ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवता वर्तती है।

देखो, ऐसे वस्तुस्वभावकी प्रतीति वह वीतरागताका कारण

है। किसी दूसरेके कारण सुख–दुःख होते हैं यह बात ही नहीं रहती। जगतमें जो जीव दुःखी हैं वे अपनी पर्यायके ही वैसे उत्पादसे दुःखी हैं और अपनी दुःख पर्यायको बदलकर सुख पर्यायका उत्पाद भी वे स्वयं करें तो होता है; दूसरा जीव उनकी पर्याय नहीं कर सकता। आत्मा स्वयं अनंतशक्तिका पिण्ड है, किन्तु उसकी संभाल न करके शरीरपर लक्ष रखकर "शरीर ही मैं हूँ"—ऐसा मानता है और शरीरमें कुछ होनेपर मुझे हुआ ऐसा मानकर अपनी भिन्न सत्ताको भूल जाता है इसीलिये जीव दुःखी है। जब तक स्वयं देहसे भिन्न चैतन्यसत्ताकी सँभाल न करे तब तक उसका दुःख दूर नहीं होता। यह एक सिद्धान्त है कि दुःख किसी बाह्य संयोगके कारण नहीं हुआ है, इसलिये बाह्य संयोग द्वारा दुःख दूर नहीं होता; किन्तु स्वयं विपरीत भावसे दुःख उत्पन्न करता है वह अपने सीधे भावसे मिटता है। दूसरा कोई न तो दुःख दे सकता है और न मिटा सकता है।

देखो, "मैं दुःख दूर करूँ"—ऐसा विचार आता है, किन्तु "मैं आत्माका ही नाश कर डालूँ"—ऐसा विचार नहीं आता; अर्थात् स्वयं नित्यस्थायी रहकर दुःख अवस्था बदलकर सुख अवस्था करना चाहता है। इसप्रकार "मुझे दुःख दूर करके सुखी होना है"—इसीमें उत्पाद-व्यय-ध्रुवकी ध्वनि आजाती है। आत्मा त्रिकाल है और दुःख क्षणिक है, वह दुःख दूर हो सकता है। दुःख कौन दूर करता है ? जिसने उत्पन्न किया वह; दूसरे देखनेवालेने कहीं वह दुःख उत्पन्न नहीं किया है इसलिये वह उसे दूर नहीं कर सकता। शरीरमें रोग होने पर; अपना अस्तित्व उससे भिन्न होनेपर भी अपने भिन्न अस्तित्वको चूककर "यह रोग मुझे हुआ"—ऐसी मिथ्या कल्पनासे स्वयं दुःखी होता है। मैं तो चैतन्य हूँ, देहके उत्पाद–व्यय-ध्रुवसे मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुव बिलकुल भिन्न हैं; मेरे उत्पाद–व्यय–ध्रुव में मेरी अनन्त शक्तियाँ परिणमित होरही हैं—इसप्रकार स्वशक्ति की सँभाल करे तो उसमें कहीं दुःख है ही नहीं।

मैं परका दुःख दूर नहीं कर सकता—ऐसा ज्ञानीको भान होने पर भी रागकी भूमिकामें दुःखी जीवोंके प्रति (उस प्रसंगके कारण नहीं किंतु अपने रागके कारण) करुणा आदिका भाव होजाता है; केवली भगवान आदि वीतरागी जीवोंको ऐसा राग नहीं होता। धर्मात्माको किसी समय रोग होता है और औषधि करनेका राग भी होता है, किन्तु वहाँ विवेक वर्तता है कि—रोगके कारण राग नहीं है और रागके कारण औषधि आदिकी अथवा रोग मिटनेकी क्रिया नहीं होती; तथा राग या दवा वह कहीं दुःख मिटनेका उपाय नहीं है। मेरी सहन शीलताकी निर्बलताके कारण राग होता है; वह राग भी मेरे चिदानन्द स्वरूपमें नहीं है; चिदानंद स्वरूपके आश्रयसे राग टालना वह दुःख दूर करनेका उपाय है।—इसप्रकार ज्ञानी यथार्थ उपायको जानते हैं; इसलिये रागकी ओर उसके अभिप्रायका जोर नहीं जाता, इसलिये उसका राग अत्यंत- मंद है। अज्ञानी तो सब विपरीत मानता है—रोगके कारण राग मानता है, और राग द्वारा औषधि आदिका संयोग प्राप्त कर सकता हूँ ऐसा मानता है इसलिये संयोगसे दुःख दूर करनेका उपाय मानता है; इसलिये उसका जोर संयोग और रागकी ओर ही जाता है, इसलिये उसका राग महान शक्तिवान है।—इसप्रकार दोनोंके राग सम्बन्धी अभिप्रायकी दिशामें महान अंतर है।

—

अज्ञानी अनुकूल संयोगसे सुख और प्रतिकूल संयोगसे दुःख ऐसा मानता है; इसलिये दुःख दूर करके सुख करनेके लिये वह संयोगकी ओर ही देखता रहता है, किन्तु संयोगसे भिन्न अपने आत्माकी ओर देखना उससे नहीं होता; इसलिये उसे संयोगके आश्रयसे राग-द्वेष होते ही रहते हैं, वीतरागी शांतिका अनुभव नहीं होता।

ज्ञानी अपनेको संयोगोंसे सुख-दुःख नहीं मानते; उन्हें अनुभव है कि सुख अपने स्वभावमें ही है और जितनी बहिर्मुख वृत्ति जाये उतना दुःख है; इसलिये वे दुःख दूर करनेके लिए वे परकी ओर नहीं देखते किन्तु अपने स्वभावके आनन्दके अनुभवकी ओर झुकते हैं।

यहाँ आचार्य देव आत्माकी शक्तियाँ बतलाकर स्वद्रव्योन्मुख होना बतलाते हैं।

जगतके समस्त द्रव्य सत् हैं और उनकी परिवर्तन शीलता उनके स्वभावसे ही है; उसके बदले अज्ञानी उनकी सत्ताको अस्वीकार करके कहता है कि—मैं उन्हें बदल सकता हूँ; यानी वह सचमुच अपनी चैतन्य सत्ताको परसे भिन्न स्वीकार नहीं करता; विपरीत अभिप्राय द्वारा स्वयं अपनी सत्ताका ही घात करता है;—उसका नाम आत्मघात है और उस आत्मघातको महान पाप कहा है। मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुव मेरी सत्तामें ही हैं और परके उत्पाद-व्यय-ध्रुव-परकी सत्तामें ही हैं; दोनोंकी सत्ता भिन्न–भिन्न है, स्वसे है परसे नहीं, इसलिये एकके उत्पाद–व्यय–ध्रुवमें दूसरेका कोई हाथ नहीं है।—ऐसा जानकर स्वयं अपनी शुद्ध चैतन्य सत्ताको श्रद्धा–ज्ञान–चारित्रमें अंगीकार करना और परसत्ताको अपनेसे भिन्न यथावत जानना,—ऐसा भेद-ज्ञान आत्माको जीवित रखता है—आत्माको प्रसिद्ध करता है; उसमें आत्मा जैसा है वैसे स्वभावसे प्रसिद्ध होकर मुक्ति होती है।

'मैं' और "वह"—ऐसे दो भेद होते हैं वे ही बतलाते हैं कि स्व और पर वस्तुकी सत्ता भिन्न–भिन्न है; यदि भिन्न सत्ता न हो तो "यह मैं" और "यह वह"—ऐसे दो भेद न पड़ें। स्व–परकी सत्ता भिन्न–भिन्न होने पर भी, परवस्तुके कार्य मुझसे होते हैं—ऐसा जो मानता है वह परवस्तुकी स्वतंत्र सत्ताका अधिकार छीनना चाहता है; परको अपने आधीन मानकर उसकी स्वाधीनताको नष्ट करना चाहता है; किन्तु परवस्तु तो कहीं उसके आधीन होकर परिणमित नहीं होती इसलिये वह अज्ञानी परके आश्रयसे परिणमित होता हुआ आकुल-व्याकुल होकर स्वयं अपनी स्वाधीनताका घात करता है। जिसप्रकार एक राजाकी सत्ता पर–दूसरा राजा अधिकार करने जाये तो वहाँ युद्ध होता है, उसी प्रकार चैतन्य और जड़ दोनों पदार्थ अपनी–अपनी स्वतंत्र सत्ताके राजा हैं, तथापि आत्मा परको अपना मानकर उसकी

सत्तामें हस्तक्षेप करने जाये तो वहाँ विसंवाद उत्पन्न हो जाता है अर्थात् आत्माकी पर्यायमें शुद्धताका घात होकर अशुद्धता हो जाती है—दुःख हो जाता है—संसार हो जाता है। परसे अत्यन्त विभक्त और अपने ज्ञानादि अनन्तगुणोंसे एकत्व ऐसी अपनी चैतन्य सत्ता को जानकर— श्रद्धा करके उसमें स्थिर रहनेसे शुद्धता होती है–सुख होता है–मुक्ति होती है, और स्वभावाश्रित स्वतंत्रतासे आत्मा शोभायमान होता है।

अहो ! जिसे आत्माका कल्याण करना हो उसे इसी समय यह समझने योग्य है। आत्माको भवसे छुड़ाने तथा कल्याण करनेकी जिसे सच्ची लगन लगी हो वह अन्य समस्त कार्योंकी प्रीति छोड़कर आत्महितका उद्यम करता है;—पहले अन्य कार्य कर लें फिर आत्माका हित करेंगे—ऐसी अवधि वह बीचमें नहीं डालता। और उसे ऐसी कालकी मर्यादाभी नहीं होती कि अमुक दिनके भीतर ही आत्मा समझमें आजाये तो समझना है, हमारे पास अधिक समय नहीं है। जहाँ रुचि हो वहाँ कालकी मर्यादा नहीं होती। जिसे आत्माकी रुचि हो—सच्ची लगन हो वह उसके प्रयत्नके लिये कालावधि नहीं बांधता। और जिसे ऐसी लगन हो वह अवश्यही अल्पकालमें आत्महित साध लेता है। जिसे संसारमें पैसेकी प्रीति है वह ऐसी अवधि निश्चित नहीं करता कि अमुक समयमें ही पैसा मिलेगा तो लूंगा; वहां तो कालकी चिंता किये बिना प्रयत्न करता ही रहता है और उसीमें सारा जीवन व्यर्थ गंवा देता है। उसीप्रकार जिसे आत्माकी रुचि जागृत हुई है वह ऐसी कालावधि नहीं बांधता कि मैं अमुक समय तकही आत्माको समझनेका प्रयत्न करूंगा वह तो कालकी चिंता किये बिना प्रयत्न करता ही रहता है और उसे अवश्य आत्माका अनुभव होता है।

आत्माकी रुचिके अभ्यासमें जो काल व्यतीत हो वह भी सफल है। अभी बाहरके व्यापारादि कार्य कर लें फिर आरामसे आत्महित करेंगे–इसप्रकार जो अवधि बांधता है उसे वास्तवमें आत्माकी लगन नहीं लगी है। अरे, आत्माकी चिंताके बिना अनंतानन्त काल व्यतीत हो

गया तथापि मेरे भव भ्रमणका अंत नहीं आया, इसलिये अब तो ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे मेरा आत्मा इस भव भ्रमणसे छूट जाये, —इसप्रकार जिसे अंतरसे आत्मार्थ जागृत हो वह आत्महितके प्रयत्न बिना एक क्षण भी नहीं गँवाता, और ऐसा अपूर्व आंतरिक प्रयत्न उदित हो तभी आत्माकी प्राप्ति होती है। भाई, कोई दूसरा तेरा हित कर दे ऐसा नहीं है; तू ही अपने स्वभावका उद्यम करके अपना हित कर! स्वभावको भूलकर तूने अभी तक परभावसे अपना अहित किया; अब सत्समागमसे यथार्थ स्वभावको समझ कर तू ही अपना अपूर्व हित कर।

अभी जो परका करनेके भावमें रुकता है वह आत्महितका प्रयत्न कहाँसे करेगा? यह आत्मा कहीं पर जीवको बचा नहीं सकता, किन्तु परको बचानेका शुभभाव करे वह पुण्य है। उस भावके कारण पर जीव बच जाये ऐसा नहीं हो सकता; तथा उस भावसे आत्माका कोई हितभी नहीं हो सकता; और वह पाप भाव है—ऐसा भी नहीं है। वह मात्र पुण्य बंधका कारण है। जीवदयाके शुभभावको पाप कहनेवाले तो मूढ़ हैं; उसे धर्म माननेवाले भी मूढ़—अज्ञानी हैं, तथा उस भावसे आत्मा परका कुछ कर सकता है—ऐसा माननेवाले भी मूढ़—अज्ञानी ही हैं। परसे और परकी ओरके शुभभावसे भी पर ऐसे अपने ज्ञानानन्द स्वरूपको पहिचाने वही धर्मी है।

कुछ मूढ़ जीव ऐसा भी मानते हैं कि कालके अनुसार धर्म भी बदलना चाहिये; आजकल आत्माको समझनेका काल नहीं है, आजकल तो देश सेवाके कार्यमें लग जाना ही धर्म है।" ज्ञानी उससे कहते हैं कि अरे भाई! क्या आजकल तेरा आत्मा मर गया है? आत्मा त्रिकाल है तो उसका धर्म भी त्रिकाल एकरूप वर्तता है। क्या चौथे कालका आत्मा भिन्न प्रकारका और पंचम कालका भिन्न प्रकारका होता है?—नहीं, आत्मा तो वही है, कालके बदलनेसे कहीं आत्माका स्वरूप नहीं बदल जाता, इसलिये

चौथे कालमें धर्मका जो स्वरूप था वही वर्तमानमें है। "एक होय त्रण काल मां परमारथनो पंथ"—धर्मका स्वरूप त्रिकाल एकही है उसमें किसी काल फेरफार नहीं होता। जैनधर्मको कालकी मर्यादामें कैद नहीं किया जा सकता। जैनधर्म तो वस्तुका स्वरूप है अर्थात् आत्माकी शुद्धता वह जैनधर्म है, आत्माको कालकी मर्यादामें नहीं बांधा जा सकता; वस्तु स्वरूपका नियम नहीं बदला जा सकता। वस्तुस्वरूप किसी काल विपरीत नहीं होता। चेतन वस्तु जड़ बन जाये अथवा जड़ वस्तु चेतन हो जाये—ऐसा किसी काल नहीं होता; तथा जो विकारी भाव हैं उनसे धर्म हो जाये— ऐसा भी कभी नहीं होता इसलिये वस्तु स्वभावरूप जैनधर्मको कालकी मर्यादामें कैद नहीं किया जा सकता।

आत्माकी सत्ता त्रिकाल है; वह गुणरूपसे ध्रुव स्थित रह कर पर्यायरूपसे बदलती है।—ऐसे सत्स्वभावकी जिसे श्रद्धा हो वह समझता है कि मेरे सत्को परका आश्रय नहीं है;—ऐसा यथार्थ भान होनेसे परसन्मुख वृत्ति न रहकर स्वभावोन्मुख हो जाती है, इसलिये उसे स्वभावके सम्यक्श्रद्धान–ज्ञान–आचरणरूप धर्म होता है।

मूढ़ प्राणी कहते हैं कि पहले संसार सुधार लें फिर धर्म करेंगे; तो उनसे कहते हैं कि अरे भाई! विकारी भाव ही संसार है; वह संसार तो काले कोयलेके समान है; यदि उसे सफेद करना हो तो सुलगा दे......अर्थात् संसार कभी सुधर नहीं सकता, इसलिये स्वभावके सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान–आचरण द्वारा विकारको जलाकर तू संसार से छूट कर मोक्ष प्राप्त करले।

प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावसे ही उत्पाद–व्यय–ध्रुव स्वरूप है, इसलिये उसके स्वभावसे ही उसका परिणमन होता है; किन्तु अज्ञानी जीव स्वभावको न देखकर संयोगसे ही देखता है इसलिये संयोगके कारण कार्य हुआ—इसप्रकार वह विपरीत देखता है। यह "देखत–भूल" ही संसारका मूल है; और वस्तुके यथार्थ स्वभावको देखना वह मोक्षका मूल है। वस्तु स्वभावको जाने बिना

बाह्यसे ज्ञानीकी पहिचान नहीं होती, और यह भी नहीं जाना जा सकता कि ज्ञानी किसप्रकार धर्म करते हैं। इस सम्बन्धमें बन्दरका दृष्टान्त है कि—एकबार कुछ लोगोंने यात्रा करते समय जंगलमें डेरा डाला। जाड़ेके दिन थे, कड़ाकेकी ठंड पड़ रही थी; इसलिये आसपास से सूखे पत्ते और घास इकट्ठा करके उसमें चिनगारी रखकर आग जलाई और तापने बैठे। पेड़ों पर बैठे हुए बन्दर यह सब देख रहे थे। उन्हें भी ठंड लग रही थी, इसलिये सोचा कि हम भी इसीतरह आग जलाकर ठंडसे बचें। उन्होंने घास पान तो इकट्ठे कर लिये; लेकिन अब चिनगारी कहाँसे लायें? मनुष्योंने कोई चमचमाती हुई वस्तु रखी थी—ऐसा सोच कर उड़ते हुए जुगनुओंको पकड़ा और घासके ढ़ेरमें रखा! इसप्रकार बहुत परिश्रम किया किन्तु बन्दरोंने आग नहीं जला पाई और न उनकी ठंड ही दूर हुई। उसीप्रकार ज्ञानियोंने तो आत्मामें चैतन्य चिनगारी प्रगट की है; अंतरमें अतीन्द्रिय स्वभावकी सम्यक्-श्रद्धा–ज्ञान–रमणता द्वारा उन्हें धर्म होता है और शुभरागके समय वे पूजा–भक्ति–दया दानादिमें भी वर्तते हैं। वहाँ अज्ञानी जीव (बन्दरोंकी भांति) ज्ञानियोंकी चैतन्य चिनगारीको तो नहीं पहिचानते और मात्र पूजा–भक्ति, दया–दानादि शुभक्रियासे ज्ञानियोंको धर्म होता होगा—ऐसा समझकर स्वयं भी उसीको धर्म मानकर पूजा–भक्ति आदिमें वर्तते हैं। ज्ञानीकी मात्र बाह्य शुभ क्रिया देखकर अज्ञानी उसे धर्म मान लेते हैं; किन्तु चैतन्य चिनगारीको नहीं जानते इसलिये उन्हें धर्म नहीं होता। इसप्रकार स्वभावको न देखकर अज्ञानी संयोगको ही देखते हैं। ज्ञानीको उपदेशका भाव आये और हजारों–लाखों जीवोंको हितका उपदेश दें,—वहाँ अज्ञानीको ऐसा लगता है कि यह दूसरोंका भला करते दिखाई देते हैं इसलिये यही धर्मका उपाय है! किन्तु भाई, तूने जो देखी, वह क्रिया वास्तवमें ज्ञानीने की ही नहीं है, और ज्ञानीने जो क्रियाकी है उसे तूने देखा ही नहीं है। वास्तवमें वाणी या रागकी क्रियाके कर्ता ज्ञानी नहीं हैं; उन्होंने तो अपने ज्ञानानन्द स्वभावकी सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान–रमणता ही की है; और उसीके द्वारा धर्म

होता है। इसे समझे बिना मात्र बाह्य क्रियाकी नकल करे वह तो बन्दरकी भांति "अकलके बिना नकल" है उसमें धर्म या कल्याण नहीं है।

महावीर भगवानने साढ़े बारह वर्ष तक तपश्चर्या की—ऐसा कहे, किन्तु यह न जाने कि भगवानके आत्माने अन्तरमें क्या किया—उनकी तपश्चर्याका स्वरूप न जाने; और आहार छोड़कर ऐसा मानले कि मैंने भी तपश्चर्या की है तो उसमें किंचित् धर्म नहीं है। अहो! भगवानने तो अंतरके चैतन्य स्वभावमें लीन होकर आनन्दका अनुभव किया था, और उस आनन्दकी लीनतामें आहारकी वृत्ति ही नहीं उठती थी–ऐसी उनकी तपश्चर्या थी। वहां अंतरमें आनन्दकी लीनता हुई उसे तो मूढ़ जीव देखते नहीं हैं और मात्र बाह्यके आहार त्यागको ही धर्म मान लेते हैं, वह भी उपरोक्त दृष्टान्तकी भांति "अकलके बिना नकल" है; उसमें धर्म नहीं है।

धर्मकी सत्ता आत्मामें है; जिसकी वृत्ति आत्मसन्मुख है उसे सर्वत्र धर्म होता है; और जिसकी परसन्मुख वृत्ति है वह चाहे जहाँ हो...वनमें हो, मंदिरमें हो या साक्षात् भगवानके पास हो...किन्तु उसे धर्म नहीं होता; किन्तु जहाँ गुणभरे हैं उसमें तो वह देखता नहीं है। अपनेमें गुणभरे हैं, वहाँ जो दृष्टि नहीं करता उसे धर्म नहीं होता। अज्ञानीको मिथ्याश्रद्धाके कारण पूर्ण आत्मा ढँक गया है; उसे यथार्थ आत्मा बतलाकर आचार्यदेव आत्माकी प्रसिद्धि कराते हैं, इसलिये इस समयसारकी टीकाका नाम भी "आत्मख्याति" (आत्माकी प्रसिद्धि) रखा है।

भाई! तेरा आत्मा ज्ञानलक्षणसे प्रसिद्ध है, आत्माको ज्ञानलक्षणवाला कहनेसे उस ज्ञानके साथ आनन्दादि अनंत शक्तियां साथ ही हैं। उनमें एक परिणामशक्ति भी है; एक साथ उत्पाद-व्यय-ध्रुवतासे आलम्बित, सदृश तथा विसदृशरूप अस्तित्वको आत्मा अपनी परिणामशक्ति द्वारा धारण कर रखता है। इस परिणामशक्तिमें "ध्रुव

उपादान" और "क्षणिक उपादान" दोनोंका समावेश हो जाता है। सदृशता अथवा ध्रुवता तो ध्रुव उपादान है और विसदृशता अथवा उत्पाद–व्यय वह क्षणिक उपादान है–ऐसी परिणामशक्तिको पहिचानने पर "निमित्तसे कार्य होता है"—ऐसी पराश्रयबुद्धि छूट जाती है तथा स्वभावाश्रित अनंतगुणोंका निर्मल परिणमन होता है।–यही सिद्धिका साधन है।

ऐसे अपने आत्माको पहिचाननेका प्रयत्न करना ही प्रत्येकका प्रथम कर्तव्य है। आजकल तो लोग बाह्यमें कर्तव्य–कर्तव्य करते हैं। देशका कर्तव्य, कुटुम्बका कर्तव्य, पुत्रका कर्तव्य, युवकोंका कर्तव्य-इस तरह अनेक प्रकारसे बाह्य कर्तव्य मनाते हैं और लम्बे–चौड़े भाषण देते हैं; किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि भाई! यह सब बाह्य कर्तव्य तो निरर्थक हैं—व्यर्थकी परेशानी है। इस आत्माको समझना ही सबका सच्चा कर्तव्य है; उस कर्तव्यका एकबार पालन करे तो मोक्ष प्राप्त हो।

देखो, यह आत्माका कर्तव्य! बाह्यमें कहीं आत्माका कर्तव्य है? कहते हैं–नहीं; बाह्यका तो आत्मा कुछ कर ही नहीं सकता; तथापि कर्तव्य माने तो वह मिथ्याभिमान है। तेरा स्वदेश तो तेरा आत्मा है, अनंत गुणोंसे परिपूर्ण असंख्यात प्रदेशी आत्मा ही तेरा "स्वदेश" है; उसे पहिचानकर उसकी सेवा कर, वह तेरा कर्तव्य है, इसके अतिरिक्त बाहरका देश तो "परदेश" है, उसमें तेरा कर्तव्य नहीं है। अब, भीतर जो शुभराग होता है वह तो कर्तव्य है न?—तो कहते हैं कि नहीं; राग भी वास्तवमें कर्तव्य नहीं है। राग करता स्वयं है, किन्तु वह कर्तव्य नहीं है; क्योंकि उसमें अपना हित नहीं है। जिसमें अपना हित न हो उसे कर्तव्य कैसे कहा जा सकता है? अंतरमें अपने चैतन्यमूर्ति आनन्दसे भरपूर आत्माको पहिचानकर उसके आश्रयसे सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र प्रगट करना और इसप्रकार आत्माको भव–दुःखसे छुड़ा लेना वह प्रत्येक जीवका कर्तव्य है।

यह शरीर तेरा नहीं है, शरीरमें तेरा कोई कर्तव्य नहीं है,

और शरीर तुझे शरण नहीं है। तेरी अनन्त शक्तिमें राग नहीं है; राग तेरा कर्तव्य नहीं है, और राग तुझे शरण नहीं है। तेरा आत्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न है, वही तेरा स्वरूप है,

उस शक्तिकी सँभाल करके उसमेंसे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट करना वह तेरा कर्तव्य है, और वह शक्ति ही तुझे शरणभूत है।

इसलिये उसे पहिचानकर उसकी शरण ले और अपना कर्तव्य पूरा कर। मैं परका कर दूँ—ऐसी मान्यतामें जो रुकता है वह अपना वास्तविक कर्तव्य चूक जाता है। इसलिये हे भव्य ! तू परका करनेकी बुद्धि छोड़ और आत्महितमें अपनी बुद्धि जोड़। आत्माकी सँभाल कर, उसकी शरण ले और उसकी शरणमें सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट करके अपने आत्माको भव भ्रमणसे छुड़ा......और इसप्रकार अपना कर्तव्य पूरा कर। यह मनुष्यभव पाकर अब आत्माको भव दुःखसे छुड़ाना ही हे जीव ! तेरा कर्तव्य है।

आत्मा अपनी अनन्त शक्तिसे परिपूर्ण है; उसमें कोई शक्ति कम नहीं है कि दूसरेके पाससे ले ! और न उसकी कोई शक्ति अधिक है कि दूसरे को दे ! आत्मा अपनी शक्ति न तो दूसरेको देता है और न दूसरेके पाससे शक्ति लेता है। परकी शक्ति परमें और अपनी शक्ति अपनेमें। समस्त द्रव्य अपनी–अपनी शक्तियोंसे परिपूर्ण हैं। अपने ऐसे स्वभावका निर्णय करे तो परसे लाभ लेनेकी पराश्रय बुद्धि छूट जाये और अन्तर्स्वभावके आश्रयकी वृत्ति हो जाये।—इसलिये हे भाई ! तू जरा विचार तो कर कि तेरे गुण कहाँसे आते हैं ? तेरे गुणोंकी स्थिरता अथवा दोष दूर होकर निर्मल पर्यायकी उत्पत्ति किसी दूसरेके कारण नहीं है, किन्तु तेरे आत्माके परिणामस्वभावसे ही है। किसीके आधारसे तेरे गुण–पर्याय नहीं निभ रहे हैं और तू आधार होकर किसीके गुण–पर्यायको नहीं निभाता है; इसलिये तू किसी अन्यसे संतुष्ट हो या किसी अन्यको सन्तुष्ट करदे—ऐसा तेरा स्वभाव नहीं है; अपने

आत्माका अवलम्बन करके तू स्वयं सन्तुष्ट हो (सम्यग्दर्शन–ज्ञान–आनन्दरूप हो) ऐसा तेरा स्वभाव है। इसलिये अपने आत्माकी निज शक्तिको सँभालकर तू प्रसन्न हो ! अपने निजवैभवका अंतर् अवलोकन करके तू आनन्दित हो ! "अहो ! मेरा आत्मा ऐसा परिपूर्ण शक्तिवान ...ऐसा आनन्दस्वभावी है।"—इसप्रकार आत्माको जानकर सन्तुष्ट हो....हर्षित हो....आनन्दित हो !! जो आत्माको यथार्थरूपसे पहिचान ले उसे अपूर्व आनन्दका अनुभव होता ही है। इसलिये आचार्यदेव आत्माकी अनेक शक्तियोंका वर्णन करके कहते हैं कि हे भव्य ! ऐसे आत्माको जानकर तू आनन्दित हो !

[—यहाँ उन्नीसवीं परिणाम शक्तिका वर्णन हुआ।]

* * *

मुक्तिके उपायका प्रथम सोपान

अंतरके चिदानन्दस्वभावको पहिचान कर उसमें एकाग्रतासे राग दूर करके जिन्होंने सर्वज्ञता प्रगट की, उन सर्वज्ञपरमात्माकी दिव्यध्वनिमें ऐसा उपदेश निकला कि—अरे आत्मा ! तूने कभी अपने मूल स्वभावकी ओर दृष्टि नहीं की; तेरा आत्मा एक समयमें परिपूर्ण ज्ञान और आनन्दस्वभावसे भरपूर है; उसे पहिचानकर उसकी प्रीति कर। अंतर्आत्मामें एकाग्र होनेसे राग दूर होकर सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है; इसलिये राग तेरा सच्चा स्वरूप नहीं है किन्तु पूर्णज्ञान तेरा स्वरूप है।—इसप्रकार रागसे भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्माका निर्णय करना वह मुक्तिके उपायका प्रथम सोपान है।

[२०]

• अमूर्तत्व शक्ति •

भाई ! एकबार तेरे स्वभावका हर्ष ला......घबरा मत......हताश न हो ! स्वभावका उत्साह लाकर तेरी शक्तिको उछाल !

अहो ! आनन्दस्वभावी चैतन्य भगवान स्वयम् विराज रहा है......किन्तु अपने सन्मुख न देखकर विकारके ही सन्मुख देखता है, उससे विकारका ही वेदन होता है। अगर स्वभावसन्मुख देखे तो आनन्दका वेदन हो।

समयसारमें आचार्यदेवने आत्माको "ज्ञायकमात्र" कहा है। ज्ञायकमात्र कहा उसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मामें एक ज्ञानगुण ही है और दूसरे कोई गुण हैं ही नहीं; ज्ञानके अतिरिक्त दूसरे भी अनन्त गुण आत्मामें अनादि अनन्त विद्यमान हैं; परन्तु ज्ञानादि गुणोंसे विरुद्ध ऐसे रागादि विकारसे और जड़से आत्मस्वभावकी भिन्नता बतलानेके लिये उसे ज्ञानमात्र कहा है; और इसप्रकार ज्ञानको लक्षण बनाकर अनंतगुणोंसे अभेद आत्मा लक्षित कराया है। ज्ञान लक्षणसे

लक्षित होनेवाले आत्मामें कैसी–कैसी शक्तियाँ हैं उनका यह वर्णन चल रहा है। उन्नीसवीं "परिणाम शक्ति" का वर्णन हो चुका है, अब २० वीं "अमूर्तत्व" नामक शक्तिका वर्णन करते हैं।

"कर्मबन्धनके अभावसे व्यक्त किये गये, सहज, स्पर्शादि रहित ऐसे आत्मप्रदेशोंरूप अमूर्तत्वशक्ति है।"–ज्ञानमात्र परिणमनमें यह शक्ति भी साथ ही परिमित होती है।

आत्मा असंख्यप्रदेशी अखंड वस्तु है। आत्माके प्रदेश अमूर्त हैं, उनमें वर्ण, गंध, रस या स्पर्श नहीं है। असंख्य प्रदेशोंमें चैतन्य–सुख–वीर्य और सत्तासे भरपूर तथा जड़से रहित ऐसा अमूर्त आत्मा है। आत्माके असंख्य प्रदेशोंमें काला-लाल-हरा-पीला या सफेद ऐसा कोई वर्ण नहीं है; सुगंध या दुर्गंध ऐसी कोई गंध भी आत्मामें नहीं है। आत्माके असंख्य प्रदेश आनन्दरूपी रससे भरपूर हैं; किन्तु चरपरा–कड़वा–कसायला–खट्टा या मीठा—ऐसा कोई रस आत्मामें नहीं है; तथा रूखा; चिकना; ठंडा–गर्म, नर्म-कठोर या हलका-भारी ऐसा कोई स्पर्श भी आत्मप्रदेशोंमें नहीं है। आत्मा वर्ण-गंध-रस-स्पर्शसे शून्य अमूर्तिक प्रदेशोंवाला है।—ऐसा अमूर्तिक आत्मा इन्द्रियों द्वारा दृष्टिगोचर नहीं होता किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा ही अनुभवमें आता है।

यहाँ आचार्यदेवने आत्म प्रदेशोंको "कर्मबंधके अभावसे व्यक्त किये गये"—ऐसा कहकर निर्मल पर्यायको भी साथ मिलाकर अमूर्तत्व शक्तिका वर्णन किया। इसप्रकार प्रत्येक शक्तिके साथ उस-उस शक्तिका निर्मल परिणमन भी बतलाते जाते हैं। शक्तिको पहिचानकर उसका सेवन करनेसे उस शक्तिका निर्मल परिणमन होता है।

मूर्त कर्म और शरीरके सम्बन्धमें विद्यमान होने पर भी आत्मा कहीं मूर्त नहीं हो गया है; इससमय भी आत्मा अमूर्त स्वभावी ही है। भाई, मूर्त ऐसे कर्म या शरीर तेरे अमूर्त आत्माके साथ किंचित् एकमेक नहीं हो गये हैं। अमूर्त ऐसा तेरा चैतन्य आत्मा और मूर्त ऐसे जड़ कर्म–दोनों एकक्षेत्रमें होने पर भी स्वभावसे सर्वथा पृथक् हैं। सिद्धदशा-

में कर्म बंधका सर्वथा अभाव होने पर साक्षात् अमूर्तपना प्रगट हुआ; वह बतलाकर आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा तेरा अमूर्त स्वभाव है। सिद्ध भगवन्तोंको जो अमूर्तपना प्रगट हुआ वह कहाँसे प्रगट हुआ है? —पहलेसे ही आत्माका अमूर्त स्वभाव था वही प्रगट हुआ है। पहले आत्मा मूर्त था और फिर कर्म टलनेसे अमूर्त हुआ—ऐसा कुछ नहीं है। पर्यायमें मूर्तके सम्बन्धसे आत्माको मूर्त कहना वह तो उपचार ही है, वास्तवमें आत्मा कहीं मूर्त नहीं है। कर्मोपाधिकी ओर न देखनेसे सहज आत्म प्रदेश अमूर्त हैं। आत्माके अमूर्तपनेका निर्णय करे तो मूर्तिक पदार्थों (शरीर–कर्मादि) के साथ एकत्व बुद्धि छूट जाये; और रागादि विकार यद्यपि अरूपी है तथापि वह कर्म सम्बन्धकी अपेक्षा रखता है; इसलिये जहाँ कर्मका सम्बन्ध तोड़ दिया वहाँ विकारके साथकी एकत्व बुद्धि भी छूट जाती है। अज्ञानीको ऐसा लगता है कि मेरा ज्ञान जड़में चला जाता है, अथवा तो जड़का रस (गुलाबजामुनका स्वाद आदि) मेरे ज्ञानमें आजाता है; किन्तु वास्तवमें कहीं अमूर्तिक ज्ञान मूर्त पदार्थमें नहीं चला जाता; और मूर्त पदार्थका रस कहीं अमूर्तिक ज्ञानमें नहीं आजाता; किन्तु उस स्वाद आदिको जाननेपर वहीं राग करके उसमें अटक जाता है और ज्ञानके वास्तविक स्वादको भूल जाता है—भिन्न ज्ञानको भूल जाता है। इसप्रकार अज्ञानसे उसे जड़के साथ एकत्वपनेकी बुद्धि हो गई है। ज्ञानी तो जानते हैं कि—हमारा अमूर्तिक ज्ञान जड़से पृथक् ही है और रागसे भी पृथक् है। मेरा ज्ञान तो अतीन्द्रिय आनन्दके स्वादवाला है।

चेतन या जड़, अमूर्त या मूर्त–जैसी वस्तु हो वैसे ही उसके गुण-पर्यायें होती हैं। आत्मा अमूर्तिक वस्तु है; वह द्रव्य अमूर्त, उसके सब गुण अमूर्त तथा उसकी पर्यायें भी अमूर्त हैं। जड़-पुद्गल मूर्त हैं; वह द्रव्य मूर्त, उसके गुण मूर्त तथा उसकी पर्यायें (कर्मशरीरादि) भी मूर्त हैं। इसप्रकार अमूर्तिक और मूर्तिक दोनों वस्तुओंके द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव त्रिकाल भिन्न-भिन्न हैं। एकक्षेत्रावगाहीपना होने पर भी दोनोंके प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। आत्माके प्रदेश अमूर्तिक हैं और

शरीर–कर्मादिके प्रदेश मूर्त हैं। आत्मा अमूर्तिक होनेसे उसका ज्ञान भी अमूर्त है; उसका सम्यग्दर्शन भी अमूर्त है, उसका आनन्द भी अमूर्त है;—इसप्रकार अतीन्द्रिय ज्ञानका ही विषय होनेका उसका स्वभाव है। ऐसे अमूर्त चिदानन्द स्वभावकी दृष्टि करने पर जहाँ उसके अवलम्बनसे मूर्त कर्मादि समस्त पदार्थोंके साथका निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध टूटा वहाँ साक्षात् अमूर्त ऐसी सिद्ध दशा हुए बिना नहीं रहती।

प्रत्येक शक्तिका वर्णन करते हुए उस शक्तिकी निर्मल पर्यायको तथा सम्पूर्ण आत्म द्रव्यको साथ ही साथ रखकर यह बात है। द्रव्यकी दृष्टिसे ही इन शक्तियोंकी यथार्थ पहिचान होती है; और इसप्रकार शक्तिकी यथार्थ पहिचान होनेसे उसकी निर्मल पर्याय होती है।—इसप्रकार द्रव्य, गुण और निर्मलपर्यायकी संधि है कोई कहे कि द्रव्य-गुणोंको माना किन्तु निर्मल पर्याय नहीं हुई; तो ऐसा होता ही नहीं, उसने वास्तवमें द्रव्य गुणको माना ही नहीं है। निर्मल पर्यायके बिना द्रव्य-गुणको माना किसने ?–माननेवाली तो पर्याय ही है। जो पर्याय द्रव्योन्मुख होकर द्रव्यको मानती है वह तो द्रव्यके साथ अभेद हुई निर्मल पर्याय ही है।

यहाँ अमूर्तत्व शक्तिमें भी "कर्मबंधके अभावसे व्यक्त किये गये.....आत्मप्रदेश"—ऐसा कहकर शक्तिकी निर्मलपर्याय बतलाई है; तथा पहले संसार दशामें कर्मबंध निमित्तरूपसे है—ऐसा भी बतलाया है। आत्माको संसार पर्याय है और उसके निमित्तरूप कर्मका सम्बन्ध भी है—उसका अस्वीकार करनेवाला उसके अभावका प्रयत्न नहीं करेगा। यदि जीव अवस्थाकी अशुद्धताको तथा उसके निमित्तको यथावत् जान ले तथा अपनी शुद्धशक्तिको पहिचान ले तभी शुद्धशक्तिका अवलम्बन करके पर्यायमेंसे अशुद्धता दूर करके शुद्धता प्रगट करे। आत्माको कर्मोंका सम्बन्ध तो कृत्रिम–उपाधिरूप है, और कर्म बंधके अभावसे व्यक्त हुए आत्मप्रदेश सहज स्वाभाविक हैं। ऐसे सहज आत्मप्रदेशोंरूप अमूर्तिकपना है—वह आत्माका त्रिकाल स्वभाव है; इसलिये

आत्मा त्रिकाल वर्ण–गंध–रस–स्पर्श रहित है।

हे भाई! यह शरीर तो जड़–मूर्तिक है, वर्ण–गंध–रस–स्पर्शवाला है, वह तेरा नहीं है; तू तो चैतन्यस्वरूप–अमूर्त है; वर्ण–गंध–रस–स्पर्शरहित है। तेरे अमूर्त आत्मप्रदेशोंमें शरीर मन–वाणी अथवा राग–द्वेष नहीं भरे हैं, किन्तु ज्ञान–श्रद्धा–सुख वीर्य आदि अनन्त शक्तियाँ भरी हैं। जिसप्रकार गुड़में मिठास भरी है किन्तु कहीं उसमें कड़वाहट नहीं भरी है; उसीप्रकार आत्मामें ज्ञानादि अनन्त शक्तियाँ भरी हैं, किन्तु विकार नहीं भरा है। विकार तो ऊपरी भाव है, अंतरके गहरे स्वभावमें विकार नहीं है। आत्माकी स्वभावशक्तिको पकड़कर उसके आनन्दके अनुभवमें लीन रहनेसे आहारकी ओर वृत्ति ही न जाये उसका नाम उपवास है, और ऐसा तप वह धर्म है। "आत्मा आहार लेता है—वह उसने छोड़ दिया उसका नाम उपवास"—ऐसा अज्ञानी मानते हैं। किन्तु भाई, आत्मा तो अमूर्त है वह मूर्तिक आहारको ग्रहण नहीं करता और न छोड़ता ही है। आत्माके कहीं हाथ–पैर नहीं हैं कि वह मूर्तिक वस्तुको ग्रहण करे अथवा छोड़े!

आत्माको वर्तमान पर्यायसे देखने पर उसे कर्मका सम्बन्ध तथा रागादिभाव बंध है; किन्तु वह वास्तवमें आत्मा नहीं है, क्योंकि उसके आश्रयसे आत्माका हित नहीं होता। आत्मा तो अपनी त्रिकाली शक्तियोंका पिण्ड है, उसके आश्रयसे विकारकी उत्पत्ति नहीं होती। आत्माकी कोई शक्ति विकारकी उत्पादक नहीं है।

प्रश्नः—यदि आत्माकी कोई शक्ति विकारकी उत्पादक नहीं है तो विकार क्यों उत्पन्न होता है?

उत्तरः—यदि आत्माकी त्रिकाली शक्ति विकारकी उत्पादक हो तो विकार कभी दूर हो ही नहीं सकता। परन्तु शक्ति तो त्रिकाल स्थायी रहकर विकार दूर हो जाता है, इसलिये विकार वास्तवमें शक्तिका परिणमन नहीं है। शक्तिका आश्रय न करके पर-

द्रव्यका आश्रय किया इसलिये विकारकी उत्पत्ति हुई, इसलिये उस समयका पराश्रय भाव स्वयं ही विकारका उत्पादक है। शुद्ध उपादानरूप शक्तिके आश्रयसे विकार नहीं होता इसलिये शक्ति विकारकी उत्पादक नहीं है।—इसप्रकार जो आत्माके स्वभावके साथ एकता करे उसीको (निर्मल पर्यायको ही) यहाँ आत्माकी पर्याय माना है, जो पर्याय आत्माके साथ एकता न करे उसे (—मलिन पर्यायको) वास्तवमें आत्माकी पर्याय मानते ही नहीं। यद्यपि वह होती है आत्मामें; किन्तु आत्माके शुद्ध स्वभावकी मुख्यतामें वह अभाव समान ही है।

अपनी पर्यायमें अशुद्धता है उसे यदि स्वीकार ही न करे तो दूर करनेका उद्यम कैसे करेगा ? और यदि उतना ही अपनेको मान ले तो भी उसे टालनेका उद्यम कहाँसे करेगा ? मेरे त्रिकाली स्वभावमें यह अशुद्धता नहीं है—ऐसा जानकर शुद्ध स्वभावका आदर करनेसे अशुद्धताका अभाव होकर शुद्ध सिद्ध पद प्रगट होता है। अभी तो अमूर्त आत्माकी श्रद्धा करनेसे भी जो इन्कार करे और मूर्त कर्मवाला ही आत्माको माने तो उसे सिद्ध पद कहाँसे प्रगट होगा ?

आत्माकी पर्यायमें विकार है, कर्मका सम्बन्ध है—उसका स्वीकार वह व्यवहार है; और आत्मा त्रिकाली शक्तिसे परिपूर्ण है, शुद्ध है, उसमें विकार या बंधक नहीं है–ऐसे आत्म–स्वभावका स्वीकार सो निश्चय है। वहाँ जो जीव अकेले व्यवहारका ही स्वीकार करके उसके आश्रयमें रुकता है वह तो मिथ्यादृष्टि—अधर्मी है। जो जीव शुद्ध आत्म स्वभावको दृष्टिमें लेकर उसका आश्रय करता है वह सम्यग्दृष्टि—धर्मात्मा है; उसे शुद्ध द्रव्यके आश्रयसे पर्याय भी निर्मल होती जाती है और कर्मके साथका निमित्त सम्बन्ध छूटता जाता है।

मूर्त कर्मके अभावरूप अमूर्त शक्ति आत्मामें त्रिकाल है, किंतु कर्मके साथ सम्बन्ध बना रखे ऐसी कोई शक्ति आत्मामें नहीं है। कर्मके साथ सम्बन्ध बाँधे ऐसी योग्यता एक समय पर्यंत विकारकी है;

किन्तु आत्माकी शुद्धशक्तिकी दृष्टिमें तो उसका भी अभाव है ।

आत्मा अमूर्त धर्मवाला है, इसलिये किसी मूर्तकी (शरीरादिकी) सहायतासे उसे धर्म हो—ऐसा वह नहीं है । इन्द्रियाँ भी मूर्त हैं, वे अमूर्त आत्माके धर्ममें सहायक नहीं हैं; आत्माका ज्ञानानन्द स्वभाव अमूर्त—अतीन्द्रिय है; उस स्वभावके अवलम्बनसे ही धर्म होता है । आत्मामें ऐसी निर्मल शक्तियाँ तो त्रिकाल हैं ही; किन्तु स्वयं अपनी शक्तिका सेवन नहीं करता इसलिये वह शक्ति उछलती नहीं है—निर्मलतारूप परिणमित नहीं होती । पर्यायको अंतर्मुख करके यदि शक्तिका सेवन करे तो वह शक्ति पर्यायमें भी निर्मलतारूपसे उछले—उसका नाम धर्म है । अपनी वर्तमान पर्यायको स्वभावोन्मुख न करके परोन्मुख करे तो वह मलिन होती है अर्थात् अधर्म होता है; और अपनी वर्तमान पर्यायको अपने त्रिकाली स्वभावकी ओर उन्मुख करनेसे वह निर्मल होती है और मूर्त कर्मके साथका सम्बन्ध टूटकर साक्षात् सिद्धदशा प्रगट होती है; वहाँ आत्माकी अमूर्त शक्ति शुद्धरूपसे परिणमित हो जाती है । ऐसा अनन्त शक्तिवान ज्ञानस्वभावी आत्माकी श्रद्धाका फल है ।

[—यहाँ २० वीं अमूर्तत्व शक्तिका वर्णन पूरा हुआ ।]

आत्माकी प्रभुता बतलाकर संत उत्साहित करते हैं
अरे जीव ! तू डर मत... अकुला मत...
उल्लसित होकर अपनी शक्तिको उछाल !

सिद्ध और अरिहंत भगवानमें जैसी सर्वज्ञता, जैसी प्रभुता, जैसा अतीन्द्रिय आनन्द और जैसा आत्मवीर्य है, वैसी ही सर्वज्ञता, प्रभुता, आनन्द तथा वीर्यकी शक्ति इस आत्मामें भी विद्यमान है– वह यहाँ आचार्यदेव बतलाते हैं।

भाई ! एक बार हर्षित तो हो कि अहो ! मेरा आत्मा ऐसा !! ज्ञानआनन्दकी परिपूर्ण शक्ति मेरे आत्मामें विद्यमान है, मेरे आत्माकी शक्ति नष्ट नहीं हुई। "अरे रे ! मैं दब गया······विकारी हो गया ······अब कैसे मेरा मस्तक ऊँचा होगा······!"–इसप्रकार डर मत··· अकुला मत······हताश (हतोत्साह) न हो······एक बार स्वभावका हर्ष ला···उत्साह ला···उसकी महिमा लाकर अपनी शक्तिको उछाल !

अहो ! आनन्दका समुद्र अपने अंतरमें उछल रहा है उसे तो जीव देखता नहीं है और तिनकेके समान तुच्छ विकारको ही देखता है ! अरे जीवो ! इधर अंतरमें दृष्टि डालकर समुद्रको देखो......चैतन्य समुद्रमें डुबकी मारो !!

आनन्दका सागर अंतरमें है, उसे भूल कर अज्ञानी तो बाह्यमें क्षणिक पुण्यका वैभव देखता है और उसीमें सुख मानकर मूर्च्छित हो जाता है; तथा किंचित् प्रतिकूलता देखे वहाँ दुःखमें मूर्च्छित हो जाता है; किन्तु परम महिमावंत अपने आनन्द स्वभावको नहीं देखता ज्ञानी तो जानता है कि मैं स्वयं ही आनन्द स्वभावसे परिपूर्ण हूँ; कहीं बाह्यमें मेरा आनन्द नहीं है, अथवा अपने आनन्दके लिये किसी बाह्य पदार्थकी मुझे आवश्यकता नहीं है। ऐसा भान होनेसे ज्ञानी बाह्यमें— पुण्य–पापके वैभवमें मूर्च्छित नहीं होते या उलझते नहीं हैं। पुण्यका वैभव आ मिले तो वहाँ ज्ञानी कहते हैं कि अरे पुण्य ! रहने दे......

अब हमें ऊपरी ठाटबाट नहीं देखना है......हम तो सादि अनन्त अपने आनन्दको ही देखना चाहते हैं। अपने आत्माके अतीन्द्रिय आनन्दके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी हमें प्रिय नहीं है। हमारा आनन्द अपने आत्मामें ही है; इस पुण्यके ठाटमें कहीं हमारा आनन्द नहीं है। पुण्यका ठाट हमें आनन्द देनेमें समर्थ नहीं है, और प्रतिकूलताके समूह हमारे उस आनन्दको लूट नहीं सकते।—ऐसी ज्ञानीकी अंतर्कथा होती है। उसे स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे अपने आनन्दका वेदन हुआ है। आत्माका ऐसा अचिंत्य स्वभाव है कि वह स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ही ज्ञात होता है; "स्वयं प्रत्यक्ष" हो ऐसा आत्माका स्वभाव है। स्वयं प्रत्यक्ष स्वभावको पूर्णतामें परोक्षपना अथवा क्रम रहे ऐसा स्वभाव नहीं है, तथा स्वयं प्रत्यक्ष आत्मामें विकल्प–राग–विकार या निमित्तको उपाधि प्रविष्ट हो जाये—ऐसा भी नहीं है, अर्थात् व्यवहारके अवलम्बनसे आत्माका संवेदन हो ऐसा नहीं होता। बीचसे परकी ओर रागकी ओट निकाल कर, अपने चिन्मात्र एकाकार स्वभावका ही सीधा स्पर्श करनेसे आत्माका स्वसंवेदन होता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपायसे आनन्दस्वरूप भगवान आत्माका वेदन नहीं होता।

अहो! ऐसा स्वसंवेदनस्वभावी चैतन्य भगवान् आत्मा स्वयं विराजमान है, किन्तु अपनी ओर न देखकर विकारकी ओर ही देखता है इसलिये विकारका ही वेदन होता है। यदि अंतरमें अपने चिदानन्द स्वरूपको देखे तो आनन्दका वेदन हो और विकारका वेदन दूर हो जाय।

संत आत्माकी ऐसी प्रगट महिमा बतलाते हैं; इस अचिन्त्य महिमाको लक्षमें लेकर एक बार भी यदि अंतरसे उछल कर उसका बहुमान करे तो संसारसे बेड़ा पार हो जाये। चैतन्य स्वभावका बहुमान करनेसे अल्पकालमें ही उसका स्वसंवेदन होकर मुक्ति हुए बिना नहीं रहेगी। वस्तुमें परिपूर्ण ज्ञान–आनन्दकी शक्ति भरी है, उसे पहिचान कर, उस ओर उन्मुख होकर वह पर्यायमें प्रगट करना है।

अरे जीव ! एक बार अन्य सब भूल जा, और अपनी निज शक्तिको सँभाल ! पर्यायमें संसार है उसे भूल जा और मुख्य स्वभावरूप निज शक्तिकी ओर देख, तो उसमें संसार है ही नहीं। चैतन्य शक्तिमें संसार था ही नहीं, है ही नहीं, और होगा ही नहीं।—लो यह है मोक्ष—ऐसे स्वभावकी दृष्टिसे आत्मा मुक्त ही है। इसलिये एक बार अन्य सब लक्षमेंसे छोड़ दे और ऐसे चिदानन्द स्वभावमें लक्षको एकाग्र कर तो तुझे मोक्षकी शंका नहीं रहेगी; अल्पकालमें अवश्य मुक्ति प्राप्त हो जायेगी।

[४७ शक्तियों पर पूज्य गुरुदेवके प्रवचनसे]

★

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं निजदेहे व्यवस्थितम्।
ध्यानहीना न पश्यंति जात्यंधा इव भास्करम्॥

—[परमानन्द स्तोत्र]

अहो ! ज्ञानस्वभावी आत्मा स्वयं आनन्द स्वरूप है, और वह निजदेहमें व्यवस्थित है; तथापि—जिसप्रकार जन्मांध प्राणी सूर्यको नहीं देख सकते, उसीप्रकार ध्यानहीन जीव उसे नहीं देख सकते।

[२१]

अकर्तृत्व शक्ति

हे भाई ! विकार रहित तेरे ज्ञायकस्वभावको प्रसिद्ध करके सन्त कहते हैं कि तूं घबरा मत ! तेरे स्वभावकी महिमा सुनकर तूं प्रसन्न हो।

सिद्ध भगवानमें जो नहीं वह तेरे स्वरूपमें भी नहीं, व सिद्ध भगवानमें जो है वह तेरे स्वरूपमें है..... ऐसा जानकर, विकारके कर्तृत्वसे विराम पाकर शांत हो !

"समस्त, कर्मसे किये गये और ज्ञातृत्वमात्रसे पृथक् जो परिणाम उन परिणामोंके कारणके उपरमस्वरूप ऐसी अकर्तृत्वशक्ति है।" ज्ञानको अन्तर्मुख करके आत्माका अनुभव करते हुए उसमें इस शक्तिका परिणमन भी साथ ही वर्तता है। जहाँ ज्ञानमें आत्मस्वभावको पकड़ा वहाँ विकारी भावोंका कर्तृत्व छूट जाता है—विरामको प्राप्त होता है, वह अकर्तृत्व शक्तिका निर्मल परिणमन है। शुभ-अशुभ समस्त परिणाम आत्माके ज्ञायक भावसे पृथक् हैं, इसलिये पर्याय जहाँ ज्ञायकस्वभावोन्मुख हुई वहाँ उसमें ज्ञातापना ही रहा और शुभ-अशुभ परिणामोंका कर्तृत्व वहाँ उपरमको प्राप्त हुआ—छूट गया। इसप्रकार

ज्ञानमात्र भावमें विकारको न करे ऐसा अकर्तृत्वशक्तिका परिणमन भी है। यहाँ विकारके अकर्तृत्वकी अपेक्षासे अकर्तृत्वशक्ति बतलाई है और ४२ वीं कर्तृत्वशक्ति कहकर वहाँ निर्मल पर्यायका कर्तापना बतलायेंगे। अपनी पर्यायके छहों कारणरूप आत्मा स्वयं ही परिणमित होता है—ऐसी उसकी शक्ति है, उसका वर्णन आगे आयेगा।

विकारी भाव करनेका ज्ञानका स्वभाव नहीं है, ज्ञानसे वे विकारी भाव पृथक् हैं; इसलिये उन्हें कर्मकृत कहा है; उसमें विकारसे भिन्न ज्ञानस्वभाव बतलानेका प्रयोजन है। "विकारी भाव मेरे ज्ञान द्वारा किये गये नहीं हैं किन्तु कर्मकृत हैं"—ऐसा माननेवालेकी दृष्टि कहाँ पड़ी है? उसकी दृष्टि तो अपने ज्ञानस्वभाव पर पड़ी है। साधक जीव ज्ञाता स्वभावकी दृष्टिके बलसे निर्दोषतारूप ही परिणमित होता है इसलिये उसे मिथ्यात्वादि अशुभ परिणामोंका कर्तृत्व तो रहा ही नहीं है; और जो अल्परागादि भाव होते हैं उनकी मुख्यता नहीं है,—उन्हें ज्ञायकभावसे भिन्न जाना है इसलिये उनका भी अकर्तृत्व ही है; इसप्रकार विकारी भावोंको कर्मकृत कहा है। ऐसा अकर्तृत्व समझनेवाला साधक जीव पर्यायमें भी अकर्तारूप परिणमित हुआ है, उसकी यह बात है। परन्तु जो जीव विकारसे भिन्न ऐसे ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि तो नहीं करता, विकारसे लाभ कर उसका कर्तृत्व नहीं छोड़ता, ज्यों का त्यों मिथ्यात्व सेवन करता रहता है और कहता है कि "विकार तो कर्मका कार्य है—ऐसा शास्त्रमें कहा है"—तो वह जीव शास्त्रका नाम लेकर मात्र अपने स्वच्छन्दका ही पोषण करता है; आत्माकी अकर्तृत्वशक्ति उसकी प्रतीतिमें आई ही नहीं है; क्योंकि अकर्तृत्वशक्तिको स्वीकार करले तो पर्यायमें मिथ्यात्वादिका कर्तृत्व रहेगा ही नहीं, अर्थात् उसके मिथ्यात्वादि भाव उपशमको प्राप्त होंगे।

आत्मामें अकर्तृत्वस्वभाव तो अनादि अनंत है, वह सदैव विकारसे उपरम स्वरूप ही है, उस स्वरूपकी अपेक्षासे आत्मा विकारका कर्ता है ही नहीं। जिसने ऐसे स्वभावको स्वीकार किया उसे पर्याय-

में भी मिथ्यात्वादिका अकर्तृत्व हो जाता है। मिथ्यात्वभाव होता है और उसका अकर्ता है—ऐसा नहीं, किन्तु मिथ्यात्व भाव उसे होता ही नहीं; और अस्थिरताका जो अल्प राग रहता है उसका श्रद्धामें स्वीकार नहीं है इसलिये उसका भी अकर्ता है। अज्ञानी जीव अपने अकर्तास्वभावको भूलकर, पर्यायकी विपरीततासे विकारके कर्तारूप परिणमित होता है; परका कर्तृत्व तो अज्ञानीको भी नहीं है। परसे तो आत्मा अत्यन्त भिन्न है इसलिये उसका तो कर्तृत्व है ही नहीं, इसलिये यहाँ परके अकर्तृत्वकी बात नहीं ली। किन्तु अज्ञानदशामें विकारका कर्तृत्व है इसलिये ज्ञायकस्वभाव बतलाकर आचार्यदेव उसे विकारका अकर्तृत्व समझाते हैं। भाई, तेरा आत्मा ज्ञायकस्वभावसे परिपूर्ण है, वह कहीं विकारसे परिपूर्ण नहीं है, विकार तो उससे बाहर है, इसलिये तेरा स्वभाव विकारके अकर्तारूप है,—ऐसा तू समझ ! जो ऐसी अकर्ता शक्तिको समझ ले वह विकारका कर्ता क्यों होगा ?—वह क्षणिक विकारको ही आत्मा क्यों मानेगा ? विकारसे छूट कर उसकी पर्याय शुद्ध ज्ञायकस्वभावोन्मुख हो जाती है। अहो ! ज्ञायकस्वभावोन्मुख होनेसे ज्ञाता परिणाम हो गये–वह इस शक्तिकी पहिचानका फल है।

धर्मी स्वभावदृष्टिमें रहनेसे ज्ञातारूप परिणमित होते हैं; अल्प विकार रहा उसके भी ज्ञातारूपसे परिणमित होते हैं, कर्तारूप परिणमित नहीं होते; इसलिये उस विकारको टालनेकी आकुलता भी उन्हें है; स्वभावके वेदनकी मुख्यतामें उन्हें समता और शांति है; विकारसे उपराम पाकर वह आत्मा उपशांत हो गया है। "अहो ! मैं तो ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ; मेरे ज्ञानमें परका या विकारका कर्तृत्व नहीं है; मेरे कर्तृत्वके बिना ही जगतके कार्य हो रहे हैं; मेरे ज्ञाता-परिणाम रागके भी कर्ता नहीं हैं; अपने ज्ञायक भावके अतिरिक्त मुझे सर्वत्र अकर्तृत्व ही है"—इसप्रकार धर्मी जीव अपनी अकर्तृत्वशक्तिको निर्मलरूपसे उल्लसित करता है। ज्ञायकस्वभावी आत्माकी अकर्तृत्व-शक्ति ऐसी है कि उसका स्वभाव कभी भी रागके कर्तारूप परिणमित

नहीं होता; और ऐसे स्वभावकी ओर ढली हुई पर्याय भी रागके अकर्तारूप परिणमित हो गई है। आत्माके ऐसे स्वभावको पहिचाने बिना रागादि विकारका कर्तृत्व दूर नहीं होता, अर्थात् धर्म नहीं होता। लोग कहते हैं कि "निवृत्ति लो......"–लेकिन निवृत्ति कहाँसे लेना है ? परसे तो आत्मा पृथक् ही है, इसलिये उससे तो निवृत्त ही है; अनादिकालसे क्षण–क्षण विकारको अपना स्वरूप मानकर उसमें वर्त रहा है, उससे निवृत्त होना है। उससे कैसे निवृत्ति हो ?—कि आत्माका ज्ञायकस्वरूप विकारसे त्रिकाल निवृत्त ही है; ऐसे स्वभावको पहिचानकर उसमें जो पर्याय ढली वह पर्याय विकारसे निवृत्ति हो जाती है; विकारसे निवृत्त ऐसे ज्ञायकस्वभावका अवलम्बन करते–करते साधकको पर्यायमें निवृत्ति बढ़ती जाती है; प्रतिक्षण वीतरागतामें वृद्धि होनेसे उसे रागका साक्षात् अकर्तृत्व हो जाता है।—इसप्रकार अनेकान्त स्वरूप आत्माको पहिचाननेसे मुक्ति होती है।

वस्तुके अनेकान्त स्वरूपको भूलकर एकान्तमार्ग पर चलनेवाले अज्ञानी जीवको आत्मशक्तियोंकी पहिचान द्वारा अनेकान्तमय आत्मस्वरूप बतलाकर मोक्षमार्गमें ले जाते हैं। अरे जीव ! तेरे आत्मामें ज्ञानकी सहचारिणी अनन्त शक्तियाँ एक साथ हैं; अनन्त शक्तियोंसे परिपूर्ण अपने ज्ञानमूर्ति आत्माको श्रद्धा–ज्ञानमें ले तो पर्यायमें अनन्तशक्तिका निर्मल परिणमन होते–होते मुक्ति हो, और विकारके साथ एकत्वकी तेरी एकान्तबुद्धि छूट जाये।

त्रिकाली चैतन्यस्वरूप आत्माका स्वभाव ज्ञान–दर्शन–आनंद है, विकार करनेका उसका स्वभाव नहीं है; इसलिये समस्त विकारी भावोंको कर्म द्वारा किया गया कह कर ज्ञायक स्वभावमें उसका अकर्तृत्व बतलाया है;—इसप्रकार शुद्धज्ञायक आत्माकी दृष्टि कराई है। जो जीव शुद्ध ज्ञायक आत्माकी दृष्टि करे उसीको इन अकर्तृत्वादि शक्तियोंका यथार्थ स्वरूप समझमें आता है। जैसी शुद्ध शक्ति है वैसा ही रूप पर्यायमें आये तभी शक्तिकी सच्ची पहिचान हुई है।

पर्यायमें जीव स्वयं विकारी भाव करता है; कहीं कर्म नहीं कराते; किन्तु जिसकी दृष्टि शुद्ध आत्मा पर है वह शुद्ध आत्मासे विरुद्ध ऐसे विकारीभावोंका कर्ता नहीं होता, और जिसकी दृष्टि शुद्धआत्मा पर नहीं है किन्तु कर्मोंपर है वही विकारमें एकत्वबुद्धि द्वारा उसका कर्ता होता है। कर्मकी दृष्टिमें ही उस विकारका कर्तृत्व है इसलिये उसे कर्मकृत कहा है। स्वभावदृष्टिमें उसका कर्तृत्व नहीं है इसलिये स्वभावदृष्टिवाला आत्मा उसका अकर्ता ही है। यहाँ सम्यग्दृष्टिके विषय-भूत–ध्येयभूत शुद्धआत्मा बतलाना है, इसलिये निर्मल पर्याय तो उसमें अभेदरूपसे आजाती है, किन्तु मलिन पर्याय उसमें नहीं आती। शुद्ध-आत्माकी दृष्टिमें मलिनता नहीं है इसलिये उस दृष्टिमें मलिनताको कर्म–कृत ही कहा जाता है।

हे भाई! तू कौन है? उसकी यह बात है। तू आत्मा है, तो कितना है और कैसा है?—तू त्रिकाल है, अपनी अनन्तशक्ति और उसकी निर्मल पर्यायों जितना तू है; विकारको उत्पन्न करे ऐसा तू नहीं है। तेरे आत्माकी अनन्त शक्तियोंमें ऐसी एक भी शक्ति नहीं है जो विकार करे। अज्ञानी कहता है कि—"आत्मा अपनी समझमें नहीं आता; हम तो पुण्य करते रहेंगे और सांसारिक सुख भोगेंगे?"—उससे ज्ञानी कहते हैं कि अरे मूढ़! पुण्य करनेका आत्माका स्वभाव ही नहीं है। आत्माका अनादर करके तू पुण्यफलका उपभोग करना चाहता है; उसमें तो अनन्त पापोंका मूल है। यदि आत्माका स्वभाव विकार करनेका हो, तब तो विकारसे कभी उसका छुटकारा हो ही नहीं सकता, इसलिये मुक्ति भी कभी नहीं होगी। विकारका कर्तृत्व माननेवाला और ज्ञायक स्वभावको न जाननेवाला कभी मुक्तिको प्राप्त नहीं होता।

जिसप्रकार लोहेमें ऊपर–ऊपर थोड़ी सी जंग लगी है किन्तु भीतरी भागमें जंग नहीं है।—इस तरह दोनों पक्षोंको जानकर जंग निकालनेका प्रयत्न करता है; उसीप्रकार आत्मामें क्षणिक पर्यायमें

विकाररूपी जंग है, किन्तु भीतरी असली स्वभावमें वह विकार नहीं है, विकार रहित शुद्ध स्वभाव त्रिकाल है—इसप्रकार दोनों पक्षोंको जानकर शुद्ध द्रव्यकी ओर बल लगाने पर पर्यायमेंसे विकार दूर हो जाता है और शुद्धता प्रगट होती है। जो जीव आत्माके शुद्ध स्वभाव पर जोर नहीं देता और पुण्य पर जोर देता है वह विकार करनेका ही आत्माका स्वभाव मानता है, इसलिये विकारके अकर्तृत्वरूप आत्माकी शक्तिका वह अनादर करता है। आत्माके अनादरका फल अनन्त संसारमें परिभ्रमण है और आत्म स्वभावकी आराधनाका फल मुक्ति है। अरे जीव! अब तुझे अपने शुद्ध आत्माकी रुचि करना है या पुण्य–पापकी? अनादिसे विकारकी रुचि करके तो तू संसार में भटका है; अब यदि तुझे संसारसे मुक्त होना हो तो अपने शुद्ध आत्माकी रुचि कर! अहो! मेरा आत्म स्वभाव कभी विकाररूप नहीं हो गया है, अनन्त शक्तिकी शुद्धतामें कभी विकार प्रविष्ट ही नहीं हुआ है, इसलिये विकार मेरा कर्तव्य नहीं है, मैं तो ज्ञायक भावमात्र हूँ;—इसप्रकार स्वभावकी रुचि लाकर उसकी ओर उन्मुख हो और विकारके कर्तृत्वसे विराम ले! शुभ या अशुभ समस्त विकारी परिणाम तेरे ज्ञायकभावसे पृथक् ही हैं, उन्हें करना तेरा कर्तव्य नहीं है, किन्तु ज्ञायकरूप रहकर उस विकारका अकर्ता होना तेरा कर्तव्य है। कर्तव्य अर्थात् स्वभाव। जिसके अंतर् अवलम्बनसे विकारको छेद कर मुक्ति हो ऐसा तेरा स्वभाव है और वही तेरा कर्तव्य है। जो रागको अपना कर्तव्य माने वह रागको छेद कर मुक्ति कहाँसे प्राप्त करेगा?

देखो, यह एक लाख चौंतीस हजार रुपयेका "कुन्दकुन्द प्रवचन मण्डप," और सवा लाखका मानस्तंभ बना—वह किसने बनाया? क्या यह सब आत्माने बनाया है? नहीं; आत्मा तो इनका अकर्ता है, अज्ञानीका आत्मा भी उनका अकर्ता ही है; कारीगरों आदिका आत्मा भी उनका कर्ता नहीं है तथा उस ओरका धर्मीको जो शुभराग होता है उस रागके भी धर्मी अकर्ता हैं; क्योंकि धर्मी तो एक ज्ञायक स्वभावको ही स्व मानते हैं और उस स्वभावकी दृष्टि

में उन्हें विकारका कर्तृत्व नहीं है। विकारकी उत्पत्ति करनेका आत्माका स्वभाव नहीं है। किन्तु उसका अंत करनेका स्वभाव है। आत्म स्वभाव पुण्य-पापकी प्रवृत्तिसे निवृत्तरूप है; ऐसे अकर्तृत्व स्वभावको जो नहीं जानता उसे अकर्तृत्व शक्तिका विपरीत परिणमन होता है इसलिये वह विकारका कर्ता होता है।

प्रश्नः—हम तो विषय-कषायमें डूब रहे हैं, इसलिये देव-गुरु-शास्त्रकी ओरका भाव करें तो हमारा कुछ हित होगा।

उत्तरः—भाई, ऐसे लक्षसे तुझे अशुभ दूर होकर शुभ तो होगा,-यह ठीक है, किन्तु अपने आत्मामें उस शुभका ही कर्तृत्व मानकर यदि वहीं अटक जायेगा तो तुझे आत्माकी प्राप्ति नहीं होगी, अर्थात् धर्म या कल्याण नहीं होगा। इसलिये शुभके भी अकर्तारूप तेरा ज्ञायक स्वभाव है उस स्वभावको लक्षमें ले।

ज्ञानी कहते हैं कि आत्म स्वभावके आश्रयसे कल्याण होता है और अज्ञानी कहते हैं कि रागसे और व्यवहारसे कल्याण होता है।—इसप्रकार निश्चय व्यवहार, उपादान-निमित्तादिमें दो पक्ष हो गये हैं। जिसप्रकार महायुद्ध चल रहा था उस समय कोई कहते थे कि "हिटलर" जीतेगा और दूसरे कहते थे कि "ब्रिटेन" जीतेगा;—इसप्रकार दो पक्ष करके यहाँ भी लोग आपसमें झगड़ पड़ते थे; उसीप्रकार यहाँ एक सिद्धोंके ओरकी पार्टी है और दूसरी निगोदके ओरकी; सिद्धोंकी पार्टी वाले कहते हैं कि निश्चयसे अर्थात् आत्मस्वभावोन्मुख होनेसे ही मुक्ति होती है, पुण्यसे या निमित्त सन्मुख होनेसे तीन काल तीन लोकमें मुक्ति नहीं होती। और उपादान अपनी शक्तिसे कार्यरूप परिणमित हो वहाँ उसे योग्य निमित्त होता है—ऐसा सिद्धोंकी पार्टी वाले कहते हैं। उसका विरोध करके निगोदकी पार्टी वाले कहते हैं कि व्यवहारके आश्रयसे—रागके आश्रयसे मुक्ति होती है, पुण्यसे धर्म होता है और निमित्तके प्रभावसे कार्यमें फेरफार हो जाता है। स्वाश्रयसे मोक्ष माननेवाले तो स्वाश्रय करके मुक्तिप्राप्त करते हैं—

सिद्ध हो जाते हैं; और पराश्रयसे मोक्ष माननेवाले पराश्रय कर-करके संसारमें भी भटकते हैं और परम्परा निगोद दशा प्राप्त करते हैं। —इसप्रकार स्वाश्रयरूप सिद्धोंकी पार्टीमें सम्मिलित हो वह सिद्ध हो जाता है और पराश्रयसे लाभ माननेरूप निगोद पार्टीमें सम्मिलित हो वह निगोदमें जाता है।

यहाँ अकर्तृत्व शक्तिमें आचार्यदेव समझाते हैं कि भाई! पुण्य-पापके आश्रयसे तेरा हित कैसे होगा? पुण्य-पापके अभावरूप ऐसा तेरा ज्ञानानन्द स्वभाव है, उसीमें तेरा हित है। ज्ञायक स्वभावकी ओर ढलनेसे यह पुण्य-पापकी वृत्तियाँ तो छूट जाती हैं; क्योंकि वे ज्ञातास्वभावमें से नहीं आई हैं। ज्ञाता स्वभावमेंसे आये हुए ज्ञान-आनन्दके परिणाम आत्माके साथ सादि अनन्तकाल तक ज्यों के त्यों रहते हैं। अनादिसे संसार दशामें कर्तृत्वके जो अनन्त परिणाम हुए उनकी अपेक्षा स्वभावके ज्ञातृत्व परिणाम अनन्त गुने हैं; संसार दशाके कालकी अपेक्षा सिद्ध दशाका काल अनन्त गुना अधिक है; क्योंकि संसारकी विकारी दशाको तो कोई त्रिकाली आधार नहीं था और इस सिद्धपदकी निर्मल दशाको तो अंतरमें त्रिकाली ध्रुवस्वभावका आधार है। अहो! ऐसे आत्म स्वभावकी प्रतीति करे उसे अपने सिद्धपदकी निःशंकता हो जाये…… वर्तमानमें ही उसका परिणाम सिद्धदशाकी ओर ढल जाये और संसारसे विमुख हो जाये अर्थात् वर्तमानमें ही वह सिद्धपदका साधक हो जाये।

देखो, यह सूक्ष्म बात है, स्वभावकी बात है। विकारके क्षणिक कर्तृत्वकी अपेक्षा त्रिकाल अकर्तृत्व शक्तिका बल तो अनन्त गुना है ही; और उस अकर्तृत्व स्वभावकी प्रतीति करनेसे पर्यायमें जो सादि-अनन्त अकर्तृत्व परिणाम प्रगट हुए उनकी संख्या भी कर्तृत्व परिणामोंकी अपेक्षा अनन्तगुनी है।—इसप्रकार विकारकी अपेक्षा निर्विकार भावकी शक्ति भावसे तो अनन्तगुनी है। और संख्यासे भी अनन्तगुनी है।—ऐसा जो जाने उसके श्रद्धा-ज्ञान-अंतरकी

शुद्धशक्तिकी ओर ढले बिना नहीं रहते। जो भूत और भविष्यत दोनों कालको समान मानते हैं वे तत्त्वकी महान भूल करते हैं, वे वस्तु स्वभावकी परिपूर्णताको नहीं जानते।

विकारका कर्ता होता रहे ऐसा आत्माका कोई स्वभाव नहीं है, किन्तु विकारके अकर्तारूप ज्ञातृत्व परिणाम होते रहें ऐसा आत्माका त्रिकाल स्वभाव है। ऐसे स्वभावकी पहिचान होते ही वर्तमान परिणामका बल उस ओर ढल जाता है। पश्चात् स्वभावोन्मुख वृत्तिसे पर्याय–पर्यायमें उसके अकर्तापनेरूप निर्मल परिणाम होते जाते हैं और विकारका कर्तृत्व छूटता जाता है;—ऐसा होते–होते विकारका सर्वथा अभाव होकर साक्षात् सिद्धदशा प्रगट होती है।

आत्मा और उसकी शक्तियाँ अनादिअनन्त हैं, उसके आश्रयसे वर्तमान पर्यायमें विकारके कर्तृत्वका अभाव होकर जो सिद्धदशा प्रगट हुई उसका अब कभी अंत नहीं आयेगा; सादि-अनन्तकालतक स्वभावमेंसे निर्मल अकर्तृत्व परिणामका प्रवाह बहता ही रहेगा। अहो, जिसमेंसे ऐसे अनन्त शुद्ध अकर्तृत्व परिणाम प्रगट होते हैं—ऐसे अपने स्वभावका विश्वास तो अज्ञानी जीव करता नहीं है और एक समयके विकार पर जोर देकर उसके कर्तृत्वमें रुक जाता है—यह उसकी विपरीत रुचिका अनन्त बल है।

अहो, एक–एक शक्तिका वर्णन करके आचार्यदेवने सम्पूर्ण समयसार भगवानको प्रकाशित किया है। एक शक्तिको भी बराबर समझले तो आत्माका स्वभाव लक्षमें आ जाये और अनादिकालीन विकारकी जो गंध घुसी है वह निकल जाये। ज्ञायक स्वभावकी ओर ढलनेसे विकारका अंत तो आजाता है क्योंकि वह वस्तुके स्वरूपमें नहीं है; किन्तु ज्ञायक स्वभावके आश्रयसे जो अकर्तृत्वपरिणाम प्रगट हुए उनका कभी अंत नहीं आता, क्योंकि वह तो वस्तुका स्वरूप ही है; इसलिये जिसप्रकार वस्तुका अंत नहीं आता उसीप्रकार उसके स्वरूपमेंसे प्रगट हुए निर्मल परिणामोंका भी अंत नहीं आता। देखो, अंतरके

ज्ञान स्वभावमें एकाग्र होनेसे आनन्दका तो अनुभव होता है, किन्तु उसके साथ कहीं रागका अनुभव नहीं होता, क्योंकि आनन्द तो आत्माका स्वभाव है किन्तु राग आत्माका स्वभाव नहीं है। उसीप्रकार आनन्दकी भाँति दूसरी अनन्त शक्तियाँ भी ज्ञानके साथ उछलती हैं वे सब आत्माके स्वभावरूप हैं किन्तु विकार आत्माके स्वभावरूप नहीं है इसलिये उसका तो अभाव हो जाता है। इसमें स्वभाव तथा विकार के बीचका कितना स्पष्ट भेदज्ञान है!—किन्तु अज्ञानी विकारकी रुचि से इतना अन्धा हो गया है कि–विकारसे पृथक् जो अपना पूर्ण ज्ञायक स्वभाव अनन्तशक्तिसे परिपूर्ण है उसे वह किंचित् भी नहीं देखता।

आत्मामें अनन्तशक्तियाँ हैं, किन्तु उसमें ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि परमें कार्य करे। पहाड़ खोदने आदिकी शक्ति आत्मामें नहीं है; यहाँ तो तदुपरान्त कहते हैं कि—जो विकार करे ऐसी भी आत्माकी कोई त्रिकाली शक्ति नहीं है। विकारको न करे ऐसी अकर्तृत्वशक्ति है। कर्ताबुद्धिके कारण अज्ञानी दूसरेमें भी कर्तृत्व देखता है कि—"अमुक व्यक्तिने ऐसे मन्दिर बनवाये, अमुकने शत्रुंजय आदि तीर्थोंका जीर्णोद्धार कराया;" परन्तु आत्मा उन सबका अकर्ता है।—ऐसा अकर्तृत्व साध-साधकर अनन्त संत–मुनियोंने आत्माका उद्धार किया–उसे अज्ञानी नहीं जानता इसलिये वह कर्ता बुद्धिसे संसारमें भटकता है।

प्रश्नः—परिभ्रमण तो मात्र एक समय पर्यंतका है न?

उत्तरः—ज्ञानी तो कहते हैं कि आत्मामें परिभ्रमण करनेका भाव (–विकार) एक समय पर्यंतका है; किन्तु अज्ञानी तो उस एक समयके परिभ्रमणके भावको ही अपना स्वरूप मानता है; इसलिये उसकी दृष्टिमें तो वह एक समयका नहीं है किन्तु त्रिकाल सम्पूर्ण आत्मा उसी स्वरूप है—ऐसा उसे भासित होता है; विकारसे पृथक् कोई स्वरूप उसे भासित ही नहीं होता। परिभ्रमणका भाव एक समयका ही है—ऐसा यदि वास्तवमें जान लिया, तो उससे रहित जो

त्रिकाली स्वरूप है उसकी प्रतीति हो गई; इसलिये विकार और स्वभावके बीच भेद होगया—भेदज्ञान होगया; उसे विकारके ओर की वृत्ति छूटकर स्वभावोन्मुख वृत्ति हो गई।

—ऐसी अंतर्दशा हो तब विकारको एक समय पर्यन्त जाना कहा जाये। किन्तु जो विकारके ओर की ही वृत्ति रखता है उसने वास्तवमें विकारको एक समय पर्यंत नहीं जाना, किन्तु उसीको आत्मा माना है। मेरे ज्ञायक आत्मामें विकार है ही नहीं, इसलिये पर्यायके क्षणिक विकारका कर्तृत्व भी मेरे स्वभावमें नहीं है—इसप्रकार अकर्तृत्वरूप ज्ञायक स्वभावको पहिचानकर उसकी श्रद्धा करे तो उस स्वभावमें एकाग्रता द्वारा पर्यायमेंसे विकारका बिलकुल अभाव करके उसका साक्षात् अकर्ता हो जाये।—ऐसा इस शक्तिको समझनेका तात्पर्य है।

आत्मामें जिसप्रकार ज्ञानस्वभाव त्रिकाल है उसीप्रकार पुण्य–पापके अकर्तृत्वरूप स्वभाव भी त्रिकाल है। आत्मा त्रिकाल अकर्तृत्व शक्तिसे परिपूर्ण है, उसे न मानकर पुण्य–पापका कर्तृत्व ही मानना–वह दृष्टि मिथ्या है। मैं ज्ञायकभाव हूँ और मेरे ज्ञायकभावमें विकारका कर्तृत्व नहीं है—इसप्रकार पहले दृष्टिसे विकारका कर्तृत्व खींच ले तथा ज्ञायक स्वभावकी ही दृष्टि रखे उसका नाम सम्यक्दर्शन है; वह धर्मका प्रारम्भ है। जिस भावसे आठ कर्मोंकी १४८ प्रकृतियोंमेंसे किसी भी प्रकृतिका बंध होता हो वह भाव विकार है, और वह आत्माके ज्ञायक भावसे पृथक् हैं; तथा आत्माका ज्ञायकभाव उस विकारसे निवृत्तस्वरूप है। अहो! ऐसे निवृत्त ज्ञायकस्वभावकी ओर ढलकर उसमें स्थित होना योग्य है......वही सम्यक्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप मोक्षमार्ग है। जो रागके ही कर्तृत्वमें रुककर रागसे धर्म मान रहे हैं, उन्हें वीतरागी आत्मतत्त्वकी खबर नहीं है, संतोंकी दशाकी खबर नहीं है; जैनधर्मकी खबर नहीं है और वास्तवमें उन्हें जैन नहीं कहते।

प्रश्न:—इसमें तो पुण्यका विच्छेद हो जाता है ?

उत्तर:—अरे भाई ! इसमें तेरे विकार रहित ज्ञायकस्वभावका विज्ञापन होता है......इसलिये घबरा नहीं ! अपने स्वभावकी महिमा सुनकर प्रसन्न हो ! और इस स्वभावको समझनेके लक्षसे बीचमें जो पुण्य बंध होता है वह भी उच्च प्रकारका होता है; दूसरोंको वैसा उच्च पुण्य भी नहीं होता। दूसरे प्रयत्नोंमें जो कषायकी मंदता करता है, उसकी अपेक्षा अधिक मंदता स्वभाव समझनेका प्रयत्न करते–करते सहज ही हो जाती है। और यदि स्वभावको समझकर पुण्य–पापका विच्छेद करेगा तब तो वीतरागता और केवलज्ञान हो जायेगा।—वह करने योग्य है। यदि पहलेसे ही पुण्य–पापका कर्तृत्व स्वीकार करे और पुण्य–पापसे भिन्न ज्ञायकस्वभाव विकारका अकर्ता है उसकी श्रद्धा भी न करे, तो वह विकारका अभाव करके वीतरागता कहाँसे लायेगा ? इसलिये यह बात समझकर उसकी श्रद्धा करने योग्य है।—इसके अतिरिक्त कहीं जन्म–मरणका अंत नहीं आ सकता।

प्रश्न:—अनादिसे पुण्य–पाप करते आ रहे हैं, फिर भी वह कर्तव्य नहीं है ?

उत्तर:—भाई रे ! ज्ञायकस्वभावको चूककर "पुण्य–पाप सो मैं"—ऐसा अज्ञानसे माना है इसलिये पुण्य–पापका कर्ता होता है और इसीलिये अनादि कालसे संसारमें भटक रहा है। अब वह संसार परिभ्रमण कैसे दूर हो उसकी यह बात है। पुण्य–पापके विकारको न करे ऐसा आत्माका स्वभाव है उसके बदले मिथ्या मान्यतामें पुण्य–पापका कर्तृत्व भासित हुआ है। उस मान्यताको बदल दे कि मैं तो ज्ञायक हूँ, श्रद्धा–आनन्दादि अनन्त शक्तिका पिण्ड हूँ; क्षणिक विकार मैं नहीं हूँ, और न वह मेरा कर्तव्य है। ज्ञातृत्व भावके अतिरिक्त जगतमें अन्य कुछ मेरा कर्तव्य नहीं है। आत्मा ज्ञान मात्र भावके अतिरिक्त दूसरा क्या करेगा ? यदि आत्मा परका कार्य करता हो तो जगतका उद्धार करनेके लिये सिद्ध भगवान ऊपरसे क्यों नहीं

उतरते ?—उन्हें ऐसी वृत्ति ही नहीं उठती, क्योंकि वह आत्माके स्वभावमें नहीं है। यदि सिद्धभगवानमें नहीं है तो इस आत्मामें आया कहाँसे ?—सिद्धभगवानमें जो नहीं है वह इस आत्माके स्वभावमें भी नहीं है। बस ! आत्माका स्वभाव ही अकर्तृत्व है, इसलिये विकारसे निवर्तन......निवर्तन......निवर्तन ही उसका स्वरूप है; स्वरूपमें स्थिरता......स्थिरता......स्थिरता ही आत्माका स्वरूप है। सिद्धभगवानमें जो कार्य नहीं है वह इस आत्माका भी कर्तव्य नहीं है। सिद्धभगवानके और अपने स्वभावमें अंतर मानता है तथा शुभाशुभ विकारको करने योग्य मानता है वही संसार है। धर्मीको भी चारित्रमें कमजोरीवश शुभाशुभ राग आता है किन्तु उसे निःसंदेह श्रद्धा-ज्ञान वर्तता है कि यह मेरा स्वरूप नहीं है, यह मेरा कर्तव्य नहीं है, व्यवहाररत्नत्रयका शुभराग आता है किन्तु वह राग भी हितकर नहीं है, मैं तो ज्ञायक ही हूँ और मेरा ज्ञायक स्वरूप इस विकारी वृत्तिका कर्ता नहीं है। रागको दूर करके अपने ज्ञायक स्वरूपमें निश्चल होऊँ वही मेरा कर्तव्य है, पुण्यका शुभराग भी मेरे धर्मका रक्षक नहीं है किन्तु लुटेरा है, सहायक नहीं होता किन्तु बाधक होता है, इसलिये वह मेरा कर्तव्य नहीं है इसप्रकार समस्त विकारके अकर्तारूप अपने ज्ञायक स्वभावको जानकर धर्मी उसके सेवन द्वारा विकारसे अत्यन्त निवृत्तरूप मोक्षपदको प्राप्त होता है।

शंका—भगवान् सर्वज्ञ कहते हैं, कि आत्मामें अकर्तृत्वशक्ति है इसलिये विकार न करे ऐसा उसका स्वभाव है, किन्तु यदि भगवानने अभी हममें कर्तापनेका काल (–मिथ्यात्वका काल) देखा हो तो वह कैसे बदल सकता है ?—तो फिर हे नाथ ! क्या आपके उपदेशकी निरर्थकता होती है ?

समाधान—हे भाई ! सर्वज्ञदेवने कहा वैसे आत्माका अकर्तास्वभावका जो निर्णय करले उसे विभावका कर्तापना रहता ही नहीं—ऐसा भी सर्वज्ञभगवानने देखा है; इसलिये जिसकी दृष्टिमें

ज्ञायक स्वभावी आत्माका अकर्त्तास्वरूप आया है उसको कर्तापनेका (–मिथ्यात्वका) काल भगवानने नहीं देखा है; ज्ञायकस्वभावकी सन्मुखतासे मिथ्यात्वका नाश करके उसकी पर्यायमें अकर्तापना प्रगट हुआ है और उसीको सर्वज्ञका निर्णय हुआ है तथा सर्वज्ञदेव भी उस जीव की पर्यायमें वैसा अकर्तृत्व ही देखते हैं। तूं मिथ्यात्वादिके अकर्तारूपसे परिणमित हो और सर्वज्ञभगवान तेरा कर्तापना देखे—ऐसा नहीं हो सकता। इसलिये तूं अपने स्वभावसन्मुख होकर पर्यायमें विकारका अकर्तृत्व प्रगट कर ऐसा भगवानके उपदेशका तात्पर्य है।

[यहाँ २१ वीं अकर्तृत्वशक्तिका वर्णन पूर्ण हुआ।]

* * *

बाह्य सामग्री प्राप्त करनेकी व्यग्रता व्यर्थ है

"पुण्यं ही संमुखीनं चेत् सुखोपायशतेन किम्।
न पुण्यं संमुखीनं चेत्सुखोपायशतेन किम् ॥६०॥"

अर्थः—पुण्य यदि उदयके संमुख है—अपना फल देनेमें प्रवृत्त है तो सैंकड़ों सुखसामग्रीके उपायोंसे भी क्या प्रयोजन ? क्योंकि वह पुण्योदयसे स्वयं ही प्राप्त होगा। इसीप्रकार यदि पुण्यकर्म उदयमें नहीं आ रहा है तो भी उस पुण्यसामग्रीके बहुत उपायोंकी भी क्या आवश्यकता है ? अर्थात् पुण्यकर्म उदयके संमुख हो या विमुख हो दोनों ही अवस्थामें उसके लिये सैंकड़ों प्रयत्न व्यर्थ हैं। (अणगार धर्मामृत)

[२२]

अभोक्तृत्व शक्ति

थोड़ीसी प्रतिकूलता आये कि चिंता होती है, वहाँ तो "अरे रे ! मेरा आत्मा घेरा गया"—ऐसा अज्ञानीको लगता है। उसको ज्ञानी कहते हैं कि अरे भाई ! चिंतासे घेरा जाये ऐसा तेरी आत्माका स्वभाव नहीं...तेरी आत्मामें ऐसा अभोक्ता स्वभाव है कि चिंतापरिणामको न भोगे। इसलिये घबड़ा मत। विकारके वेदनसे विराम पाये हुए तेरे ज्ञायकस्वभावके समीप जा......वहाँ तुझे आनन्दका वेदन होगा।

ज्ञायकस्वरूप आत्मामें जिसप्रकार विकारके अकर्तृत्वरूप शक्ति है उसीप्रकार हर्ष–शोकादि विकारके अभोक्तृत्वरूप शक्ति भी है। "समस्त कर्मोंसे किये गये, और आत्माके ज्ञातृत्वमात्रसे पृथक्–ऐसे मलिन परिणामोंके अनुभवके उपरमस्वरूप अभोक्तृत्व शक्ति है।" ज्ञानको अंतरोन्मुख करनेसे जो अतीन्द्रिय आनन्दका उपभोग हुआ, उसमें हर्ष–शोकके उपभोगका अभाव है। हर्ष–शोकादि विकारी भावोंको कर्मकृत कहा वह ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिसे कहा है; अकर्तृत्वशक्तिके विवेचन-

में उसका अत्यन्त स्पष्टीकरण आया है तदनुसार इस अभोक्तृत्वशक्तिमें भी समझ लेना।

पराश्रयसे हर्ष-शोकके भाव होते हैं उनका अनुभव करनेकी योग्यता एक समय पर्यंतकी पर्यायमें है, किन्तु आत्माका त्रिकाली स्वभाव तो उस अनुभवसे रहित है। यदि त्रिकाली स्वभाव ही वैसा हो तो उस विकारके वेदनसे छूटकर अंतर्अनुभवके निर्विकार आनंदका वेदन नहीं हो सकता। तदुपरान्त यहाँ तो पर्यायको लेकर ऐसी बात है कि–पर्यायमें जिसे एकान्त हर्ष-शोकका ही वेदन है और उससे पार ज्ञायकस्वभावका किंचित भी वेदन नहीं है, उसे आत्माकी अभोक्तृत्वशक्तिकी श्रद्धा हुई ही नहीं है। साधकको अल्प हर्षादिके समय भी उससे भिन्न ज्ञायक स्वभावको दृष्टि वर्तती है इसलिये अकेले हर्षादिका ही वेदन उसे नहीं है किन्तु सुदृष्टिके बलसे हर्ष–शोकके अभावरूप ज्ञायकस्वभावका वेदन भी वर्तता है;–इसप्रकार उसे अभोक्तृत्वशक्तिका निर्मल परिणमन प्रारम्भ हो गया है।

अपनेसे भिन्न ऐसे शरीर, पैसा, स्त्री, अन्न, वस्त्रादि पर पदार्थोंका उपभोग करना तो आत्माके स्वरूपमें कभी है ही नहीं। परका उपभोग करना अज्ञानी मानता है वह तो मात्र उसकी भ्रमणा है, वह कहीं परका उपभोग नहीं करता, किन्तु परोन्मुखवृत्तिसे हर्ष-शोकके भाव करके अज्ञान भावसे मात्र उन्हींका उपभोग करता है। यहाँ अभोक्तृत्वशक्तिमें तो आचार्यदेव ऐसा समझाते हैं कि–वे हर्ष-शोकके भाव भी आत्माके ज्ञायकस्वभावसे पृथक् हैं, इसलिये उन्हें भोगनेका भी आत्माका स्वभाव नहीं है। आत्माका स्वभाव तो ज्ञायक स्वभावमें एकाग्र होकर अपने वीतरागी आनन्दका उपभोग करना है।

❀ आत्माके द्रव्यमें, गुणमें या पर्यायमें कहीं परका तो उपभोग है ही नहीं।

❀ हर्ष–शोक–चिंतादिका उपभोग आत्माके द्रव्य–गुणमें नहीं है, मात्र अज्ञानदशामें एक समय पर्यंत है।

❀ और, विकारके अभोक्ता स्वरूप ऐसे त्रिकाली द्रव्य–गुण की ओर उन्मुख होनेसे पर्यायमेंसे हर्ष–शोकका क्षणिक भोक्तृत्व छूट जाता है, इसलिये द्रव्य–गुण–पर्याय तीनोंसे आत्मा साक्षात् अभोक्ता हो जाता है।

परवस्तुका उपभोग आत्माको नहीं है। जिसप्रकार शरीर–स्त्री–भोजनादि अनुकूल संयोगोंका उपभोग आत्मा नहीं करता, उसीप्रकार शरीर कट जाना, रोग हो जाना,—इत्यादि प्रतिकूल संयोगोंको भी आत्मा नहीं भोगता। मात्र हर्ष–शोक करके विकारका उपभोग करता है। और उस हर्ष–शोकके समय परवस्तु निमित्त है, इसलिये "आत्मा परका उपभोग करता है"–ऐसा भी उपचारसे कहा जाता है वास्तवमें तो परका उपभोग करनेका भाव करता है और अपने उस विकारी भावका ही उपभोग करता है। यहाँ तो उससे भी सूक्ष्म अंतर्स्वभावकी बात है कि विकारका उपभोग करनेका भी आत्माका मूल स्वभाव नहीं है। शरीर कटे उसका वेदन आत्माको नहीं है, तथा उस ओरकी अरुचिका वेदन करनेका भी आत्माका स्वभाव नहीं है, किन्तु ज्ञायकस्वभावका वेदन करना आत्माका स्वभाव है। अज्ञानी कहता है कि "अरे रे ! कर्मोंका फल भोगना पड़ता है।" –किन्तु यहाँ कहते हैं कि अरे भाई ! तू अपने ज्ञायक स्वभावकी ओर ढले तो तुझे कर्मोंकी ओरका वेदन न रहे। जो ज्ञायक स्वभावकी ओर ढलकर उसका वेदन नहीं करता वही विकारका भोक्ता होकर चार गतिमें परिभ्रमण करता है। आत्माके लक्षसे हर्ष-शोकका वेदन नहीं होता, क्योंकि आत्माका स्वभाव विकारके उपभोगसे रहित है; हर्ष-शोक आत्माके ज्ञाताभावसे पृथक् हैं। कर्मोंके ओरकी वृत्तिवाला जीव ही हर्ष–शोकका भोक्ता होता है इसलिये उसे कर्मका ही कार्य कहा है, अर्थात् वह आत्माके स्वभावका कार्य नहीं है, आत्मस्वभाव तो उसका अभोक्ता है—ऐसा बतलाया है। आत्मा अपने स्वभावकी ओर ढलकर अपनी अनंत शक्तियोंकी निर्मलताका अनुभव कर सकता है, किन्तु विकारका या परका अनुभव करे ऐसा वास्तवमें आत्मा नहीं

है। जो परिणति आत्मस्वभावके साथ अभेद हुई वह तो आत्मा है, किन्तु जो परिणति विकारके ही अनुभवमें लगी रहे उसे आत्मा नहीं कहते, क्योंकि उसमें आत्माकी प्रसिद्धि नहीं है।

ग्रीष्मऋतुमें श्रीखंड–पूरी खाकर बँगलेके बगीचेमें टहल रहा हो और अपनेको सुखी मानता हो, तो वहाँ आत्मा श्रीखंड या बगीचे आदिका तो वास्तवमें उपभोग नहीं करता, और उसमें जो सुखकी कल्पनारूप साताभाव है उसका उपभोग करना भी आत्माका स्वभाव नहीं है; तथा बगीचेमें बैठा हो और कोई आकर सिर काट दे और उससे अपनेको महान दुःखी माने तो वहाँ भी उस संयोगको आत्मा नहीं भोगता। हर्ष–शोकके उपभोगसे रहित, ज्ञायक रहना आत्माका स्वभाव है। अहो! ऐसे अभोक्ता स्वभावको लक्षमें ले तो चाहे जिस संयोगमें भी जीवको अपनी शांतिका वेदन नहीं छूट सकता। स्वभावको भूलकर, बाह्य वस्तुएँ मेरे लिये अच्छी-बुरी हैं और उनसे मुझे सुख–दुःख होता है—ऐसी मान्यता वह संसारका मूल है। शास्त्रमें कहते हैं कि—अज्ञानीको जो अनन्त दुःख है वह तो वास्तविक दुःख ही है, किन्तु वह अपनेको जो सुख मानता है वह मात्र कल्पना ही है। जहाँ सुख भरा है ऐसे ज्ञानस्वभावके अनुभव बिना वास्तविक सुखका वेदन नहीं होता। आत्माके स्वभावमें जो वास्तविक सुख भरा है उसका वेदन कैसे हो और अनादिकालीन विकारका वेदन कैसे दूर हो–वह यहाँ बतलाते हैं।

शरीर, लक्ष्मी, मोटर आदि जड़ वस्तुएं आत्माको सुख दें—तो उसका अर्थ यह हुआ कि वे जड़ वस्तुएं आत्मासे भी महान् हैं! आत्मामें सुख नहीं है, किन्तु जड़ वस्तु उसे सुख देती है–ऐसा माननेवाला मूढ़ जीव कदापि जड़की ओरकी वृत्ति छोड़कर आत्मोन्मुख नहीं होगा, इसलिये वह संसारमें ही भटकेगा। जड़में कहीं भी मेरा सुख नहीं है, और जड़की ओर उन्मुख होनेसे जो हर्षादिकी वृत्ति होती है उसमें भी मेरा सुख नहीं है, सुख तो मेरे स्वभावमें है और उस

स्वभावमें अन्तरोन्मुखतासे ही मुझे अपने सुखका वेदन होता है—ऐसा ज्ञानी जानते हैं; इसलिये संयोगोंके ओरकी वृत्तिको समेटकर, स्वभावोन्मुख होकर अतीन्द्रियसुखका वेदन करते-करते परम सिद्धपदको प्राप्त होते हैं।

देखो, यह कोई साधारण ऊपरी बात नहीं है; यह तो आत्माके अंतर्स्वभावकी अपूर्व बात है। एकबार यह बात समझले तो अनन्तकालका भवभ्रमण मिट जाये—इसे समझते ही अंतरमें महान वीतरागी शांति हो जाये। शांतिका और दुःखसे छूटनेका तो यही उपाय है; अन्य किसी उपायसे जीवको शांति नहीं हो सकती, कोई इस शरीरमें भक्तिपूर्वक चन्दनका लेप करे या द्वेषपूर्वक इसे काट डाले; मीठा रस हो या कड़वा, सुगन्ध हो या दुर्गंध, सुन्दर रूप हो या काला-कुबड़ा शरीर, कोई प्रशंसा करे या निन्दा,—किन्तु ज्ञानी जानते हैं कि वे सब मुझसे भिन्न हैं, मैं उन किसीका भोक्ता नहीं हूँ और उनमें किंचित् भी हर्ष-शोक हों वे भी मेरे ज्ञायकस्वभावी आत्मासे पृथक् हैं इसलिये उनका भी मैं सचमुच भोक्ता नहीं हूँ—मैं तो ज्ञायक ही हूँ।—ऐसी ज्ञायक-दृष्टिमें वीतरागताका महान बल है। एक समयकी जो विकारीदशा है उसे अंतरंग स्वभावमें ढूंढ़ा जाये तो वहाँ नहीं मिल सकती, इसलिये स्वभावकी दृष्टिमें आत्मा उसका अकर्ता और अभोक्ता ही है।—यह नास्तिसे कहा अस्तिसे कहें तो—आत्मा अपने निर्विकारी अनुभवका कर्ता-भोक्ता है।—ऐसी अंतरस्वभावकी दृष्टि बिना अज्ञानी जीव कदाचित् पूर्वकथित प्रसंगोंमें शुभरागसे समता रखे, किन्तु उस समताके शुभपरिणामोंके उपभोगमें ही वह रुक जाता है और उसीको वास्तविक मानता है; आत्माके अभोक्तास्वभावकी या अतीन्द्रिय सुखकी उसे खबर नहीं है।

आत्माका अभोक्ता स्वभाव समझे तो विकारके उपभोग रहित ज्ञान-आनन्द स्वभावकी श्रद्धासे सम्यग्दर्शन हो जाये और फिर ज्यों-ज्यों उस स्वभावमें लीनता होती जाये त्यों-त्यों विकारका

भोक्तृत्व भी छूटता जायेगा। जैसे—मुनिदशामें आत्मस्वभावमें लीनतासे इतना भारी अभोक्तृत्व प्रगट हो गया है कि वहाँ शरीर पर वस्त्र, या दो बार आहारादिके उपभोगका भाव ही नहीं रहा है; और केवलज्ञान होने पर तो पूर्ण अभोक्तृत्व प्रगट हो जाता है, वहाँ आहारादिका उपभोग सर्वथा होता ही नहीं है। पहलेसे ही अभोक्तापनेकी साधना करते–करते वहाँ पूर्ण होगया है। तथापि जो मुनिको वस्त्रकी वृत्ति या केवलीभगवानको आहारादि मानता है उसे खबर नहीं है कि कौन–सी भूमिकामें कैसा अभोक्तापना प्रगट होता है! और अपनी दशामें भी उसे किंचित् अभोक्तृत्व नहीं हुआ है।

अरे जीव! तेरा आत्मा तो आनन्दकी खान है.....उसे इस विकारका या विषयोंका उपभोग नहीं हो सकता। अपने ज्ञायकस्वभावके आनन्दका उपभोग छोड़कर अनादि कालसे इन विकाररूपी विषयोंका उपभोग कर–करके तेरा ज्ञानानन्द शरीर क्षीण हो गया है...... इसलिये भाई! अब उस विकारका उपभोग न करके अपने ज्ञानानन्द–स्वरूपको सँभाल। विकारका भोक्ता होनेमें तेरा आनन्द–शरीर क्षीण होता है, इसलिये उस उपभोगको छोड़! विकार तेरे ज्ञानस्वभावसे पृथक् है, उसे भोगनेका तेरा स्वभाव नहीं है। इसलिये अंतरमें लक्ष करके अपने ज्ञायकस्वभावके अतीन्द्रिय आनन्दका उपभोग कर!

बाह्यमें मान–प्रतिष्ठाके हेतु चुनावमें मत प्राप्त करनेके लिये लोग कितनी दौड़ धूप करते हैं! किन्तु स्वयं अपने आत्माका मत प्राप्त करनेका प्रयत्न नहीं करते। आत्माका मत प्राप्त कर ले तो मुक्तिपद प्राप्त हो। बाह्यमें राजपद या प्रधानादिका पद तो धूलके समान है, उसमें कहीं आत्माका हित नहीं है, वह वास्तवमें आत्माका पद नहीं है; तथापि उसके लिये कितनी दौड़ धूप करता है! यदि अंतरदृष्टिसे आत्माको सन्तुष्ट करके उसका मत प्राप्त करले तो तीन लोकमें प्रधान–उत्कृष्ट ऐसे सिद्धपदकी प्राप्ति हो। आत्माका मत कैसे प्राप्त होता है? जैसा आत्माका स्वभाव है वैसा ही अभिप्रायमें–मतिमें

ग्रहण करे तो आत्माका मत प्राप्त हो; किन्तु जैसा स्वभाव है वैसा न मानकर उससे विरुद्ध माने तो उसे आत्माका मत नहीं मिल सकता और न सिद्ध पदकी प्राप्ति हो सकती है। मात्र विकारके उपभोग पर जिसकी दृष्टि है उसकी मतिमें आत्मा आया ही नहीं है, इसलिये आत्माका मत उससे विरुद्ध है; वह जीव मिथ्यामतिसे संसारमें भटकता है। एक समय जितने विकारके उपभोगसे रहित तीनोंकाल पूर्ण ज्ञानानन्दस्वभाव हूँ—ऐसी अंतरस्वभावकी दृष्टि करनेसे जो सम्यक्‌मति हुई उसमें आत्मा आया है; उसे आत्माका मत प्राप्त होगया है अर्थात् सम्यक्‌दर्शन हुआ है, और उसके फलमें उसे त्रिलोक पूज्य ऐसे सिद्धपदकी प्राप्ति होगी।

लोग कहते हैं कि—"अपना देश गुलाम है, गुलामसे धर्म नहीं हो सकता, इसलिये गुलामीकी जंजीर तोड़ दो……" उससे कहते हैं कि अरे भाई! गुलामसे धर्म नहीं होता यह बात सच है, किन्तु गुलामीका अर्थ क्या—उसकी तुझे खबर नहीं है। मेरे आत्माको धर्म करनेके लिये पर संयोगकी आवश्यकता होती है—ऐसी पराधीनताकी बुद्धि ही गुलामी है और ऐसे पराधीन बुद्धिवाले गुलामको धर्म नहीं होता; क्योंकि उसने अपने आत्माको स्वतंत्र नहीं माना किन्तु देश आदि परसंयोगोंका गुलाम माना है। ज्ञानी तो जानते हैं कि मैं तो ज्ञायकस्वभाव हूँ, मैं संयोगका गुलाम नहीं हूँ, मेरा धर्म संयोगाधीन नहीं है किन्तु असंग ज्ञायकस्वभावके आधारसे ही मेरा धर्म है। देश गरीब या पराधीन हो तो मैं अपने आत्माका धर्म न कर सकूं—ऐसी पराधीनता मुझमें नहीं है। देश स्वाधीन हो या पराधीन, किन्तु मैं चाहे जब अपने ज्ञायक स्वभावके आश्रयसे अपने आत्माका धर्म (सम्यक् श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र) कर सकता हूँ। वास्तवमें तो अनंत गुणोंकी बस्तीसे भरा हुआ असंख्य प्रदेशी आत्मा ही मेरा स्व–देश है, उससे बाहरका कोई देश मेरा नहीं है; वह तो मेरे लिये पर–देश है। यहाँ तो कहते हैं कि विकारभाव भी नित्य ज्ञायक स्वभावी आत्मासे पर है, उसका उपभोग करना भी आत्माका स्वभाव नहीं है, तो फिर लक्ष्मी आदि

बाह्य पदार्थोंकी क्या बात ?

प्रश्न—कार्तिकेय स्वामीने द्वादशानुप्रेक्षा (गाथा–१२) में कृपणको लक्ष्मीका उपभोग कहा है ! और यहाँ आप कहते हैं कि आत्मा उसका अभोक्ता है—यह कैसे ?

उत्तर—वहाँ तो जो जीव लक्ष्मीकी लोलुपतासे तीव्र लोभ परिणाममें डूब रहा है उसका ममत्व परिणाम कुछ कम करानेके लिये लक्ष्मीका उपभोग करना कहा है। लक्ष्मीका संयोग अध्रुव जानकर उसके प्रति ममत्व परिणामोंको कुछ कम करे और किंचित् वैराग्य परिणाम करे—उस हेतुसे वहाँ उपदेश है;—किन्तु उतने मात्रसे धर्म हो–जाता है—ऐसा वहाँ नहीं बतलाना है। यहाँ तो आत्माको धर्म कैसे हो उसकी बात है; इसलिये आत्माका मूल–स्वभाव क्या है वह बतलाते हैं। आत्मा परका अभोक्ता है यह बात लक्षमें रखकर वहाँ निमित्तसे उपदेश है—ऐसा समझना चाहिये।

आत्मस्वभावोन्मुख होनेसे विकारका भी अनुभव नहीं रहता, तो फिर शरीरादिके उपभोगकी क्या बात ? शरीरमें रोग होने पर अज्ञानीको ऐसा लगता है कि—"हाय ! हाय ! अब मेरी मृत्यु हो जायेगी !" किन्तु भाई रे ! मरता कौन है ? यह शरीर तो तुझसे इस समय भी पृथक् है, शरीरके रोगका उपभोग तुझे नहीं है, इसलिये शरीर–बुद्धि छोड़ और अविनाशी चैतन्यस्वभावको लक्षमें ले, तो तेरा मृत्युका भय दूर हो जाये। देह छूट जाये तो उससे कहीं आत्मा नहीं मर जाता। क्या सूर्य मरता है ? चंद्र मरता है ? नक्षत्र मरते हैं ? जगतके परमाणु मरते हैं ? जीव मरता है ? इन किसीका मरण नहीं होता। जगतमें अनादिसे जितने जीव हैं और जितने परमाणु हैं उतने ही सदैव रहते हैं; उनमेंसे एक भी जीव या एक भी परमाणु कभी कम होता ही नहीं। आत्मा त्रिकाल अपने ज्ञानस्वभावसे जीवित ही है; विकार एक क्षण पर्यंतका ही है, उसका दूसरे क्षण मरण (अभाव) हो जाता है। इसलिये उस विकारके अनुभवकी बुद्धि छोड़

ओर आत्माके ज्ञानस्वभावका अनुभव कर, तो मरण रहित ऐसी सिद्धदशा प्रगट हो। इसके अतिरिक्त विकारके उपभोगकी विपरीत दृष्टिमें तो अनंत मरण करानेकी शक्ति विद्यमान है। कालकूट सर्पका विष तो एकबार मृत्यु करता है (–और वह भी आयु पूर्ण होगई हो तब), किन्तु विपरीत दृष्टिरूपी मिथ्यात्वका विष तो संसारमें अनंत मरण कराता है। इसलिये हे जीव! अनंत चैतन्य शक्तिसे परिपूर्ण अपने अमृत स्वरूप आत्माको पहिचानकर उसके अनुभवका उद्यम कर, वही आत्माको अनंत मरणसे बचानेवाला है।

किंचित् प्रतिकूलता आये अथवा चिन्ता हो वहाँ तो, अरे रे! मेरा आत्मा चिन्ताके बोझसे दब गया!–ऐसा अज्ञानीको लगता है...ज्ञानी उससे कहते हैं कि अरे भाई! चिन्ताके बोझसे दब जाये ऐसा तेरे आत्माका स्वभाव नहीं है; तेरे आत्मामें ऐसा अभोक्ता स्वभाव है कि वह चिन्ताके परिणामको नहीं भोगता...इसलिये तू आकुलित न हो......चिन्ताके अभोक्ता ऐसे अपने ज्ञायक–स्वभावको लक्षमें ले। ज्ञानस्वभावके लक्षसे तुझे ज्ञाता परिणामके अनाकुल आनन्दका वेदन होगा; उस आनन्दका ही भोक्ता होना तेरा स्वभाव है। कभी–कभी ज्ञानीको भी चिन्ता परिणाम होते हैं, किन्तु ऐसे आनन्द–स्वभावके वेदनकी अधिकतामें उन्हें चिन्ताकी अधिकता कभी नहीं होती, इसलिये उन्हें उलझन नहीं होती, शंका नहीं होती। वे सचमुच चिन्ता या हर्षके भोक्ता नहीं हैं, उनका भोक्तृत्व तो उनके विलीन होगया है; उन्हें तो आनन्दका भोक्तृत्व है।

पुनश्च, हर्ष–शोकके जो परिणाम हैं वे ज्ञाता–परिणामोंसे पृथक् ही हैं, इसलिये ज्ञानी उनका भोक्ता नहीं है किन्तु सदा ज्ञाता ही है। उसे हर्षशोकके अल्प परिणाम होते हैं उनमें वह तन्मय नहीं होता; यदि उनमें तन्मय हो जाये तो उसका अभोक्तृत्व नहीं रहता, अर्थात् मिथ्यात्व हो जाता है। अज्ञानी हर्ष–शोकादिमें तन्मय होकर उन्हींका उपभोग करता है, उनसे पृथक् ज्ञानस्वभावका किंचित् वेदन उसे नहीं रहता।

क्षणिक विकार जितना ही अपनेको मानकर जो उसीका भोक्ता होता है वह जीव अनंत धर्मोंके पिण्डरूप अनेकांत स्वभावसे हटकर एकान्तकी ओर ढला है इसलिये उसे एकांत अशुद्ध आत्माही भासित होता है। आत्मा क्षणिक विकारके उपभोग जितना नहीं है किन्तु त्रिकाल उसका अभोक्ता है, अर्थात् आत्मा ज्ञान–आनन्दादि अनंत शक्तियोंका पिण्ड है;–इसप्रकार अनेकांत स्वरूप, अनंत–शक्तिका पिण्ड आत्मा बतलाकर अज्ञानीको एकांत बुद्धि छुड़ाकर आत्माके स्वभावमें लेजानेकी यह बात है। भाई, तू अपनी आत्म शक्तिका विश्वास कर, तेरी शक्ति छोटी (क्षणिक विकार जितनी) नहीं है, तेरी शक्ति तो विशाल है, तेरा आत्मा अनंत शक्तिसे महान है; विकारका अभोक्ता होकर स्वभावकी शांतिका उपभोग करनेकी तुझमें शक्ति है; और जब तुझमें ही ऐसी शक्ति है तो दूसरेकी तुझे क्या आवश्यकता ? इसलिये तू अपनी शक्तिका विश्वास कर, तो उस शक्तिके अवलम्बनसे शांति प्रगट हो और अशांतिका वेदन छूट जाये। अपनी शक्तिके अविश्वासके कारण ही तूने बाह्यमें भटक कर संसारमें परिभ्रमण किया है। तुझे स्वयं अपनी शक्तिका विश्वास न आये तो दूसरा कोई तुझे शांति नहीं दे सकता, क्योंकि तेरी शांति दूसरेके पास नहीं है।

बाह्यमें संयोग–वियोग आयें वहाँ हर्ष–शोक करके अज्ञानी उनके वेदनमें इसप्रकार एकाकार हो जाता है कि उनसे भिन्न आत्माके अस्तित्वका उसे भान ही नहीं रहता। किंचित् प्रतिकूलता आये वहाँ तो मानों आत्मा खो ही गया। किन्तु भाई ! संसारीको ऐसे संयोग-वियोग नहीं आयेंगे तो क्या सिद्धको आयेंगे ? सिद्ध भगवानको संयोग–वियोग या हर्ष-शोक नहीं होते। निचली दशामें वे होते हैं; किंतु उनके होने पर भी मैं तो उनसे भिन्न ज्ञान स्वभावी सिद्ध समान हूँ; जिसप्रकार सिद्धभगवानका आत्मा संयोग–वियोग और हर्ष-शोकसे अत्यन्त पृथक् है उसीप्रकार मेरा आत्मस्वभाव भी उनसे पृथक् है; मेरा निजभाव तो ज्ञान मात्र ही है;—इसप्रकार शुद्ध आत्माको ध्येयरूप रख कर उस ओर उन्मुख हो तो उसका परिणमन सिद्धदशाकी ओर

होता रहे; विकारका वेदन प्रतिक्षण दूर होता जाये और सिद्ध भगवान जैसे अतीन्द्रिय आनंदके वेदनका विकास हो।—ऐसी साधक-दशा है और यही धर्म है।

यह आत्माकी शक्तियोंका वर्णन चल रहा है। इन शक्तियोंके वर्णन द्वारा आत्माका स्वभाव बतलाना है। यह बाईसवीं शक्ति कहती है कि आत्मा समस्त कर्मोंकी ओरके भावोंका अभोक्ता है। देखो, कर्मकी १४८ प्रकृतियोंमेंसे घातिकर्म, वेदनीय, गोत्र तथा तीर्थंकर-नाम कर्म आदि ७८ प्रकृतियोंको "जीव विपाकी" माना है, और यहाँ कहते हैं कि जीव उनका अभोक्ता है। वहाँ गोम्मटसार आदिमें तो जीवकी उस-उसप्रकारकी अशुद्ध पर्यायके साथका निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध बतलानेके लिये कथन है और यहाँ निश्चयनय द्वारा जीवका शुद्ध स्वभाव बतलाना है। जीवके शुद्धज्ञायक स्वभावमें विकारका या कर्मका पाक है ही नहीं; जीवके स्वभावमें तो ज्ञान और आनंदका ही विपाक होता है।

सातवें नरकमें किसीको सम्यक्त्व हो तो वह भी ऐसा निःशंक जानता है कि इस नरकके संयोगका अथवा उस ओरके असाताभावका उपभोग मेरे ज्ञायकस्वभावमें नहीं है; उसीप्रकार सर्वार्थसिद्धिमें रहनेवाले जीव भी उस अनुकूल संयोगसे अथवा उस ओरके साताभावके वेदनसे अपने ज्ञायक स्वभावका पृथक् ही अनुभव करते हैं।

देखो भाई! बाह्य संयोग-वियोगका प्रेम छोड़कर आत्माके स्वभावका प्रेम करना चाहिये। जिसके प्रति प्रेम होगा उसी ओर वृत्ति जायेगी। जिसे आत्माका सच्चा प्रेम हो उसे आत्मा समझमें न आये ऐसा नहीं हो सकता। आत्मस्वभावका प्रेम करके उसकी श्रद्धा-ज्ञान और अनुभव करना ही अनंत मरणसे आत्माको बचानेका उपाय है।

एकके बाद एक पुत्रीका जन्म हो तो खेद करता है और पुत्र उत्पन्न हो तो हर्षित होता है...किंतु यहाँ कहते हैं कि उस पुत्री

या पुत्रका उपभोग करनेवाला तो आत्मा नहीं है, और उस ओरके शोक या हर्ष–परिणामको भोगनेका भी तेरा स्वभाव नहीं है। उससे पार तेरा ज्ञायक स्वरूप है; उस स्वरूपको श्रद्धामें ले तो तेरे आत्मामें अतीन्द्रिय आनन्दरूपी पुत्रका जन्म हो। उस अतीन्द्रिय आनन्दका उपभोग करना आत्माका स्वभाव है।

कोई तम्बूरेके तारोंको झनझनाकर भगवानकी भक्ति करता हो तो वहाँ अज्ञानीको ऐसा लगता है कि इस भक्तिसे इसे धर्म होगा और तीर्थंकर नाम कर्म बँध जायेगा !—किंतु उसे भान नहीं है कि राग वह धर्म नहीं है, और सम्यग्दर्शन रहित अकेले रागसे किसीको तीर्थंकर नाम कर्मका बंध नहीं होता। जिसे सम्यग्दर्शन नहीं है और रागके उपभोगमें ही लीन हो रहा है वह तो मूढ़ है, ऐसे जीवको कभी तीर्थंकर नामकर्मका बंध नहीं होता। सम्यक्त्वी धर्मात्मा रागके वेदनको आत्माके स्वभावसे पृथक् जानते हैं। आत्माके ज्ञायक स्वभावके वेदनकी और रागके वेदनकी जाति अत्यन्त भिन्न है—ऐसा वे जानते हैं इसलिये रागके वेदनमें कभी एकाकार नहीं होते; स्वभावके वेदनमें एकाकार होते जाते हैं और रागका वेदन छूटता जाता है।—आत्माकी अभोक्तृत्व शक्तिका ऐसा परिणमन उनके उल्लसित होता है।

इसप्रकार अभोक्तृत्व शक्तिका निर्मल परिणमन होते-होते जहाँ केवलज्ञान और परिपूर्ण आनंदका उपभोग प्रगट हुआ वहाँ हर्ष-शोकका किंचित् भोक्तृत्व नहीं रहा; तथा आहारादिके भोक्तृत्वमें निमित्त हो ऐसी अशुद्धता भगवानको न रही। अतीन्द्रिय-आनंदका पूर्ण उपभोग हो जाने परभी केवली प्रभुको आहारादिका निमित्त—भोक्तृत्व भी होता है;—ऐसा जो मानता है उसे केवली भगवानकी अभोक्तृत्व दशाका अथवा पूर्ण आनंदका भान नहीं है और अपने आत्माके अभोक्तापनेकी भी उसे खबर नहीं है। अरे, भगवानको पूर्ण आनंद प्रगट होगया वहाँ आहार कैसा ? पूर्ण आनंद हो वहाँ आहार नहीं होता। हाँ, अभी वहाँ योगका कम्पन हो सकता है, अर्थात्

दिव्यध्वनिका निमित्तपना हो सकता है किंतु आहारका निमित्तपना कभी नहीं हो सकता। अहो, जहाँ आनंदका पूरा अनुभव हो गया, एकसमयका उपयोग पूर्ण हो गया, परिपूर्ण अतींद्रिय भाव विकसित हो गया, वहाँ इंद्रिय विषयोंका भोक्तृत्व क्यों होगा ?—नहीं हो सकता।

ज्ञानस्वरूपी वीतरागी अभोक्ता स्वभाव पर साधककी दृष्टि है और पर्यायमें हर्ष–शोकका अल्पवेदन भी है; इसलिये उस साधकको तो अभोक्तापना मुख्य और भोक्तापना गौण–ऐसा मुख्य-गौणपना होता है; किंतु केवली भगवानको ऐसा मुख्य–गौणपना नहीं है, क्योंकि उन्हें तो किंचित् भी हर्ष-शोकका भोक्तृत्व रहा ही नहीं है।

अब, केवली भगवानको जिसप्रकार हर्षादिके भोक्तृत्वका सर्वथा अभाव है, उसीप्रकार उन्हें योगका कम्पन या वाणीका योग भी हो ही नहीं सकता–ऐसा नहीं है। केवलज्ञानके साथ आहार होनेमें विरोध है किंतु केवलज्ञानके साथ योगका कम्पन होनेमें कोई विरोध नहीं है। "केवलज्ञानीको ज्ञान और आनंदादि गुणोंका शुद्धपरिणमन हो गया वहाँ अब अन्य किसी गुणका विभाव परिणमन हो ही नहीं सकता, अथवा केवलज्ञानके पश्चात् वाणी हो ही नहीं सकती"—ऐसा जो मानता है उसे केवलज्ञानकी खबर नहीं है; तथा ज्ञान-आनंद-योग आदि गुणोंमें जो कथंचित् गुण भेद है उसेभी वह नहीं जानता इसलिये वह एकांतवादी मिथ्यादृष्टि है। और केवलज्ञानके पश्चात भी जो आहार–जल आदिका होना मानता है उसे केवली भगवानके अथवा केवली समान अपने अभोक्ता स्वभावकी खबर नहीं है, इसलिये उसके अभोक्तृत्वशक्तिका विपरीत परिणमन है, अर्थात् वह विकारके और इंद्रिय विषयोंके ही भोक्तृत्वमें वर्तता है, चैतन्यके आनंदका उपभोग उसके अंशतः भी नहीं है। और ज्ञानी तो, "मेरे ज्ञायक स्वभावमें विकारका किंचित् भी भोक्तृत्व नहीं है"—ऐसा जानता हुआ, उस स्वभावके आधारसे विकारके उपभोगका सर्वथा अभाव करके पूर्ण आनंदका भोक्ता हो जाता है।

[—यहाँ बाईसवीं अभोक्तृत्वशक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

[२३]

निष्क्रियत्व शक्ति

अनेकान्तमय आत्माकी प्रसिद्धि किस प्रकार होगी ? उसका अनुभव किस रीतिसे होगा ? उसकी यह बात है। ज्ञान लक्षणसे आत्माकी प्रसिद्धि होती है, इससे उसको 'ज्ञानमात्र' कहा है। ज्ञानमात्र भावके साथ अनंत शक्तियाँ परिणमती हैं, इसलिये भगवान आत्माको अनेकान्तपना स्वयमेव प्रकाशित होता है, उसकी शक्तियोंका यह वर्णन चलता है।

आत्मा ज्ञानमात्र है; उस ज्ञानमात्र आत्मामें स्वयमेव अनेकांत प्रकाशमान है, इसलिये ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयमेव अनंत धर्मोंवाला है। ऐसे अनेकान्तमय आत्माकी प्रसिद्धि किसप्रकार हो ?—उसका अनुभव कैसे हो ?—उसीका यह वर्णन है। प्रारम्भमें आचार्यदेवने कहा है कि ज्ञान लक्षण द्वारा आत्माकी प्रसिद्धि होती है। आत्माकी ओर न ढलकर जो ज्ञान मात्र पर ज्ञेयोंकी ओर ही ढलता है उसमें आत्माकी प्रसिद्धि नहीं होती, इसलिये उस मिथ्याज्ञानको आत्माका लक्षण भी नहीं कहते। जो अंतरोन्मुख होकर आत्माको लक्षित करे

उस ज्ञानमें आत्माकी प्रसिद्धि—अनुभव होता है और वह ज्ञान ही सच्चा लक्षण है। ऐसे ज्ञान लक्षणको मुख्य करके आत्माको ज्ञान मात्र कहा, वहाँ शिष्यको प्रश्न हुआ कि प्रभो ! आत्मामें अनन्त धर्म होने पर भी आप उसे "ज्ञानमात्र" क्यों कहते हैं ? ज्ञान मात्र कहनेसे क्या एकान्त नहीं होता ? उसके समाधानमें आचार्यदेवने कहा कि—अनंत धर्मोंवाले आत्माको ज्ञानमात्र कहने पर भी एकान्त नहीं होता; क्योंकि आत्माके ज्ञानमात्र भावके साथ ही अनंत शक्तियाँ परिणमित होती हैं इसलिये उस ज्ञानमात्र भावको स्वयमेव अनेकान्तपना है।

उस ज्ञानमात्र भावके साथ परिणमित–उल्लसित शक्तियोंका यह वर्णन चलता है। आचार्यदेवने ४७ शक्तियोंका वर्णन किया है, उनमेंसे २२ शक्तियोंका विवेचन हो गया है। अब २३ वीं निष्क्रियत्व शक्ति है। "समस्त कर्मोंके उपरमसे प्रवर्तित आत्म प्रदेशोंकी निष्पंदता स्वरूप निष्क्रियत्वशक्ति है।" ज्ञानमात्र आत्मामें ऐसी भी एक शक्ति है।

आत्माके प्रदेशोंमें हलन–चलनरूप क्रिया हो वह योग है; उस क्रियाके निमित्तसे कर्म आते हैं, किन्तु उन कर्मों या प्रदेशोंके कंपनरूप क्रिया आत्माका स्वभाव नहीं है; आत्माका स्वभाव तो स्थिर–अकंप रहना है। अकंप स्वभावी आत्मा शरीरको चलाये या कर्म आनेमें निमित्त हो–यह बात कहाँ रही ? स्वभाव दृष्टिमें तो आत्मा कर्मको निमित्त भी नहीं है। आत्माके स्वभावमें ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि जड़ शरीरादिकको हिलाये या कर्मोंको खींचे। शरीरका हिलना–चलना–बोलना–खाना आदि क्रियायें आत्माके साथ सम्बन्धवाली दिखाई देती हैं वहाँ अज्ञानीको भ्रम हो जाता है कि—"मुझसे यह क्रिया होती है"—उसे आत्माके अकंप स्वभावकी खबर नहीं है। भाई, शरीरादि क्रिया तो स्वयं जड़की शक्तिसे होती है; उसका तो तू कर्ता नहीं है; किन्तु तेरे आत्म प्रदेशोंमें जो कम्पन होता है वह भी तेरा सच्चा स्वरूप नहीं है; निष्क्रिय अर्थात् अडोल स्थिर–अकंप रहनेका तेरा स्वभाव है।

जिसप्रकार राग-द्वेषसे अस्थिरता हो वह आत्माका स्वभाव नहीं है, वीतरागी स्थिरता ही आत्माका स्वभाव है, उसी प्रकार प्रदेशोंका कम्पन-अस्थिरता हो वह भी आत्माका स्वभाव नहीं है। अकम्प-निष्क्रिय-स्थिर रहे वही आत्माका स्वभाव है। इच्छा और कम्पन दोनों विकार हैं। जीव ऐसी इच्छा करे कि मैं अमुक स्थान पर (नन्दीश्वर द्वीप आदि) जाऊँ, तथापि आत्म प्रदेशोंमें वहाँ जानेकी क्रिया न भी हो, क्योंकि वहाँ जानेकी इच्छा और क्रिया दोनों भिन्न-भिन्न गुणोंकी पर्यायें हैं, तथा वे दोनों विकार हैं। आत्माका ज्ञायक-स्वभाव तो उस इच्छा और कंपनसे रहित है, आत्मा तो वीतरागी अकंप स्वभावी है आत्माके प्रदेशोंमें जो कम्पन होता है वह योग गुणकी क्षणिक उपादानरूप योग्यता है और वहाँ आने योग्य हैं वही कर्म आते हैं वह निमित्त नैमित्तिकका स्वतंत्र संबंध है जो कंपन है वह मात्र वर्तमान पर्यंत योग्यता है, आत्माकी त्रिकाली शक्तिमें वह नहीं है। यदि त्रिकाली शक्तिमें कम्पन हो तब तो सदैव कर्म आते ही रहें और आत्मा कभी कर्म रहित मुक्त हो ही न सके, किन्तु आत्माकी निष्क्रिय शक्ति है वह कभी कर्मोंको निमित्त नहीं होती। ऐसे आत्मस्वभावकी दृष्टिसे प्रतिक्षण कर्मोंका निमित्तपना छूटता जाता है और सर्व कर्मोंका अभाव होकर सिद्धदशा प्रगट होती है, वहाँ आत्मा सादि-अनंत; अकंपरूपसे स्थिर रहता है चौदहवें गुणस्थानसे ही अकंपपना हो जाता है, वहाँ आत्माको कर्मोंका आस्रव सर्वथा रुक गया है। निचली दशामें कम्पन तो होता है, किंतु वह होने पर भी आत्माका अकम्प स्वभाव क्या है उसकी पहिचान करनेकी यह बात है। आत्माका स्वभाव क्या है उसे लक्षमें लेकर स्वीकार करे, फिर उस स्वभावके अवलम्बनसे पर्याय भी वैसी ही शुद्ध हो जायेगी।

जैसे—अभोक्तृत्व, अकर्तृत्व आदि शक्तियाँ तो ऐसी हैं कि वैसे आत्म स्वभावकी प्रतीति करते ही पर्यायमें उनका अंशतः निर्मल परिणमन होता है, किन्तु इस निष्क्रिय शक्तिमें ऐसा नहीं है कि आत्माका निष्क्रिय स्वभाव प्रतीतिमें आते ही प्रदेशोंका कम्पन अंशतः

रुक जायें। हाँ, इतना अवश्य है कि वह कंपन होने पर भी अमुक अशुद्धता उत्पन्न नहीं होती जैसे—सम्यक्त्व आदि होने पर मिथ्यात्वादिके रजकण तो उसके नहीं आते। तेरहवें गुणस्थानमें ज्ञान—आनन्द पूर्ण हो गये हैं, तथापि वहाँ प्रदेशोंका कम्पन होता है। अनादिसे लेकर तेरहवें गुणस्थान तक प्रदेशोंका कम्पन होता है। एक समय भी पर्यायमें अकंपपना हो तो मुक्ति हुए बिना न रहे; और अकंप आत्मस्वभावकी प्रतीति करे उसे भी मुक्ति हुये बिना न रहे। अकंप स्वभावको प्रतीतिमें लेते हुए अकेला अकंपपना पृथक् प्रतीतिमें नहीं आता, किन्तु अकंपपनेके साथ ही रहनेवाले श्रद्धा—ज्ञान—आनन्द—प्रभुता आदि अनंत गुणोंका पिण्ड आत्मा प्रतीतिमें आता है। ऐसे आत्माको श्रद्धामें लेकर उसमें स्थिरताका प्रयत्न करना है। प्रदेशोंका कम्पन होनेपर भी स्वरूपकी श्रद्धा और स्थिरता करके केवलज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। कोई जीव ज्ञानमें ऐसा विचार करे कि मैं प्रदेशोंके कम्पनको रोक दूँ—तो ऐसे नहीं रुक सकता, क्योंकि ज्ञान—क्रियासे कम्पनरूप क्रिया पृथक् है। इसलिये तू अपने सम्यक् श्रद्धा—ज्ञान एवं आनन्दका उद्यम कर; प्रदेशोंका कम्पन कहीं तेरे श्रद्धा—ज्ञान—आनन्दको नहीं रोकता। केवलज्ञान होनेके बाद भी किसीको लाखों—अरबों वर्ष तक कंपन रहता है, तथापि वहाँ केवलज्ञानको या पूर्णानन्दको किंचित् बाधा नहीं आती। प्रदेशोंकी स्थिरता तो सहज ही उसके कालमें हो जायेगी, जीवको तो अपने ज्ञानानंद स्वरूपकी श्रद्धा—ज्ञान और एकाग्रताका ही उद्यम करना है। केवली भगवानको प्रदेशोंका कम्पन होने पर भी आत्माका अकंपस्वभाव केवलज्ञानमें प्रत्यक्ष ज्ञात हो गया है; तथा अकंपदशा प्रगट होगी—वह भी ज्ञात हो गया है।

श्रीकृष्णकी रानीने नेमिनाथ भगवानका वस्त्र धोनेसे इन्कार किया तब नेमिकुमारने श्रीकृष्णकी आयुधशालामें जाकर ऐसा शंख फूंका कि द्वारिकाकी धरती कांप उठी! वहाँ कोई ऐसा माप निकाले कि—"भगवानमें कितनी शक्ति थी......धरती भी कांप उठी !"—तो उसे भगवानके आत्माकी सच्ची पहिचान नहीं है। अरे भाई! जब

आत्माका स्वभाव स्वयं काँपनेका नहीं है तब वह परको कैसे कँपा सकता है ? उस समय उस प्रकारका प्रदेशोंका कम्पन भगवानके आत्मामें हुआ वह भी उसका स्वभाव नहीं है, इसलिये उस परसे भगवानके आत्माकी सच्ची पहिचान नहीं होती। भगवानको तो उस समय किंचित् मानका विकल्प तथा कंपन होने पर भी उससे भिन्न अपने अकंप-ज्ञानानन्द स्वभावका भान था।—इस प्रकार जाने तभी भगवानको जाना कहा जाता है।

प्रश्नः—आत्मसिद्धिमें तो ऐसा कहा है न, किः—

"देह न जाने तेहने, जाणे न इन्द्रिय प्राण,
आत्मानी सत्ता वडे, तेह प्रवर्ते जाण।"५३॥

—अर्थात् देह और इन्द्रियाँ आत्माकी सत्ता द्वारा प्रवर्तमान हैं—ऐसा उसमें कहा है; और यहाँ तो कहते हो कि-हराम है अगर आत्मा परकी क्रिया कर सकता हो तो !—तो इन दोनों बातोंका मेल कैसे हो सकता है ?

उत्तर—वहाँ तो जो बिलकुल नास्तिक है और आत्माका अस्तित्व ही नहीं मानता उसे आत्माका अस्तित्व बतलानेकी बात है। आत्माके अस्तित्वकी भी जिसे शंका है उसे समझाते हैं कि अरे भाई ! यदि आत्मा न हो तो यह इन्द्रियाँ कहाँसे जानेंगी ? इसलिये जो ज्ञातृत्व वर्तता है वह आत्माकी सत्ता द्वारा जान।—इस प्रकार वहाँ आत्माका अस्तित्व सिद्ध किया है। और यहाँ तो जो आत्माके अस्तित्वको मानता है किन्तु उसके वास्तविक स्वरूपको नहीं जानता और उसे परका कर्ता मानता है उसे आत्माका वास्तविक स्वरूप बतलाना है। भाई ! तेरा आत्मा स्थिर स्वभावी है; तेरे आत्माके प्रदेशोंमें जो परिस्पंदन होता है वह भी तेरा स्वभाव नहीं है, तो फिर तुझसे अत्यंत भिन्न ऐसे जड़ पदार्थोंको तेरा आत्मा चलाये यह बात ही कहाँ रही ? प्रदेशोंका कम्पन तो तेरी पर्यायमें है, किंतु परको हिलाना-डुलाना तो तेरी पर्यायमें भी नहीं है।

आत्माकी पर्यायमें प्रदेशोंका कम्पन होता है, वह वास्तवमें परके कारण नहीं है किन्तु अपनी ही उस प्रकारकी योग्यता है। वह कम्पन आत्माका मूल स्वभाव नहीं है। समस्त कर्मोंके अभावरूप सिद्ध दशा होने पर कम्पन दूर होकर निष्कंप दशा प्रगट होती है उसे यहाँ निष्क्रियत्व कहा है।

प्रश्नः—आत्माका स्वभाव निष्क्रिय है या सक्रिय ?

उत्तरः— प्रदेशोंके कम्पनरूप क्रिया आत्माका स्वभाव नहीं है, उस अपेक्षासे तो आत्मा निष्क्रिय है; किन्तु अपने ज्ञान–आनन्दादिके निर्मल परिणामरूप होनेकी क्रिया उसका स्वभाव है; उस अपेक्षासे वह सक्रिय है।

ज्ञान–आनन्द स्वभावसे परिपूर्ण आत्मा कम्पन रहित स्थिर स्वभाववाला है। जिसप्रकार जिनबिम्ब हलन–चलन रहित स्थिर हो गया है, उसी प्रकार आत्माका स्वभाव स्थिर बिम्ब है। अनंत सिद्ध भगवन्त चैतन्यकी स्थिर प्रतिमा हो गये हैं; वैसा ही आत्माका स्वभाव है।

जैसे—कोई मूर्ख मध्यविन्दुसे उछलते हुए सम्पूर्ण समुद्रको न देखे और किनारे पर आनेवाले मैलको ही देखकर कहे कि मैंने समुद्र देखा है; तो वास्तवमें उसने समुद्र नहीं देखा है; क्योंकि किनारेका मैल वह समुद्र नहीं है; समुद्र तो अन्दरसे उछलकर मैलको बाहर निकाल देता है। उसी प्रकार यह आत्मा अनंत शक्तियोंसे उछलता हुआ चैतन्य समुद्र है। हे जीव ! अंतरमें अनंत शुद्ध शक्तियोंसे भरपूर चैतन्य समुद्र उछल रहा है उसे तो देख ! जो अनंत शक्तियोंसे उछलते हुए चैतन्य समुद्रको नहीं देखता और किनारेके मैलकी भाँति पर्यायके क्षणिक विकारको देखकर उसीको आत्मा मानता है वह जीव लोकोत्तर मूर्ख अर्थात् मिथ्यादृष्टि है। अरे मूढ़ ! तेरे आत्माका स्वभाव तो अनंत शक्तियोंके निर्मल परिणमनरूपसे उछल कर विकारको बाहर निकाल देनेका है, इसलिये अंतर्मुख दृष्टि करके सम्पूर्ण चैतन्य समुद्रको

देख और पर्याय बुद्धि छोड़ । शांतिका समुद्र तेरे आत्म स्वभावमें भरा है, उसमें दृष्टि कर तो तुझे शांतिका वेदन हो; इसके अतिरिक्त अन्य कहींसे तुझे शांतिका वेदन नहीं हो सकता ।

यहाँ एक समयकी कंपन पर्यायको गौण करके आत्माके त्रिकाली अकंप स्वभावकी दृष्टि कराना है; अकेले अकंप स्वभावको पृथक् करके नहीं, किन्तु ज्ञान–श्रद्धा–आनन्द–अकंपपना इत्यादि अनंत शक्तियोंसे अभेदरूप भगवान आत्मा बतलाना है । लोग कहते हैं कि अमुक नेताके पैरोंकी धमकसे धरती काँप उठती है;–किन्तु यह सब तो देहका अभिमान है । यहाँ तो कहते हैं कि भाई ! तेरा आत्मा देहसे पृथक् त्रिकाल कम्पन रहित स्थिर–निष्क्रिय है; तो वह परको कँपाये यह बात ही कहाँ रही ? इसलिये अपने आत्माके स्वभावकी ओर देख......तो तेरी अनंत शक्तियोंका शुद्ध परिणमन उछलनेसे पर्यायमेंसे कंपन भी छूटकर सादि–अनन्त अकंप ऐसी सिद्ध दशा प्रगट होगी ।

[—यहाँ तेईसवीं निष्क्रियत्व शक्तिका वर्णन पूरा हुआ ।]

[२४]

नियतप्रदेशत्व शक्ति

हे जीव ! तेरा जो कुछ है वह सब तेरे असंख्य प्रदेशोंमें ही है। तेरा सुख या दुःख, तेरा ज्ञान या अज्ञान, तेरी शान्ति अथवा अशान्ति, यह सब तेरे असंख्य प्रदेशोंमें ही समा जाता है, तेरा कुछ तुझसे बाहर नहीं, इसलिये तू तुझमें देखना सीख।

आत्माके असंख्य प्रदेशोंकी ऐसी बात अर्हंतदेवके शासनके सिवाय दूसरे कहीं न होय।

आत्मामें अनंत शक्तियाँ होने पर भी वह ज्ञान मात्र है; ज्ञानभावमें अपने सब गुणोंका समावेश हो जाता है; अर्थात् ज्ञानने अंतर्मुख स्वभावके साथ एकता करके जहाँ आत्मस्वभावको अनुभवमें लिया वहाँ आत्माके अनुभवमें अकेला ज्ञान ही नहीं है किन्तु चारित्र–वीर्य–आनन्द आदि अनंत शक्तियाँ भी निर्मल पर्याय सहित अनुभवमें आती हैं। प्रत्येक शक्तिका भिन्न भिन्न अनुभव नहीं है किन्तु अभेद आत्माके अनुभवमें अनंत शक्तियोंका रस एकत्रित ही है। वह बतलानेके लिये यहाँ आचार्यदेवने आत्माकी शक्तियोंका अद्भुत वर्णन किया है। उनमें

२४ वीं "नियतप्रदेशत्वशक्ति" है, वह कैसी है ?—"आत्माका निजक्षेत्र असंख्य प्रदेशी है; वह अनादि संसारसे लेकर संकोच विस्तारसे लक्षित है और मोक्षदशामें वह चरम शरीरके परिमाणसे किंचित् अल्प परिमाणमें अवस्थित है, ऐसा लोकाकाशके नाप जितना असंख्य आत्मअवयवपना वह नियतप्रदेशत्वशक्तिका लक्षण है।"—ऐसी भी एक शक्ति आत्मामें है।

बाह्यमें यह जो नाक कान आदि शरीरके अवयव हैं वे तो जड़ हैं, वे कहीं आत्माके अवयव नहीं हैं। आत्मा तो अरूपी अवयववाला है और असंख्य प्रदेश ही उसके अवयव हैं। लोकाकाशके प्रदेशोंकी जितनी संख्या है उतनी ही आत्माके अवयवोंकी संख्या है; और वह प्रत्येक अवयव ज्ञान—आनन्दादि शक्तियोंसे परिपूर्ण है।

आत्माके प्रदेशोंकी संख्या लोकके जितने प्रदेश हैं उतनी होने पर भी वह लोकमें विस्तृत होकर फैला हुआ नहीं है। केवली—समुद्घातके समय मात्र एक समय ही उसके प्रदेश लोकव्यापक रूपसे विस्तृत होते हैं, और वह समुद्घात केवलज्ञानीको ही हो सकता है। सभी केवलीको नहीं और इसके अतिरिक्त संसार दशामें—उस—उस शरीरके अनुसार आत्माके प्रदेशोंका संकोच विस्तार होता है। हाथीके विशाल शरीरमें जो आत्मा विद्यमान है उसके असंख्य प्रदेश उतने विस्तृत हुए हैं और चींटीके शरीरमें जो आत्मा विद्यमान है उसके असंख्य प्रदेश उतने संकुचित हुए हैं; तथापि असंख्य प्रदेश तो दोनोंमें समान ही हैं।

प्रश्नः—जब विशाल शरीरमें विस्तारको प्राप्त हो तब जीवके प्रदेश बढ जायें और जब छोटे शरीरमें संकोचको प्राप्त हो तब जीवके प्रदेश कम हो जायें—ऐसा होता है या नहीं ?

उत्तरः—नहीं; आत्माके "नियत असंख्य प्रदेश" हैं, वे तो त्रिकाल उतने ही रहते हैं, उनमें एक भी प्रदेश कम अधिक नहीं होता। चाहे जितना विशाल आकार हो तो उससे एक भी प्रदेश बढ़ नहीं जाता,

तथा चाहे जितना छोटा आकार हो तो एक भी प्रदेश कम नहीं हो जाता। छोटे या बड़े चाहे जिस आकारमें एक समान असंख्य प्रदेश ही रहते हैं।

प्रश्नः—तो फिर जब जीवका आकार संकुचित हो तब उसके प्रदेश छोटे आकारके हो जायें और जब उसका आकार विकसित हो तब प्रदेशोंका आकार भी बढ़ जाये—ऐसा है ?

उत्तरः—नहीं; प्रदेश अर्थात् सबसे अन्तिम अंश; वह कभी छोटा बड़ा नहीं होता, कोई जीव पहले चींटीके शरीरमें रहता था तब उसका आकार संकुचित था, और फिर वही जीव हाथीके शरीरमें आनेमें उसका आकार विस्ताररूप हुआ, किन्तु उससे कहीं उस जीवके प्रदेश बड़े नहीं हो गये, प्रदेश तो ज्योंके त्यों ही हैं। उनकी संख्या भी ज्योंकी त्यों है।

प्रश्नः—यदि जीवके प्रदेशोंकी संख्या भी कम—अधिक नहीं होती और उसके प्रदेशोंका नाप भी छोटा बड़ा नहीं होता, —प्रदेश जितने हैं उतने ही, तथा जिस आकारके हैं उसी आकारके रहते हैं तो जीवमें संकोच विस्तार कैसे होता है ?

उत्तरः—प्रदेशोंकी उस प्रकारकी हीनाधिक अवगाहनासे संकोच विस्तार होता है। लोकके असंख्य प्रदेश तथा एक जीवके असंख्य प्रदेश—वे दोनों संख्यारूपमें समान हैं। लोकके एक एकके प्रदेशोंमें ज्यों ज्यों जीवके अधिक प्रदेशोंका अवगाहन होता है, त्यों त्यों जीवके आकारका संकोच होता है और लोकके एक प्रदेशमें ज्यों ज्यों जीवके कम प्रदेश रहते हैं त्यों त्यों जीवके आकारका विकास होता है; इस प्रकार संकोच विस्तार होता है। उदाहरणके रूपमें—जब जीव सारे लोकमें अवगाही होकर रहता हो तब लोकके एक एक प्रदेशमें जीवका एक एक प्रदेश है; और जब वह अर्ध लोकमें व्याप्त होकर रहेगा तब लोकके एक एक प्रदेशमें जीवके दो दो प्रदेश होंगे; उसी प्रकार जब जीव लोकके असंख्यातवें भागमें व्याप्त होकर रहेगा तब

लोकके एक एक प्रदेशमें जीवके "असंख्यातवें भागके असंख्य" प्रदेश रहेंगे। जीवके असंख्य प्रदेशोंका नाप इतना बड़ा है कि उसे असंख्यसे भाग देने पर भी असंख्य आता है। और जीवका अवगाहन स्वभाव भी ऐसा है कि वह चाहे जितना संकुचित हो तथापि असंख्य प्रदेशोंको तो वह रोकता है; संकुचित होकर संख्यात या एक ही प्रदेशमें जीवके समस्त प्रदेश रह जायें ऐसा संकोच उसमें कभी नहीं होता। सुईकी नोक पर रह सकें इतनेसे कंदमूलके टुकड़ेमें भी औदारिक—असंख्य शरीर हैं और एक एक शरीरमें अनन्त जीव रहते हैं; उस प्रत्येक जीवने भी असंख्य प्रदेश रोके हैं।

प्रश्नः—सारे लोकके प्रदेश तो असंख्यात ही हैं और लोकमें जीव अनन्तानंत हैं, तो वे सब जीव लोकमें किस तरह समाये हुए हैं ?

उत्तरः—जीवका स्वभाव अमूर्त है; इसलिये जहाँ एक जीव विद्यमान है वहीं दूसरे जीवके प्रदेश भी रह सकते हैं; और इसप्रकार भिन्न-भिन्न अनन्त जीवोंके अनन्त प्रदेश एक प्रदेशमें रह सकते हैं। एक ही जीवके पूरे असंख्य—प्रदेश एक प्रदेशमें कभी नहीं रहते (क्योंकि जीवके प्रदेशोंमें ही उस प्रकार संकुचित होनेका स्वभाव नहीं है); किन्तु भिन्न—भिन्न अनन्त जीवोंके अनन्त प्रदेश लोकाकाशके एक ही प्रदेशमें विद्यमान हैं। इसप्रकार लोकके असंख्य प्रदेशोंमें अनन्तानन्त जीवोंका समावेश है। लोकाग्रमें जहाँ एक सिद्ध भगवान हैं वहीं दूसरे अनन्त सिद्ध भगवान विराजमान हैं; तथापि प्रत्येक भिन्न—भिन्न हैं; प्रत्येकका अपना—अपना आनन्द पृथक् है, अपना—अपना ज्ञान पृथक् है और अपने—अपने आत्म प्रदेश पृथक् हैं;—इस प्रकार एक क्षेत्र में अनन्त सिद्ध होने पर भी प्रत्येकका भिन्न—भिन्न अस्तित्व है। जिन अज्ञानियोंको ऐसे स्वभावकी खबर नहीं है उन्हें ऐसा भ्रम होता है कि—मुक्त जीव एक—दूसरेमें इसप्रकार मिल गये हैं जिसप्रकार ज्योतिमें ज्योति मिल जाती है; वहाँ जीव पृथक्—पृथक् नहीं हैं। किन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि—जीवमें नित्य असंख्य प्रदेश-

होनेरूप शक्ति है, इसलिये अपने स्वतंत्र असंख्य प्रदेशरूपसे वह त्रिकाल-रूप नित्यस्थायी रहता है।

असंख्य प्रदेश ज्योंके त्यों रहकर संसार दशामें जीवकी आकृतिमें संकोच–विकास होता रहता है; किन्तु मुक्ति होनेके पश्चात् सिद्ध दशाके पहले समयमें जैसा आकार हो वैसा आकार सदैव रहता है; फिर उसमें संकोच–विस्तार नहीं होता। यहाँ "चरम शरीरीसे किंचित् न्यून आकारमें अवस्थित"—ऐसे असंख्य प्रदेशीपनेको नियतप्रदेशत्व शक्तिका लक्षण कहा है। चरम शरीर तो मोक्षगामीको ही होता है; इसलिये मोक्षगामी जीवकी बात ली है। जो जीव आत्म शक्तिकी ओर उन्मुख हुआ है वह अल्पकालमें ही चरम शरीरी होकर अशरीरी-सिद्ध हो जावेगा।

प्रश्न—सिद्ध दशामें आकार होता है?

उत्तर—हाँ; जीवके असंख्य प्रदेश हैं उनका सिद्ध दशामें भी आकार होता है।

प्रश्न—सिद्ध दशामें जीवका कैसा आकार होता है?

उत्तर—चरम शरीरसे किंचित् न्यून अर्थात् मोक्षदशासे पूर्वका जो अन्तिम शरीर था उस आकारसे किंचित् अल्प नापका आकार सिद्ध दशामें होता है। यहाँ "चरमशरीरसे किंचित् न्यून कहा है; उसके बदले चरमशरीरसे तीसरे भागका न्यून कुछ लोग मानते हैं उनकी मान्यता ठीक नहीं है। शरीरके केश–नख आदि कुछ भागोंमें आत्म प्रदेश नहीं हैं–उन्हें छोड़कर किंचित् न्यून आकार कहलाता है। आसन यहाँ दो हैं-खड्गासन और पद्मासन।

समस्त सिद्धभगवंतोंको ज्ञान एक-सा होता है, आनन्द एक-सा होता है, प्रभुता एकसी होती है; किंतु सबका आकार एक-सा हो-ऐसा नियम नहीं है। यद्यपि अनन्त सिद्ध समान आकारवाले भी हैं, तथापि समस्त सिद्धोंका आकार एक-सा नहीं होता; किसी का आकार

बड़ा होता है, किसीका छोटा। जैसे कि—बाहुबलि भगवान पाँचसौ पच्चीस धनुष ऊँचे थे और महावीर भगवान सात हाथ ऊँचे थे, सिद्ध-दशामें भी उनका आकार तदनुसार भिन्न–भिन्न ही है।

प्रश्न—सिद्ध भगवान तो सभी समान होते हैं; तथापि वहाँ भी आकारमें छोटा बड़ापन ?

उत्तरः—इससे तो यह मालूम होता है कि आकारकी लघुता–दीर्घताके साथ ज्ञान–आनन्दका नाप नहीं है। सवापाँचसौ धनुषका दीर्घ आकार हो तो उसके ज्ञान–आनन्द अधिक और एक धनुष जितना आकार हो तो उसके ज्ञान–आनन्द कम–ऐसा नहीं है। प्रदेश तो दोनोंके समान ही हैं। किसी जीवका आकार छोटा हो तथापि बुद्धि अधिक होती है और किसीका आकार भारी भैंस जितना होने पर भी बुद्धि अल्प होती है; क्योंकि ज्ञानादि गुणोंका कार्य पृथक् है और प्रदेशोंके आकारकी रचनाका कार्य पृथक् है। अल्प अवगाहना हो तो उससे कहीं आत्माकी शक्तियाँ या प्रदेश कम नहीं हो जाते, और न आत्माके परिपूर्ण ज्ञान, आनन्द अथवा प्रभुतामें बाधा आती है, इसलिये मुक्त दशा होने पर आत्माका आकार सर्व-व्यापक हो जाये–ऐसा नहीं है।

जिसकी दृष्टिमें आत्माकी स्वभाव शक्तिकी महिमा नहीं आई उसकी दृष्टि बाह्य क्षेत्र पर गई, इसलिये बाह्यमें क्षेत्रकी विशालतासे (सर्वव्यापकपनेसे) आत्माकी महिमा मानी, किंतु इस शरीर प्रमाण मेरे आत्माके असंख्य प्रदेशोंमें ही मेरी अनन्तशक्तिसे परिपूर्ण प्रभुता भरी है। उसका विश्वास नहीं आया। इसलिये जो आत्माको शरीर प्रमाण न मानकर सर्वव्यापक मानता है उसे आत्माके स्वभावकी खबर नहीं है; वह मिथ्यादृष्टि है—ऐसा जानना।

अहो ! आत्माकी एक–एक शक्तिके वर्णनमें कितनी स्पष्टता भरी है। ऐसी निजशक्तिको पहिचाने तो अंतरमें भगवान आत्माका प्रसिद्ध अनुभव हुए बिना न रहे।

आत्माकी शक्ति क्या है उसके स्वभावकी प्रतीति करके उसके अनुभवमें लीन होना सो धर्म है। आत्मा असंख्य–चैतन्य प्रदेशोंका पिण्ड है और उसमें ज्ञानादि अनंत गुण हैं। आत्मामें प्रदेशोंकी संख्या कम है और गुणोंकी संख्या अनन्त है। प्रदेशकी अपेक्षासे जो एक अंश है वह अन्य स्थान पर नहीं है—ऐसे असंख्य अंशोंरूप आत्माका स्वक्षेत्र है आत्मामें अनन्त गुण हैं; वह प्रत्येक गुण तो असंख्य प्रदेशोंमें व्याप्त होकर विद्यमान है किन्तु आत्माके असंख्य प्रदेशोंमेंसे एक प्रदेश समस्त प्रदेशोंमें व्याप्त नहीं होता। असंख्य प्रदेश सर्वत्र ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त शक्तियोंसे परिपूर्ण हैं,—एक स्थान पर ज्ञान और दूसरे स्थान पर आनन्द, इसप्रकार भिन्न–भिन्न क्षेत्र नहीं हैं; किन्तु प्रत्येक प्रदेशमें सर्वगुण एक साथ विद्यमान हैं; इसलिये एक प्रदेशमें सर्वगुण हैं किंतु एक प्रदेशमें सर्व प्रदेश नहीं है, और एक प्रदेशमें एक गुण नहीं है।

आत्मा संसार दशामें भी शरीर–मन–वाणी आदिका संकोच–विस्तार कर सकता है यह बात तो सच है ही नहीं। हाँ, संसार दशाके समय आत्माके प्रदेशोंकी पर्यायमें संकोच–विकास है, किन्तु वह संकोच–विकास नित्य होता ही रहे ऐसा भी आत्माका स्वभाव नहीं है; असंख्य प्रदेश नित्य अनन्त गुणोंसे भरे रहें–ऐसा स्वभाव है। सिद्धदशा होने पर आत्माके असंख्य प्रदेश संकोच–विस्तार हुए बिना ज्योंके त्यों स्थिर रह जाते हैं। संकोच–विकासरूप भिन्न-भिन्न आकारों द्वारा आत्मा एकरूप लक्षित नहीं होता; क्योंकि कोई भी आकार त्रिकाल नहीं रहता; इसलिये संकोच विस्तार द्वारा तो मात्र एक समानका व्यवहार लक्षित होता है और आत्माका असंख्य प्रदेशीपना तो त्रिकाल एकरूप रहता है इसलिये वह द्रव्यका स्वभाव है।—ऐसा होने पर भी अकेला असंख्य प्रदेशीपना कहीं आत्माका लक्षण नहीं है क्योंकि असंख्य प्रदेशीपना तो धर्मास्तिकाय आदि जड़ द्रव्योंमें भी है। आत्माका लक्षण तो "ज्ञान" है; उसीके द्वारा आत्मा लक्षित होता है। यहाँ "ज्ञान–लक्षण" उसीको कहा है कि

जो ज्ञान अन्तर्मुख होकर आत्माको लक्षित करे–आत्माको प्रसिद्ध करे–आत्माका अनुभव करे। यदि रागके साथ ही एकता करके रागको ही प्रसिद्ध करे–उसीका ही अनुभव करे और रागसे भिन्नरूप आत्माको प्रसिद्ध न करे–अनुभव न करे तो वह ज्ञान भी वास्तवमें ज्ञान नहीं है किंतु अज्ञान है और उसे आचार्यदेव आत्माका लक्षण नहीं कहते। यहाँ तो ज्ञान द्वारा स्वयं अपने आत्माको प्रसिद्ध करनेकी बात है। यदि ज्ञान स्वयं अपने आत्माको प्रसिद्ध न करे और परको ही प्रसिद्ध करे, तब तो वह परका लक्षण हो गया–वह आत्माका लक्षण नहीं हुआ–अर्थात् वह ज्ञान मिथ्या हुआ।

धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय इन दोनों द्रव्योंमें भी आत्मा जितने ही असंख्य प्रदेश हैं, परन्तु उनमें ऐसा स्वभाव नहीं है कि कभी संकोच–विस्तारको प्राप्त हों; वे तो त्रिकाल स्थिर, लोकमें व्याप्त होकर रहते हैं। आत्मामें ही ऐसी योग्यता है कि उसके प्रदेश संसार दशामें संकोच–विकासको प्राप्त होते हैं। तदुपरान्त यहाँ तो ऐसा बतलाते हैं कि संकोच–विकास जितना ही आत्माका त्रिकाली स्वरूप नहीं है। असंख्य प्रदेशीपना नियत है—एकरूप है; इसलिये वह जीवका नित्य स्वरूप है। तदुपरान्त प्रदेशोंमें ऐसा भी नियतपना है कि उनका स्थान भी न बदले; संकोच विकास हो, प्रदेशोंका विस्तार ऊँचे नीचे हो परन्तु उनके मूल विस्तार क्रम प्रदेशोंका स्थान नहीं बदल सकता। आत्माके ऐसे असंख्य प्रदेशोंका निर्णय आगम तथा युक्तिसे होता है, किंतु छद्मस्थको वह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता। जिस प्रकार ज्ञान आनन्दका तो साक्षात् वेदन होता है, उसी प्रकार असंख्य प्रदेश साक्षात् दिखाई नहीं देते; किन्तु जितने भागमें मुझे अपने ज्ञान–आनन्दका वेदन होता है उतने असंख्य प्रदेशोंमें ही मेरा अस्तित्व है– ऐसा निर्णय हो सकता है।

देखो, यहाँ आत्माको असंख्य प्रदेशी कहना सो निश्चय है और संकोच–विकासके आकाररूप कहना सो व्यवहार है; क्योंकि

असंख्यप्रदेशीपना तो सदैव रहता है, किंतु संकोच–विकासरूप आकार तो क्षणिक है। जीवको किसी अमुक आकारवाला नहीं कहा जा सकता किन्तु "असंख्यात प्रदेशी जीव"—ऐसा कहा जा सकता है। असंख्य प्रदेश कहे और फिर भी उसे निश्चय कहा; क्योंकि असंख्य प्रदेशी कहकर कहीं असंख्य भेद नहीं बतलाना है। जीवमें निगोद दशाके समय भी असंख्यप्रदेशीपना है और सिद्धदशाके समय भी है—अनादि अनन्त है; इसलिये उसे निश्चय कहा है। और निगोद दशाके संकोचरूप आकारके समय सिद्ध दशाका आकार नहीं है इस प्रकार संकोच–विकासरूप आकारमें एकरूपता नहीं है किन्तु वह क्षणिक एवं भिन्न–भिन्नरूप है, इसलिये उसे व्यवहार कहा जाता है।

आत्माके प्रदेशमें संकोच विकास हो वह भी उसका नित्य-स्थायीस्वरूप नहीं है, तो फिर आत्मा पर वस्तुको लम्बी–चौड़ी करे वह बात कहाँ रही ? शरीर, वस्त्र, मकान आदिका संकोच–विकास आत्मा करे या लड्डू, घड़ा आदिका आकार बनाये–ऐसा कभी नहीं होता। बैलके शरीरपर कंकर लगते ही सारा शरीर फुरफुरीके साथ संकुचित हो जाता है, अथवा कुछएको भय होने पर पैर और मुँह पेटमें सिकोड़ लेता है; वहाँ वह शरीरको सिकोड़नेकी क्रिया वास्तवमें उस–उस आत्माने नहीं की है। उसीप्रकार जब सर्प आनन्दसे डोले या क्रोधमें आये तब उसका फन फैल जाता है, तथा मेंढ़क शरीरको फुलाकर गेंदकी तरह विकसित कर देता है;–उसमें भी वास्तवमें उस-उस आत्माने वह क्रिया नहीं की है शरीरके अनुसार आत्माके प्रदेशोंमें उस प्रकारका संकोच–विस्तार हुआ वह आत्मामें हुआ है, किंतु उस संकोच–विस्तारकी पर्याय द्वारा आत्माका नियत आकार नहीं कहलाता। असंख्यप्रदेशीपना सदैव नियत है। पुनश्च, अकेले नियत-प्रदेशत्व द्वारा भी आत्मा नहीं पहिचाना जाता; किंतु ऐसी अनन्त शक्तियोंका पिण्ड आत्मा है, उसे पकड़ते ही आत्मा वास्तविक स्वरूपसे जाना जाता है। इस अधिकारके अन्तमें उपसंहार करते हुए

आचार्यदेव कहेंगे कि–ऐसी अनेकान्त स्वरूप वस्तु है उसे जानना सो जैन नीति है। जो सत्पुरुष ऐसी जैन नीतिका उल्लंघन नहीं करते वे स्वयं ज्ञान स्वरूप होते हैं; अर्थात् आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप हो जाये वह अनेकान्तका फल है। इसीको दूसरे प्रकारसे कहें तो ज्ञानको अन्तर्मुख करके ज्ञायकस्वभावी आत्माको ग्रहण करना ही सच्चा अनेकान्त है और वही जैनमार्गकी नीति है।

आत्माको लोकाकाश जितना असंख्यप्रदेशी कहा है उससे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि आत्मा विस्तृत होकर लोकमें व्याप्त है आत्मा तो शरीर प्रमाण है; केवलीके लोकपूर्ण समुद्घातके अतिरिक्त आत्मा कहीं क्षेत्रसे लोकाकाश जितना विस्तृत नहीं है किंतु उसके प्रदेश रूप अवयवोंकी संख्या लोकाकाशके प्रदेश जितनी ही है। आत्मा लोकाकाश जितना चौड़ा है वह निश्चय और शरीर प्रमाण रहे वह व्यवहार–ऐसा नहीं है; किन्तु संख्यामें आत्माको लोक जितने असंख्य प्रदेश त्रिकाल हैं वह निश्चय और शरीर प्रमाण आकार कहना सो व्यवहार है। आत्माके असंख्यप्रदेशोंमें अनंतगुण व्याप्त होकर रहे हैं, अर्थात् असंख्यप्रदेशी आत्मा स्वयं ही अनंत गुण स्वरूप है। उन गुणोंमें ऐसी अंश कल्पना नहीं है कि गुणका अमुक भाग एक प्रदेश और अमुक दूसरे प्रदेशमें; आत्माके असंख्य प्रदेशोंमें कोई प्रदेश गुणोंसे हीन या अधिक नहीं है; इसलिये पैर आदि निचले अवयवोंके आत्मप्रदेशोंको बुरा कहना तथा ऊपरी मस्तक आदि अवयवोंके आत्मप्रदेशोंको अच्छा कहना—ऐसा भेद आत्मप्रदेशोंमें नहीं होता है। समस्त प्रदेश अनंत शक्तिसे परिपूर्ण हैं; इसलिए तेरे असंख्य प्रदेशोंमें भरी हुई अपनी स्वभाव शक्तिको देख–यही तात्पर्य है।

हे जीव ! अपने असंख्यप्रदेशोंमें ही तेरा कार्यक्षेत्र है। तेरा जो कुछ है वह सब तेरे असंख्यप्रदेशोंमें ही है, अपने असंख्यप्रदेशोंसे बाहर तेरा कुछ नहीं है। तेरा सुख या दुःख तेरा ज्ञान या अज्ञान, तेरी शान्ति या अशान्ति, तेरी वीतरागता या रागद्वेष—वह सब तेरे

असंख्यप्रदेशोंमें ही है, तेरे असंख्यप्रदेशोंसे बाहर अन्यत्र कहीं तेरा सुख या दुःख नहीं है; तेरी अशान्ति भी बाह्यमें नहीं है। तेरी शांत—उपशम स्वभावकी विकृतिरूप अशान्तिका वेदन भी तेरे असंख्यप्रदेशों में ही है। जहाँ अशांतिका वेदन होता है वहीं तेरा शान्तिस्वभाव भरा है; जहाँ अज्ञान है वहीं तेरा ज्ञानस्वभाव विद्यमान है; जहाँ दुःखका वेदन है वहीं तेरा आनन्दस्वभाव परिपूर्ण है; जहाँ रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है वहाँ तेरा वीतरागी स्वभाव विद्यमान है। इसलिए अशान्तिको दूर करके शान्ति, दुःखको दूर करके सुख, अज्ञानको दूर करके ज्ञान और रागद्वेषको दूर करके वीतरागता करनेके लिए कहीं बाह्यमें न देख, किन्तु अपने स्वभावमें ही देख। तू स्वयं ही ज्ञान-सुख-शान्ति-वीतरागतासे परिपूर्ण है, इसलिए उसमें दृष्टि कर। तेरे आत्माका एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है कि जिसमें ज्ञान–सुख–शान्ति–वीतरागता-रूप स्वभाव न भरा हो; इसलिए उस स्वभावको देखना सीखले तो तुझे अपने ज्ञान–सुख–शान्ति और वीतरागताका व्यक्त अनुभव हो। बाह्यमें देखनेसे ज्ञान–सुख–शान्ति या वीतरागताका वेदन नहीं होगा, क्योंकि तेरा ज्ञान–सुख–शान्ति या वीतरागता कहीं बाह्यमें नहीं है।

आत्मा अपनी इच्छानुसार पर कार्य कर सके ऐसा तो नहीं होता और इच्छानुसार ही प्रदेशोंका संकोच विकास हो ऐसा भी नहीं होता। ठिगना शरीर हो वहाँ लम्बा शरीर होनेकी इच्छा करता है, तथापि उसकी इच्छानुसार शरीर परिणमित नहीं होता तथा आत्माके प्रदेशोंमें भी वैसा परिवर्तन नहीं होता। प्रदेश शक्तिका कार्य स्वतन्त्र है; उसमें इच्छाकी निरर्थकता है। जिसप्रकार इच्छानुसार प्रदेशोंकी रचना नहीं होती किन्तु प्रदेशोंकी वैसी योग्यतासे ही उसकी रचना होती है; उसीप्रकार "मैं सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र करूँ अथवा मोक्ष प्राप्त कर लूँ"—ऐसी इच्छा द्वारा सम्यग्दर्शनादि नहीं होते; किन्तु अन्तरंग पूर्ण शक्तिरूप निज स्वभावका अवलम्बन लेकर उस रूप परिणमन करे तभी सम्यग्दर्शनादि होते हैं। सम्यग्दर्शनादिका परिणमन आत्माकी

शक्तिमें होता है कहीं इच्छामेंसे नहीं होता; आत्माकी शक्तिका अवलम्बन कर और इच्छाको पराश्रयको निरर्थक जान।

प्रश्नः—शरीरमें जैसा संकोच या विकास हो वैसाही संकोच या विकास आत्मामें होता है। एकहजार योजन लम्बे मच्छ होते हैं; वहाँ उस हजार योजन शरीरमें रहनेवाले आत्माके प्रदेशभी उतने विस्तारको प्राप्त हुये हैं; और अंगुलके असंख्यातवें भागका छोटा शरीर हो उसमें रहनेवाले आत्माके प्रदेश उतना संकोच प्राप्त करके रहते हैं; दोनों आत्माके प्रदेश समान होने पर भी जैसा–जैसा शरीर आये उस–उस आकारको प्राप्त होते हैं; इसलिये वह शरीरके कारण हुआ या नहीं ?

उत्तरः—नहीं; शरीरमें जैसा संकोच या विकास हो, वैसा ही संकोच या विकास आत्मामें होता है; तथापि दोनों स्वतन्त्र हैं। शरीरमें क्षयरोग होने पर दुबला हो जाये वहाँ आत्माके प्रदेश भी वैसे संकुचित हो जाते हैं, और शरीर हृष्ट-पुष्ट होने पर आत्माके प्रदेश भी उसी आकारमें विकसित होते हैं। लेकिन इसप्रकार शरीर और आत्मा दोनों एक ही साथमें संकोच या विकासको प्राप्त हो उससे क्या ? वहाँ शरीरके कारण आत्मा संकुचित हुआ अथवा आत्माने शरीरको संकुचित किया—ऐसा नहीं है। जगतमें सदैव निरन्तर एक साथ अनंत द्रव्य अपना अपना कार्य कर ही रहे हैं; एक साथ सबके कार्य हों तो उससे कहीं एक–दूसरेके कर्ता नहीं कहलाते। जहाँ सिद्ध भगवन्त विराजमान हैं वहीं निगोदके जीव भी रहते हैं; सिद्ध भगवन्त अपनी परमानन्दरूप सिद्धदशामें परिणमित हो रहे हैं और उसी समय तथा उसी क्षेत्रमें रहनेवाला निगोदका जीव परम दुःख रूप निगोद दशामें परिणमित हो रहा है:—तो एक ही समय और एकही क्षेत्रमें दोनोंका कार्य हुआ, इसलिये दोनों को एक कहा जा सकता है ? अथवा उन्हें एक—दूसरेका कर्त्ता कहा जा सकता है ?—नहीं। उसीप्रकार जीव तथा शरीरके संकोच—विकासका कार्य एक क्षेत्रमें और एक कालमें

हो तो उससे कहीं दोनों एक नहीं कहा जा सकता है।—इसप्रकार न्यायपूर्वक दो द्रव्योंकी भिन्नताको जाने तो समस्त परमेंसे मोह (–आत्मबुद्धि) छूट जाये और अपने चैतन्यरूप आत्मामें ही बुद्धि ढल जाय। इसप्रकार बुद्धिको अथवा मतिश्रुतज्ञानको आत्मस्वभावोन्मुख करना वह अपूर्व धर्मकी रीति है। प्रथम दृष्टिमें निर्मोही हो सकते हैं बाद क्रमशः चारित्रमें निर्मोह होता है ऐसा क्रम है।

इस जड़ शरीरके अवयव आत्मा नहीं है, आत्मा तो असंख्य प्रदेशी चैतन्य शरीर वाला है। भाई यह देह तो संयोग–वियोग रूप क्षणभंगुर,–नाशवान जड़ है; तेरा आत्मा उससे पृथक्, असंयोगी, नित्य चैतन्यस्वरूप है, तेरा असंख्य प्रदेशी शरीर अनादि अनंत नियत है, सदैव अतीन्द्रियज्ञानमय है। चारों गतिमें चाहे जितने शरीर धारण किये और छोड़े तथापि तेरे आत्माका एक प्रदेश भी कम अधिक नहीं हुआ।

जीवका छोटा–बड़ा आकार शरीरके या आकाशके निमित्तसे है; किन्तु अकेले जीवका स्वआकार तो निश्चयसे सर्वज्ञ भगवानने असंख्य–प्रदेशी देखा है। इसके अतिरिक्त शरीरके अवयव तो जड़की रचना है, उन्हें आत्माका मानना भ्रम है। भाई, तेरा चैतन्यशरीर नित्य असंख्य प्रदेशी है और वहीं तेरा अवयव है। असंख्य प्रदेशोंमें अनंत शक्तियाँ भरी हैं। सचमुच तू जड़–शरीरमें विद्यमान नहीं है किन्तु अपने असंख्य प्रदेशोंमें ही तू विद्यमान है। असंख्य प्रदेशी क्षेत्र ही तेरा घर है; वहीं तेरा स्थान है।

निगोदसे निकलकर कोई जीव केवलज्ञान और सिद्ध दशा प्राप्त करे, तो वहाँ पहले निगोद दशामें जो असंख्य प्रदेश थे वे ही असंख्य प्रदेश सिद्ध दशामें हैं कहीं दूसरे नये प्रदेश नहीं आ गये हैं। असंख्य प्रदेशोंमें जो शक्ति भरी थी वह प्रगट हुई है। कोई एक धनुष (चार हाथ) के शरीराकारमें मोक्ष प्राप्त करता है और कोई पाँचसो—सवापाँचसो धनुषाकार शरीरसे मोक्ष जाता है, तथापि उन

दोनोंके आत्मप्रदेश तो समान ही हैं; ज्ञानसमान हैं, आनन्द समान हैं; प्रभुता समान हैं;—इसप्रकार बाह्य आकृतिसे महत्ता नहीं है—किन्तु असंख्य प्रदेशोंमें जो पूर्णरूप आत्मस्वभाव भरा है उस स्वभावकी महत्ता है। —ऐसे असंख्य प्रदेशमें भरे हुए आत्मस्वभावको जाने तो देहादि समस्त पदार्थोंमेंसे अहंकार या महिमा छूट जाये; देह छूटनेके प्रसंग पर भी ऐसे स्वभावके लक्षसे शान्ति बनी रहे। मैं शरीरमें रहा हूँ ही नहीं, मैं तो अपने असंख्य प्रदेशमें ही हूँ—ऐसे भिन्नताके ज्ञान द्वारा मृत्यु प्रसंग पर भी समाधि रहती है।

[—यहाँ चौवीसवीं नियतप्रदेशत्वशक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

परमात्म पदके सन्मुख

देखो, भैया! यही आत्माके हितकी बात है, संसारमें परिभ्रमण करते करते जीवने ऐसी समझ पूर्व अनंतकालमें एक सेकन्ड भी नहीं की, एक सेकन्ड भी जो ऐसी समझ करे उसे भवका नाश हुये बिना न रहे गृहस्थदशा होने पर भी जिनने ऐसी समझ करके स्वसन्मुख होकर सम्यग्दर्शन प्राप्त किया वह जीव मोक्ष महलके आंगनमें आ चुका भले ही उसे आहार विहारादि हो किन्तु आत्माका लक्ष एक क्षणभी दृष्टिमेंसे दूर नहीं होता, अतीन्द्रियज्ञानमय आत्माका जो निर्णय किया है वह किसी भी संयोगमें छूटने वाला नहीं है-उसे तो निरन्तर धर्म होता ही है।

अंतर्मुख होकर, आत्माके स्वसंवेदनसे जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया उस सम्यग्दृष्टिको भगवानका दर्शन हो गया-आत्माका साक्षात्कार होगया, अतीन्द्रिय आनन्दका वेदन होगया, स्वानुभव हो गया, निर्विकल्प समाधि हो गई, अनंत भवका नाश हो गया, सिद्ध परमात्माका संदेश आ गया, आत्माकी मुक्तिके झंकार आ गया वह निरन्तर आंशिक स्वसंवेदनके आनंद सहित है वह धर्मात्मा-परमात्मपदके सन्मुख ही है, सम्यग्दृष्टि धर्मात्माकी ऐसी दशा होती है,—भले ही वह अव्रती हो........तिर्यंच हो, या नरक क्षेत्रमें हो।

[२५]

स्वधर्मव्यापकत्व शक्ति

रे जीव ! संसार परिभ्रमण करते अनंत शरीरोंमेंसे तूं पसार हुआ फिर भी तेरा आत्मा शरीरके धर्मोंमें नहीं व्याप गया याने जड़ नहीं होगया किंतु ज्ञानादि स्वधर्मोंमें ही व्यापकर चैतन्यस्वरूप ही रहा है।—ऐसा जानकर तूं प्रसन्न हो...व तेरे आत्माको स्वधर्मोंमें रहा हुआ ही अनुभव कर।

ज्ञान स्वरूप आत्मामें एक ऐसी शक्ति है कि अनादि कालसे देव, मनुष्य, नारकी तथा तिर्यंचके अनेक शरीर धारण करने पर भी स्वयं तो एक स्वरूप ही रहा है; आत्मा अनेक शरीरोंरूप नहीं हुआ है किन्तु अपने अनन्त धर्मोंरूप ही रहा है। इसप्रकार "सर्व शरीरोंमें एक–स्वरूपात्मक ऐसी स्वधर्म व्यापकत्व शक्ति आत्मामें है" इसलिये शरीरके धर्मरूप न होकर आत्मा अपने ही धर्मोंमें रहता है। अनादिकाल संसारमें भटकते—भटकते जीवने अनंत शरीर धारण किये किन्तु उन सबमें उसका स्वरूप तो एक ही रहा है; वह कभी किसी शरीरके धर्ममें व्याप्त होकर नहीं रहा है, किन्तु अपने निजधर्मोंमें व्याप्त होकर एकस्वरूप ही रहा है। मनुष्य शरीर हो वहाँ अज्ञानीको देह बुद्धिसे

ऐसा लगता है कि "मैं मनुष्य हूँ," तिर्यंचका शरीर हो वहाँ ऐसा लगता है कि "मैं तिर्यंच हूँ,"—इसप्रकार जो शरीर हो उस शरीररूप ही अपनेको मानता है। यहाँ आचार्य भगवान समझाते हैं कि अरे जीव ! तू शरीररूप नहीं हो गया है। भिन्न-भिन्न अनंत शरीर धारण करने पर भी तेरा आत्मा तो ज्योंका त्यों रहा है। मनुष्य अवतारके समय तू मनुष्यरूप नहीं होगया है; तू तो अपने ज्ञानादि अनन्त धर्मोंसे एकरूप है; शरीर अनंत बदल चुके हैं किन्तु तेरे स्वरूपके धर्म नहीं बदले। अनंतकाल पूर्व तुझमें जो ज्ञानादि निजधर्म थे उन्हीं ज्ञानादि निजधर्मोंमें इस समय भी तू विद्यमान है; इसलिये तू अपने निजधर्मोंको देख।

शरीर तो एक जाता है और दूसरा आता है दूसरा जाता है और तीसरा आता है; कोई भी शरीर अखण्डरूपसे नहीं रहता; और आत्मा तो समस्त शरीरोंमें अखण्डरूपसे एकका एक रहता है। आत्मा तो अपने ज्ञान धर्ममें विद्यमान है और शरीर तो अचेतन जड़धर्ममें विद्यमान है; इसलिये आत्मा तो ज्ञाता धर्मवाला है, और शरीर तो कुछ भी न जानने वाले ऐसे जड़धर्म वाला है। इसप्रकार दोनोंके धर्म प्रगट भिन्न–भिन्न हैं। अपने ज्ञानधर्मसे उस–उस समयके शरीरको जानते हुए "यह शरीर ही मैं हूँ"—ऐसा मानकर अज्ञानी जीव अपने ज्ञानधर्मको भूल जाता है। देहको जाननेका आत्माका स्वभाव है, किन्तु स्वयं देहरूप हो जाये ऐसा आत्माका स्वभाव नहीं है; स्वयं तो अपने ज्ञानादि स्वभावरूप धर्ममें ही रहता है।

यहाँ शरीरकी बात ली है उसी अनुसार समस्त पदार्थोंमें भी समझ लेना चाहिये। हाथीको जानते हुए आत्मा हाथी नहीं हो जाता, चींटीको जानते हुए चींटी नहीं हो जाता, तथा नीमको जानते हुए वह नीमकी तरह कड़वा नहीं हो जाता और आमको जानते हुए आमकी तरह मीठा नहीं हो जाता;—भिन्न भिन्न अनेक ज्ञेयोंको जानते हुए स्वयं तो अपने ज्ञान—धर्मरूप ही रहता है। अज्ञानी अपने ज्ञान धर्मको

भूलकर, जिन–जिन परज्ञेयोंको जाने उन्हींको अपना स्वरूप मान लेता है।

अभी तो एक इससे भी सूक्ष्म बात है कि जीव अनादिसे राग–द्वेष–मोह करता आरहा है तथापि जीवका स्वभाव उसरूप नहीं हो गया है। जिस प्रकार अनेक शरीर धारण करने पर भी आत्मा शरीरमय नहीं हो गया है, उसीप्रकार अपनी पर्यायमें अनादिसे प्रतिक्षण रागादि करता आ रहा है तथापि आत्माका स्वभाव रागमय नहीं होगया है। क्षणमें राग, क्षणमें द्वेष, क्षणमें हर्ष, क्षणमें शोक, क्षणमें शुभ और क्षणमें अशुभ–इसप्रकार अनादि कालसे भिन्न-भिन्न विकारी भाव बदलते रहते हैं, तथापि एकका एक विकारी भाव अखंडरूपसे नहीं रहता; किन्तु आत्मा अपने अनंत धर्मों सहित अखण्डरूपसे अनादि–अनंत एकरूप वर्तता है; इसलिये विकारी उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। अनंत धर्मोंमें व्यापकत्व त्रिकाल है वही वास्तविक स्वरूप है। ऐसे स्वरूपको पहिचाने तो पर्यायमेंसे रागादिका व्यापकत्व छूट जाये और निर्मलता व्याप्त हो।

अज्ञानी तो देहरूप या रागरूप ही आत्माका अनुभवन करता है और ज्ञानी तो ज्ञान– आनंदादि अनंत धर्मोंमें व्यापकस्वरूप अपने आत्माका अनुभव करता है, इसलिये उसके अनुभवमें ज्ञान–आनन्दादि अनंत धर्मोंकी शुद्धताका वेदन है "मेरा आत्मा सदैव दर्शन—ज्ञान—चारित्र—आनन्दादि अपने निज धर्मोंमें ही विद्यमान है"—ऐसी श्रद्धा करे उसे दर्शन–ज्ञान–चारित्र–आनन्दादि सर्व धर्मोंका शुद्ध परिणमन हुये बिना न रहे।

दो आदमी इकट्ठे हों वहाँ पूछते हैं कि—"कहाँ रहते हैं ?" उसीप्रकार यहाँ आत्मासे कोई पूछे कि—"कहाँ रहते हैं ?" तो ज्ञानी कहते हैं कि "अपने निजधर्मोंमें रहते हैं।" आत्मा अपने निजधर्मोंमें ही रहता है, निजधर्मको छोड़कर वह कहीं बाहर नहीं रहता। आत्मा शरीरमें तो नहीं रहता, किन्तु मात्र रागादिमें रहे उसे भी वास्तवमें

आत्मा नहीं कहते । आत्मा तो अपने अनंत धर्मोंमें और उनकी निर्मल पर्यायोंमें रहनेवाला है।—ऐसे स्वरूपमें पहिचाने तभी आत्माको पहिचाना कहा जाता है।

प्रश्नः—इस समय तो आत्मा शरीरमें विद्यमान है न ?

उत्तरः—अरे भाई ! इस समय भी क्या आत्मा अपने ज्ञान-स्वभावको छोड़कर शरीररूप होगया है ? शरीरमें आत्मा किसप्रकार रहा है ? शरीरका एक बार पृथक्करण तो कर देख ! शरीर तो रक्त, माँस, मज्जा आदि सात धातुओंका पुतला है और यह भगवान आत्मा तो चैतन्य धातुका पिण्ड है। एक-दूसरेके संयोगमें दिखाई देते हैं, इसलिये लोग कहते हैं कि आत्मा शरीरमें विद्यमान है; किंतु वास्तवमें तो इस समय भी आत्मा अपने गुण-पर्यायरूप धर्मोंमें ही विद्यमान है। आत्मा अपने धर्मोंको कभी छोड़ता नहीं है और शरीरादिको कभी ग्रहण नहीं करता।

सड़ा हुआ शरीर हो या सर्वांग सुन्दर शरीर हो, नारकीका शरीर हो या देवका दिव्य शरीर हो—उस किसी शरीररूप आत्मा हुआ ही नहीं है; आत्मा तो एक ही धारावाही शरीर रूप रहा है। शरीर तो अचेतन पुद्गलोंसे रचित है किन्तु आत्मा कहीं अचेतन नहीं है वह तो चैतन्यमूर्ति है। अचेतन शरीरमें चैतन्यमूर्ति आत्मा कैसे रह सकता है ? आत्मा तो अपने चैतन्य धर्ममें ही विद्यमान है। अहो ! देह तथा आत्माका ऐसा स्पष्ट भिन्नत्व होने पर भी अज्ञानी जीवको मोहके कारण उसकी भिन्नता भासित नहीं होती।

हनुमानजी वानर वंशके राजकुमार थे; उनका मुख्य नाम शैलकुमार था। वे कामदेव थे इसलिये उनका रूप छह खण्डमें श्रेष्ठ था । उसीप्रकार श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नकुमार भी कामदेव थे। आदिनाथ भगवानके पुत्र बाहुबलि भी कामदेव थे; उन्हें देहसे भिन्न चिदानन्द स्वरूपी आत्माका भान था। छह खण्डमें श्रेष्ठ सुन्दर शरीर होने पर भी उन्हें शरीरमें किंचित् आत्मबुद्धि नहीं थी; जिसप्रकार आत्मा स्तंभसे पृथक् है उसीप्रकार आत्माको देहसे भी अत्यन्त भिन्न

मानते थे। हमारा आत्मा इस सुन्दर शरीरमें विद्यमान है—ऐसी बुद्धि स्वप्नमें भी नहीं थी—आत्माके स्वधर्मके भानमें देहादिसे उदास थे, उसमें स्वप्नमें भी सुख भासित नहीं होता था। जिसप्रकार कोई राहगीर रास्ते पर जा रहा हो तो उसे एकके बाद एक वृक्षकी छायामेंसे गुजरना पड़ता है; किन्तु मैं इस वृक्षकी छायारूप हो गया हूँ ऐसी कल्पना उसे नहीं होती। आम, अशोक, चम्पा, जामुन, सुपारी, नरियल आदि अनेक प्रकारके वृक्षोंकी छायासे गुजरते हुए भी मनुष्य तो ज्यों का त्यों एक स्वरूप रहा है वह कहीं मनुष्य मिटकर वृक्ष की छायारूप नहीं हो जाता। उसीप्रकार संसार परिभ्रमणमें आत्मा एकके बाद एक शरीर धारण करता और छोड़ता है। अनेक शरीरोंमेंसे गुजरते हुए "मैं इस शरीररूप हो गया हूँ"—ऐसी कल्पना भी ज्ञानीको नहीं होती। देव, मनुष्य, हाथी, बैल आदिके शरीरोंसे गुजरने पर भी आत्मा तो ज्यों का त्यों उसी रूप रहा है, वह कहीं चैतन्य मिटकर जड़ शरीर रूप नहीं होगया है। भाई, इसप्रकार तेरा स्वरूप स्पष्टतया देहसे अत्यन्त भिन्न है, तो फिर भिन्नको भिन्नरूप माननेमें तुझे क्या आपत्ति है!!! जिसप्रकार रास्ते पर चलने वाला मनुष्य वृक्षकी परछाईंमेंसे गुजरता जाता है वहाँ उस मनुष्यका स्वभाव कहीं छायारूप नहीं हो जाता; मनुष्य तो सारी परछाइयोंको पार करके ज्योंका त्यों आगे निकल जाता है; उसीप्रकार अनादि संसार मार्गमें चलता हुआ आत्मा एकके बाद एक शरीरसे गुजरा है, लेकिन वह कभी किसी शरीररूप नहीं हुआ, सदैव एक अखण्डरूपसे अपनेमें ही विद्यमान है। सर्व आत्माओंमें ऐसी शक्ति है कि वे स्वधर्ममें ही रहते हैं। जो ऐसे निज धर्मोंको पहिचाने उसे शरीरका सम्बन्ध छूटकर अशरीरी मुक्त दशा हुए बिना न रहे।

आत्मा शरीरके धर्ममें रहा ही नहीं है, तो फिर यह बात कहाँ रही कि आत्मा शरीरकी क्रिया करे? भाषा बोली जाती है वह शरीरका धर्म है जीवका नहीं।

प्रश्न—इसमें तो क्रिया उड़ जाती है?

उत्तर—नहीं; जिसकी जो क्रिया है उसकी उसीमें स्थापना होती है। जीवकी क्रियाको जीवमें स्थापित किया जाता है और शरीरादि अजीवकी क्रियाको अजीवमें स्थापित करते हैं; इसलिये अजीवकी क्रिया जीवमें मान ली है वह बात उड़ जाती है। आत्मा शरीरकी क्रिया करता है, अथवा शरीरकी क्रियासे आत्माको धर्म होता है—ऐसा जिसने माना उसने आत्मा को "स्वधर्म व्यापक" नहीं माना किन्तु जड़ शरीरके धर्मोंमें व्यापक माना है; यानी आत्माको जड़ रूप माना है और जड़को आत्मारूप माना है, जीवको अजीव और अजीवको जीव माना—वह मिथ्यात्व है। और मिथ्यात्व ही अधर्मकी महान क्रिया है। आत्मा तो ज्ञानादि स्वधर्मोंमें ही विद्यमान है, और शरीरसे पृथक् है—इसप्रकार दोनोंके धर्मोंको भिन्न-भिन्न पहिचान कर स्वधर्ममें व्यापक आत्माकी श्रद्धा करना सो अपूर्व सम्यक्त्व है। वह सम्यक्त्व होने पर आत्मा अपनी निर्मल पर्यायोंमें व्याप्त होता है और वही धर्मकी क्रिया है।

शरीरादि जड़पदार्थोंमें तो तीन कालमें एक क्षण भी आत्मा व्याप्त नहीं हुआ है। अज्ञान दशामें रागादिको ही निज स्वरूप मानकर उसमें व्याप्त होता था; उस समय स्वधर्म व्यापक शक्तिका भान नहीं था। अब, "मेरे आत्माका स्वभाव तो मेरे अनंत धर्मोंमें ही व्याप्त है, विकारमें या परमें व्याप्त होनेका मेरा स्वभाव नहीं है"—ऐसा सम्यग्ज्ञान होने पर साधक जीव अपनी निर्मल पर्यायोंमें ही तन्मय होकर उनमें व्याप्त होता है, रागादिमें भी वह तन्मय होकर व्याप्त नहीं होता; रागादि दूर होकर उसे अल्पकालमें मुक्तदशा हो जाती है।

प्रश्न—आत्मा तो स्वधर्ममें सदैव विद्यमान ही है, तो फिर उसे धर्म करनेको क्यों कहते हैं ?

उत्तर—देखो, आत्मा सदैव स्वधर्ममें विद्यमान है ऐसा भान करे तब तो उस जीवको पर्यायमें भी सम्यग्दर्शनादि धर्म होते ही रहें। द्रव्य स्वभावसे आत्मा त्रिकाल अपने ज्ञानादि धर्मोंमें व्याप्त है, किन्तु

अनादिसे अज्ञानीको उसका भान नहीं है; इसलिये उसे पर्यायमें निजधर्मका अनुभव नहीं होता; इसलिये उससे कहते हैं कि तू अपने निजधर्मको पहिचानकर उसका अनुभव कर तो तुझे पर्यायमें सम्यग्दर्शनादि धर्म होंगे ।

समयसारकी १८ वीं गाथाकी टीकामें भी इसी शैलीका प्रश्न पूछा है। ज्ञान स्वरूप आत्माका निरंतर सेवन (अनुभवन) का उपदेश दिया, वहाँ शिष्य पूछता है कि प्रभो ! आत्मा तो ज्ञानके साथ तादात्म्यरूपसे एकमेक है पृथक् नहीं है, इसलिये ज्ञानका सेवन करता ही है; तो फिर उसे ज्ञानकी उपासना करनेका उपदेश क्यों दिया जाता है ?

तब उसका समाधान करते हुये आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसा नहीं है; यद्यपि आत्मा ज्ञानके साथ तादात्म्य स्वरूप है तथापि एक क्षणमात्र भी ज्ञानका सेवन नहीं करता; क्योंकि स्वयं बुद्धत्व अथवा बोधित बुद्धत्व कारण पूर्वक ज्ञानकी उत्पत्ति होती है । अर्थात् आत्मा स्वभावसे तो सदैव ज्ञान स्वरूप होने पर भी पर्यायमें अनादिसे अज्ञानका सेवन कर रहा है किन्तु ज्ञान स्वभावोन्मुख होकर पर्यायमें कभी एक क्षण भी उसका सेवन नहीं किया और जब तक पर्यायमें ज्ञानस्वभावका सेवन न करे तब तक वह आत्मा अज्ञानी है । जब अन्तरोन्मुख होकर पर्यायको ज्ञान स्वभावमें एकाकार करके उसका सेवन (श्रद्धा–ज्ञान–लीनता) करे तब आत्मा ज्ञानी होता है । इसप्रकार पर्यायमें ज्ञान नया प्रगट होता है । उसीप्रकार यहाँ आत्माको स्वधर्म व्यापक कहा, उसमें भी इसी प्रकार समझना । स्वभावसे अपने स्वधर्ममें त्रिकाल व्याप्त होने पर भी उसका भान करे तब पर्यायमें उसका निर्मल परिणमन हो और धर्म प्रगटे । इसप्रकार निर्मल पर्यायको साथ लेकर इस शक्तिका वर्णन किया है–यह बात अनेकों बार स्पष्ट की गई है । निर्मल पर्यायको साथ लिये बिना शक्तिकी प्रतीति किसने की ? प्रतीति करनेका कार्य तो निर्मल पर्यायमें ही होता है;

इसलिये निर्मल पर्यायको साथ लेकर प्रतीति करे उसीको आत्माकी सच्ची प्रतीति होती है। पर्यायमें किंचित् मात्र निर्मलता न हुई हो और अकेली शुद्ध शक्तिकी प्रतीति करने जाये तो उसे सच्ची प्रतीति नहीं होती, किन्तु एकान्त हो जाता है।

आत्मा अपने स्वधर्ममें ही व्यापक है, किसी परके साथ उसका संबंध नहीं है। अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि भैंस मर गई हो और उसके चमड़ेका गोफन बनाकर कोई हिंसा करे तो उसका पाप भैंसके जीवको भी लगता है। देखो यह मूढ़ जीवोंकी बात! उन्होंने तो आत्माको शरीरके धर्म रूप ही माना है। जब भैंसका आत्मा उस शरीरमें था, तब भी उस शरीरकी क्रियाके कारण उसे पाप नहीं लगता था। शरीरका चमड़ा आत्माने कब बनाया है जो उसे उसका पाप लगे? शरीर आत्माके कारण नहीं हुआ है, किन्तु परमाणुकी रचना है; आत्माका धर्म या पाप–पुण्य शरीरमें नहीं रहते। आत्मा शरीर रहित त्रिकाल अपने स्वरूपमें है; उसे जाने बिना शरीरादिको वास्तवमें छोड़ा नहीं कहा जा सकता।

"कायसे किये हुये पापको मैं छोड़ता हूँ"—यह तो चैतन्य स्वभावके भान पूर्वक कायाकी ओरका राग छूट जाये उसकी बात है। उसके बदले अज्ञानी तो शरीरसे ही पाप होना मानता है और शरीरको मैं छोडूं यह भी मानता है; इसलिये वास्तवमें वह शरीरको छोड़ता नहीं है किन्तु उलटा शरीरके साथ एकता बुद्धि करके मिथ्यात्वका सेवन करता है, और आत्माके सम्यग्दर्शनादि धर्मोंको छोड़ता है। भाई, पहले शरीरके साथकी एकत्व बुद्धि तो छोड़! कायासे भिन्न आत्माको तो जान! फिर तुझे मालूम होगा कि कायाको छोड़नेका क्या अर्थ होता है। काया ही मैं हूँ—इसप्रकार जो कायाको अपना माने वह उसे छोड़ेगा कहाँसे? काया मैं नहीं हूँ, मैं तो अपने ज्ञानादि अनंत धर्मोंमें ही विद्यमान हूँ; कायारूप मैं कभी हुआ ही नहीं हूँ, कार्मण कायमें भी मैं कभी नहीं रहा हूँ, मैं तो सदैव अपनी चैतन्य

कायामें ही विद्यमान हूँ;—इसप्रकार जो देहसे भिन्न चैतन्यतत्त्वका ज्ञान करे उसने श्रद्धा–ज्ञानकी अपेक्षासे कायाको छोड़ दिया है। इसलिये हे जीव! शरीरसे अत्यन्त भिन्न और अपने अनंतधर्मोंसे सदैव अभिन्न ऐसे अपने स्वभावका ऐसा निर्णय कर कि जिससे शरीरका सम्बन्ध छूटकर अशरीरी सिद्धदशाकी अवश्य प्राप्ति हो।

शरीर आत्माका निवास स्थान नहीं है; ज्ञानादि अनंत धर्म ही आत्माका निवास स्थान है; उसीमें आत्मा रहता है। अज्ञानी ऐसे अनंतधर्मोंका निवास स्थान छोड़कर जड़ शरीरमें अपना निवासस्थान मानता है, तथापि वह भी कहीं जड़में तो नहीं रहता; वह अपने अज्ञानभावमें रहता है।

एक जगह हिंजड़ा लोगोंमें ऐसा रिवाज है कि जब नये मकानमें निवास स्थान बनाते हैं तब वहाँ सब रोते—पीटते जाते हैं। देखो, यह नपुंसकोंका निवास स्थान!! उसीप्रकार अनंत धर्म स्वरूप चैतन्य स्वभावोन्मुख होकर उसमें निवास करनेके पुरुषातनसे जो रहित हैं ऐसे मूढ़ अज्ञानी जीव चैतन्यका निवासस्थान छोड़कर जड़में और शुभाशुभ विकारमें अपना निवास मान रहे हैं। उन्हें समझाते हैं कि अरे जीवो! वह तुम्हारा निवासस्थान नहीं है; विकारमें निवास करनेका तुम्हारा स्वभाव नहीं है, तुम्हारा स्वभाव तो अपने श्रद्धा, ज्ञान, आनंदादि अनंत धर्मोंमें वास करने का है; इसलिये अपने स्वभावको पहिचानकर उसमें निवास करो, उसकी श्रद्धा–ज्ञान–एकाग्रता करो, और विकारकी वासना छोड़ो!

अपने अनंत धर्मोंमें अपना निवास है उसे न मानकर जो जड़ शरीरादिमें अपना निवास मानते हैं वे स्थूल अज्ञानी हैं, उन्हें जैनधर्मकी गंध तक नहीं है; वे तो अजैनधर्मी अर्थात् मिथ्यादृष्टि हैं। खरगोश जैसा कोमल अथवा मगर जैसा कठोर, रीछ जैसा काला अथवा हंस जैसा सफेद आत्मा कभी हुआ ही नहीं है; आत्मा तो अपने अनंत धर्मोंमें ही विद्यमान है। "आत्मा अनंत धर्मोंमें विद्यमान

है"—ऐसा कहनेसे अनंत धर्म और उनमें रहनेवाला आत्मा—ऐसी भिन्न २ दो वस्तुयें नहीं समझना चाहिये; किंतु आत्मा स्वयं अनंत धर्म स्वरूप हैं; अनंत धर्मोंसे भिन्न अन्य कोई आत्मतत्त्व नहीं है।—ऐसे अनंत धर्म स्वरूप एकाकार अपने आत्माको सम्यक्तया पहिचानना सो अनेकान्त है और उस अनेकान्तका फल परम अमृत है; अर्थात् आत्माको पहिचान कर उसका अनुभव करनेसे परमआनन्दरूप अमृतका स्वाद अनुभवमें आता है।

[—यहाँ पच्चीसवीं स्वधर्म व्यापकत्व शक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

[२६]

साधारण–असाधारण–साधारणासाधारण-धर्मत्व शक्ति

> अंतर्मुखदृष्टि द्वारा जिसप्रकार विकार व ज्ञानको जुदा करके ज्ञानस्वभावका अनुभव हो सकता है, उस प्रकार ज्ञान व आनंदको जुदा नहीं कर सकते, क्योंकि वे तो दोनों आत्माके स्वभावरूप हैं।

ज्ञानस्वरूप आत्माकी शक्तियोंका वर्णन चल रहा है। २५ शक्तियोंका वर्णन हो चुका है, अब २६ वीं शक्तिका वर्णन प्रारम्भ हो रहा है। स्व-परके समान, असमान और समान–असमान ऐसे तीन प्रकारके भावोंके धारण स्वरूप साधारण–असाधारण साधारणासाधारण धर्मत्व शक्ति है।

आत्मामें अनंत धर्म हैं, किन्तु वे सब एक-से नहीं हैं; उनमें कुछ साधारण हैं कुछ असाधारण हैं, और कुछ साधारण-असाधारण हैं; इसप्रकार तीन प्रकारके धर्म हैं; उन तीनों प्रकारके धर्मोंको धारण करनेकी आत्मामें शक्ति है। उस शक्तिका नाम "साधारण असाधारण-साधारणासाधारण धर्मत्व शक्ति" है।

साधारण धर्म अर्थात् क्या ?

—जो धर्म जीवमें हो तथा जीवके अतिरिक्त अन्य द्रव्यमें भी हो वह साधारण धर्म है,—जैसे कि अस्तित्व धर्म जीव और अजीव समस्त द्रव्योंमें है इसलिये वह साधारण धर्म अथवा सामान्य गुण है।

असाधारण धर्म अर्थात् क्या ?

—जो धर्म जीवमें हो और जीवके अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थमें न हो वह जीवका असाधारण धर्म है। जैसे कि—ज्ञान धर्म जीवमें ही है और जीवके अतिरिक्त अन्य किन्हीं द्रव्योंमें नहीं है; इसलिये वह जीवका असाधारण धर्म अथवा विशेष धर्म है।

साधारण-असाधारणधर्म अर्थात् क्या ?

—जीवका जो धर्म अन्य कितने ही द्रव्योंके साथ समान हो और कितने ही द्रव्योंके साथ असमान हो, उसे साधारण-असाधारण धर्म कहते हैं। जैसे कि जीवमें अमूर्त धर्म है वह आकाशादिमें भी है, इसलिये आकाशादिकी अपेक्षासे वह साधारण है और पुद्गलमें अमूर्तपना नहीं है, इसलिये पुद्गलकी अपेक्षासे वह असाधारण है,—इस प्रकार अमूर्तपना वह जीवका साधारण–असाधारण धर्म है।

इस प्रकार जीवमें तीनों प्रकारके धर्म एक साथ हैं। धर्म तो अनंत हैं, किन्तु इन तीन प्रकारोंमें उन समस्त धर्मोंका समावेश हो जाता है।

आत्मा है ?–कहते हैं हाँ; आत्मा भी है और उसके अतिरिक्त अन्य पदार्थ भी हैं। होना अर्थात् अस्तित्व तो समस्त पदार्थोंमें है इसलिये वह सामान्य धर्म है। अकेले अस्तित्वसे आत्माका अन्य द्रव्योंसे पृथक् स्वरूप लक्षमें नहीं आता।

आत्मा है तो अवश्य, लेकिन वह कैसा है ?

—आत्मा ज्ञान स्वरूप है, आनंद स्वरूप है, ज्ञान–आनंद आदि धर्मोंसे देखने पर आत्मा समस्त अन्य द्रव्योंसे भिन्न लक्षमें आता

है, क्योंकि आत्माके अतिरिक्त कहीं ज्ञान या आनन्द नहीं है। इस प्रकार ज्ञान-आनन्द वे आत्माके असाधारण धर्म हैं। आत्माकी वह मुख्य विशेषता है। उस विशेषता द्वारा आत्मा अन्य द्रव्योंसे पृथक् हो जाता है। अस्तित्व कहनेसे अन्य द्रव्योंकी अपेक्षा आत्माकी कोई विशेषता मालूम नहीं होती और ज्ञानस्वरूप कहनेसे आत्माकी अन्य द्रव्योंसे भिन्नता-विशेषता ज्ञात होती है।

और आत्माको अमूर्त कहनेसे भी उसका वास्तविक स्वरूप सर्व पदार्थोंसे पृथक् लक्षमें नहीं आता, क्योंकि अमूर्त तो आकाश भी है; अमूर्त कहनेसे सिर्फ मूर्त-पुद्गल द्रव्यसे असाधारणता ज्ञात होती है, इसलिये उस धर्मको साधारण-असाधारण धर्म कहते हैं।

इसप्रकार अस्तित्वादि साधारण धर्म, ज्ञान-आनंदादि असाधारण धर्म तथा अमूर्त आदि साधारण-असाधारण धर्म—ऐसे तीनों प्रकारके धर्म आत्मामें हैं। "आत्मा सत्, चैतन्य, अमूर्तिक" है—ऐसा कहनेसे उपरोक्त तीनों प्रकारके धर्म उसमें आजाते हैं।

ज्ञानगुण सर्व जीवोंमें है; तथापि इस जीवका जो ज्ञान है वह अन्य जीवोंमें नहीं है, इसलिये अपने ज्ञान द्वारा स्वयं अन्य सर्व जीवोंसे भिन्न अनुभवमें आता है।

अस्तित्वरूपसे आत्मा और समस्त पदार्थ समान हैं; किन्तु आत्मामें ज्ञान है और जड़में ज्ञान नहीं है; इसप्रकार आत्माकी विशेषता है। जिस प्रकार पुद्गलमें रूपीपना अर्थात् स्पर्श-रस-गंध-वर्ण हैं, वे अन्य किसी द्रव्यमें नहीं हैं; इसलिये रूपीपना वह पुद्गलका असाधारण धर्म है। उसी प्रकार-ज्ञान-दर्शन-आनंद जीवमें हैं, और अन्य पदार्थोंमें नहीं हैं, इसलिये ज्ञानादि वे जीवके असाधारण धर्म हैं।

यदि सर्व प्रकारसे सर्व वस्तुएँ समान ही हों? और सबके विशेष धर्म पृथक् न हों तो "यह आत्मा है और यह पर है"—ऐसी

भिन्नताका ज्ञान कैसे होगा ? "यह वस्तु आत्मा है और यह वस्तु आत्मा नहीं है"—ऐसी भिन्नता आत्माके असाधारण धर्म द्वारा ज्ञात होती है।

पुनश्च, जिसप्रकार आत्मामें अस्तित्वादि गुण आत्मामें हैं उसी प्रकार परमें भी हैं। आत्माका एक भी गुण परमें नहीं है; परन्तु आत्माकी जातिके (अस्तित्वादि) कुछ गुण परमें हैं। यदि ऐसा न हो और सर्वथा असमान धर्म ही हों तो आत्माकी भाँति परका अस्तित्व सिद्ध ही नहीं हो सकता; इसलिये आत्मा है और परवस्तु नहीं है; अथवा परवस्तु है और आत्मा नहीं है—ऐसा हो जाये; किन्तु ऐसा नहीं है। आत्मा भी अस्तिरूप है और पर वस्तु भी अस्तिरूप है, आत्मा भी वस्तु है और परवस्तु भी वस्तु है;—इसीप्रकार अस्तित्व, वस्तुत्वादि साधारण धर्म है; और आत्माके ज्ञान—आनंदादि भाव परद्रव्योंमें नहीं हैं; इसलिये आत्माकी परसे असाधारणता—भिन्नता है।

जिस प्रकार मनुष्यरूपसे सब आदमी समान हैं, तथापि उनमें कोई क्षत्रिय है, कोई ब्राह्मण है, कोई वैश्य है, कोई शूद्र है;—इसप्रकार उनमें विशेषता है। उसी प्रकार जड़—चैतन्य सर्व वस्तुएँ अस्तिरूपसे समान हैं, किन्तु उनमें कोई वस्तु ज्ञानयुक्त है कोई ज्ञान रहित है, कोई अमूर्त है, कोई मूर्त है—इसप्रकार उनमें विशेष धर्मों द्वारा विशेषता भी है।

आत्मामें अस्तित्व है, ज्ञान है, अमूर्तत्व है;—वे सब धर्म एकसाथ विद्यमान हैं। अस्तित्व सर्व वस्तुओंमें समान है, किन्तु "समान" कहनेसे एक ही अस्तित्वगुण सर्व वस्तुओंमें विभाजित नहीं हो गया है; प्रत्येक वस्तुमें अपना—अपना भिन्न अस्तित्वगुण है; एकका अस्तित्व दूसरेमें नहीं है; किन्तु अपना—अपना अस्तित्व सबमें है; इसलिये उसे समान कहा है। जिसप्रकार लोगोंको मनुष्यरूपसे समान कहा, तो उससे कहीं सारे मनुष्य एक नहीं होगये हैं; प्रत्येक मनुष्य भिन्न—भिन्न है। उसीप्रकार अस्तित्वरूपसे सर्व पदार्थोंको समान

कहा, किन्तु उससे कहीं समस्त पदार्थ समान नहीं हो गये; प्रत्येक पदार्थ भिन्न–भिन्न है।

परसे तो आत्मा भिन्न है, और अंतरके अरूपी विकारसे भी उसका असली स्वभाव भिन्न है। जिसप्रकार आत्मा भी है और परमाणु भी है तथापि दोनों भिन्न हैं, क्योंकि दोनोंका स्वभाव भिन्न है। उसीप्रकार इस आत्मामें त्रिकाली शुद्ध स्वभाव भी है और क्षणिक विकार भी है; अस्तित्व दोनोंका होने पर भी शुद्धस्वभाव विकाररूप नहीं और विकार शुद्धस्वभावरूप नहीं है;—इसप्रकार दोनोंकी भिन्नता है।—दोनोंमें भिन्नता होनेसे अन्तर्मुखदृष्टि द्वारा विकारसे भिन्नत्वका अनुभव होता है। जिसप्रकार विकारको और ज्ञानको पृथक् करके ज्ञान स्वभावका अनुभव हो सकता है, उसीप्रकार ज्ञान और आनन्दको पृथक् नहीं किया जा सकता; क्योंकि वे दोनों तो आत्माके स्वभावरूप हैं; वे दोनों धर्म आत्मामें एकसाथ विद्यमान हैं; उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। किन्तु विकारको धारण कर रखनेका कोई धर्म आत्मामें नहीं है, इसलिये उसे पृथक् किया जा सकता है। विकारसे तथा परसे भिन्न आत्माका अनुभव हो सकता है, किन्तु ज्ञानसे आनन्दसे भिन्न आत्माका अनुभव नहीं हो सकता।

जगत्में शरीरादि अजीव हैं रागादि विकार भी हैं, और ज्ञानस्वभाव भी है।—सब कुछ है–ऐसा जानना चाहिये। यदि उनके अस्तित्वको ही न जाने तो अज्ञान है और उन सबका अस्तित्व होने पर भी उनके भावोंकी विशेषता द्वारा उनकी भिन्नताको भी जानना चाहिये; यदि भिन्नताको न जाने तो वह अज्ञान है। शरीर है किन्तु वह मैं नहीं हूँ, राग है किन्तु वह मैं नहीं हूँ मैं तो निरन्तर ज्ञान स्वभाव ही हूँ—इसप्रकार परसे तथा विकारसे भिन्न ऐसे अपने ज्ञानस्वभावका अनुभव करना वह धर्म है।

शरीर है,
राग है,
ज्ञान है,

—तीनों होने पर भी उन तीनोंका स्वरूप एक-सा नहीं है।

शरीर तो अजीव है, ज्ञानरहित है; उसकी और ज्ञानकी बिलकुल भिन्नता है। तथा, राग तो विकार है, और ज्ञान आत्माका स्वभाव है;—इसप्रकार राग और ज्ञान दोनों समान नहीं हैं, किंतु भिन्न-स्वभावी हैं।—ऐसा भेदज्ञान करके शुद्ध ज्ञानादि अनंत शक्तियोंसे एकाकार ऐसा अपना अनुभव करना वह मोक्षमार्ग है।

आत्मा सर्वज्ञत्व शक्तिको धारण करनेवाला और पुद्गल बिलकुल अचेतन;—ऐसा स्वभावभेद होने पर भी अस्तित्वरूपसे दोनोंमें समानता है।

आत्मा असंख्यात प्रदेशी मर्यादित क्षेत्रवाला है और आकाश अनन्त प्रदेशी अमर्यादित क्षेत्रवाला है; तथापि दोनोंमें अस्तित्व समान है, और अमूर्तत्व भी दोनोंमें समान है। अस्तित्वादि समान होने पर भी आत्माकी अपने चैतन्य गुण द्वारा आकाशके साथ असमानता है।

अस्तित्वादि सामान्य गुणों द्वारा सर्व द्रव्योंमें समानता होने पर भी अपने-अपने ज्ञानादि विशेष गुणों द्वारा प्रत्येक द्रव्यमें असमानता है। वे समान तथा असमान और समान-असमान ऐसे त्रिविध धर्म आत्मामें एक साथ विद्यमान हैं।— यद्यपि समस्त द्रव्योंमें विद्यमान हैं किंतु यहाँ आत्माकी प्रधानता है।

अस्तित्वके कारण प्रत्येक द्रव्य अनादि-अनंत स्वतःसिद्ध स्थित है। परतःसिद्ध नहीं है।

वस्तुत्वके कारण प्रत्येक वस्तु अपनी प्रयोजनभूत क्रिया सहित है। अपनी क्रिया रहित नहीं है।

द्रव्यत्वके कारण प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायोंके प्रवाहरूपसे द्रवित होता है—परिणमित होता है। किसीकी राह देखना पड़े-रुक जाय ऐसा नहीं है।

प्रमेयत्वके कारण प्रत्येक द्रव्य प्रमाण ज्ञानमें प्रमेय होता

है–ज्ञात होता है। सच्चा ज्ञान प्रगट करे और वस्तुस्वरूप ज्ञात न हो ऐसा नहीं हो सकता।

अगुरुलघुत्वके कारण प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य–गुण–पर्यायरूपसे व्यवस्थित रहता है, और परके द्रव्य–गुण–पर्यायरूप नहीं होता और न कोई किसीका कर्ता हो सकता है।

प्रदेशत्व गुणके कारण प्रत्येक द्रव्य अपने प्रदेशरूप आकारमें स्थित रहता है। अपना आकाररूप स्वक्षेत्र सहित है स्वक्षेत्र रहित नहीं है।

—यह अस्तित्व आदि सामान्य गुण हैं; वे प्रत्येक द्रव्यमें हैं। जीव–पुद्गल–धर्म–अधर्म–आकाश और काल यह छहों द्रव्य इन सामान्य गुणोंकी अपेक्षासे समान हैं; अर्थात् सामान्य गुण छहों द्रव्योंमें हैं। और ज्ञान, रूपीपना, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व तथा परिणमन हेतुत्व आदि विशेष धर्मों द्वारा प्रत्येक द्रव्यको दूसरे द्रव्यसे असाधारणपना है। आत्मामें अनन्त धर्म हैं किन्तु उनमें ज्ञान असाधारण धर्म है, उसके द्वारा आत्मा लक्षित होता है।

देखो, यह आत्माको ढूँढ़नेकी रीति! भाई, "आत्मा है," —इसप्रकार अकेले अस्तित्वगुणसे आत्माको ढूँढेगा तो परसे भिन्न आत्माकी प्राप्ति नहीं होगी। आत्मा अमूर्त है—इसप्रकार अकेले अमूर्तपनेसे ढूँढ़ने पर भी यथार्थ आत्माकी प्राप्ति नहीं होगी; किंतु "ज्ञान" आत्माका असाधारण स्वभाव है, उस ज्ञान द्वारा ढूँढ़ने पर परसे तथा विकारसे भिन्न और अपने अनंतधर्मोंके साथ एकमेक ऐसे आत्माकी प्राप्ति होती है। विकार सो आत्मा–ऐसी प्रतीति करनेसे आत्माका वास्तविक स्वरूप प्राप्त नहीं होता, किंतु "ज्ञानस्वरूप आत्मा" —ऐसी प्रतीति करने पर आत्माका यथार्थ स्वरूप प्राप्त होता है। प्रत्येक शक्तिको भिन्न लक्षमें लेकर श्रद्धा करनेसे सम्पूर्ण आत्मा श्रद्धामें नहीं आता, किंतु शक्ति द्वारा शक्तिमान ऐसे अखंड द्रव्यकी श्रद्धा

करने पर सम्पूर्ण आत्माका अनुभव होता है, वह सम्यग्दर्शनकी रीति है।

मेरे कारण शरीरमें हलन-चलन होता है अथवा शरीरके कारण मुझे धर्म होता है—ऐसा जो मानता है वह वास्तवमें आत्माके समान धर्मको नहीं मानता; क्योंकि आत्मामें अपना अस्तित्व है और शरीरके परमाणुओंमें उनका अस्तित्व है।—इसप्रकार दोनोंके समान अस्तित्वको न मानकर (-स्वतंत्र सत्पना न मानकर), दोनोंकी एकता मानकर अस्तित्वका लोप करता है (श्रद्धामें अस्वीकार करता है।) पुनश्च, आत्मा और शरीरकी एकता मानता है, इसलिये उसने आत्माके असमान धर्मको भी नहीं माना शरीर तो रूपी-जड़ है और आत्मा चैतन्यस्वरूप है—इसप्रकार असाधारण धर्मसे दोनोंके स्वभाव भिन्न हैं, इसलिये वे दोनों भिन्न हैं-ऐसा वह नहीं मानता।

उसीप्रकार कर्मके कारण आत्मामें विकार होता है—ऐसा जो मानता है वह कर्म और आत्माकी एकता ही मानता है, क्योंकि वह भी आत्मा और कर्मके भिन्न-भिन्न अस्तित्वको अथवा दोनोंके भिन्न-भिन्न स्वभावको नहीं मानता, इसलिये वह आत्माके समान असमान धर्मोंको नहीं जानता। यदि समान, असमान तथा समान-असमान—ऐसे त्रिविध धर्मोंका धारक—ऐसे आत्माको पहिचान ले तो परसे औरसे भेदज्ञान होकर शुद्ध आत्माका अनुभव हुए बिना न रहे।

[—यहाँ २६ वीं साधारण-असाधारण-साधारणासाधारण धर्मत्व शक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

★

[२७]

अनंतधर्मत्व शक्ति

हे जीव ! तेरा आत्मा अनंत शक्तियोंके कारण महान है। लोकमें कहा जाता है कि 'बडेके साथ मैत्री करना'– याने क्या ? रागादि भाव तो तुच्छ है–सामर्थ्यहीन है, व चिदानन्द भगवान आत्मा बड़ा (महान) अनंत शक्तियोंवाला है; उस बड़ेके (महानके) साथ मित्रता करनेसे मोक्षपद प्राप्त होता है।

ज्ञानस्वरूप आत्मामें अनंत शक्तियाँ हैं उनका वर्णन चल रहा है; उनमें "विलक्षण अनंत स्वभावोंसे भावित ऐसा एक भाव जिसका लक्षण है ऐसी अनंतधर्मत्वशक्ति है।" आत्मा स्वयं एकभावरूप रह कर भिन्न २ लक्षणवाले अनंत धर्मोंको धारण करता है—ऐसी उसकी अनंतधर्मत्व शक्ति है। आत्मामें कितनी शक्तियाँ हैं ?—तो कहते हैं अनन्त; उन अनंत शक्तियोंसे अभिनन्दित (अभिमंडित) आत्मा एकस्वरूप है; एक ही स्वरूप अनंत धर्मरूप है:—इस प्रकार अनन्तधर्मत्व नामकी एक शक्ति आत्मामें है।

एक आत्मामें एकसाथ अनंतधर्म हैं; उन सभी धर्मोंका लक्षण

भिन्न–भिन्न है; अपने भिन्न–भिन्न कार्यों द्वारा प्रत्येक गुण भिन्न–भिन्न लक्षित है; जैसे कि—जानना वह ज्ञानका लक्षण; प्रतीति वह श्रद्धाका लक्षण; आह्लादका अनुभव होना वह आनन्दका लक्षण; अनाकुलता वह सुखका लक्षण; अखण्डित प्रतापवान स्वतंत्रतासे शोभायमानपना वह प्रभुत्वका लक्षण; त्रिकाल स्थायीपना वह अस्तित्वका लक्षण; ज्ञात होना वह प्रमेयत्वका लक्षण—इसप्रकार प्रत्येक शक्तिका भिन्न २ लक्षण है। इसप्रकार अनंत शक्तियाँ विलक्षण स्वभाववाली हैं; तथापि आत्मा उन अनंत शक्तियोंसे खंडित नहीं हो जाता; आत्मा तो अनंत शक्तियोंसे अभेद ऐसे एक भावस्वरूप है। गुण एक-दूसरे भिन्न होने पर भी वस्तुसे कोई गुण भिन्न नहीं है। भिन्न-भिन्न अनंत धर्म होने पर भी एक भाव स्वरूप रहनेकी आत्माकी जो शक्ति है; उसका नाम अनंत धर्मत्व शक्ति है।

आत्माकी अनंत शक्तियोंमें एक शक्तिका जो लक्षण है वह दूसरी शक्तिका नहीं है। इसप्रकार अनंत शक्तियाँ विलक्षण स्वभाववाली हैं; किंतु उनमें विकार लक्षणवाली एक भी शक्ति नहीं है। आत्माकी समस्त शक्तियाँ परसे तो भिन्न हैं और विकारसे भी वास्तवमें भिन्न हैं।

देखो, यह भेदज्ञानकी अपूर्व बात है। प्रत्येक आत्मा अनंत परद्रव्योंसे तो पृथक् है और अपने अनंत धर्मोंमें व्याप्त है। आत्माके अनंतगुण वस्तुरूपसे तो एक हैं; किन्तु गुणरूपसे प्रत्येकका लक्षण भिन्न २ है। अनंतधर्म परस्पर विलक्षण होने पर भी एक भाव स्वरूप हैं; इसलिये ज्ञानलक्षणद्वारा अभेद आत्माको लक्षमें लेकर एकरूपसे अनुभव करने पर उसमें एकसाथ अनंत धर्मोंके निर्मल परिणमनका अनुभव होता है।

आठवीं शक्तिमें सर्व भावोंमें व्यापक ऐसे एक-भावस्वरूप विभुत्व कहा था। इस सत्ताईसवीं शक्तिमें विलक्षण अनंत स्वभावोंसे भावित ऐसे एक भाव-स्वरूप अनंत धर्मत्व बतलाया है।

अनंत धर्मोंके साधारण, असाधारण, तथा साधारणा-साधारण—ऐसे तीन विभाग करके उन तीन प्रकारके धर्मोंके धारण-स्वरूप छब्बीसवीं शक्तिका वर्णन किया। उसमें तीन प्रकार बतलाकर तीनों प्रकारोंको अभेद आत्माके साथ एकरूप किया; और यहाँ विलक्षण अनंत धर्मोंसे भावित ऐसे एकभाव स्वरूप अनंत धर्मत्वशक्ति कहकर आत्मामें अनंत धर्मोंकी अभेदता बतलाई। भिन्न २ अनंत धर्म और तथापि आत्माका एकत्व—ऐसा अचिंत्य अनेकान्त स्वभाव है। ज्ञानका आत्मा पृथक् आनन्दका आत्मा पृथक्, श्रद्धाका आत्मा पृथक्—ऐसा नहीं है; आत्मा तो अनंत गुणोंके पिण्डरूप है।

छद्मस्थको भिन्न २ अनंत धर्म समझमें नहीं आते, किन्तु अनंत धर्मोंसे अभेद ऐसे एक आत्माका अनुभव होता है। उस अनुभवमें समस्त धर्म आजाते हैं, और युक्ति तथा आगमादिसे अनंत धर्मोंका निर्णय होता है।

आत्मा परसे भिन्न है; एक समयके विकारसे आत्मशक्तियोंका स्वभाव भिन्न है और आत्माकी अनंतशक्तियोंमें भी प्रत्येकका स्वभाव भिन्न है; तथापि आत्मामें वे सर्व शक्तियाँ एकभावरूप होकर विद्यमान हैं ऐसा ही आत्माका स्वभाव है। जिसप्रकार औषधिकी एक गोलीमें अनेक प्रकारकी जड़ी-बूटियोंका स्वाद निहित है, उसीप्रकार आत्मस्वभावके अनुभवमें अनंत शक्तियोंका रस एकत्रित है।—इसप्रकार अनन्त धर्मत्व शक्ति वाला एक आत्मा है। उन शक्तियोंके वर्णन द्वारा धर्मीके भेद बतलानेका प्रयोजन नहीं है, किंतु धर्मीके धर्मों द्वारा धर्मी ऐसे अखंड आत्माको लक्ष्य बनाना है।

आत्मामें अनंत शक्तियाँ हैं; किन्तु उसमें ऐसी तो कोई शक्ति नहीं है जो परका कुछ कर दे। आत्माकी शक्तियों द्वारा तो आत्मा लक्षित होता है; किन्तु आत्माकी शक्ति वह लक्षण और पर उसका लक्ष्य—ऐसा नहीं होता। इसलिये परलक्षसे आत्मशक्तियोंकी प्रतीति नहीं होती; अखंड आत्माके लक्षसे ही उसकी शक्तियोंकी यथार्थ प्रतीति होती है।

ज्ञान लक्षण द्वारा अनंत धर्मों वाला आत्मा प्रसिद्ध होता है—उसकी यह बात चलती है। लक्षण उसे कहते हैं कि अनेक पदार्थोंमें से किसी एक मुख्य पदार्थकी भिन्न पहिचान कराये। समस्त पर पदार्थों से भिन्न और अपने अनंत धर्मोंका पिंड ऐसा आत्मा ज्ञान लक्षण द्वारा ही पहिचाना जाता है। ज्ञान लक्षण तो वास्तवमें विकारसे भी आत्माको भिन्न बतलाता है। "ज्ञान लक्षण" अनंत धर्मों वाले आत्माको लक्षित करता है, किन्तु वह कहीं विकारको लक्षित नहीं करता। आत्माकी अनंत शक्तियोंमें विकार होनेकी कोई शक्ति नहीं है। "वैभाविक" नामकी एक शक्ति है, किन्तु उसका स्वभाव भी कहीं विकार करनेका नहीं है। किसी भी विशेष भावरूपसे परिणमित होना वह वैभाविक शक्तिका कार्य है; उसमें भी निर्मल-निर्मल विशेष भावोंरूप परिणमित होना ही उसका स्वभाव है।—ऐसी वैभाविक शक्ति सिद्धदशामें भी है। विकाररूप परिणमन होता है वह तो ऊपरकी (पर्यायकी) एक समयकी वैसी योग्यता है; किंतु आत्माकी कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है। "शक्तिमानको भजो;"—ऐसे शक्तिमान आत्माको पहिचान कर उसे भजे (आराधना करे), तो विकार दूर होकर शुद्धता हुए बिना न रहे। एक समयका विकार तो शक्ति रहित है, उसके भजनसे कल्याण नहीं होता। किन्तु अनंन्त शुद्ध शक्तियोंसे परिपूर्ण ऐसे अपने आत्मस्वभावकी प्रतीति करनेसे ही धर्म तथा कल्याण होता है।

आत्मा स्वयं सिद्ध तत्त्व है, वह परसे तथा विकारसे भिन्न है किंतु अपने अनंतगुणोंसे पृथक् नहीं है। और अनंत गुणोंसे अभेद एक तत्त्व होने पर भी उसके प्रत्येक गुणका स्वभाव भिन्न २ है।—ऐसे आत्माकी समझ कहो अथवा धर्म कहो, धर्म और आत्माकी समझ—वे दोनों पृथक् नहीं है। आत्माकी सच्ची समझ वह प्रथम अपूर्व धर्म है; उसके बिना धर्म नहीं होता।

आत्मा अनंत शक्तियोंका पिण्ड है; तथापि आत्मा, उसका कोई गुण, अथवा किसी गुणकी पर्याय परका कार्य नहीं करते। परकी

बात तो दूर रही, किन्तु स्वयं अपनेमें भी एक गुण दूसरे गुणका कार्य नहीं करता। जानना वह ज्ञान गुणका कार्य है; उस कार्यको श्रद्धादि गुण नहीं करते। अहो ! अपना एकगुण अपने ही दूसरे गुणका कार्य नहीं करता, तो फिर अन्य पर द्रव्योंका क्या कार्य करेगा ? ज्ञानका लक्षण "ज्ञातृत्व" क्या पुण्य–पाप करेगा ?–परका कार्य करेगा ? उसीप्रकार श्रद्धाका कार्य प्रतीति, आनन्दका कार्य आह्लाद,—इसप्रकार प्रत्येक गुण अपना–अपना कार्य करता है; विकार करना अथवा परका कार्य करना किसी गुणका कार्य नहीं है।

प्र०:—राग-द्वेष वह चारित्र गुणका कार्य तो है न ?

उ०:—जिसे गुण-गुणीकी एकताकी खबर नहीं है ऐसा अज्ञानी जीव विकारको अपने गुणका कार्य मानता है; उसे त्रैकालिक स्वभाव तथा क्षणिक विकारका भेदज्ञान नहीं है। ज्ञानी तो गुण-गुणीकी एकताकी दृष्टिसे गुण–स्वभावके आश्रयसे निर्मलता रूप ही परिणमित होता है; वहाँ साधकको जो अल्प विकार रहा है उसे वह स्वभावकी दृष्टिमें गुणके कार्यरूपसे स्वीकार नहीं करता, किंतु उसे गुणसे भिन्न जानता है। गुणके साथ एकता होकर जितनी निर्मल परिणति हुई वही गुणका कार्य है। जिसे गुणके शुद्ध स्वभावकी खबर ही नहीं है उसे गुणका शुद्ध कार्य कहाँसे होगा ? जिसकी दृष्टि विकार पर है उसकी दृष्टि गुण पर नहीं है।

आत्माका कोई गुण परका कार्य करे यह तो बात ही नहीं है, और विकार करे यह बात भी नहीं है। तदुपरान्त यहाँ तो कहते हैं कि एक गुणके निर्मल कार्यको भी दूसरा गुण नहीं करता; क्योंकि प्रत्येक गुण विलक्षण है। अखण्ड आत्माके आश्रयसे उसके समस्त गुणोंका निर्मलकार्य एकसाथ होने लगता है। एकवस्तुमें विद्यमान अनंत गुणोंमें भी सर्व गुण परस्पर असहाय हैं; एक गुण दूसरे गुणको सहायक नहीं है; यदि एक गुण दूसरे गुणको सहायक हो तो वस्तुके अनंत गुण सिद्ध नहीं होंगे गुणोंकी विलक्षणता नहीं रहेगी। भाई !

तेरा एक गुण तेरे दूसरे गुणके कार्यमें भी सहायता नहीं करता, तो फिर तेरा आत्मा परका कार्य करे-यह मान्यता कहाँ रही? और शरीर या पुण्य तुझे धर्ममें सहायक हों—यह बात ही कहाँ रही ? तेरा मात्र ज्ञानका विकास भी सम्यक् श्रद्धामें सहायक नहीं होता,—(क्योंकि मात्र ज्ञानके विकाससे सम्यक् श्रद्धा नहीं होती); तो फिर राग या बाहरकी वस्तुएँ तुझे सम्यक्–श्रद्धा आदिमें सहायक कैसे होसकती हैं ?

जो अनंत धर्म वाले आत्माको सचमुच मानता है, अपने धर्ममें बाह्य वस्तुओंको या रागको सहायक कदापि नहीं मानता, और मात्र एक गुणके आधारसे भी धर्म नहीं मानता, अर्थात् भेद पर दृष्टि नहीं रखता, किन्तु अनंत गुणके अभेद पिंडरूप आत्माकी दृष्टिसे उसे पर्याय–पर्यायमें धर्म होता है।

आत्माके अनंत धर्मोंमें प्रत्येक गुणका लक्षण स्वतंत्र है, तथापि समस्त गुणोंका कार्य तो अभेद आत्माके ही आश्रयसे होता है। एक गुण अनंत गुणोंसे पृथक् होकर अपना कार्य नहीं करता, किन्तु आत्माका परिणमन होने पर उसके समस्त गुण एक साथ परिणमित होते हैं।

ज्ञानके लक्षण द्वारा श्रद्धाकी पहिचान नहीं होती और श्रद्धाके लक्षण द्वारा ज्ञानकी पहिचान नहीं होती; उसीप्रकार अनंत गुण भिन्न-भिन्न लक्षणवाले होने पर भी "आत्मा" कहनेसे उसमें एक साथ समस्त गुणोंका समावेश होजाता है। जो ऐसे अभेद आत्मामें अन्तर्मुख होकर अनुभव करे उसे आत्माके अनंत धर्मोंकी प्रतीति हो। आत्मा अनंत गुणोंसे परिपूर्ण होने पर भी जो स्वसन्मुख होकर उन्हें सँभाले उसीके लिये उनका सच्चा अस्तित्व है। जिसे अनंत शक्तिवान आत्माका निर्णय नहीं है उसके अनंत शक्तियाँ होने पर भी उनका क्या लाभ ? —उसके लिये तो वे न होनेके समान हैं। जिसप्रकार–घरमें रत्नादिका भण्डार भरा हो, किन्तु उसकी खबर न हो तो वह न होनेके समान ही है; उसीप्रकार आत्मामें सिद्ध भगवान जैसी अनंत शक्तियाँ

होने पर भी जिसे उनकी-खबर नहीं है—उनकी ओर उन्मुख होकर जो आनन्दका अनुभव नहीं करता, और मात्र विकारको ही सर्वस्व मानकर उसका अनुभवन कर रहा है उसके तो वे शक्तियाँ न होनेके समान ही हैं वे शक्तियाँ उसे पर्यायमें नहीं उछलतीं। "अहो" ! मेरा आत्मा तो अनंत शक्ति सम्पन्न है; क्षणिक विकार जितना मेरा अस्तित्व नहीं है;"—ऐसा जहाँ निर्णय किया वहाँ स्वसन्मुख अपूर्व पुरुषार्थसे वे शक्तियाँ पर्यायमें उछलने लगीं......अनंत शक्तियोंका निर्मलरूपसे वेदन हुआ...अनंत शक्तिवान भगवान आत्मा प्रकाशित हुआ......तभी अनंत शक्तियोंकी सच्ची महिमाकी प्रतीति हुई। पर्यायमें प्रसिद्धि हुई।

अनंत शक्तियोंके भिन्न–भिन्न लक्षणोंका वर्णन वाणी द्वारा नहीं होसकता; और विकल्पसे अथवा छद्मस्थके ज्ञानसे भी उसे ग्रहण नहीं किया जासकता; किन्तु अनंतशक्तियोंसे अभेद एक द्रव्यको ज्ञान लक्षण द्वारा ग्रहण करके उसमें लीन होने पर समस्त शक्तियोंको भिन्न–भिन्न लक्षणों द्वारा जाने ऐसी अपार शक्ति वाला केवलज्ञान विकसित हो जाता है। शक्तिके भेद पर लक्ष है वहाँ समस्त शक्तियोंका भिन्न भिन्न ज्ञान नहीं हो सकता किंतु जहाँ भेदका लक्ष छूटकर अभेद आत्माके अवलंबनसे केवलज्ञान हुआ वहाँ समस्त शक्तियोंका भिन्न-भिन्न ज्ञान भी हो जाता है। इसप्रकार अंतरके अभेद स्वभावका अवलम्बन ही मार्ग है। सम्यग्दर्शन भी अंतरके अभेद स्वभावके अवलम्बनसे ही होता है; सम्यग्ज्ञान भी उसीके अवलम्बनसे होता है, और सम्यक् चारित्र भी उसीके अवलम्बनसे होता है। सबमें अतंर्मुखवृत्तिकी एक ही धारा है।

इस जीवकी परिणतिको अनादि संसाररूपी पीहरसे सिद्धदशारूपी ससुराल भेजते समय संत उसका दहेज बतलाते हैं।

जिसे आत्माकी लगन लगी है, मोक्षकी लगन लगी है, ऐसे आत्मार्थी मोक्षार्थी जीवको आचार्यदेव आत्माका वैभव बतलाते हैं। भाई ! भिन्न–भिन्न स्वरूपवान अनंत शक्तियोंका वैभव तुझमें है; उसे

सम्हालकर वह वैभव सिद्धपदमें साथ ले जाना है।

पहले जीवत्व शक्तिका लक्षण ऐसा बतलाया कि—आत्मद्रव्यको कारणभूत ऐसे चैतन्यमात्र भावका धारण करना सो जीवत्व शक्ति है; इस शरीरको अथवा दस प्राणोंको धारण करना वह आत्माके जीवत्वका स्वरूप नहीं है; किन्तु शुद्ध चैतन्यप्राणको धारण करना वह आत्माके जीवत्वका लक्षण है।

फिर दूसरी चितिशक्तिमें कहा है कि—अजड़त्व स्वरूप अर्थात् जिसमें किंचित्मात्र जड़पना नहीं है ऐसी चितिशक्ति है, अर्थात् परिपूर्ण जानना वह चितिशक्तिका स्वरूप है;

सुख शक्तिका लक्षण अनाकुलता कहा;

स्वरूपकी रचनाका सामर्थ्य वह वीर्य शक्तिका लक्षण कहा;

अखंडित प्रतापवंत स्वतंत्रतासे शोभितपना वह प्रभुताका लक्षण कहा;

प्रकाश शक्तिका लक्षण स्वयं प्रकाशमान विशद स्व-संवेदन कहा;

विलक्षण अनंत स्वभावोंसे भावित ऐसा एक भाव वह अनन्त धर्मत्व शक्तिका लक्षण कहा;

तथा तद्रूपता और अतद्रूपताको विरुद्ध धर्मत्व-शक्तिका लक्षण कहेंगे।

—इसप्रकार प्रत्येक शक्ति विलक्षण है; अर्थात् उनके लक्षण एक-दूसरेसे नहीं मिलते। जब अपने गुणोंमें भी इसप्रकार एक गुणके लक्षणकी दूसरे गुणके साथ एकता नहीं है, तो फिर परके साथ या विकारके साथ एकता कैसे हो सकती है? शक्तियोंमें तो लक्षणभेद होनेपर भी आत्मस्वभावकी अभेदताकी अपेक्षासे वे सर्व शक्तियाँ अभेद हैं; किन्तु विकार या परवस्तु कहीं आत्मस्वभावके साथ अभेद नहीं है। आत्मामें अनन्त शक्तियाँ होनेपर भी उनमें एक भावपना है—ऐसे

आत्माको लक्षमें लेनेसे विकार या पर उसमें नहीं आते, इसलिये विकार और परके साथकी एकता बुद्धि नहीं रहती। अनन्त शक्तिवान एक-स्वभावमें ही एकत्वबुद्धि होकर उसके आश्रयसे शक्तियोंका निर्मल विकास हो जाता है।

आत्मामें अपनी अनन्त शक्तियाँ हैं उसीप्रकार धर्मास्तिकाय आदि द्रव्योंमें भी अनन्त शक्तियाँ हैं। अनन्त शक्तियोंसे रहित कोई वस्तु ही नहीं हो सकती। यह तो जैन तत्त्वका मूल रहस्य है। ऐसे मूल वस्तुस्वरूपके भान बिना धर्म कैसा ? और साधुपना कैसा ?

"जैनके बेरिस्टर" कहलाने वाले एक व्यक्तिसे किसीने पूछा—"धर्मास्तिकायमें कितने गुण हैं ?" तो वे बोले कि—"दो;" फिर पूछा—"कौन–कौनसे ?" तो बोले–"एक अरूपीपना और दूसरा गतिहेतुत्व !" देखो, यह बेरिस्टर !! जिसे जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए वस्तुस्वरूपकी खबर नहीं है; वह जैन कहलाने योग्य नहीं है। ऐसे ही दूसरे एक व्यक्तिसे किसीने पूछा कि—"आत्माका लक्षण क्या ?" तो उत्तर दिया कि—"आत्माका लक्षण शरीर !" फिर पूछा कि "आत्मा-का गुण क्या ?" तो बोला "शरीरको बनाये रखना !" देखो यह दशा !! एक व्रत–प्रतिमा धारीसे पूछा कि "आत्मा कैसे रंगका होता है ?"—तो विचार कर बोला कि "सफेद रंगका !" शरीर अनन्त परमाणुओंसे निर्मित है—ऐसा सुनकर एक आदमी ने पूछा कि—"महाराज ! आत्मा कितने परमाणुओंसे बना होगा !!" अरे ! प्रति-दिन सामायिक और प्रतिक्रमण करता है, अपनेको व्रती या साधु मानता है और तत्त्वका किंचित् भान भी न हो—उसका तो सब थोथा है। भले ही कदाचित् अन्य बातें जानता हो, किन्तु चैतन्यस्व-रूप आत्माको न पहिचानता हो तो उसे जाने बिना धर्म नहीं हो सकता।

अनंत पदार्थोंके मध्यमें रहने पर भी आत्मा कभी किसी पर रूप नहीं होता, और न अपने अनंत धर्मोंसे कभी पृथक् होता है;—

ऐसा अनंतशक्तिवान एक आत्मा है। जगतके छहों प्रकारके द्रव्य, उनके कोई गुण या उनकी कोई पर्याय कभी पररूप नहीं होते। अन्य वस्तुके द्रव्य, गुण या पर्यायको करे ऐसी शक्ति जगतके किसी तत्त्वमें नहीं है; प्रत्येक द्रव्य अपनी अनंत शक्तिसे अपने द्रव्य-गुण-पर्यायरूपसे स्थित है। परके कारण विकार होता है—ऐसा माननेवाला अपने तत्त्वको परसे भिन्न नहीं जानता; तथा विकारको ही आत्मा मानकर उसका अनुभवन करनेवाला अपने शुद्ध अनंत शक्ति सम्पन्न चैतन्यतत्त्वको विकारसे भिन्न नहीं जानता। भेद विज्ञानी जीव जानता है कि मुझमें अनंत-धर्मत्व शक्ति है अर्थात् मैं अपने एकस्वभावरूप रह कर अनंत शक्तियोंको धारण करनेवाला हूँ, वही मेरा स्वतत्त्व है। विकारको या परको मैं अपने स्वभावमें धारण नहीं करता,—इसप्रकार अनंत धर्मोंवाले शुद्ध चैतन्यतत्त्वको अंतरमें देखना सो सम्यक्—ज्ञान है और वह मोक्षका कारण है।

मंगलाचरणके दूसरे श्लोकमें ही आचार्यदेवने कहा था कि —परसे भिन्न अनंत धर्मस्वरूप ऐसे आत्मतत्त्वको देखनेवाली अनेकान्तमयी मूर्ति सदैव प्रकाशमान रहे। ऐसे आत्मतत्त्वको देखनेवाला ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है वह जयवंत हो, अर्थात् साधक दशामें हुआ सम्यक् ज्ञान अप्रतिहतभावसे आगे बढ़कर केवलज्ञान बने—ऐसी भावना है। प्रत्येक आत्मामें ज्ञानादिगुण समान होने पर भी, एक आत्माका जो ज्ञान है वह दूसरे आत्माका नहीं है—इस अपेक्षासे उनमें असाधारणपना भी है। प्रत्येक आत्माके गुण भिन्न-भिन्न हैं; प्रत्येक आत्माका अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। परसे भिन्न तथा अपने अनंतधर्मोंके साथ एकरूप ऐसे आत्माके अस्तित्वको देखना वह सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्ज्ञान है, वही सच्ची विद्या होनेसे सरस्वती है।

शक्ति कहो, गुण कहो, स्वभाव कहो, धर्म कहो,—वह सब एकार्थ है। एक आत्मामें अनंत गुण हैं; गुण पृथक् और वस्तु एक—ऐसा ही अनेकान्तस्वरूप है और वह सर्वज्ञ-भगवानने प्रत्यक्ष

देखा है। सर्वज्ञ भगवान जिनदेवके मतके अतिरिक्त अन्य कहीं ऐसा यथार्थ वस्तुस्वरूप है ही नहीं। ऐसा यथार्थ वस्तुस्वरूप अज्ञानी लोगोंके खयालमें नहीं आया इसलिये एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य अथवा ईश्वर कर्ता—ऐसा अनेक प्रकारसे विपरीत मान लिया है; और इसीलिये संसार परिभ्रमण है। यहाँ आचार्यदेवने अनेकान्तके वर्णन द्वारा यथार्थ आत्मस्वरूप अद्भुत शैलीमें प्रस्तुत किया है। आत्मा वस्तुरूपसे एक होने पर भी उसमें अनंत गुण हैं। आनन्दका लक्षण भिन्न, श्रद्धाका भिन्न, ज्ञानका भिन्न—इसप्रकार गुणोंके लक्षण भिन्न हैं; किंतु ज्ञानकी वस्तु भिन्न, आनन्दकी भिन्न, श्रद्धाकी भिन्न इसप्रकार कहीं भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं; वस्तु तो एक ही है। एकसाथ अनंत गुण-स्वरूपसे एक ही वस्तु भासित होती है। यदि एक गुणका लक्षण दूसरे गुणोंमें आजाये—तो उस लक्षणकी अतिव्याप्ति हो जायगी और भिन्न-भिन्न अनंत गुण सिद्ध नहीं हो सकेंगे; तथा गुण भेद न हो तो क्षायिक सम्यग्दर्शन होने पर अन्य समस्त गुण पूर्ण शुद्ध क्षायिकभावरूपसे प्रगट हो जाना चाहिये; किंतु ऐसा नहीं होता। साधकदशामें श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि गुणोंके विकासका क्रम होता है, क्योंकि गुणोंका लक्षण भिन्न-भिन्न होनेसे कार्य भिन्न-भिन्न है। और एकान्तसे गुणभेद ही है—ऐसा भी नहीं है; वस्तुरूपसे अनंत गुणोंकी अभेदता भी है; इसलिये वस्तुके आश्रयसे परिणमन होने पर समस्त गुणोंकी निर्मलताका अंश एकसाथ विकसित हो जाता है। सम्यक्दर्शन होने पर केवलज्ञान भले ही उसी समय न हो, किंतु सम्यक्ज्ञान भी न हो ऐसा नहीं होता।—इसप्रकार समस्त गुणोंका एक अंश तो प्रगट हो जाता है।–इसप्रकार वस्तुरूपसे अनंत गुणोंकी अभेदता तथा गुणोंके लक्षण भेद से भेद–ऐसा ही वस्तुस्वरूप है। इसप्रकार अनंत धर्मस्वरूप आत्माको पहिचानकर उसका अनुभव करना वह मुक्तिका कारण है।

आत्मा अनंत धर्मस्वरूप है। उसके स्वभावमें भव नहीं है, वह स्वयं ही अपनेको तारनेवाला देव है; अन्य कोई तारनेवाला

नहीं है। प्रत्येक वस्तुको अनादि अनंत और स्वतंत्र है ऐसा समझे बिना स्वरूपका भान नहीं होगा। अरे जीव! तुझे अपनी वस्तुका भान नहीं है। तेरी श्रद्धाका भी कोई ठिकाना नहीं है। तेरे देवका स्वरूप क्या है, तेरे गुरुका स्वरूप क्या है, तेरे धर्मका स्वरूप क्या है- उसकी भी तुझे पहिचान नहीं है तो तू किसके बलपर तरेगा? विपरीत मान्यता और कुदेव, कुगुरु, कुधर्मका सेवन तो संसारमें डुबानेवाला है। तेरा आत्मा ही तेरी निर्मल पर्यायरूप सृष्टिका स्रष्टा होनेसे तू ही ब्रह्मा है; तेरा आत्मा ही स्वतः तेरा रक्षक होनेसे तू स्वयं ही विष्णु है; इसके अतिरिक्त अन्य कोई ब्रह्मा या विष्णु तेरा कल्याण करनेवाला, स्रष्टा या रक्षक नहीं है। अन्य कुदेवोंकी तो बात ही क्या! किन्तु सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव भी तेरा कोई धर्म तुझे नहीं दे सकते। भगवान तो ऐसा कहते हैं कि हमारे जैसे ही समस्त धर्म तेरे आत्मामें भी हैं; वह विद्यमान हैं उन्हें स्वीकार कर तो तू हमारे जैसा बन जायेगा, तेरा कल्याण हो जायगा।—ऐसे अपने स्वभावको जो जीव स्वीकार करे उसीने सर्वज्ञ देवको और उनकी वाणीको स्वीकार किया है। जो इससे विपरीत मानता है उसने सर्वज्ञ देवको अथवा उनकी वाणीको स्वीकार नहीं किया है।

वास्तविक आत्मा क्या वस्तु है, उसके धर्म कैसे हैं,—उसकी जिसे खबर नहीं है वह जीव मूढ़ताके कारण या तो पुण्यमें मोहित हो जाता है, या फिर उसी जैसे अनेक व्यक्ति जिसे मानते हों उसीको सच्चा मानकर कुमार्गमें फँस जाता है और अवतारको व्यर्थ गँवा देता है। जिसप्रकार—राख तो प्रत्येक घरके चूल्हेमें भरी रहती है, किंतु रत्न तो कहीं बिरले ही होते हैं; उसीप्रकार बाह्यसे और रागसे धर्म माननेवाले अज्ञानियोंकी संख्या तो जगत्में भारी है, किंतु राग रहित चैतन्य रत्नकी परख करनेवाले धर्मात्मा जीव जगत्में बिरले ही हैं; सत्यकी अपेक्षा असत्यको माननेवाले मूढ़ जीवोंकी संख्या अधिक हो, तो उससे कहीं वह सच्चा नहीं हो जाता; क्योंकि सत्को संख्याकी आवश्यकता नहीं है, अर्थात् संख्या द्वारा सत्यका माप नहीं निकलता।

मनुष्योंकी अपेक्षा चींटियोंकी संख्या अधिक हो तो उससे कहीं चींटियां मनुष्योंसे बड़ी नहीं हो जातीं। सिद्ध भगवन्तोंकी अपेक्षा निगोदके जीवोंकी संख्या अनंतगुणी है, तो क्या उससे सिद्धोंकी अपेक्षा निगोदिया अच्छे हो गये ? नहीं; संख्यापर नहीं देखना है, किंतु अपना हित कौनसे भावमें है वह देखना है।

जिस भावमें अपना हित हो वह उत्तम है; फिर भले ही उसे माननेवाले बिलकुल कम हों। और जिस भावमें अपना हित न हो वह छोड़ने योग्य है; फिर भले ही उसे माननेवाले अनंत हों। अपने आत्माका धर्म करनेमें तुझे किसी बाह्य वस्तुकी आवश्यकता नहीं है; तेरे आत्मामें विद्यमान अनंत धर्मोंका ही तुझे साथ है। इसलिये उनकी प्रतीति एवं श्रद्धा करके उनके साथ एकता कर, तो तेरी पर्यायमें अधर्म दूर होकर सम्यक् दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप धर्म हो।

देखो, कुन्दकुन्दकुमार ग्यारह वर्षकी आयुमें गृह–परिवारको छोड़कर वनवासी मुनि हुए थे।

प्रश्नः—उन्हें एकाकीपन कैसे अच्छा लगता होगा ?

उत्तरः—अरे ! अकेले नहीं हैं; किंतु अंतरमें अनंत गुणोंका साथ है। बाह्यका संग छोड़कर अंतरमें आत्माके अनन्त गुणोंके साथ गोष्ठी की है; उसमें अपूर्व आनन्द है तो क्यों अच्छा नहीं लगेगा ? आनन्दमें किसे अच्छा नहीं लगता ? आत्माके आनंद गुणोंके साथ गोष्ठि (एकता) करना उसमें अनन्त आनन्द है, किंतु अज्ञानीको वह आनन्द भासित नहीं होता; और बाह्यमें परवस्तुके साथ गोष्ठि करना उसमें आकुलताका दुःख है, तथापि उसमें अज्ञानीको सुख भासित होता है। अरे ! कैसी विचित्रता है कि—

"अनन्त सुख नाम दुःख वहाँ रही न मित्रता ! अनन्त दुःख नाम सुख प्रेम त्यां, विचित्रता ! उघाड न्याय नेत्रको निहाल रे निहाल तूं; निवृत्ति शीघ्रमेव धारी वे प्रवृत्ति बाल तूं।"

आत्माके स्वभावमें अक्षय अनंत सुख भरा है, तथापि अज्ञानी उसके साथ तो मित्रता नहीं करता; उसके सन्मुख दृष्टि भी नहीं करता; और बाह्य वस्तुओंमें अथवा रागादिमें अंशमात्र भी सुख नहीं है, उनके लक्षसे तो एकान्त दुःख है तथापि मूढ़ जीव वहाँ प्रेम करके मित्रता करता है; यह कैसी विचित्रता है !—ऐसी ज्ञानियोंको करुणा आती है, इसलिये कहते हैं कि अरे जीव ! तू अपने ज्ञानरूपी नेत्रोंको खोलकर निहार ! स्वभावमें सुख है और बाह्यमें कहीं सुख नहीं है—ऐसा तू न्याय पूर्वक समझ; और बाह्यमें सुखकी मान्यतारूप अज्ञानसे तू शीघ्र ही निवृत्तिको प्राप्त हो ! अज्ञानकी उस प्रवृत्तिको तू जला दे ! अपने आत्माके अनंत धर्मोंको पहचानकर उनके साथ गोष्ठी कर...उनके साथ प्रेम कर...उनके साथ मित्रता कर...उनके आनन्दमें केलि कर ! स्वभावके साथ गोष्ठी करे और वहाँ अच्छा न लगे ऐसा नहीं हो सकता। अनंत संत अपने स्वभावके साथ गोष्ठी करके उसके आनन्दमें केलि करते हुए मुक्तिको प्राप्त हुए हैं; इसलिये रागादिके साथ एकतारूप मित्रता छोड़कर अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्माके साथ एकतारूप गोष्ठी कर, जिससे तुझे ज्ञान-आनन्दमय ऐसे मुक्तिपदकी प्राप्ति होगी।

[—यहाँ सत्ताईसवीं अनंत धर्मत्व शक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

[२८]

विरुद्धधर्मत्व शक्ति

अनेकान्त ही धर्मका प्राण है; जैसे प्राणके बिना जीवन नहीं होता; वैसे अनेकान्तस्वरूपको समझे बिना धर्म नहीं होता; इसलिए अनेकान्त ही धर्मका प्राण है। अनेकान्तसे ही वीतरागी जिनशासन अनादिसे जयवंत वर्तता है। अमृतमय ऐसा मोक्षपद वह अनेकान्त द्वारा ही प्राप्त होता है, इसलिए अनेकान्त अमृत है।

अनेकान्त ही धर्मका प्राण है। जिसप्रकार प्राण बिना जीवन नहीं होता, उसीप्रकार अनेकान्त स्वरूपको समझे बिना धर्म नहीं होता; इसलिये अनेकान्त ही धर्मका प्राण है। अनेकान्तसे ही वीतरागी जिनशासन अनादिसे जयवंत प्रवर्तमान है। अमृतमय ऐसे मोक्षपदकी प्राप्ति अनेकान्त द्वारा ही होती है; इसलिये अनेकान्त अमृत है।

“विरुद्ध धर्मत्व शक्ति” कहीं विरोध उत्पन्न करनेवाली नहीं है, किन्तु वह तो रागादि विरोधी भावोंका नाश करके अविरुद्ध शान्ति देनेवाली है।

ज्ञायकस्वरूप आत्मामें “तद्रूपमयपना और अतद्रूपमयपना

जिसका लक्षण है—ऐसी विरुद्ध धर्मत्व शक्ति" भी है।

आत्मा अपने ज्ञान, आनन्दादिके साथ सदैव तद्रूपमय है, और पर पदार्थोंके साथ सदैव अतद्रूप है; इसप्रकार तद्रूपता एवं अतद्रूपता ऐसे विरुद्ध धर्म एकसाथ हैं। यदि ऐसा विरुद्धधर्मपना न हो और अकेला तद्रूपपना ही हो, तो आत्मा जड़के साथ भी तद्रूप हो जाये अर्थात् जड़ हो जाये; और अकेला अतद्रूपपना ही हो तो आत्मा अपने ज्ञानानन्दसे भी पृथक् सिद्ध हो; इसलिये तद्रूप तथा अतद्रूप ऐसी दोनों शक्तियाँ उसमें एक साथ हैं; उसका नाम विरुद्ध धर्मपना है। किन्तु सर्वथा विरुद्धधर्मपना नहीं है; अर्थात् आत्मा अरूपी है और रूपी भी है, आत्मा चेतन भी है और अचेतन भी है,—ऐसा विरुद्ध धर्मपना नहीं है। अस्ति–नास्तिपना, तत् अतत्पना ऐसे धर्मोंको परस्पर विरुद्धता होनेपर भी स्याद्वादके बल द्वारा वह विरोध दूर होकर दोनों धर्म आत्मामें एक साथ रहते हैं। आत्मामें अस्तिपना है ?—कहते हैं–हाँ; आत्मामें स्व अपेक्षासे अस्तिपना है। आत्मामें नास्तिपना है ? कहते हैं–हाँ; पर अपेक्षासे आत्मामें नास्तिपना है। उसी प्रकार तत्पने–अतत्पनेमें भी समझना। इस प्रकार अनेकांतस्वरूप आत्मा एकसाथ परस्पर विरुद्ध धर्मोंको धारण करता है—ऐसी विरुद्ध धर्मत्वशक्ति उसमें है। जिस समय तत्रूप है उसीसमय उससे विरुद्ध अतत्रूप भी है; जिससमय अस्तिरूप है, उसी समय उससे विरुद्ध नास्तिरूप भी है,—ऐसा विरुद्ध धर्मपना आत्मामें है।

एक ही वस्तुमें अस्तिपना और नास्तिपना इत्यादि विरुद्ध धर्म एक साथ विद्यमान हैं; "विरोध है रे, विरोध है...!"—इसप्रकार अज्ञानी लोग पुकारते हों तो भले पुकारें; वस्तु स्वरूप जाननेवालोंको तो कोई विरोध नहीं है; वे तो जानते हैं कि वस्तु स्वरूपमें ही विरुद्ध धर्मत्व नामकी शक्ति है, वस्तु स्वयं ही ऐसी है कि परस्पर कथंचित् विरुद्ध धर्मोंको अपनेमें धारण कर रखती है। ऐसा वस्तु स्वरूप समझनेके पश्चात् परसे पराङ्मुखता होकर स्वोन्मुखता होती है; परके साथकी एकता छूटकर स्वके साथ एकता होती है; मिथ्याबुद्धि दूर

होकर सम्यक् बुद्धि होती है; पराश्रय दूर होकर स्वाश्रय होता है; और वीतरागता एवं केवलज्ञान उसका फल है।

आत्मा स्व-रूपसे रहता है और पर-रूप नहीं होता, अपने स्वभावके साथ सदैव एकरूप रहता है और परके साथ तीनकालमें कभी एकरूप नहीं होता,—ऐसा तद्रूपपना तथा अतद्रूपपना उसमें एक साथ है। और सूक्ष्मतासे लें तो आत्मतत्त्व अपने ज्ञान-आनन्दादि स्वभावोंके साथ सदैव एकरूप है और रागके साथ कभी एकरूप नहीं होता—ऐसा उसका स्वभाव है; आत्माका नित्य ज्ञानानन्द स्वभाव रागके साथ कभी एकमेक नहीं हुआ है किंतु पृथक् ही है। ऐसे स्वभावको पहिचान कर उस ओर उन्मुख होनेसे पर्यायमें भी वैसा (रागसे भिन्नत्वका) परिणमन होता है; इसलिये उस स्वभावोन्मुख पर्यायमें भी ज्ञान-आनन्दके साथ तद्रूपता और रागादिके साथ अतद्रूपता ऐसा अनेकान्तपना प्रकाशित होता है। यही धर्म है और यही मोक्षमार्ग है।

"एक वस्तुमें वस्तुपनेको उत्पन्न करनेवाली दो परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकाशित होना सो अनेकांत है।"

देखो, आचार्यदेवने अलौकिक व्याख्या करके अनेकान्तका स्वरूप समझाया है। इस अनेकान्तसे ही वीतरागी जैनशासन अनादिकालसे जयवंत वर्त रहा है; क्योंकि वस्तु स्वयं ही ऐसे अनेकांतस्वरूप है। अनेकांत ही धर्मका प्राण है। जिसप्रकार प्राणके बिना जीवन नहीं होता, उसीप्रकार अनेकान्त स्वरूपको समझे बिना धर्म नहीं होता; इसलिये अनेकान्त ही धर्मका प्राण है। अनेकान्तको अमृत भी कहा जाता है; क्योंकि अमृतमय ऐसा जो मोक्षपद वह अनेकान्त द्वारा ही प्राप्त होता है। अनेकान्तमय वस्तुस्वरूपको जीवने अनन्तकालमें एक क्षण भी नहीं समझा; और उसे अपनी मिथ्या-कल्पना द्वारा विपरीतरूपसे मानकर "रागसे भी धर्म होता है; आत्मा परका भी करता है"—ऐसा मानता है। किन्तु अनेकान्तका ऐसा स्वरूप नहीं है। वीतरागता वह धर्म है और राग भी धर्म है—ऐसा अनेकान्त

नहीं है, किन्तु वीतरागता ही धर्म है और राग धर्म नहीं है—ऐसा अनेकान्त है। अनेकान्त तो वस्तु स्वरूपमें परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ बतलाता है; किन्तु कैसी ?—कि वस्तु स्वरूपको उत्पन्न करनेवाली। "वीतरागता वह हितरूप धर्म और राग भी हितरूप धर्म"—ऐसा कहनेमें धर्मका स्वरूप सिद्ध नहीं होता, किंतु वीतरागता ही धर्म है और राग वह कभी धर्म नहीं है,—ऐसा कहनेसे ही धर्मका वास्तविक स्वरूप सिद्ध होता है और वही सम्यक् अनेकान्त है।

अनेकान्त तो वस्तुस्वरूपमें स्वयमेव प्रकाशित होता है। किस प्रकार ? कि जो वस्तु तत् है; वही अतत् है; जो एक है वही अनेक है; जो सत् है वही असत् है; जो नित्य है वही अनित्य है;—इसप्रकार एक वस्तुमें वस्तुपनेका उत्पन्न करनेवाली (-सिद्ध करनेवाली) परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ स्वयमेव प्रकाशित होती हैं; उसका नाम अनेकान्त है। इस ज्ञानमात्र आत्मवस्तुको भी स्वयमेव अनेकान्तपना प्रकाशित करता है—ऐसे आत्माको पहिचाने तो धर्म हो।

आत्मा अपनी क्रिया कर सकता है और परकी क्रिया कभी नहीं कर सकता;—इसीमें (ऐसी तात्त्विक अनेकान्त दृष्टि समझनेसे ही) आत्माकी परसे भिन्नता सिद्ध होती है; इसलिये वह सम्यक् अनेकान्त है। किन्तु आत्मा अपनी क्रिया कर सकता है और परकी क्रिया भी कर सकता है— इसमें परसे भिन्न आत्मा सिद्ध नहीं होता, इसलिये वह सम्यक् अनेकान्त नहीं है। उसीप्रकार स्वभावके आश्रयसे धर्म होता है और परके आश्रयसे धर्म नहीं होता, ऐसा सम्यक् अनेकान्त है; क्योंकि उसमें परसे भिन्न आत्माका जैसा स्वरूप है वैसा ही प्रकाशित होता है। "ऐसा भी होता है, और ऐसा भी होता है"—इसप्रकार अनेकान्त गड़बड़ी नहीं कराता; किन्तु "ऐसा है और ऐसा नहीं है"—इसप्रकार वह यथार्थ वस्तु स्वरूपका निर्णय कराता है। जो वस्तु स्वरूपमें हों उन धर्मोंको मानना सो अनेकान्त है; और वस्तुस्वरूपमें न हों उन धर्मोंको मानना वह मिथ्यात्व है। आत्मा

अपना कार्य करता है और परका कार्य भी करता है वहाँ विरुद्ध धर्मत्व नहीं हुआ किन्तु आत्मा अपना कार्य करता है और परका नहीं करता–इसमें विरुद्ध धर्मत्वद्वारा वस्तुकी सिद्धि हुई, इसलिये वह अनेकान्त है।

आत्मा अपने ज्ञायक स्वभावरूपसे त्रिकाल तद्रूप (उसमय) है, और परके साथ तद्रूप नहीं है; अर्थात् अतत्रूप है:—इसप्रकार तद्रूपपना तथा अतद्रूपपना—ऐसे दो विरुद्ध भावोंको एक साथ धारण करना वह विरुद्ध धर्मत्व शक्तिका लक्षण है। जो तद्रूप हो वही अतद्रूप कैसे हो-सकता है ?—ऐसी विरुद्धता अज्ञानीको भासित होती है; किन्तु भगवान कहते हैं कि ऐसे धर्मोंको धारण करनेका तो तेरा स्वभाव है; अपने रूपसे तत् और पररूपसे अतत्—ऐसे विरुद्ध धर्मोंको धारण करनेका ही तेरा अविरुद्ध स्वभाव है। तत्–अतत्, एक–अनेक, सत्–असत् आदि चौदह बोलोंसे अनेकान्तकी व्याख्याका अत्यन्त विस्तार पूर्वक स्पष्टीकरण इस परिशिष्टके प्रारम्भमें आगया है।

आत्माका स्वभाव अपने स्वरूपमें रहनेका है; पररूप होनेका उसका स्वभाव नहीं है; इसलिये परसे कुछ सहायता ले, अथवा परवस्तु आत्माको शरणभूत हो–ऐसा वस्तुस्वभाव नहीं है। "चत्तारिशरणं पव्वज्जामि, अरहंत शरणं पव्वज्जामि......"ऐसा भक्तिमें विनय पूर्वक कहा जाता है, उसमें अरिहंतादिको पहिचानकर उनके बहुमानकी भावना है; किंतु आत्मा परकी शरण ले अथवा पर किसी आत्माको शरणभूत हो—ऐसा अपना या परका स्वभाव नहीं है। यदि आत्माको परकी शरण हो तो वह परके साथ तद्रूप–एकमेक हो जाये; किंतु ऐसा कभी नहीं होता। अनेकांत स्वभावरूपी अभेद गढ़ ऐसा है कि आत्माको सदैव परसे अत्यन्त भिन्न ही रखता है; परके एक अंशको भी आत्मामें नहीं आने देता। अंतर् दृष्टिसे ऐसे (-परसे अत्यन्त विभक्त तथा अपने स्वरूपसे एकत्व) वस्तु स्वभावको जानना वह अपूर्व सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्ज्ञान है।

आत्मा अपने ज्ञानरूप है और पर ज्ञेयरूप नहीं है; ज्ञानके साथ तत्पना है और परज्ञेयोंके साथ अतत्पना है। यह आत्मा अपनेसे भिन्न किसी भी द्रव्यका किसी भी क्षेत्रमें, किसी भी कालमें; अथवा किसी भी प्रकारसे कुछ भी नहीं कर सकता; क्योंकि उसे परके साथ अतत्पना है। बस, सबको तलाक! एक स्वतत्त्वका ही अवलम्बन रहा। आत्मा और पर वस्तु (शरीरादि) कभी क्षेत्रसे भी इकट्ठे नहीं हैं; सबका स्वक्षेत्र भिन्न-भिन्न है। आत्माको अपने असंख्य प्रदेशोंरूपी स्वक्षेत्रसे तत्पना है और शरीरादिके प्रदेशोंरूप पर क्षेत्रसे असत्पना है । दोनों कभी एकरूपसे इकट्ठे नहीं हुए हैं, सदैव भिन्न-भिन्न द्वित्वरूपसे ही रहे हैं, तो फिर कोई किसीका क्या कर सकता है ? इसी न्यायसे आत्मा तथा कर्मका भी परस्पर अतत्पना समझना। अपने स्वधर्मोंसे बाहर निकलकर आत्मा कभी कर्मरूप हुआ ही नहीं है, और न कर्म आत्माके स्वरूपमें आये हैं; तो फिर वे आत्माका क्या कर सकते हैं ?

प्रश्नः—क्या कर्म नहीं हैं ?

उत्तरः—ऐसा कौन कहता है कि कर्म नहीं हैं ? कर्म तो कर्ममें है किंतु आत्मामें नहीं है। और आत्मामें जिसका अस्तित्व नहीं है वह आत्माका क्या कर सकता है ? आत्मा अपने चैतन्यमय द्रव्य-गुण-पर्यायके साथ एकरूप है ? और कर्मके द्रव्य-गुण-पर्यायसे अतत्रूप है—भिन्न है। यदि ऐसा न हो तो आत्मा और जड़ दोनों एकमेक हो जायें, इसलिये वस्तुका ही अभाव हो जाये, किंतु वस्तुके अभावकी इच्छा कौन करेगा ? नास्तिक हो वही ऐसा मान सकता है।

एक वस्तुमें कार्य होते समय दूसरी वस्तुको निमित्त कहा जाता है; वह तो उस कार्यको और उसके योग्य उपस्थित अन्य वस्तुको पहिचाननेके लिये कहा जाता है; किंतु वह अन्य वस्तु कुछ कर देती है—ऐसा बतलानेके लिये उसे निमित्त नहीं कहा जाता। निमित्तके साथ तो कार्यका अतत्पना है। जिसे जिसके साथ अतत्पना

उसमें वह कुछ नहीं करता, इसलिये निमित्त अकिंचित्कर है।—ऐसा जो नहीं मानते किंतु ऐसा मानते हैं कि कार्यमें निमित्त कुछ न कुछ करता है; वे वस्तुकी तत्-अतत् शक्तिको नहीं जानते; अनेकान्तमय वस्तुस्वरूपको नहीं पहिचानते; इसलिये वे मिथ्यादृष्टि हैं।

यह देव-गुरु-शास्त्र सच्चे और इनसे विरुद्ध कथन करनेवाले अन्य भी सच्चे—ऐसा जो मानता है, अथवा तो क्या सत्य होगा ?—उसके सन्देहमें रहते हैं और सत्यका निर्णय नहीं करते उनके अज्ञानका नाश नहीं होता। रबड़ी-मलाईमें जरासा विष पड़ा हो तो लोग उसे नहीं खाते। अरे ! विष न हो, किंतु "इसमें विष पड़ा होगा"—ऐसी शंका हो जाये तब भी उस रबड़ीको नहीं खाते, तो फिर यहाँ धर्ममें सच्चे देव–गुरु–शास्त्र और कुदेव–कुगुरु–कुशास्त्र—दोनोंको समान मानकर उनका आदर करना वह तो अमृत और विषको एकमेक करनेके समान है। और सच्चे देव–गुरु–शास्त्रको मानने पर भी यदि स्वयं अपने ज्ञानमें सत्यका निर्णय न करे तो सत्यका लाभ नहीं होता; इसलिये अपने ज्ञानमें सत्–असत्का विवेक करना चाहिये। पैसादिकी प्राप्ति तो बुद्धिके बिना पुण्यसे हो जाती है, किंतु धर्मकी प्राप्ति विवेकबुद्धिके बिना नहीं होती।

पुण्यके बिना पैसेकी प्राप्ति नहीं होती। यदि पुण्यके फल स्वरूप पैसेके ढेर लग जायें तो उससे आत्माको क्या लाभ ? और पैसा न मिले तो उससे आत्माको हानि भी क्या ? आत्मा तो पैसादि परवस्तुओंसे भिन्न–अतद्रूप है; परवस्तु उसे सुख–दुःखका या लाभ–हानिका कारण नहीं है; इसलिये भाई ! जहाँ तेरा रूप नहीं है उस ओर न देख ! जिसके साथ तेरी तद्रूपता है ऐसे अपने स्वरूपको देख। अपने आनन्दस्वरूपमें तद्रूपता होनेपर तुझे अपने आनन्दका अनुभव होगा। इसके अतिरिक्त बाह्यमें कल्पनाके घोड़े दौड़ाकर वहाँ सुख–दुःख माने तो वह भ्रमणा है। अरे भाई ! कैसी जाति ! कैसा कुटुम्ब ! कैसा सम्प्रदाय ! कहाँका पैसा और कहाँका शरीर !—वह सब तो

आत्मासे बाहर है, तू उन सबसे पृथक् है; तेरा उन सबके साथ अतत्पना है, और अपने ज्ञान-आनन्दादि अनन्त धर्मोंके साथ तत्पना है। जो आत्माका स्वरूप—अपना रूप–है, उसे न जानकर विपरीत श्रद्धासे परको अपना मानता है वह मोह अनन्तसंसारका कारण है; इसलिये हे जीव ! बाह्यमें अपनापन न मानकर अंतरमें अपने आत्माको देख ! वही मोक्षका कारण है।

मैं अपने स्वभावके साथ तत्‌रूप हूँ, और परके साथ अतत्‌रूप हूँ—ऐसे स्वभावका भान होने पर जीवकी पर्याय स्वभावमें एकतारूपसे परिणमित होती है, इसलिये वह पर्याय स्वभावमें तद्‌रूप हुई है और रागके साथ अतद्‌रूप हो गई है;—इसप्रकार जिसकी पर्यायमें निर्मल परिणमन हो उसीको स्व शक्तिकी यथार्थ प्रतीति हुई है। जिसकी पर्यायमात्र विभावमें ही तद्‌रूप होकर परिणमित होती है, वह तो रागके साथ एकता बुद्धिवाला मिथ्यादृष्टि है; उसे आत्माकी शक्तिकी प्रतीति नहीं है; "रागसे तथा परसे अतद्‌रूप"—ऐसे स्वभावको उसने वास्तवमें जाना ही नहीं है।

विरुद्ध धर्मोंको धारण करनेवाली आत्माकी शक्ति कही; उसमें विरुद्ध धर्म कहनेसे राग-द्वेषादिको नहीं लेना चाहिये किंतु तत्-अतत्, अस्ति-नास्ति इत्यादि स्वभावरूप धर्मोंको लेना चाहिये; अर्थात् विरुद्धधर्म कहे वे दोनों स्वभावरूप हैं और वे तो आत्मामें त्रिकाल हैं। राग आत्माके स्वभावसे विरुद्ध है, उस अपेक्षासे उसे भी विरुद्ध धर्म कहा जायेगा, किंतु यहाँ जो विरुद्ध धर्म कहे हैं उनमें वह नहीं आयेगा। यह विरुद्धधर्म तो आत्माका नित्य स्वभाव है।

❀ परसे भिन्नता और अपने द्रव्य-गुण-पर्यायके साथ एकता होकर जो निर्मल परिणमन हुआ वह "विरुद्धधर्मत्व शक्तिवाले आत्माका अविरुद्ध परिणमन" है। और—

❀ स्वभावकी एकताको भूलकर रागादिमें एकता होनेसे जो

मलिन परिणमन हुआ वह विरुद्धधर्मत्व शक्तिवाले आत्माका विरुद्ध परिणमन" है।

—इसप्रकार आत्माकी शक्तियोंको पहिचानकर उस ओर उन्मुख होनेसे शक्तियोंका निर्मल परिणमन होता है; अज्ञानीको निर्मल परिणमन नहीं होता। रागके साथ तद्रूप होकर परिणमित हो ऐसा आत्माका स्वभाव नहीं है; किन्तु रागसे भिन्नतारूप तथा आनन्दमें एकतारूप परिणमित हो ऐसा आत्माका स्वभाव है। जो अपने ऐसे स्वभावको पहिचाने उसे वैसा परिणमन हुए बिना नहीं रहता।

ज्ञान–आनन्द स्वभावमें एकता (-तद्रूपता), और रागादिसे भिन्नता (-अतद्रूपता)—इसप्रकार आत्मामें परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। देखो, यह आत्माकी विरुद्ध धर्मत्व शक्ति! यह विरुद्धधर्मत्व-शक्ति ऐसी है कि जो आत्माका परसे भिन्न परिणमन तथा स्वभावमें एकता कराके आत्माको लाभरूप हो। विरुद्धधर्मत्व शक्ति कहीं विरोध उत्पन्न करनेवाली नहीं है, परन्तु वह तो रागादि विरोधी भावोंका नाश करके अविरुद्ध शान्ति देनेवाली है।

आत्माकी अनंत शक्तियोंमें ऐसी तो कोई शक्ति नहीं है कि जिसके साथ अभेद परिणमनसे आत्माका अहित हो! आत्माके गुणोंके साथ अभेद परिणमन होनेसे लाभ ही होता है और उसीको आत्मा कहा है; बीचमें विकारका परिणमन हो वह गुणोंके साथ अभेद नहीं है इसलिये वह आत्मा नहीं है; आत्माके गुणोंका वह सच्चा परिणमन नहीं है। गुणके साथ एकतासे गुणकी (निर्मलपर्यायकी) उत्पत्ति होती है। गुणकी ओर देखनेसे लाभ ही होता है और गुणकी ओर न देखे उसे विकार होता है; वह विकार कहीं गुणके कारण नहीं है, वह तो उस पर्यायका अपराध है।—इसप्रकार निर्दोष गुणोंसे परिपूर्ण आत्माका भान करे तो मुक्ति हो। सम्यक्त्वीको दृष्टि अपेक्षासे तो मुक्त ही कहा है।

प्रश्नः—नरकमें भी मुक्ति?

उत्तरः—हाँ; ऐसे शुद्धस्वभावकी दृष्टिवाला सम्यक्त्वी दृष्टि–

अपेक्षासे मुक्त ही है। नरक और नरककी ओरका किंचित् वेदन—उन दोनोंसे अपने स्वभावका अतत्‌रूप अनुभव करता है, इसलिये स्वभाव-दृष्टिकी अपेक्षासे तो सम्यक्त्वी सर्वत्र मुक्त ही है; और उस दृष्टिके बलसे एकाध भवमें ही वह साक्षात् मुक्त सिद्ध परमात्मा हो जायेगा।

अहो! पहले आत्माके ऐसे स्वभावका अपूर्व प्रेम आना चाहिये... उसकी बात सुनते हुए भी उत्साह आना चाहिये......भाई! जो अंतर स्वरूपके प्रेमकी बात है वही तुझसे कही जा रही है, उसका तू प्रेम पूर्वक श्रवण कर! बाह्य पदार्थोंके प्रति प्रेम कर—करके तू अनंत-कालसे दुःखी हुआ है; अब अपने आत्माका प्रेम कर! जगत्‌के पदार्थों-की अपेक्षा अपने आत्मासे ही अधिक प्रेम करेगा तो तेरा अपूर्व कल्याण हो जायेगा।

[—यहाँ २८ वीं विरुद्धधर्मत्व शक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

[२९-३०]

तत्त्वशक्ति और अतत्त्वशक्ति

चैतन्यमूर्ति आत्मा ऐसा है कि उसके स्वभावघरमें जाकर दरवाजा बंद कर देनेपर उसमें मोह-राग-द्वेष प्रवेश नहीं कर सकते। ज्ञानीको वे रागादिभाव अपने स्वभावरूप किंचित् भी भासित नहीं होते, स्वरूपसे बाहर ही भासते हैं।

मोक्षके लिए क्या करना ? —कि स्वभावसन्मुख होकर तद्रूप परिणमन करना। सम्यक्त्वका क्षणे क्षणे मोक्षके तरफ ही परिणमन हो रहा है।

तद्रूपपना और अतद्रूपपना—ऐसे दो विरुद्ध धर्म आत्मामें हैं; यह बात २८ वीं शक्तिमें कही है; अब २९ वीं तथा ३० वीं शक्तिमें उन दोनोंका कार्य बतलाते हैं। "तद्रूप भवनरूप ऐसी तत्त्वशक्ति है;" और अतद्रूप भवनरूप ऐसी अतत्त्वशक्ति है।" ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयमेव ऐसी शक्तिवाला है।

भवनरूप अर्थात् रहने योग्य अथवा परिणामरूप; ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने चेतनस्वभावरूप रहकर ही परिणमित होता है किन्तु

जड़रूप नहीं होता। इसप्रकार चेतनस्वभावरूप रहनेकी शक्ति सो तत्त्वशक्ति है, और चेतन मिटकर जड़रूप न होनेरूप शक्ति वह अतत्त्वशक्ति है। ऐसी दोनों शक्तियाँ आत्मामें त्रिकाल हैं। आत्मा ज्ञान मात्र है ऐसा कहनेसे उसमें इन दोनों शक्तियोंका भी समावेश हो जाता है।

आत्मामें अपने ज्ञानादिस्वरूप होनेकी शक्ति है, किंतु पररूप होनेकी शक्ति नहीं है—पररूप न होनेकी शक्ति है। और वास्तवमें शुद्ध आत्म द्रव्यमें तो पुण्य–पापरूप परिणमित होनेकी भी शक्ति नहीं है; पुण्य–पापसे अतद्रूप रहनेकी उसकी शक्ति है। यदि त्रिकाली स्वभाव एकसमयके विकारमें तद्रूप हो जाये तो वह विकार दूर हो ही नहीं सकता; अथवा तो विकार दूर होने पर सम्पूर्ण स्वभावका ही नाश होजायेगा; इसलिये त्रिकाली शुद्ध स्वभावकी विकारके साथ तद्रूपता नहीं है। समयसारकी छठवीं गाथामें भी कहा है कि—शुद्ध द्रव्यके स्वभावकी दृष्टि पूर्वक देखनेसे ज्ञायक भाव शुभाशुभ विकाररूप परिणमित नहीं होता। आत्माकी शक्तियोंमें विकाररूप परिणमित होनेका भी स्वभाव नहीं है; तो फिर आत्मा देहादिके कर्तृत्वरूप परिणमित हो यह कैसे हो सकता है ? विकार वह त्रिकाली शक्तिका भाव नहीं है किंतु क्षणिक पर्यायका भाव है।

आत्मामें अनंतशक्तियाँ होने पर भी उसमें ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो परका कार्य करे अथवा विकार उत्पन्न करे। हाँ, पररूप या विकाररूप परिणमित न हो ऐसी उसकी अतत्त्व शक्ति है; और स्वभावरूप परिणमित हो ऐसी तत्त्वशक्ति है।

यहाँ तो अनेकान्त स्वभावी आत्मतत्त्व बतलाना है, आत्माका स्वभाव बतलाना है, आत्माकी शक्तियाँ बतलाना है, इसलिये उसमें अशुद्धता नहीं आती। यद्यपि राग-द्वेष-दुःख आदि विकार आत्माकी ही एक समयपर्यंतकी योग्यता है किंतु उस विकारकी योग्यतासे पहिचानने पर आत्मतत्त्वकी प्रतीति नहीं होती। आत्माके त्रिकाली स्वभावमें अथवा अनंतशक्तियोंमें विकारकी योग्यता भी नहीं है। जैसा स्वभाव

है वैसी ही पर्याय हो उसे आत्मतत्त्व कहते हैं। धर्म करनेवालेको कहाँ दृष्टि डालना चाहिये ?—कि जहाँसे धर्म आये वहाँ दृष्टि डालना चाहिये। देहसे या विकारमेंसे धर्म आता है एक समय जितनी विकारकी योग्यताका आश्रय करके श्रद्धा करनेसे मिथ्यात्व होता है। मेरा आत्मा तो त्रिकाल ज्ञान, सुख एवं श्रद्धारूप होनेकी शक्तिवाला है, विकाररूप अथवा पररूप न हो ऐसा स्वभाव है,—इसप्रकार शुद्धस्वभावके आश्रयसे श्रद्धा करने पर सम्यक्त्वादि धर्म होता है।

पररूप अथवा कर्मरूप होनेकी शक्ति तो आत्माके द्रव्यमें—गुणमें या पर्यायमें एक समय भी नहीं है, उनसे तो आत्मा सर्वथा अतद्रूप ही परिणमित होता है।

पर्यायमें जो विकार है उसरूप होनेकी शक्ति भी आत्माके द्रव्यमें या गुणमें नहीं है, वह तो मात्र एक समय जितनी पर्यायकी ही योग्यता है। त्रिकाली द्रव्य–गुण उस विकारके साथ तद्रूप–एकाकार नहीं हो गये हैं।

त्रिकाली द्रव्य–गुणकी ओर ढल कर जहाँ पर्याय उसके साथ एकाकार-तद्रूप हुई, वहाँ उस पर्यायमें विकाररूप परिणमन भी नहीं रहा; वह पर्याय विकारके साथ अतद्रूप परिणमित हो गई। इसप्रकार स्वशक्तिके अवलम्बनसे पर्याय शुद्धरूप परिणमित हो ऐसी तत्त्वशक्ति, और विकाररूप नहीं परिणमे ऐसी अतत्त्वशक्ति आत्मामें है। आत्मा स्वभावी है और यह शक्तियाँ स्वभाव हैं। आत्मा स्वभाववाला है कि अपने स्वभावमें (—द्रव्य, गुण और शुद्ध पर्यायमें) तद्रूप—एकाकार होकर परिणमित होता है। और विकाररूपसे अर्थात् उसरूप परिणमित नहीं होता। अहो ! विकाररूप परिणमित होनेका आत्माका स्वभाव ही नहीं है तो फिर कर्म उसे विकार करायें यह बात कहाँ रही ? जिसकी दृष्टि कर्म पर या विकार पर है उसे आत्माके शुद्ध स्वभावकी दृष्टि नहीं है; विकार पर्यंत ही आत्माका अनुभवन करता है वह मिथ्यादृष्टि है। उसे आचार्यदेव समझाते हैं कि अरे भाई ! तेरा स्वभाव विकाररूप परिणमनेका नहीं है, तेरा स्वभाव तो शुद्धचैतन्यरूप

परिणमित होनेका ही है। उस स्वभावकी ओर जाकर उसकी सम्यक् श्रद्धा–ज्ञान करना तथा उसमें लीनता करना वही मोक्षका मार्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं है। बीचमें शुभभाव हो किंतु वह मोक्षमार्ग नहीं है तथा उसरूप परिणमित होनेका आत्माका स्वभाव नहीं है। यदि उस शुभको मोक्षमार्ग माने अथवा उसमें तद्रूपता माने तो उस जीवने शुभ विकाररूप परिणमित न होनेरूप आत्मस्वभावको नहीं जाना इसलिये वह मोक्षमार्गसे भ्रष्ट है।

जिस प्रकार–जब किसीको भूत आदिका भय लगे तब मकानके द्वार बन्द कर देता है; उसी प्रकार जिसे विकारका अथवा भवका भय लगा है ऐसा जीव अतत्त्वशक्तिकी प्रतीति द्वारा आत्माके द्वार बन्द कर देता है कि—विकारका मेरे स्वभावमें प्रवेश ही नहीं है, मेरा आत्मा विकारके साथ अतद्रूप है, इसलिये मेरे आत्माके द्वार विकारके लिये बन्द हैं। मकानके द्वार बन्द कर दे तथापि उसमें तो भूत प्रविष्ट भी हो सकता है किंतु यह चैतन्यमूर्ति आत्मा ऐसा है कि उसके स्वभावगृह में प्रविष्ट होकर मिथ्यात्वरूपी द्वार बन्द करनेसे उसमें राग द्वेष–मोहरूपी भूत प्रवेश नहीं कर पाते; ज्ञानीको वे रागादि अपने स्वभावरूप किंचित् भासित नहीं होते।

ज्ञानीको कोई परभाव स्वभावमें तद्रूपरूप ही भासित नहीं होते, किन्तु अतद्रूपरूप ही भासित होते हैं; इसलिये ज्ञानी रागादिमें तद्रूप होकर–एकाकार होकर परिणमित होते ही नहीं। जो रागादिमें तद्रूप होकर परिणमन करता है उसे आत्माकी प्रतीति नहीं है। अहो! एक भी शक्तिसे आत्माका स्वरूप भली भाँति समझे तो उसमें अनंत शक्तियोंकी प्रतीतिका समावेश हो जाता है।

चैतन्यका चैतन्यरूप ही होना सो तत्त्वशक्ति है; और चैतन्यका जड़रूप न होना सो अतत्त्वशक्ति है।

"जड़ ते जड़ त्रण कालमां, चेतन चेतनरूप;
कोई कोई पलटे नहीं, छोडी आप स्वरूप।"

चेतन त्रिकाल चेतनरूप रहकर परिणमन करता है; और जड़ त्रिकाल जड़रूप रहकर परिणमित होता है। जड़ पलट कर कभी चेतनरूप नहीं होता और चेतन पलट कर कभी जड़रूप नहीं होता। —ऐसा ही वस्तुका स्वभाव है। आत्मा चेतन और शरीर जड़;—दोनों त्रिकाल भिन्न–भिन्न ही परिणमित हो रहे हैं;कभी एक हुए ही नहीं। तदुपरान्त यहाँ तो अंतरंग भावकी सूक्ष्म बात है कि चेतन अपने चैतन्यस्वभावरूप ही परिणमित होता है और रागादिरूप परिणमित नहीं होता—ऐसा उसका स्वरूप है।

यदि तत्‌शक्ति न हो तो आत्मा अपने चेतनस्वरूप नहीं रह सकता, चेतनरूपसे वह पृथक् हो जायेगा और यदि अतत्‌शक्ति न हो तो आत्मा शरीरादिसे भिन्न नहीं रह सकेगा; जड़रूप हो जायेगा अथवा क्षणिक विकाररूप ही सम्पूर्ण स्वभाव हो जायेगा।—इसप्रकार आत्माकी तत्-अतत् शक्तियोंको समझने पर जड़से और विकारसे भिन्न चेतन–स्वभाव समझमें आता है; अपना आत्मा चेतनस्वभावमय रहता है और विकारमय नहीं होता—ऐसा भेदज्ञान होता है–वह धर्म है। पश्चात् उस धर्मकी भूमिकामें जो-जो शुभ-अशुभ परिणाम आयें उन्हें धर्मी जीव अपने स्वभावसे अतद्रूप ज्ञेयरूपसे जानता है; इसलिये उसे स्वभावकी ही अधिकता रहती है और विकारकी हीनता होती जाती है ऐसी अंतरदशा हुए बिना व्रत या त्यागके शुभपरिणाम करे तो उसका कोई मूल्य नहीं है; उसका फल भी संसार ही है। वर्तमान परिपूर्ण शुद्ध चिदानंद स्वभावकी उपादेय बुद्धि होने पर समस्त परभावोंमें हेय बुद्धि होगई, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है; और वही चारित्रकी भूमिका है। ऐसी भूमिका बिना आत्मा धर्ममें प्रवेश नहीं कर सकता।

अज्ञानी मुख्य वस्तु स्वरूपको समझनेसे पूर्व व्रत तथा त्यागकी बातें करते हैं और कहते हैं कि—"समझनेके बाद भी यही करना है

न ! इसलिये हमें अभीसे प्रारम्भ कर देना चाहिये; यही करते-करते आत्मा समझमें आजायेगा।"—किन्तु उनकी सारी बात मिथ्या है। आत्माको समझनेके बाद भी तुम्हारे माने हुये व्रतादि नहीं आयेंगे, शुद्धतारहित अकेले रागको तुम व्रतादि मानते हो, किन्तु ऐसा व्रतका स्वरूप है ही नहीं। और अपने माने हुए मात्र शुभरागरूप व्रतादि अनंतकाल तक करते रहो तथापि उनसे आत्माकी यथार्थ समझ नहीं हो सकती। भाई ! रागका मार्ग भिन्न है और धर्मका मार्ग भिन्न है। तुमने रागको धर्मका मार्ग मान लिया है, उसमें तो विपरीत मान्यताका पोषण होता है।

आत्मा परके साथ कभी तद्रूप हुआ ही नहीं है, इसलिये परका त्याग करना तो आत्मामें नहीं है। और राग अपनी पर्यायमें होता है; उस रागका त्याग भी "इस रागको छोड़ दूं"—ऐसे लक्षसे नहीं होता; किन्तु राग रहित शुद्ध चिदानन्द स्वभावमें एकाग्रता होने पर सहज ही रागरहित परिणति होजाती है और विकार छूट जाता है,—उसका नाम विकारका त्याग है; इसलिये प्रथम आत्माके शुद्धस्वभावकी प्रतीति की हो तभी उसमें एकाग्रता द्वारा विकारका त्याग हो सकता है। इसके अतिरिक्त जो जड़का त्याग करना मानता है वह तो आत्माको जड़के साथ एकमेक मानता है इसलिये उसने जड़से भिन्न आत्माको नहीं पहिचाना। जैसे—कोई वणिकसे कहे कि तू माँसका त्याग कर दे,—तो उसने वणिकको नहीं पहिचाना; क्योंकि वणिकका स्वभाव तो माँसके त्यागरूप ही है; वणिकने कभी माँसका ग्रहण ही नहीं किया है तो वह छोड़ेगा क्या ? उसीप्रकार जो अज्ञानी परका त्याग करना मानता है उसने परसे भिन्न आत्माको पहिचाना ही नहीं है; आत्माका स्वभाव तो परके त्यागरूप ही है। आत्माने परवस्तुको ग्रहण ही नहीं किया है तो छोड़ेगा किसे ? यहाँ तो स्वभाव दृष्टिमें "विकारका त्याग करूं"—ऐसा भी विकल्प नहीं है; क्योंकि स्वभावमें विकारका ग्रहण हुआ ही नहीं है।—ऐसे स्वभावमें जो पर्याय अभेद हुई वह पर्याय भी स्वयमेव विकारके अभावरूप ही है; वह स्वभावमें

तद्रूप तथा विकारमें अतद्रूप है। आत्मा जड़से अतद्रूप है इसलिये जड़के संग रहित अकेले आत्माको लक्षमें लेनेसे वह शुद्ध ही है, उसमें विकार नहीं है।

आत्मामें तद्रूप परिणमित होनेकी शक्ति है, अर्थात् जैसा शुद्ध स्वभाव है उसीरूप परिणमित होनेकी शक्ति है, और वह शक्ति आत्माकी होनेसे उसके समस्त गुणोंमें भी तद्रूप परिणमनस्वभाव है। इसलिये ज्ञानका ज्ञान रूपसे परिणमन हो वह तद्रूप परिणमन है किंतु अज्ञानरूप परिणमन हो तो उसे तद्रूप नहीं कहा जा सकता। उसीप्रकार श्रद्धा, आनन्द, चारित्रादिके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये।—इसप्रकार समस्त गुणोंका तद्रूप परिणमनस्वभाव है और विकारके साथ अतद्रूपता है। ऐसे स्वभावको न जाननेवाले अज्ञानी रागमें तद्रूप एकाकार होकर परिणमन करते हैं और ज्ञानी तो स्वभावमें ही तद्रूपतारूप परिणमन करते हैं। इसप्रकार निर्मल परिणमन सहित शक्तियाँ ही आत्मा है। आत्मामें शुद्धतारूप होनेकी शक्ति तो त्रिकाल है, और अशुद्धतारूप होनेकी योग्यता तो मात्र एक समय पर्यंतकी पर्यायमें है, उसे वास्तवमें आत्मा नहीं कहते; क्योंकि उसमें आत्माकी प्रसिद्धि नहीं है।

प्रश्नः—यह बात समझनेसे समाजको क्या लाभ ?

उत्तरः—जिससे एक जीवको लाभ होता हो उससे सभीको लाभ होता है! समाज कोई भिन्न वस्तु नहीं है किंतु व्यक्तियोंका समूह ही समाज है। इसलिये व्यक्ति भी समाजका एक अंश है। जिससे एक व्यक्तिको लाभ हो उससे सबको लाभ होता है; इसलिये जो एक व्यक्तिके हितका मार्ग है वही समाजके हितका मार्ग है। व्यक्तिके हितका मार्ग भिन्न हो और समाजके हितका भिन्न हो—ऐसा नहीं है।

इसलिये, इसे समझकर स्वयं अपना हित साध लेना चाहिये।

हितका यह एक ही मार्ग है। समाजके जितने जीव इसे समझेंगे उन्हींका कल्याण हो सकेगा।

पर पदार्थमें आत्मा कुछ नहीं कर सकता। या तो "पैसा ही मेरा परमेश्वर है और मैं उसका दास हूँ"–ऐसी तीव्र ममता करता है, या फिर ममत्व कम करके दानादिके भाव करता है; किंतु उसमें भी कहीं धर्म नहीं है। मैं तो सबसे भिन्न चिदानन्द स्वरूप हूँ—इसप्रकार स्वरूपका भान करके परकी ममताका अभाव करना तथा स्वरूपमें स्थिर होना उसका नाम धर्म है; इसके अतिरिक्त लाखों–करोड़ों उपायोंसे भी धर्म नहीं हो सकता।

प्रश्नः—यह बात तो बड़े बड़े आचार्योंको भी कठिन मालूम हो ऐसी है ?

उत्तरः—भाई ! बड़ा किसे कहा जाये ? क्या विशाल शरीर वालोंको बड़ा कहना चाहिये ? तब तो मत्स्य भी बड़े बड़े हजार योजन लम्बे होते हैं; तो क्या उन्हें बड़ा कहोगे ? क्या जिसके पास अधिक सम्पत्ति हो उसे बड़ा कहोगे ? क्या जिसका पद बड़ा हो उसे बड़ा कहना चाहिये ? तब तो मांसाहारी पापी जीव भी पैसेमें तथा पदवीमें बड़े होते हैं। क्या उन्हें बड़ा मानोगे ?—नहीं; शरीर, लक्ष्मी, या पुण्य द्वारा धर्ममें बड़ापन नहीं माना जाता। धर्ममें तो धर्मसे ही बड़ापन माना जाता है। जिसे धर्मका भान भी न हो वह भले ही समाजमें आचार्य कहलाता हो, तथापि उसे धर्ममें बड़ा नहीं मानते-समयसारकी चोथी गाथामें कहते हैं कि—परसे भिन्न एकत्व स्वरूप आत्माके भान बिना समस्त अज्ञानी जीव परस्पर आचार्यपना बतलाते हैं। सच्चे तत्त्वसे विरुद्धप्ररूपणा करके अज्ञानी एक दूसरेके अज्ञानको पोषण देते हैं, वह तो विपरीत आचार्यपना है। जगत्के जीव मानें या न मानें उसकी यहाँ चिन्ता नहीं है; संसार तो इसी तरह ज्यों का त्यों चलता ही रहेगा, यहाँ तो स्वयं सत्य समझकर अपना हित कर लेनेकी बात है।

भाई, तू अनन्तबार मनुष्य हुआ बड़ी-बड़ी पदवियाँ तथा राज्यपद भी अनन्तबार प्राप्त हुए; किंतु यह चैतन्य राजा स्वयं कौन है—उसकी बात भी तूने कभी प्रेम पूर्वक नहीं सुनी। परमें तेरा पद नहीं है, विकार भी तेरा सच्चा पद नहीं है, वे तो सब अपद हैं...अपद हैं इसलिये उनसे विमुख हो और इस अनन्त शक्ति सम्पन्न शुद्ध चैतन्यपदमें प्रवेश कर! एक बार अपने निजपदकी अनन्त ऋद्धिका निरीक्षण करे, तो बाह्य ऋद्धिकी महिमा छूट जाये। तेरी चैतन्य ऋद्धि सर्वज्ञ भगवानके समान है, सर्व शास्त्र तेरे चैतन्यपदकी महिमा गाते हैं। सुन—

"जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहिं कांई।
लक्ष थवाने तेहनो, कह्यां शास्त्र सुखदाई" ॥

भगवान सर्वज्ञ जिनदेव और तेरा आत्मा परमार्थतः समान हैं; 'जिन' और 'निज' दोनों स्वभावरूपसे समान हैं; स्वभावमें किंचित् अंतर नहीं है। ऐसे स्वभावका लक्ष करानेके लिये ही सर्व शास्त्र रचे गये हैं। अंतर्मुख होकर ऐसे चैतन्यपदको लक्षमें लेना ही सर्वशास्त्रोंका सार है...ऐसे चैतन्यपदको जिसने लक्षमें नहीं लिया उसने शास्त्रोंका तात्पर्य नहीं जाना।

आत्माके ज्ञान स्वभावमेंसे ही भगवानको सर्वज्ञ पदकी प्राप्ति हुई और वाणी द्वारा उस सर्वज्ञ स्वभावका कथन किया। जिसने उस सर्वज्ञ स्वभावको लक्षमें लिया वह भगवानके मार्गमें सम्मिलित हुआ, वह साधक होगया और उसीने भगवानका उपदेश यथार्थरूपसे जाना।

लोग पूछते हैं कि क्या करें?

देखो, यहाँ क्या करना वही कहा जारहा है। "लक्ष थवाने तेहनो..." तेरा शुद्ध चैतन्यपद सर्वज्ञ स्वभावसे परिपूर्ण है; उसका तू लक्ष कर। श्रवण-पठन-विचार-मनन-उन सबमें इस शुद्ध चैतन्यपदको लक्षमें रख। कहाँ लक्ष करने योग्य है और कहांसे लक्ष उठाने जैसा है उसे समझ। बाह्यमें तेरा पद नहीं है; बाह्यमें लक्ष करके अभी तक

भटका, इसलिये वहाँसे लक्ष उठा और अंतरमें तेरा चैतन्यपद सर्वज्ञ समान है—उसमें लक्ष कर। अंतर्मुख लक्ष करनेसे ही कल्याण है; इसलिये वही करना है।

देखो, यह सीधीसादी बात है।

तू है या नहीं ? कि—हाँ।

पर है या नहीं ?—हाँ।

तू और पर पृथक् हो या एक ?—पृथक्।

जो पृथक् हैं उनके कार्य पृथक् होते हैं या एक ?—पृथक्।

—इसप्रकार जो पृथक् हैं उनके कार्य भी पृथक् होते हैं; इसलिये पृथक् पदार्थोंकी दृष्टि छोड़! उनका मैं कुछ करता हूँ यह मान्यता छोड़; और अपनेमें देख।

तुझमें जो विकार है वह नित्य स्थायी है या क्षणिक ?

—विकार तो क्षणिक है।

और तेरा स्वभाव नित्य स्थायी है या क्षणिक ?

—आत्माका स्वभाव तो नित्य स्थायी है।

बस ! क्षणिक विकार जितना आत्मा नहीं है; आत्मा तो नित्यस्थायी ज्ञानादि अनन्त गुणोंका भंडार है; उस अनंत गुणरूप स्वभावको देख ! उस स्वभावमें एकाकार हो और विकारकी एकता छोड़ ! —यही धर्म तथा हित है। आत्माको परसे भिन्न जानकर स्वभावमें एकतारूप परिणमन करे वह धर्मी— अंतरात्मा है; और जो परके साथ एकता मानकर विकारमें एकतारूप परिणमन करे वह अधर्मी—बहिरात्मा है।

अंतर् स्वरूपका अवलोकन करनेसे विकारकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि स्वभावमें विकार नहीं है; विकारके साथ स्वभावकी एकता नहीं है। बाह्य दृष्टिसे संसार उत्पन्न हुआ है; अंतरमुख होकर स्वभावका अवलोकन करनेसे उसका नाश हो जाता है।

"उपजे मोह विकल्पसे समस्त यह संसार ।
अंतर्मुख अवलोकतें विलय थतां नहि वार ॥"

अहो ! चैतन्य स्वभावमें तो त्रिकाल आनन्दरूप होनेकी ही शक्ति है; किन्तु जीव अपनी उस शक्तिको नहीं देखता इसीलिये उसे आनन्दका परिणमन–वेदन नहीं होता; और बाह्य दृष्टिसे वह दुःखका ही वेदन करता है; वह दुःख वेदनेका उसका स्वभाव नहीं है । दुःख तो एक समय मात्र पर्यायमें है और आनन्दस्वभावसे द्रव्य–गुण त्रिकाल परिपूर्ण हैं । अकेले सिद्धोंमें नहीं किन्तु सर्व आत्माओंमें ऐसा आनन्दस्वभाव भरा है; उस स्वभावमें देखे इतनी देर है ।

देखो, मुमुक्षु विचार करता है कि मुझे तो मोक्षकी आवश्यकता है मुझे भव (संसार) नहीं चाहिये । इसका अर्थ यह होता है कि आत्मामें मोक्ष होनेका स्वभाव है किन्तु भव होनेका स्वभाव नहीं है । भवकी उत्पत्ति न हो ऐसा आत्माका स्वभाव है । ऐसे आत्मस्वभावको लक्षमें लिये बिना–"मोक्षकी आवश्यकता है और भव नहीं चाहिये"— ऐसी भावना सच्ची नहीं होती । भवके कारणरूप विभावको जो अपने स्वभावमें मानता है या शुभाशुभ रागको हितकर मानता है उसे भवसे छूटनेकी सच्ची भावना ही नहीं है, इसलिये सच्ची मुमुक्षुता उसे नहीं हुई है । जिसमें भव नहीं है–ऐसे आत्मस्वभावकी ओर उन्मुख हुए बिना भवरहित होनेकी सच्ची भावना नहीं होती ।

प्रश्नः—सम्यक्त्वीको भवरहित स्वभावकी श्रद्धा होने पर भी उसे एकाध भव तो होता ही है ।

उत्तरः—अनंत शक्तिके पिंडरूप भव रहित स्वभावकी दृष्टिमें प्रति क्षण उसे मोक्षरूप परिणमन ही हो रहा है; वहाँ एकाध भव रहा है उसका वह ज्ञाता है; स्वभावोन्मुख वृत्तिमें उसे भवकी ओरके परिणमनकी प्रधानता नहीं है किन्तु मोक्षकी ओरके परिणमनकी ही प्रधानता है; और जिसकी प्रधानता हो उसीका अस्तित्व माना जाता है, इसलिये सम्यक्त्वीको भव नहीं है ।

"आत्माको जाना किन्तु आनंद नहीं आया अथवा अनंतभवकी शंका दूर नहीं हुई"—ऐसा कोई कहे तो उसने आनंदके साथ आत्माको तद्रूप नहीं माना है, किंतु उससे पृथक् माना है अर्थात् उसने आत्माको जाना ही नहीं है। अनन्त गुणोंके साथ तद्रूप ऐसे आत्माको जाननेसे उसके अनन्त गुणोंमें तद्रूप अर्थात् जैसा स्वभाव है उस स्वभावरूप परिणमन होता है; आनन्दका वेदन होता है और भवकी शंका दूर हो जाती है।—ऐसे साधकको अल्प विकार रहे उसकी मुख्यता न होनेसे (—उसमें तद्रूपता न होनेसे) वह अभाव समान ही है।

आत्माकी तद्रूप परिणमनरूप शक्तिको जानने पर भी पर्यायमें मात्र विकाररूप ही परिणमन है—ऐसा जो माने उसने वास्तवमें स्वभावके साथ तद्रूप आत्माको जाना ही नहीं है; उसने तो आत्माको विकारके साथ ही तद्रूप माना है। यदि यथार्थ जाने तो गुणके परिणमनमें भी विकारसे अतद्रूपता होकर स्वभावमें तद्रूपता हुए बिना न रहे, क्योंकि ऐसा ही आत्माका स्वभाव है। आत्मामें ज्ञान—आनन्द—श्रद्धादि अनन्त गुण हैं; उन अनन्त गुणोंके साथ तद्रूप होकर परिणमित हो ऐसा आत्माका स्वभाव है। ज्ञान तद्रूप परिणमित हो और आनन्दादि का परिणमन न हो—ऐसा नहीं होसकता। अभेद परिणमनमें समस्त गुणोंका अंश सम्यक्रूप परिणमित होता है—ऐसा आत्मस्वभाव है।

[—यहाँ २९ वीं तत्त्वशक्ति और ३० वीं अतत्त्वशक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

[३१–३२]

एकत्वशक्ति तथा अनेकत्वशक्ति

धर्मात्माने निज शुद्धात्म द्रव्यका स्वीकार करके परिणतिको उस ओर उन्मुख किया है, इसलिये उसका परिणमन प्रतिक्षण मुक्तिकी ओर ही हो रहा है, वह मुक्ति पुरीका प्रवासी हुआ है; इसलिये "अब मुझे अनन्त संसार होगा ?" ऐसी शंका उसे उठती ही नहीं। उसे भवका सन्देह दूर हो गया है और वह मोक्षके पथ पर अग्रसर हुआ है! उसकी श्रद्धाका बल स्वोन्मुख हुआ है, उसके ज्ञानने शुद्ध द्रव्यको स्वज्ञेय बनाया है, उसका पुरुषार्थ स्व द्रव्योन्मुख हो गया है; उसको कषायोंका वेदन छूटकर आत्माके शांत रसका वेदन हुआ है; इसप्रकार सम्पूर्ण परिणतिमें नई जागृति आ गई है...और वह जीव भगवानके मार्गमें सम्मिलित हुआ है।—ऐसी है...धर्मीकी अपूर्व दशा!

ज्ञानस्वरूप आत्मामें अनन्त शक्तियाँ होनेसे वह अनेकान्तस्वरूप है, उसका यह वर्णन चल रहा है। तीस शक्तियोंका वर्णन हो

चुका है; अब एकत्व शक्ति तथा अनेकत्व शक्तिका वर्णन करते हैं।

"अनेक पर्यायोंमें व्यापक ऐसे एकद्रव्यमयपनेरूप एकत्व शक्ति है।" और "एकद्रव्यसे व्याप्य जो अनेक पर्यायें—उन—मय—पनेरूप अनेकत्व शक्तिहै।" ज्ञानभाव आत्मा स्वयमेव ऐसी शक्तियोंवाला है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा कहीं परमें या विकारमें व्याप्त नहीं है किंतु अपने अनेक गुण—पर्यायोंमें एकरूपसे व्याप्त है। धर्मी जानता है कि मेरी अनेक पर्यायोंमें मेरी आत्मा ही व्याप्त है, कर्म या विकार मेरी पर्यायमें व्याप्त नहीं है। विकार तो दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाता है, उसमें ऐसी शक्ति नहीं है कि बढ़कर समस्त पर्यायोंमें व्याप्त हो; आत्मस्वभावमें ही ऐसी शक्ति है कि सर्व पर्यायोंमें व्याप्त होता है। ऐसा भान होने पर व्यापक—व्याप्यकी एकतासे (द्रव्य पर्यायकी एकतासे) निर्मल पर्यायें ही होती हैं। अनेक निर्मल पर्यायोंमें व्याप्य होने पर भी आत्मा स्वयं द्रव्यरूपसे तो एक ही होती है, द्रव्यरूपमें कहीं स्वयं अनेक नहीं हो जाता ऐसी उसकी एकत्व शक्ति है। और द्रव्यरूपसे एक होने पर भी, अनेक पर्यायोंरूपसे भी स्वयं ही होता है ऐसी उसकी अनेकत्व शक्ति है। इसप्रकार एकपना तथा अनेकपना दोनों शक्तियाँ आत्मामें एक साथ हैं। उसमें "एकत्व" वह द्रव्यार्थिकनयसे है और उसके साथ "अनेक पर्यायोंमें व्यापक" ऐसा कहकर पर्याय भी बतलाई है। तथा दूसरे बोलमें "अनेकत्व" कहा, वह पर्यायार्थिकनयका विषय है और उसके साथ "एक द्रव्यसे व्याप्य" ऐसा कहकर द्रव्यको भी साथ ही रखा है। द्रव्यका लक्ष्य छोड़कर मात्र अनेकपना माने तो वह यथार्थ नहीं है। उसी प्रकार निर्मल पर्यायोंसे रहित मात्र द्रव्यको माने तो वह भी यथार्थ नहीं है। द्रव्य और निर्मल पर्याय उन दोनोंको व्यापक—व्याप्यरूपसे साथ ही साथ रखकर आचार्यदेवने अद्भुत वर्णन किया है।

आत्मा परसे और विकारसे तो अतत् है इसलिये उसमें वह व्याप्त नहीं है—वह बात पहले बतलाई, तो आत्मा कहाँ रहता है?

—कहते हैं कि अपनी अनेक निर्मल पर्यायोंमें रहता है। आत्मा फैलकर—विस्तारको प्राप्त होकर परमें व्याप्त नहीं होता किंतु अपनी पर्यायमें व्याप्त होता है। यहाँ निर्मल पर्यायोंकी ही बात है। एकके बाद एक पर्यायमें शुद्धता बढ़ती जाये तथापि वे सब पर्यायें आत्मामें ही अभेद होती हैं। अनेक पर्यायें होनेसे आत्माकी एकता नहीं टूटती। सम्यग्दर्शनके प्रारम्भमें भी वही है और केवलज्ञानके समय भी वही है;—इसप्रकार अनेक निर्मल पर्यायोंरूप होने पर भी स्वयं चैतन्य स्वरूपसे एक ही है। ज्ञान पर्यायमें आत्मा, आनंदमें आत्मा, इसप्रकार अनंत गुणोंकी पर्यायमें विद्यमान होने पर भी ज्ञानका आत्मा भिन्न, दर्शनका आत्मा भिन्न और आनन्दका आत्मा भिन्न, इसप्रकार कहीं आत्माका भिन्नत्व नहीं है, आत्मा तो एक ही है। "जगतमें सब मिलकर एक ही आत्मा (अद्वैत ब्रह्म) है" यह बात मिथ्या है, उसकी यहाँ बात नहीं है। जगतमें तो अनन्तानन्त जीवात्मा भिन्न-भिन्न हैं, किंतु उनमेंसे प्रत्येक व्यक्तिका अपना आत्मा अपने अनन्त-गुण पर्यायोंमें एकरूपसे विद्यमान है तथा परसे भिन्नरूप है। परमें तेरा आत्मा नहीं है इसलिये परका लक्ष छोड़; देहमें-वाणीमें-मनमें "आत्मा" ऐसे शब्दमें-कर्ममें या रागमें कहीं तेरा आत्मा नहीं है, इसलिये उन सबका लक्ष छोड़; तेरे अनेक गुण पर्यायों तेरा आत्मा विद्यमान होने पर भी वह अनेकरूपसे खंडित नहीं हो गया है किन्तु एकरूप ही रहा है, इसलिये अनेकके भेदका लक्ष भी छोड़कर द्रव्य स्वभावकी एकताका अवलम्बन कर। उस एकताके अवलम्बनसे अनेक निर्मल पर्यायें होकर उस एकतामें ही एकाकार हो जायेंगी।

अनादिसे अकेली विकारी पर्याय हुई वह आस्रवतत्त्व है उसमें सचमुच आत्मा व्याप्त ही नहीं हुआ है, क्योंकि विकारी पर्यायके साथ आत्मस्वभावकी एकता नहीं है। निर्मलपर्याय ही अन्तरोन्मुख होकर स्वभावके साथ एकमेक होती है, इसलिये उसीमें आत्मा व्यापक है। अहो! विकारी पर्यायमें भी आत्मा विद्यमान नहीं है तो फिर शरीरादि जड़में तो वह कहाँ से होगा? आत्मा शरीरमें विद्यमान नहीं

है—यह बात सुनकर अज्ञानी तो भड़क उटते हैं कि "अरे! क्या आत्मा इस शरीरमें नहीं है? तो फिर वह कहाँ रहता होगा? आकाशमें रहता होगा?"—अरे भाई! शान्त हो, शान्त हो। शरीर भी जड़ है और आकाश भी जड़ है,—क्या आत्मा जड़में रहेगा? या जड़से भिन्न रहेगा? आत्मा शरीरमें नहीं है और आकाशमें भी नहीं है, आत्मा तो अपने ज्ञान आनन्दादि अनन्त गुण–पर्यायोंमें ही विद्यमान है। भाई! तेरे गुण–पर्यायोंसे बाहर अन्य कहीं तेरा आत्मा नहीं है। जड़ शरीरादिमें यह चैतन्य मूर्ति आत्मा कभी रहता ही नहीं है, तो फिर आत्मा उन शरीरादिके कार्य करे यह बात ही कहाँ रही?—वह तो गई अज्ञानीकी भ्रमणामें! अज्ञानीको भ्रम होता है कि हम यह खाना–पीना–बोलना करते हैं न! किंतु भाई! तू यानी कौन? तू जड़ अथवा तू आत्मा? आत्मा आत्मामें रहेगा या जड़में? खाना–पीना–बोलना वे क्रियाएँ तो जड़ शरीरमें होती हैं, वे जड़के स्वभावसे होती हैं, तेरा स्वभाव तो ज्ञान है, तू तो उनका ज्ञाता ही है। जड़की बात तो दूर रही, किंतु यहाँ तो कहते हैं कि—अकेले रागादि विकारमें ही आत्मा विद्यमान है—ऐसा अनुभव करनेवाला भी मिथ्यादृष्टि ही है।

जिस प्रकार नारियलका गोला बाहरके छिलकेमें नहीं है और भीतरकी छालमें भी नहीं है, नारियलका गोला तो सफेदी और मिठासरूप अपने स्वभावमें ही है, उसीप्रकार यह चैतन्य गोला भगवान आत्मा बाहरके छिलके जैसे इस जड़ शरीरमें तथा भीतरकी छाल जैसे रागादि विकारमें भी नहीं है, चैतन्यमूर्ति आत्मा तो ज्ञान और आनन्दरूपी अपने स्वभावमें ही है। अकेली लाल छालको खाकर ही उसे नारियलका स्वाद मानें तो वास्तवमें उसने नारियलको जाना ही नहीं। उसीप्रकार मात्र रागके अनुभवको ही जो आत्माका स्वाद मानता है उसने वास्तवमें आनंद मूर्ति आत्माको जाना ही नहीं है। रागमें–पुण्यमें आत्माका विस्तार नहीं है, रागसे तो आत्माका परिणमन संकुचित होता है। आत्माका विकास और विस्तार तो अपनी

निर्मल पर्यायमें ही है। अकेला द्रव्य अपने अनन्त गुण-पर्यायोंके विस्तारमें पहुँच जाता है तथापि, एकपना छोड़कर खण्डित न हो ऐसी आत्माकी शक्ति है। ऐसे शक्तिमान आत्माको जानना सो अपूर्व धर्म है। ऐसे आत्माको समझे बिना जो धर्म मनाता है—रागसे धर्म मनाता है—वह अपने चैतन्य-मूर्ति आत्माका अनादर करता है, भगवानके मार्गका अनादर करता है और भव-भ्रमणके मार्गको आदरणीय मान रहा है।

कोई मारे या गाली दे तथापि क्रोध न करना सो धर्म—ऐसी सामान्य मन्द कषायमें ही मूढ़ जीव धर्म मान लेते हैं, किन्तु उसमें चैतन्य स्वरूप आत्माके अनादररूप अनंत क्रोध है—उसकी उन्हें खबर नहीं है। अरे, मेरे अशुभ कर्मका उदय है, उसमें किसी दूसरेका दोष नहीं है"—इस प्रकार मात्र कर्मकी ओटमें क्षमा रखे, तो वह भी वास्तवमें क्षमा नहीं है; उसने आत्माका स्मरण किया—वही विपरीत दृष्टि है। अहो, मैं तो चैतन्य स्वभाव हूँ। क्रोध मेरे स्वभावमें है ही नहीं—ऐसा जिसे सम्यक् भान है उसके अनंत क्रोधका नाश हो गया है। कदाचित् उसे किसीके प्रति क्रोध हो, तथापि वह क्रोध अनंतवें भाग अल्प है, और अज्ञानी कदाचित् क्रोध न करे तथापि उसे विपरीत अभिप्रायमें ही अनंत क्रोधकी शक्ति भरी है। चैतन्य स्वरूप आत्माके अवलम्बन बिना धर्म हो ही नहीं सकता और दोष सचमुच दूर हो नहीं सकता!

शरीरमें या रागमें तो आत्मा नहीं है, निर्मल पर्याय हुई उसमें आत्मा व्यापक है परन्तु उस एक पर्याय जितना ही सम्पूर्ण आत्मा नहीं है, आत्मामें तो ऐसी अनंत पर्यायोंमें व्याप्त होनेकी शक्ति है। —ऐसे आत्मा पर धर्मीकी दृष्टि लगी है, ऐसे आत्माको श्रद्धामें लेकर उसीमें पर्यायको एकाग्र किया है, और वही धर्मीका धर्म है। धर्मी अर्थात् आत्म द्रव्य और धर्म अर्थात् उसकी निर्मल पर्याय, धर्मीका धर्म उससे भिन्न नहीं है, धर्म धर्मीके साथ एकमेक है।

कहाँ रहते हो ?—तो कहते हैं दिल्लीमें; उसी प्रकार यहाँ पूछते

हैं कि कहाँ रहते हो ? तो धर्मी कहते हैं कि अपनी निर्मल पर्यायमें, अपनी निर्मल पर्याय ही हमारी राजधानी है। जहाँ राजा रहता हो उसे राजधानी कहते हैं और उस नगर पर किसी प्रकारका कर–भार नहीं होता–ऐसा पुराने जमानेमें था। उसीप्रकार यह चैतन्य राजा अपनी निर्मल पर्यायरूप राजधानीमें रहता है और उस निर्मल पर्यायके ऊपर किसी प्रकारका कर अर्थात् विकार या कर्मका भार नहीं है। देशमें या देहमें तो आत्मा रहता ही नहीं है, तो फिर उसकी बात कहाँ रही? स्वभावमें निर्मल पर्याय प्रगट करके उसमें आत्मा रहता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी निर्मल पर्याय हुई उसमें आत्मा स्वयं व्याप्त है, किसी रागका–व्यवहारका विस्तार होकर सम्यग्दर्शन हुआ ऐसा नहीं है, किन्तु आत्मा स्वयं विस्ताररूप होकर सम्यग्दर्शनमें विस्तृत हुआ है। आत्माकी निर्मल पर्यायोंमें रागादि नहीं रहता, आत्माकी निर्मल पर्यायमें आत्मा स्वयं ही रहता है। ऐसे आत्मा पर धर्मीकी दृष्टि है। अकेली पर्यायके ऊपर उसकी दृष्टि नहीं है, किंतु पर्याय जिसमेंसे प्रगट हुई ऐसे शुद्ध द्रव्य पर उसकी दृष्टि है; इसलिये वह दृष्टि और द्रव्य दोनों एकाकार हो गये हैं। सम्यग्दर्शनके प्रारम्भसे लेकर सिद्धदशा तककी समस्त पर्यायोंमें अखंडरूपसे एक आत्मा विद्यमान है, उस एकके आश्रयसे ही अनेक निर्मल पर्यायें होती रहती हैं। बस ! निर्मल पर्यायको उस एकका ही आश्रय है, उसके अतिरिक्त बाह्यमें किसी अन्यका–राग-का–निमित्तका अथवा देव शास्त्र गुरुका आश्रय वास्तवमें नहीं है; शुद्ध चैतन्य द्रव्यके आश्रयसे ही मोक्षमार्ग प्रगट होता है, टिकता है और बढ़ता है। इसके अतिरिक्त व्यवहार–राग या निमित्तोंके आश्रयसे मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता। अरे ! मोक्षमार्गकी जो पर्याय है उस पर्यायके आश्रयसे भी मोक्षमार्ग नहीं है, शुद्ध द्रव्यके आश्रयसे ही मोक्षमार्ग है आत्मा द्रव्यस्वरूपसे एकरूप रहता है तथापि अनेक निर्मल पर्यायोंरूप अनेकरूप भी स्वयं होता है। एकतारूप रहना तथा अनेकतारूप होना–यह दोनों स्वभाव एक आत्मामें विद्यमान हैं। सर्वथा एकरूप ही रहे तो एक पर्याय बदलकर दूसरी विशेष निर्मल पर्यायरूपसे निर्मल कौन होगा ?

और यदि सर्वथा अनेकरूप ही हो जाय तो पर्याय किसके आश्रयसे होगी? इसलिये आत्मामें एकत्व तथा अनेकत्व ऐसी दोनों शक्तियाँ हैं।

यदि एकत्व शक्ति न हो तो अनेक गुण पर्यायोंमें वस्तु भी अनेक खंड-खंड रूप हो जावेगी, अर्थात् जितने गुण और पर्यायें हैं उतनी भिन्न भिन्न वस्तुएँ हो जावेगी, इसलिये अनंत गुण पर्यायरूप वस्तु सिद्ध ही नहीं होगी; इसलिये अनन्त गुण पर्यायोंमें एकरूपसे व्याप्त होकर रहनरूप एकत्व शक्ति है, वह अनंत गुण पर्यायोंमें द्रव्यकी अखंडता बनाये रखती है।

उसीप्रकार यदि अनेकत्व शक्ति न हो तो एक वस्तुमें अनंत गुण पर्यायें कहाँसे होंगी? वस्तु एक होने पर भी गुण-पर्यायें अनंत हैं। द्रव्यरूपसे एक ही रहकर आत्मा स्वयं अपने अनंत गुण पर्यायोंमें विद्यमान है, इसप्रकार अनेकता भी है।

एकपना अथवा अनेकपना—उन दोनोंमें परसे तो आत्मा भिन्न है और विकारसे भी भिन्न है। एकपना तो द्रव्यसे है और अनेकपना गुण-पर्यायोंसे है। परके कारण वह धर्म नहीं है इसलिये परोन्मुखतासे एकता या अनेकताकी पहिचान नहीं होती, एकतारूप या अनेकतारूपसे आत्मा स्वयं ही है, इसलिए आत्मोन्मुखतासे ही उसकी सच्ची पहिचान होती है।

प्रत्येक आत्मामें अनंत गुण, और उन अनंत गुणोंकी अनन्तपर्यायें, उनमें आत्मा व्यापक है, इसलिये आत्मामें अनेकता भी है। पर्याय सो व्याप्य (रहने योग्य) है और आत्मा उसमें व्यापक (रहने वाला) है। आत्माको व्याप्त होने योग्य पर्याय एक ही नहीं है किन्तु अनेक हैं, उन अनेक पर्यायोंरूप होता है इसलिये आत्मा अनेकरूप है। स्वभावके आश्रयसे निर्मल क्रमबद्ध पर्यायें एकके बाद एक होती हैं वही आत्माका सच्चा व्याप्य है, रागादि उसका सच्चा व्याप्य नहीं है और देहादिमें तो आत्मा कभी व्याप्त हुआ ही नहीं है।

आत्माकी सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप निर्मल पर्यायोंमें कौन व्याप्त होता है ? क्या उनमें निमित्त व्याप्त होता है ? नहीं; तो क्या पूर्वकी पर्याय उनमें व्याप्त होती है ? नहीं; शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा स्वयं परिणमित होकर उन सम्यग्दर्शनादि पर्यायोंमें व्याप्त होता है। इसलिये हे जीव ! अपनी निर्मल पर्याय प्रगट करनेके लिये तुझे अपने शुद्ध आत्मामें ही देखना रहा– उसीका अवलम्बन करना रहा; किन्तु किसी निमित्तका, रागका या पर्यायका अवलम्बन नहीं रहा। तेरा एक आत्मा ही तेरी सर्व पर्यायोंमें प्रसरित हो जाता है ऐसी ही उसकी शक्ति है; इसलिये अपनी पर्यायके लिये तुझे अन्य किसी द्रव्यकी ओर देखना नहीं रहता; अपने स्वद्रव्यकी ओर ही देखना रहता है। जो आत्माका ऐसा स्वरूप समझले उसे परसे परोन्मुखता तथा स्वोन्मुखता द्वारा निर्मल पर्यायें होती हैं–वही धर्म है।

जिसप्रकार कड़ा–हार–मुकुट आदि सर्व अवस्थाओंमें एक सोना ही क्रमशः व्याप्त होता है, किंतु उनमें कहीं सोनार, एरन या हथौड़ी व्याप्त नहीं होते; उसीप्रकार आत्माकी सर्व पर्यायोंमें एक आत्मा ही व्याप्त होता है, अन्य कोई उनमें व्याप्त नहीं होता। उपादान और निमित्त दोनों मिलकर कार्य करते हैं ऐसा जो मानता है वह एक पर्यायमें अनेक द्रव्योंको व्याप्त मानता है। उसे स्व–परका भेदज्ञान नहीं है। आत्माकी पर्यायमें पर तो व्याप्त होता ही नहीं, किंतु जिस पर्यायमें मात्र क्रोधादि व्याप्त हों उसे भी आत्मा नहीं कहते। आत्माकी पर्याय तो उसीको कहते हैं जिसमें आत्माका स्वभाव व्याप्त हो। क्रोधादि भाव सचमुच आत्माके स्वभावसे व्याप्त नहीं है।—ऐसे आत्मस्वभावका जिसने निर्णय किया उसकी पर्यायमें आत्मा व्याप्त हुआ और क्रोधादि व्याप्त नहीं हुए। क्रोधमें व्याप्त हो वह मैं नहीं हूँ; शुद्धतामें व्याप्त हो वही मैं हूँ—ऐसा निर्णय करने पर क्रोधकी ओरका बल टूट गया और शुद्ध स्वभावकी ओरके बलमें वृद्धि हो गई–ऐसी साधकदशा है, और वही मोक्षमार्ग है।

देखो, आत्माकी सम्यक् प्रतीति ऐसा फल लेकर प्रगट होती

है। यदि ऐसा फल न आये तो आत्माकी सच्ची प्रतीति नहीं है। सम्यक् प्रतीति तो ऐसी है कि सम्पूर्ण भगवान आत्माको पर्यायमें प्रसिद्ध करती है। यदि पर्यायमें भगवान आत्माकी प्रसिद्धि न हो तो वहाँ सम्यक् प्रतीति नहीं है। मेरी समस्त शुद्ध पर्यायोंमें मेरा अपना द्रव्य ही व्याप्त होगा, मेरा आत्मा ही अनेक निर्मल पर्यायोंरूपसे तन्मय होकर परिणमित होगा—ऐसा जिसने निश्चय किया उसकी श्रद्धाका बल स्वद्रव्यकी ओर ढल गया, उसके ज्ञानने शुद्ध द्रव्यको स्वज्ञेय बनाया, उसका पुरुषार्थ स्वद्रव्यकी ओर झुक गया, कषायोंका वेदन छूटकर उसे आत्माके शान्त स्वभावोंका वेदन हुआ, अनादिसे पर्यायमें अकेला विकार व्याप्त होता था उसके बदले अब अपूर्व निर्मल पर्यायोंमें भगवान आत्मा व्याप्त हुआ,—अर्थात् आत्मप्रसिद्धि हुई इस प्रकार सम्पूर्ण परिणतिमें नई जागृति आ गई—नया वेदन आगया;—ऐसी धर्मीकी अपूर्व दशा है। पहले जब ऐसे शुद्ध द्रव्यकी खबर नहीं थी, उस समय पर्याय उस ओर नहीं ढलती थी और न उस पर्यायमें आत्मा व्याप्त होता था, अब शुद्ध द्रव्यका निर्णय करके पर्याय उस ओर ढल गई और उस पर्यायमें भगवान आत्मा व्याप्त हुआ—भगवान आत्माकी प्रसिद्धि हुई, आत्मा कैसा है उसकी सच्ची खबर हुई। वह जीव अब भगवानके मार्ग में सम्मिलित हुआ—ऐसा भगवानका मार्ग है।

क्रमबद्ध पर्यायका निर्णय अथवा सर्वज्ञका निर्णय भी ऐसे शुद्ध द्रव्यके निर्णयसे ही होता है। यद्यपि पर्याय तो पहले भी क्रमबद्ध ही होती थी किंतु अज्ञानदशामें उसका निर्णय नहीं था, शुद्ध द्रव्यके निर्णय पूर्वक क्रमबद्ध पर्यायकी प्रतीति यथार्थ हुई और उसे शुद्धताका क्रम भी प्रारम्भ होगया। शुद्ध द्रव्यकी ओर ढलकर जहाँ क्रमबद्धपर्यायका यथार्थ निर्णय करे वहाँ अकेली अशुद्धताका क्रम रहे—ऐसा नहीं हो सकता। इसप्रकार शुद्ध द्रव्यका निर्णय, स्व—सन्मुख दृष्टि, सर्वज्ञका निर्णय, क्रमबद्ध पर्यायका निर्णय, शुद्धपर्यायके क्रमका

प्रारम्भ, अपूर्व पुरुषार्थ—यह सब एक साथ ही हैं।

"मेरी पर्यायोंमें अन्य कोई नहीं, किंतु मेरा शुद्ध आत्मा ही व्याप्त होनेवाला है"—अहो ! इस निर्णयमें तो सम्पूर्ण दृष्टिका परिवर्तन है। ऐसा निर्णय करनेवाला जीव अब कहीं भी पराश्रय बुद्धिमें न रुककर एक स्वद्रव्यका ही अवलम्बन करके शुद्ध पर्यायों-रूपसे परिणमित होता रहता है। मेरी जो-जो पर्याय प्रगट होती है वह मेरे आत्मद्रव्यमें से ही प्रगट होती है—ऐसा उसे सम्यक्-विश्वास हो जानेसे पर्याय-पर्यायमें उसको आत्मद्रव्यका ही अवलम्बन वर्तता है, और आत्माका स्वभाव शुद्ध होनेसे उसके अवलम्बन द्वारा परिणमित होनेवाली पर्याय भी शुद्ध ही होती है। धर्मीको सर्व पर्यायोंमें आत्माका ही अवलम्बन है। नियमसारमें कहा है कि—

मुझ ज्ञानमें आत्मा खरे, दर्शन चरितमें आत्मा,
पचखाणमें आत्मा ही, संवर योगमां भी आत्मा ॥ १०० ॥

धर्मी जानता है कि वास्तवमें मेरे ज्ञानमें आत्मा है, मेरे दर्शनमें तथा चारित्रमें आत्मा है। मेरे प्रत्याख्यानमें आत्मा है, मेरे संवरमें तथा योगमें (शुद्धोपयोगमें) आत्मा है;- यह सब पर्यायोंकी बात है। धर्मीकी समस्त पर्यायें एक शुद्ध आत्माको ही उपादेय करके परिणमित होती है, उसकी पर्यायमें अन्य कुछ उपादेय नहीं है। चौथे गुणस्थान-वाले धर्मीको भी ऐसी ही दृष्टि होती है। ऐसी दशाके बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता।

पर्यायें एकके बाद एक क्रमबद्ध होती हैं और उनमें मेरा शुद्ध द्रव्य व्याप्त होता है, ऐसा जिसने निर्णय किया उसके श्रद्धा-ज्ञानकी परोन्मुख वृत्ति दूर होकर स्वोन्मुख वृत्ति हो गई और उसकी पर्यायके क्रममें निर्मलता प्रारंभ हुई ! यदि ऐसा न हो—रुचि न बदले और मात्र परके ओरकी सावधानी रहे—और कहे कि- "पर्याय तो क्रमबद्ध होती रहती है"—तो वह मात्र परकी ओटमें क्रमबद्ध पर्यायकी बातें करता है, वास्तवमें उसे क्रमबद्ध पर्यायके स्वरूपका निर्णय हुआ है; यदि सच्चा निर्णय हो तो रुचि अवश्य बदल जाये !

अहो ! आचार्यदेवने प्रत्येक शक्तिके वर्णनमें त्रिकाली स्वभाव

और उसका शुद्ध परिणमन—यह दोनों साथ ही साथ बतलाये हैं। पर्यायमें शुद्ध शक्तिका स्वीकार होने पर पर्याय भी उसीमें एकाकार हो गई अर्थात् वह भी शुद्ध हुई। इसप्रकार अपूर्व भावसे आत्माका स्वीकार होने पर अपूर्व धर्म हुआ। सर्वज्ञ भगवानने जैसा कहा वैसा ही उसने किया इसलिये उसीने वास्तवमें सर्वज्ञको माना है और उसने देव और शास्त्रको भी यथार्थरूपसे माना है। भगवानने जिस मार्गसे मुक्ति प्राप्त की उस मार्गमें वह सम्मिलित हुआ; वह सर्वज्ञका नन्दन हुआ, साधक हुआ, उसके भवका सन्देह दूर हो गया और वह मोक्षमार्गमें लग गया। ऐसी दशाके बिना देव—शास्त्र—गुरुका, क्रमबद्धपर्यायका, द्रव्यका, गुणका तथा अन्य किसी भी विषयका निर्णय सच्चा नहीं होता और यथार्थरूपसे भवकी शंका दूर नहीं होती। धर्मीको तो शुद्ध द्रव्यका स्वीकार हुआ है और परिणति उस ओर ढल गई है इसलिये प्रतिक्षण मुक्तिकी ओर ही परिणमन चल रहा है, वह मुक्तिपुरीका प्रवासी हुआ है इसलिये "अब मुझे अनन्त संसार होगा"—ऐसी शंका उसे नहीं होती। उसे स्वभावके बलसे ऐसी निःशंकता है कि अब अल्पकालमें ही मेरी मुक्त दशा विकसित हो जायगी। आत्माका चैतन्य स्वभाव आनंदमय है, उस स्वभावमें भव नहीं है, शंका नहीं है, भय नहीं है, विकार नहीं है;—ऐसे स्वभावका निर्णय करके जहाँ उसके सन्मुख परिणमन हुआ वहाँ भव नहीं रहता, शंका नहीं रहती, भय नहीं रहता, और न विकार रहता है; इसलिये धर्मी निःशंक है, निर्भय है, विकार तथा भवका नाशक है, और शुद्धताका उत्पादक है वह अल्पकालमें पूर्ण विकारका नाश और शुद्धताकी उत्पत्ति करके मुक्तिको प्राप्त होता है।

एक आत्म द्रव्यमें अनेक पर्यायमय होनेकी शक्ति है। द्रव्य अपनी अनेक पर्यायोंमें व्याप्त हो ऐसी उसकी अनेकत्व शक्ति है; इसलिये परके कारण पर्याय हो यह बात नहीं रहती। जो व्याप्त हो वह कर्ता; पर्यायमें द्रव्य ही व्याप्त होता है इसलिये द्रव्य ही अपनी पर्यायका कर्त्ता

है। अनेक पर्यायोंमें व्याप्त होनेरूप अपनी शक्तिको पहिचाने तो "मेरी पर्यायका कारण पर होगा" ऐसी मान्यता न रहे, किन्तु द्रव्यका आश्रय करके निर्मल पर्याय हो। अनेक पर्यायें होने पर भी मेरी समस्त पर्यायें मेरे एक आत्मासे ही व्याप्य है, अन्य किसी से व्याप्य नहीं है, ऐसा निर्णय करके हे जीव ! पर्यायको अपने द्रव्यकी ओर उन्मुख कर।

पर्यायका ऐसा स्वभाव है कि वह द्रव्यसे व्यपित हो और द्रव्यका ऐसा स्वभाव है कि वह पर्यायोंमें व्याप्त हो। इसप्रकार ज्ञान पर्याय भी अपने द्रव्यसे व्याप्त हो ऐसा उसका स्वरूप है, तथापि वह ज्ञान पर्याय अपनेमें व्यापक ऐसे आत्म स्वभावको न देखकर अकेले पर ज्ञेयोंको ही देखे तो वह अज्ञान है, उसे वास्तवमें आत्माकी पर्याय नहीं कहते; उसमें आत्मा व्याप्त नहीं हुआ है। ज्ञान पर्याय किसकी है ?—कहते हैं आत्म द्रव्यकी। उस ज्ञान पर्यायको आत्म द्रव्योन्मुख होकर उसका निर्णय करना चाहिये। वह न करके परोन्मुख होकर पराश्रयसे हित मानता है वह रागादि ही मैं हूँ—ऐसा मानता है तो उस ज्ञानने अपना ज्ञानरूप कार्य नहीं किया, इसलिये वह ज्ञान मिथ्या हुआ। अपनी पर्यायको अपने आत्मासे व्याप्त न करके रागसे ही व्याप्त की, तो उसे सचमुच आत्माकी पर्याय नहीं कहते। आत्माकी पर्याय तो उसे कहते हैं जिसमें आत्माकी व्याप्ति हो; आत्माकी प्रसिद्धि हो। और जब तक ज्ञान अन्तर्मुख होकर स्वद्रव्यका निर्णय न करे, तब तक परका भी सच्चा निर्णय करनेकी शक्ति उस ज्ञानमें नहीं होती, इसलिये ऐसे ज्ञानको ज्ञान नहीं कहते, वह तो अज्ञान है। यहाँ स्वभावदृष्टिसे वर्णन है द्रव्यमें ऐसा कोई भी गुण नहीं है कि रागादि विकाररूप आत्मा हो सके, पर्यायमें विकारी होनेकी योग्यता है वह ज्ञेय है-हेय है गौण है, ज्ञानी उसका स्वामी नहीं है—

मेरी निर्मल पर्यायमें मेरा अखण्ड द्रव्य व्यापक है—ऐसा निर्णय करनेके बाद जो जो पर्यायें होती हैं वे सर्व पर्यायें त्रिकाली द्रव्यको साथ ही रखकर होती है अर्थात् प्रत्येक पर्यायमें त्रिकाली द्रव्यका अवलम्बन वर्तता है, और त्रिकाली द्रव्यके अवलम्बनसे सम्यग्दर्शन—

ज्ञान–चारित्रादि शुद्ध पर्यायें होती जाती हैं त्रिकाली तत्त्वके स्वीकार बिना–आश्रय बिना–पर्यायकी निर्मलता नहीं होती, सम्यग्ज्ञान नहीं होता; और सम्यग्ज्ञानके बिना निमित्त या व्यवहारका भी सच्चा ज्ञान नहीं होता।

यहाँ ३२ वीं शक्तिमें बतलाना तो है अनेकता, किंतु उसके साथ 'एक द्रव्य व्याप्त'...ऐसा कहकर द्रव्य दृष्टि भी साथ ही रखी है। आचार्यदेवकी शैली अत्यन्त गंभीरतापूर्ण अद्‌भुत है। अनेक पर्यायें होने पर भी द्रव्यकी एकताका अवलम्बन कभी नहीं छूटता, इसलिये निरन्तर निर्मल–निर्मल पर्यायें ही होती रहती हैं।—इसप्रकार साधक भूमिकासे बात कही है। साधककी श्रद्धा "एक स्व द्रव्य" की ओर ढली है; उसका ज्ञान "एक स्व द्रव्य" की ओर ढला है; उसकी एकाग्रता भी "एक स्व द्रव्य" की ओर ही है। इसप्रकार "एक स्व द्रव्य" का अवलम्बन लेकर ही (–निज शुद्ध आत्म स्वभावका अवलम्बन लेकर ही) साधक दशा वर्त रही है। उसीके अवलम्बनसे शुद्धता बढ़ते–बढ़ते पूर्ण शुद्धतारूप सिद्ध दशा हो जायेगी।

मेरी समस्त पर्यायें मेरे एक द्रव्यसे ही व्याप्त हैं–ऐसा निर्णय करनेवालेने किसकी ओर देखकर वह निर्णय किया? क्या परकी, या विकारकी, अथवा मात्र पर्यायकी ओर देखकर वह निर्णय किया है? नहीं; उनकी ओर देखनेसे वह निर्णय नहीं हो सकता; किंतु पर्यायको शुद्ध एकरूप द्रव्यकी ओर उन्मुख करके निर्णय किया है कि –अहो! मेरी पर्यायोंमें तो ऐसा आत्मद्रव्य ही व्याप्त है; परमें या विकारमें व्याप्त हो ऐसा मेरे आत्मद्रव्यका स्वरूप नहीं है, किंतु निर्मल पर्यायोंमें व्याप्त हो ऐसा ही मेरे आत्मद्रव्यका सच्चा स्वरूप है। मेरा आत्मा परमें और रागमें विद्यमान नहीं है; मेरा आत्मा तो उपयोगमें विद्यमान है। अशुद्ध पर्यायमें शुद्ध द्रव्य कैसे व्याप्त होगा? अशुद्धताके साथ शुद्ध द्रव्यकी एकता नहीं हो सकती; इसलिये रागमें आत्मा नहीं आता। आत्माकी ओर ढलनेमें राग काम नहीं आता, रागका अभाव

करके अन्तर्मुख उपयोग होने पर उसमें आत्मा आता है,—आत्माका अनुभव होता है। इसप्रकार इस एकत्वशक्ति अथवा अनेकत्वशक्ति द्वारा आत्माका निर्णय करने पर पर्याय स्वोन्मुख ही हो जाती है, और शक्तियोंका शुद्ध परिणमन होकर एक आत्मा अपनी अनेक निर्मल पर्यायोंमें व्याप्त होता है। अज्ञानदशामें पर्यायमें मात्र विकार व्याप्त होता था वह अशुद्ध परिणमन था, और अब स्वाश्रयसे शुद्ध परिणमन होनेसे पर्यायमें सम्पूर्ण भगवान आत्मा स्वयं व्याप्त हुआ है। —ऐसा अनेकान्त मूर्ति आत्माकी पहिचानका फल है।

[—यहाँ ३१–३२ वीं एकत्वशक्ति तथा अनेकत्व शक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

[३३–३४]

भावशक्ति और अभावशक्ति

चक्रवर्तीके भी चक्रवर्ती ऐसे इस चैतन्य भगवानके भंडारमें सम्यग्दर्शन, मुनिदशा, केवलज्ञान–सिद्धदशा आदि निर्मल रत्नोंकी माला गूँथी पड़ी है। भंडार खोलकर उसे बाहर निकालनेकी रीति यहाँ आचार्य भगवानने बतलाई है। अरे जीव! अन्तर्मुख होकर एकबार अपने चैतन्य भंडारको खोल! तेरी चैतन्य शक्ति ऐसी है कि उसे खोलने पर उसमेंसे निर्मल पर्यायें निकलेंगी–विकार नहीं निकलेगा।

ज्ञानस्वरूप आत्मा अनन्त शक्तिवाला है उसका यह वर्णन चल रहा है। उसमें जीवत्व शक्तिसे प्रारम्भ करके अनेकत्वशक्ति तककी ३२ शक्तियोंका वर्णन हो चुका है। अब "भाव" और "अभाव" आदि संयुक्त रूपसे छह शक्तियोंका वर्णन करते हैं।

(३३–३४) भावशक्ति और अभावशक्ति (३५–३६) भाव–

अभावशक्ति और अभाव–भावशक्ति; (३७–३८) भाव–भावशक्ति और अभाव–अभावशक्ति।

उनमेंसे प्रथम भावशक्ति तथा अभाव शक्तिका वर्णन चलता है। "ज्ञान स्वरूप आत्मामें विद्यमान अवस्थामयपनेरूप भावशक्ति है; तथा शून्य–अविद्यमान अवस्थामयपनेरूप अभावशक्ति है।" आत्मा त्रिकाल—स्थायी वस्तु है और उसमें कोई न कोई अवस्था वर्तमान वर्तती ही है। अपनी ऐसी ही शक्ति है कि प्रति समय कोई अवस्था विद्यमान होती ही है। इसलिये दूसरेके कारण अवस्था होती है—यह बात नहीं रहती; और वर्तमानमें जो अवस्था विद्यमान रूपसे वर्तती हो उसके अतिरिक्त अन्य सर्व अवस्थाएँ अविद्यमानरूप हैं—ऐसी अभावशक्ति है। यदि वर्तमान अवस्था विद्यमान न हो तो वस्तु ही न हो, और यदि पूर्व–पश्चात्‌की अवस्थाओंका वर्तमानमें अभाव न हो तो पूर्वका अज्ञान कभी (ज्ञान दशामें भी) दूर नहीं होगा; तथा साधकपनेमें ही भविष्यकी केवल–ज्ञानदशा हो जायेगी; किन्तु ऐसा नहीं है। वर्तमानरूपसे एक अवस्था वर्तती है वह भाव शक्तिका कार्य है, और उस अवस्थामें दूसरी अवस्थाएँ अविद्यमान हैं,—वह अभावशक्तिका कार्य है। देखो, इसमें पर्याय बुद्धि उड़ जाती है, क्योंकि प्रत्येक पर्यायमें सम्पूर्ण द्रव्य साथ ही साथ वर्तता है, किन्तु एक पर्यायमें दूसरी पर्याय नहीं वर्तती। और ऐसी दृष्टिसे जहाँ आत्मा निर्मल भावरूप परिणमित हुआ वहाँ उस निर्मल भावमें विकारका अभाव है। पर्यायमें विकारका विद्यमानपना ही भासित हो, विकारका अभाव भासित न हो तो उसने सचमुच आत्माकी भाव–अभावशक्तिको नहीं जाना है।

आत्मा है, किन्तु उसकी कोई पर्याय नहीं है—ऐसा माने, अथवा परके कारण पर्यायका होना माने या पर्यायमें आत्मा दिखलाई नहीं देता–ऐसा माने तो उस जीवने सचमुच भावशक्तिवाले आत्माको नहीं जाना है। हे भाई ! पूर्वकी पर्यायोंका वर्तमानमें अभाव है; भविष्यकी पर्यायें भी वर्तमानमें अविद्यमान हैं—ऐसी तेरी अभावशक्ति

है; इसलिये पूर्वकी पर्यायोंको न देख, भविष्यकी पर्यायोंको न देख, वर्तमान पर्यायको वर्तमान वर्तते हुए द्रव्यके साथ युक्त कर; तो उस पर्यायमें निर्मलताका भाव और मलिनताका अभाव है। यहाँ भाव-शक्तिके परिणमनमें निर्मलदशाका विद्यमानपना लेना है; क्योंकि जिसने ऐसी शक्तिवाले आत्माको लक्षमें लिया उसे वर्तमान पर्याय निर्मलरूपसे वर्तती है।

अहो ! त्रिकाल जब देखो तब द्रव्याकी अवस्था स्वयंसे ही विद्यमानरूप वर्तती है, और उस–उस समयकी अवस्थाके अतिरिक्त अन्य आगे–पीछेकी समस्त अवस्थाएँ अविद्यमान ही हैं। वर्तमान पर्यायका वर्तनपना सो 'भाव' और दूसरी पर्यायका अवर्तनपना सो 'अभाव' ऐसी दोनों शक्तियाँ आत्मामें एक साथ वर्तती हैं।

द्रव्य वह सामान्य है और पर्याय वह उसका विशेष है। विशेष रहित अकेला सामान्य नहीं हो सकता यदि आत्माकी अवस्था अपनेसे न हो तो, सामान्य द्रव्य विशेष रहित हो जायेगा इसलिये आत्माका अभाव ही हो जायेगा। जड़में भी ऐसा स्वभाव है इसलिये जड़की अवस्थाका विद्यमानपना भी उसके अपनेसे ही है।

भावशक्तिवाला भगवान आत्मा जब देखो तब वर्तमान विद्यमान अवस्थावाला ही वर्त रहा है।—कैसी अवस्था ?—कहते हैं निर्मल अवस्था। अकेली मलिन अवस्था वर्ते उसे सचमुच आत्माकी अवस्था नहीं कहते, क्योंकि उस अवस्थामें आत्माका स्वीकार नहीं है।

द्रव्य–गुण त्रिकाल सत् है और उनकी प्रवर्तमान अवस्था वह वर्तमान सत् है। इसप्रकार द्रव्य–गुण और उनकी प्रवर्तमान अवस्थासे आत्मा भावरूप है; तथा दूसरी अवस्थाएँ अविद्यमान हैं इसलिये वह अभावरूप है। भूतकालकी अज्ञानदशा अथवा भविष्यकी सिद्धदशा—उनका वर्तमान साधकदशामें अभाव है। अज्ञानदशा भूतकालमें थी, सिद्धदशा भविष्यमें होनेवाली है तथापि वर्तमानमें उन दोनोंका अभाव है, ऐसी अभावशक्ति आत्मामें है।

आत्माकी अवस्थामें परका तो अभाव है, और उसकी वर्तमान अस्वथामें दूसरी अवस्थाका भी अभाव है। अज्ञानी तो पुकार करता है कि अरे! आत्मामें कर्मका बहुत जोर है। उससे कहते हैं कि अरे मूढ़! तेरी पर्यायमें कर्मका तो अभाव है, तो वह तेरा क्या करेगा? अपनेमें अपनी पर्यायके भावको और कर्मके अभावको देख! कर्मका तेरी पर्यायमें भाव है या अभाव? तेरी पर्यायमें तो उसका अभाव है। इसके अतिरिक्त यहाँ तो कहते हैं कि पूर्वकी पर्यायका भी वर्तमानमें अभाव है; इसलिए "अरे रे! पूर्वकालमें बहुत अपराध किये। अब आत्माका विचार कैसे होगा?"—ऐसी हताश बुद्धि छोड़ और अपनी वर्तमान पर्यायको स्वभावोन्मुख कर तो उसमें कहीं पूर्वके दोष नहीं आते। अज्ञानीको भी अपनी वर्तमान विपरीततासे ही मलिनता है, कहीं पूर्वकी मलिनता उसे वर्तमानमें नहीं आती, पूर्वकी पर्यायका तो अभाव हो गया है। अहो! प्रति समय वर्तती हुई वर्तमान पर्यायका 'भाव' और उसमें दूसरी पर्यायोंका 'अभाव'—उसमें तो प्रत्येक पर्यायकी स्वतंत्रता बतलाई है।

वस्तु हो और उसका अपना कोई आकार—प्रकार विद्यमान न हो ऐसा नहीं हो सकता (यहाँ आकार वह व्यंजन पर्याय है और गुणका विकार—प्रकार वह अर्थपर्याय है।) जिसप्रकार सुवर्ण है तो उसका कोई न कोई आकार तथा पीलापन आदि प्रकार अपने आकार होता ही है; उसीप्रकार आत्मवस्तुमें भी प्रकाररूप भाव वर्तते ही हैं। निमित्त आये तो पर्याय हो—ऐसी जिसकी मान्यता है उसने आत्माकी भावशक्तिको नहीं माना है।

कोई कहे कि आत्मा और उसकी अवस्था अपनेसे विद्यमान है—ऐसा तो हम स्वीकार करते हैं, किंतु हमारी पर्यायमें मिथ्यात्व ही वर्तता है। तो आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! आत्माके भाव अपने से ही हैं—ऐसा तूने किसकी ओर देखकर स्वीकार किया? यदि तूने आत्माकी ओर देखकर स्वीकार किया हो तो पर्यायमें मिथ्यात्व रह

ही नहीं सकता; और यदि परकी ओर देखकर ही तू कहता हो कि– 'आत्माके भाव अपनेसे है' तो इसप्रकार परकी ओर देखकर आत्माके स्वभावका सच्चा स्वीकार हो ही नहीं सकता। यदि आत्माके स्वभावको स्वीकार करे तो उस स्वभावका अनुसरण करके निर्मल अवस्थाका विद्यमानपना होना चाहिये। यदि पर्याय अकेले परका ही अनुसरण करे तो उसने स्वभावको किसप्रकार स्वीकार किया ? इसलिये यदि निर्मल अवस्थाका विद्यमानपना न हो तो उसने विद्यमान अवस्थावाले आत्मस्वभावको प्रतीतिमें लिया ही नहीं है। जिसप्रकार द्रव्योन्मुख हुए बिना सचमुच क्रमबद्ध पर्यायकी या सर्वज्ञकी प्रतीति नहीं हो सकती, उसीप्रकार द्रव्योन्मुख हुए बिना उसकी किसी भी शक्तिकी यथार्थ प्रतीति नहीं हो सकती।—अखण्ड स्वभावकी सन्मुखतासे ही धर्मका प्रारम्भ होता है; वृद्धि होती है और स्थिरपना होता है।

भावशक्ति आदि शक्तियाँ तो समस्त आत्माओंमें त्रिकाल हैं, किंतु उनके निर्मल परिणमन बिना वे किस कामकी ? अखंड शक्तिकी ओर उन्मुख होकर जिसने उसे निर्मलरूप परिणमित न किया, उसे तो वह अभाव समान ही है क्योंकि उसके वेदनमें वह नहीं आती। जिसप्रकार मेरु पर्वतके नीचे शाश्वत सुवर्ण है, किंतु वह किस कामका ? (वह निकलकर कभी उपयोगमें नहीं आता) उसीप्रकार सर्व आत्माओं-में सर्वज्ञत्वादि शक्तियाँ होने पर भी जब तक वे निर्मल परिणमनमें न आये तब तक तो वे अज्ञानीको मेरुके नीचे भरे हुए सुवर्णके समान हैं। स्वयं अपनी शक्तिके सन्मुख होकर उसकी प्रतीति नहीं करता। इसलिये उसे तो वह अभाव समान ही है। अपनी स्वभाव शक्तिका स्वीकार करनेसे पर्यायमें उसका निर्मल परिणमन होता है उसकी यह बात है। मात्र विकारकी रुचिवाला आत्माकी स्वभावशक्तिकी प्रतीति नहीं कर सकता; और जो स्वभाव शक्तिकी प्रतीति करता है उसे पर्यायमें मात्र विकार ही नहीं रहता, उसे निर्मलता वर्तती है और उसमें विकारका अभाव होता जाता है। स्वभावोन्मुख होने पर निर्मल पर्याय हुई उसमेंसे विकारको दूर नहीं करना पड़ता, किंतु उस

पर्यायमें विकारका अभाव ही वर्तता है। देखो, यह विकारका अभाव करनेकी रीति ! कौन–सी–रीति ?–कि जो पर्याय शुद्ध स्वभावके साथ एकता करके निर्मलरूप परिणमित हुई है वह पर्याय स्वयं ही विकारके अभावरूप है। निर्मल पर्यायका 'भाव' और उसमें विकारका 'अभाव' ऐसी आत्माकी भावशक्ति तथा अभावशक्ति है। ज्ञान-स्वभावी आत्माके परिणमनमें ऐसी शक्तियां परिणमित हो ही रही हैं,—ऐसा बतला कर यहाँ शुद्ध आत्माका लक्ष कराना है।

जिसे विकारकी रुचि है उसकी रुचिमें 'स्वभावका अभाव' है; इसलिये उसे अभावशक्तिका विपरीत परिणमन है। और जिसे स्वभावकी रुचि है उसकी रुचिमें 'विकारका अभाव' इसलिये उसे अभावशक्तिका निर्मल परिणमन है।

और जिसे विकारकी रुचि है उसकी पर्यायमें निर्मलताके बदले मात्र विकारका ही विद्यमानपना है, इसलिये उसे भावशक्तिका विपरीत परिणमन है।

और जिसे स्वभावकी रुचि है उसकी पर्यायमें निर्मलताका विद्यमानपना है, इसलिये उसे भावशक्तिका निर्मल परिणमन वर्तता है;

देखो, इसमें द्रव्यके साथ पर्यायकी सन्धिकी अलौकिक बात है। जिसप्रकार करोड़ रुपयेकी पूंजीवालेको मोहवश तत्सम्बंधी उष्मा रहती है; उसीप्रकार यहाँ अनन्त शक्तिवान शुद्ध आत्माको स्वीकार करे और पर्यायमें उसकी उष्मा न आये ऐसा हो ही नहीं सकता जिस पर्यायने अंतरोन्मुख होकर चिदानन्दसे भरपूर भगवानको स्वीकार किया उस पर्यायमें निर्मलता प्रगट होकर ऐसी अपूर्व उष्मा आ गई है कि बस ! मैं तो ऐसे शुद्ध स्वरूप ही हूं, विकार स्वरूप मैं नहीं हूं—ऐसी उष्माके बलसे उसे निर्मलता बढ़ती जाती है और विकार दूर होता जाता है। इसका नाम धर्म और आराधक दशा है। जिसे ऐसी उष्मा (निःशंकता) नहीं है उसे धर्मका अंश भी नहीं है।

'मेरी वर्तमान पर्यायकी विद्यमानता मेरे स्वभावसे ही है;—बस, ऐसा निर्णय किया उसने पराश्रय बुद्धिको उड़ा दिया, तथा पूर्व—पश्चात्की पर्यायका वादा भी उड़ा दिया और हाजिर ऐसे अपने शुद्ध स्वभावके साथ पर्यायकी संधि की—वह धर्मका सच्चा व्यापारी है। ऐसे आत्माका निर्णय न करे और 'हमारे भगवानने तथा हमारे गुरुने कहा वह सच्चा है, किंतु हमें आत्माकी पहिचान नहीं होती'—ऐसा कहे तो उसने सचमुच भगवानका या गुरुका भी निर्णय नहीं किया, क्योंकि भगवानने और गुरुने क्या कहा उसे समझे बिना उनकी पहिचान कहाँसे की ? इसलिये स्वाश्रयसे वस्तु स्वरूपका निर्णय किये बिना धर्मके पंथमें एक डग भी नहीं चल सकता।

निर्मल पर्यायके बिना द्रव्यका स्वीकार नहीं होता—इसमें तो महान रहस्य है। त्रैकालिक स्वभावको स्वीकार करनेवाली पर्याय उसके साथ तद्रूप हो जाती है; इसलिये वह पर्याय निर्मल है। स्वभावोन्मुख निर्मल अवस्थाके बिना यथार्थरूपसे स्वभावका स्वीकार नहीं होता। आत्माका स्वभाव ही ऐसा है कि उसका स्वीकार करनेसे वह स्वयं निर्मल दशारूप परिणमित हो जाता है। यदि स्वभाव परिणमित होकर अवस्थामें कुछ न आये तो उस अवस्थाने स्वभावका स्वीकार किया ही नहीं। अकेले द्रव्यकी शुद्धता कहे और पर्यायकी शुद्धता किंचित् भासित न हो तो वह पर्याय शुद्ध द्रव्यकी ओर ढली ही नहीं है, इसलिये शुद्ध द्रव्यका भी सचमुच स्वीकार नहीं किया है। आत्माके शुद्ध स्वभावका स्वीकार करनेसे वह स्वभाव उल्लसित होकर पर्यायमें आता है,—अर्थात् पर्याय भी स्वभावमें अभेद होकर शुद्धरूप परिणमित होती है।

वस्तुमें कोई न कोई एक अवस्था तो विद्यमान होती ही है—ऐसा तो सामान्यतः अनेक लोग कहते हैं, किंतु यहाँ तो उसके अतिरिक्त विशेष बात यह है कि—'मेरी अवस्था मुझसे ही विद्यमान है'—ऐसा स्वभाव जिसने स्वीकार किया उसे निर्मल अवस्थाका ही

विद्यमानपना है। स्वभावकी प्रतीतिके बिना अज्ञानीको अनादिसे विकार ही विद्यमान है, स्वभावका विद्यमानपना उसे भासित नहीं होता । जहाँ निर्मलस्वभावकी विद्यमानता भासित हुई, वहाँ उस स्वभावके आश्रयसे हुई विद्यमान पर्याय भी निर्मल हो जाती हैं । यदि ऐसा न हो तो स्वभावका ही अभाव हो जाये, ऐसे अपने स्वभावको समझनेका अभ्यास करना भी धर्मका प्रयत्न है ।

यदि अन्तरमें प्रेम करे तब तो चैतन्य प्रभु निकट ही विराजमान है। अन्तरकी प्रीतिके अभावसे चैतन्य प्रभु दूर भासित होता है, किन्तु यदि गुरुगमसे चैतन्यका स्वरूप लक्षमें लेकर उसमें प्रीति लगाये तो प्रभु निकट ही है; स्वयं ही चिदानंद प्रभु है, जैसी प्रीति परमें है वैसी ही प्रीति यदि आत्मामें करे तो आत्माका अनुभव हुए बिना न रहे ।

अशुद्धताकी दृष्टिमें आत्माकी विद्यमानता दिखाई नहीं देती; यदि स्वभावको देखे तो पर्यायमें अन्तर पड़े बिना न रहे । जिसप्रकार पैसेकी प्रीति वाला पच्चीसलाख रुपये कमाले और उसकी रुचिमें अन्तर न पड़े ऐसा नहीं हो सकता, उसीप्रकार चैतन्यके लक्षसे अन्तर स्वभावका लाभ होने पर पर्यायकी रुचिमें अन्तर न पड़े ऐसा नहीं होता; अर्थात् पर्यायमें स्वभावकी निःशंकता तथा उस ओरका उल्लास आये बिना नहीं रहता । यदि निर्मल अवस्था न हो तो वहाँ वस्तु ही विद्यमान नहीं है; अर्थात् अज्ञानीको वस्तु स्वभावका निर्णय या निःशंकता नहीं है । चैतन्य स्वभावमें उतरकर जहाँ उसका निर्णय किया वहाँ उस समयकी विद्यमान पर्याय निर्मल हुई है । निर्मल पर्यायकी विद्यमानताके बिना स्वभावका निर्णय किसने किया ? कहीं मलिनतामें ऐसी शक्ति नहीं है कि स्वभावका निर्णय कर सके ? देह सो मैं, रागका वेदन सो मैं,—ऐसा स्वीकार करने वाली पर्यायमें स्वभावका स्वीकार नहीं है, इसलिये वह पर्याय स्वयं स्वभावोन्मुख नहीं है । जहाँ स्वभावोन्मुख होने वाली निर्मल पर्याय विद्यमान न हो वहाँ शुद्ध

स्वभावके अस्तित्वका निर्णय भी नहीं होता। इसप्रकार शुद्ध स्वभावके अस्तित्वका निर्णय और शुद्धपर्याय रूप परिणमन—यह दोनों एक साथ ही हैं। और इसप्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा विद्यमान अवस्था वाला है।

'विद्यमान अवस्था वाला है।'—कौन ?—कहते हैं ज्ञानस्वभावी आत्मा। इसप्रकार विद्यमान अवस्था मयपनेका निर्णय करनेवालेकी दृष्टि ज्ञान स्वभावी आत्मा पर जाती है और उस स्वभावकी दृष्टिसे उसकी विद्यमान अवस्था निर्मल ही वर्तती है। आत्माके अस्तित्वका निर्णय करे और उसमें निर्मल पर्याय न आये ऐसा नहीं होता। शुद्ध द्रव्य और शुद्ध पर्याय—दोनों मिलकर अभेदरूपसे आत्माका अस्तित्व है।

आत्माकी पर्याय विद्यमानपना निमित्तके कारण तो नहीं है; पूर्व अवस्थाके कारण भी वर्तमान पर्यायका विद्यमानपना नहीं है; तथा एक समयमें जो विकार है उसके कारण भी निर्मलताका विद्यमानपना नहीं है; किन्तु चैतन्य द्रव्यमें एक भाव शक्ति है, इसलिये उसीके आधारसे निर्मल पर्यायकी विद्यमानता है। आत्माकी सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्ररूप पर्यायकी विद्यमानता किसी परके आधारसे है ऐसा नहीं है, किन्तु आत्माकी अपनी भाव शक्तिसे उस अवस्थाका विद्यमानपना है। आत्माका जो त्रिकाल स्थायी भाव ध्रुव अपादान है और अवस्थाकी विद्यमानता वह क्षणिक उपादान है।

छट्ठे—सातवें गुणस्थानमें मुनिदशा विद्यमान वर्तती है। वह मुनि दशा क्या शरीरकी दिगम्बर दशाके आश्रित है ?—कहते हैं—नहीं; पंचमहाव्रतके विकल्पके आश्रित है ?—कहते हैं—नहीं पूर्व पर्यायके आश्रित है ?—कहते हैं नहीं; एकगुणके भेदके आश्रित है ?—कहते हैं नहीं; वह मुनिदशा तो अनन्तशक्ति स्वरूप अभेद आत्माके आश्रित ही विद्यमान वर्तती है।—इसप्रकार अभेद आत्माके सन्मुख देखकर ही सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्रादि निर्मल पर्यायकी विद्यमानताका निर्णय होता है, और

तभी ज्ञानीकी, मुनिकी या सर्वज्ञकी सच्ची पहिचान होती है।

आत्मा स्वयं निर्मल पर्यायरूप विद्यमान वर्ते ऐसी उसकी भावशक्ति है; किन्तु उस भावशक्तिका कार्य ऐसा नहीं है कि विकारको अपनेमें प्रवर्तमान करे। विकार तो विपरीत परिणमन है उसे शक्तिका कार्य नहीं कहा जा सकता। कारण जैसा कार्य होता है; अर्थात् निर्मल कार्य हो उसीका शक्तिका कार्य कहा जाता है। आत्माकी एक भी शक्ति ऐसी नहीं है जो विकारका कारण हो, इसलिये विकार सचमुच आत्माकी शक्तिका परिणमन नहीं है। इसलिये जिसकी दृष्टि मात्र विकार पर है उसके परिणमनमें आत्माका स्वभाव आया ही नहीं है। यदि आत्माके स्वभावको दृष्टिमें ले तो आत्मा स्वयं निर्मल पर्यायरूप परिणमित हो जाये—ऐसा ही उसका स्वभाव है। निर्मलतारूप परिणमित हो जाये और विकारका अपनेमें अभाव रखे ऐसी आत्माकी अचिन्त्यशक्ति है। अहो ! जीवको कभी अपने मूल स्वभावकी महिमा नहीं आई।

सम्यग्दर्शन वह श्रद्धा गुणकी पर्याय है। उस पर्यायको यदि परके या विकल्पके कारण माने तो उस समय श्रद्धा गुणकी पर्याय विद्यमान न रही।—इसलिये वहाँ सचमुच सम्यग्दर्शन ही नहीं रहा; मिथ्यात्व हो गया; और मिथ्यात्वको वास्तवमें श्रद्धा गुणकी पर्याय नहीं मानते।

स्वद्रव्यका आश्रय करके और पर द्रव्यका आश्रय छोड़कर निर्मल पर्यायके भावरूप और विकारके अभावरूप परिणमित हो—ऐसा आत्माका अनेकान्त स्वभाव है और वही धर्म है।

स्वका आश्रय छोड़कर परके आश्रयसे ही जो मात्र विभावरूप परिणमित होता है और विभावके अभावरूप परिणमित नहीं होता उसे स्व–परकी एकता बुद्धिरूप एकांत है–मिथ्यात्व है।

अज्ञानी कहता है कि आत्मामें कर्मोंका जोर है; किन्तु यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मामें अभावशक्तिका इतना जोर है

कि कर्मको अपनेमें आने ही नहीं देता। भावशक्तिके कारण वर्तमान निर्मल पर्याय वर्तती है और उसी समय अभावशक्तिके कारण उस पर्यायमें कर्मोंका–विकारका तथा पूर्व–पश्चात्की पर्यायोंका अभाव वर्तता है। यदि भावशक्ति न हो तो निर्मल पर्यायरूप भवनपरिणमन नहीं हो सकता; और यदि अभावशक्ति न हो तो पूर्वकी विकारी पर्यायके अभावरूप परिणमन नहीं हो सकता; इसलिये वे दोनों शक्तियाँ आत्मामें एक साथ परिणमित होती हैं। ऐसे आत्माकी पहिचान करके उसका अवलम्बन करने पर अनुक्रमसे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप निर्मल परिणमन होता है और विभाव–परिणामका अभाव होता है।—इसीमें मोक्षका पुरुषार्थ है।

चैतन्यस्वभावोन्मुख होते ही मिथ्यात्वके अभावरूप और सम्यक्त्वके सद्भावरूप परिणमन होता है। जो पर्याय अन्तर्मुख होकर स्वभाव सन्मुख हुई उस पर्यायमें स्वभावका परिणमन हुए बिना नहीं रहता। स्वभाव पर दृष्टि जानेसे स्वभावकी निर्मलताके भावरूप और विकारके अभावरूप जो पर्याय हुई उस पर्यायकी विद्यमानतामें सम्यक्त्वीका आत्मा वर्तता है। किन्तु रागादि में वह नहीं वर्तता; उसके तो अभावमें वर्तता है।

देखो, यह सम्यक्त्वीकी पहिचान। सम्यक्त्वीका आत्मा कहाँ रहा है? स्वर्ग या नरकादिके संयोगमें सम्यक्त्वीका आत्मा नहीं है; रागमें भी सम्यक्त्वी का आत्मा नहीं है; आत्माके आश्रयसे जो निर्मल पर्याय विद्यमान वर्तती है उसीमें सचमुच सम्यक्त्वीका आत्मा है। इसके अतिरिक्त रागसे या संयोगसे पहिचानने जाये तो उसप्रकार सम्यक्त्वीके आत्माकी यथार्थ पहिचान नहीं होती।

अहो! आत्माका स्वभाव तो विकारके अभावरूप है; उस स्वभावके आश्रयसे तो विकारका अभाव होता जाता है; उसके बदले विकारको रखना चाहें तो उसे आत्माके स्वभावकी प्रतीति नहीं है।

हे जीव! तेरा स्वभाव विभावके अभाव वाला है।

तेरा ज्ञान अज्ञानके अभाव वाला है।
तेरी श्रद्धा विपरीतताके अभाव वाली है।
तेरा आनन्द आकुलताके अभाव वाला है।
तेरा चारित्र कषायके अभाव वाला है।
तेरी सर्वज्ञता अल्पज्ञता और आवरणके अभाव वाली है।
तेरी स्वच्छता मलिनताके अभाव वाली है।
तेरा जीवन भावमरणके अभाव वाला है।
तेरा सुख, दुःखके अभाव वाला है।
तेरी प्रभुता दीनता (पामरता) के अभाव वाली है।

—इसप्रकार तेरी समस्त शक्तियाँ विभावके अभाव वाली हैं। ऐसे स्वभावका स्वीकार होनेसे पर्यायमें भी वैसा परिणमन हो जाता है; यही धर्मकी रीति है। स्वभावकी शुद्धताको प्रतीतिमें लेकर उसके आश्रित परिणमन करनेके अतिरिक्त जगतमें अन्य कोई धर्मका उपाय है ही नहीं।

पहले विकल्प होता है, उस विकल्पके कारण कहीं मिथ्यात्वके अभावरूप और सम्यक्त्वके भावरूप परिणमन नहीं होता; किन्तु शुद्ध आत्माके आश्रयसे ही मिथ्यात्वके अभावरूप और सम्यक्त्वके भाव रूप परिणमन होता है। निर्मल पर्यायकी एकता अपने चैतन्यप्रभुके साथ है। अन्तर्मुख होकर श्रद्धा–ज्ञान–आनन्दकी जो परिणति अपने चैतन्य स्वामीके साथ एकता करे वह चैतन्यपरिणति है और जो परिणति अपने चैतन्य–पतिके साथ एकता न करके परमें और विकारमें लाभ मानकर उनके साथ एकता करे वह परिणति दुराचारिणी है, उसे चैतन्य प्रभुकी परिणति नहीं कहते। वर्तमान पर्याय अन्तर्मुख होकर त्रिकाली द्रव्यके साथ एकता करे उसका नाम अनेकान्त है। और परके साथ एकता करे वहाँ द्रव्य शुद्ध और पर्याय अशुद्ध, इसलिये द्रव्य—पर्यायकी एकतारूप अनेकान्त नहीं हुआ किन्तु एकान्त हुआ।

यहाँ आचार्यदेव अनन्त शक्ति वाले आत्म स्वभावके साथ एकता कराके अनेकांत कराते हैं। साधकको पर्यायमें अल्पराग होने पर भी शुद्ध स्वभावके साथ एकताकी दृष्टिमें रागका अभाव है। प्रथम ऐसे निर्मल स्वभावका लक्ष करें तो उस लक्षके अनुकरणसे निर्मल परिणमन हो।

अहो ! आत्मा कैसा है ?—कि अपनी शुद्ध पर्यायकी विद्यमानता सहित है। शुद्ध पर्यायके बिना द्रव्यकी सिद्धि नहीं होती। यह चैतन्य द्रव्य इच्छा रहित होता है, राग रहित होता है, संग रहित होता है, कर्म और शरीर रहित होता है, किन्तु निर्मल दशाकी विद्यमानता रहित नहीं होता।

प्रश्नः—अज्ञानीको आत्मा तो है, किन्तु निर्मल अवस्था नहीं है।

उत्तरः—यहाँ अपने आत्माका निर्णय करनेकी बात मुख्य है। अज्ञानीको अपने आत्माके अस्तित्वका निर्णय है ही नहीं, इसलिये उसकी प्रतीतिमें तो द्रव्यका अस्तित्व नहीं है, उसे तो रागका ही अस्तित्व है। मेरा शुद्ध द्रव्य है, किन्तु निर्मल पर्याय नहीं है—ऐसा कहने वालेको सचमुच शुद्ध द्रव्यका भी निर्णय नहीं हुआ है। शुद्ध द्रव्यका निर्णय हुआ हो वहाँ शुद्ध पर्याय होती ही है।

ऐसी आत्माकी भावशक्ति है। यह भावशक्ति आत्माका रागादिसे और परसे भिन्नत्व तथा वर्तमान निर्मल पर्यायके साथ एकत्व बतलाती है। और वर्तमान द्रव्यके साथ अभेद हुई निर्मल पर्यायके अतिरिक्त अन्य पर्यायें तथा रागादि अविद्यमान हैं—ऐसा अभावशक्ति बतलाती है। ज्ञान स्वभावको लक्षमें लेकर परिणमन करनेमें ऐसी भावशक्ति और अभावशक्ति भी निर्मलतारूप परिणमित होती है।—इसप्रकार ज्ञान स्वभावी आत्मामें एक साथ अनेक शक्तियोंका परिणमन होनेसे वह स्वयमेव अनेकान्त स्वरूप है। ऐसे अनेकान्त मूर्ति भगवान आत्माको पहिचानना सो अपूर्व धर्म है।

आत्माके शुद्ध स्वभावमें विकारका अभाव है, और उस स्वभावमें एकाग्र हुई निर्मल पर्यायमें भी विकारका अभाव

है,—ऐसी अभावशक्ति है; इसलिये "विकारका अभाव करूँ" ऐसा नहीं रहता, क्योंकि निर्मलरूप वर्तती हुई पर्याय स्वयं विकारके अभाव स्वरूप है। जैसे कि सम्यक्त्व पर्याय हुई वह स्वयं मिथ्यात्वके अभाव स्वरूप ही है; इसलिये "मिथ्यात्वका अभाव करूँ" ऐसा उस पर्यायमें नहीं रहता। मिथ्यात्वका अभाव करूँ—ऐसे लक्षमें अटके तबतक मिथ्यात्वका अभाव नहीं होता, किन्तु शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिसे जहाँ सम्यक्त्व परिणमित हुआ वहाँ मिथ्यात्वका ही अभाव वर्तता है। इसप्रकार निर्मलताके भावमें विकारका अभाव ही है;—ऐसा आत्माका स्वभाव है। इसप्रकार न्याय पूर्वक आत्माके शुद्ध स्वभावका निर्णय करके अंतर् अनुभवसे उसकी प्रतीति करना वह सम्यग्दर्शन है। और उस सम्यग्दर्शनके अभिप्रायमें शुद्ध आत्माके अतिरिक्त परभावका त्याग ही वर्तता है।

जिसप्रकार मोचीका थैला खोलनेसे उसमेंसे तो चमड़ेके दुर्गन्धित टुकड़े निकलते हैं; किन्तु चक्रवर्तीका करंड खोलनेसे उसमेंसे तो रत्न–मणिके हार निकलते हैं। उसीप्रकार यह शरीर तो दुर्गन्धित चमड़े जैसा है, उसकी क्रियामेंसे कहीं सम्यग्दर्शनादि रत्न नहीं निकलते; शरीरके लक्षसे तो रागद्वेषके मलिन भाव होते हैं और चैतन्य चक्रवर्ती भगवान आत्माकी शक्तिका करंड खोलनेसे उसमेंसे निर्मल पर्यायकी परम्परारूप मालाएँ निकलती हैं; चक्रवर्तीका भी चक्रवर्ती ऐसे इस चैतन्य भगवानके भंडारमें सम्यग्दर्शन–मुनिदशा–केवलज्ञान–सिद्ध दशा आदि निर्मल रत्नोंकी मालाएँ पड़ी हैं। भंडार खोलकर उन्हें बाहर निकालनेकी यह रीति आचार्य भगवानने बतलाई है। अरे जीव अन्तर्मुख होकर एक बार अपनी चैतन्य शक्तिके भंडारको खोल तेरी चैतन्य शक्ति ऐसी है कि उसे खोलने पर उसमेंसे निर्मल पर्याय निकलेंगी–विकार नहीं निकलेगा, विकारसे तो वह शून्य है।

एक समयकी मलिन अवस्थामें विकार है वह त्रिकाली स्वभावमें नहीं है। त्रिकाली स्वभावके आश्रयसे निर्मल अवस्थारूप वर्तते हुए भगवान आत्मामें मिथ्यात्वादिका शून्यपना है।

इसप्रकार त्रिकालमें और त्रिकालके आश्रयसे वर्तती हुई वर्तमान अवस्थामें—इन दोनोंमें विकारका अभाव है। साधक जीवको अल्प रागादि है, किन्तु उनके साथ एकतारूप परिणमन नहीं है, इसलिये स्वभावमें एकतारूप परिणामनमें उनका भी अभाव है। अभावशक्तिका भान होने पर विकारके अभावरूप परिणमन होता है अज्ञानी जीवमें भी यह सब शक्तियाँ होने पर भी उनका अस्वीकार करके और विकारका ही स्वीकार करके वह भटकता है। आत्माके समस्त गुणोंमें निर्मल अवस्थारूप वर्तनेकी "भावशक्ति" है, किन्तु जो उसका आश्रय करे उसे वैसा परिणमन होता है।

शुद्ध स्वभावकी सन्मुखता होने पर विभावसे विमुखता हो जाती है। दो आदमी हों वहाँ एकके साथ बातचीत करनेसे दूसरेके साथका सम्बन्ध छूट जाता है; उसी प्रकार चिदानन्द स्वभावकी ओर उन्मुख होकर उसमें स्थिर होनेसे विकारका सम्बन्ध सहज ही छूट जाता है। शुद्ध स्वभावकी ओर जितना जोर दे उतना विकारका अभाव हो जाता है।—इसमें परमार्थ व्रत—तप—त्याग आदि समस्त धर्मोंका समावेश हो जाता है। त्रिकाल स्वभावकी शुद्धता पर जोर न देकर जो उससे विरुद्ध ऐसे विकार पर या निमित्त पर जोर देता है उसकी पर्यायमें शुभाशुभरूप विभावका परिणमन होता है, और वह अधर्म है। चिदानन्द स्वभावकी ओर उन्मुख होकर उसकी सम्यक् श्रद्धा की, उस श्रद्धामें मिथ्यात्वका त्याग है, उसके सम्यग्ज्ञानमें अज्ञानका त्याग है और उसकी लीनतामें अव्रतका त्याग है। इसके अतिरिक्त धर्म होनेका तथा अधर्मके त्यागका अन्य कोई उपाय नहीं है; अन्य कथन हों वे सब निमत्तके—व्यवहारके कथन हैं। आत्मस्वभावमें एकता होने पर कैसे—२ निमित्तका सम्बन्ध छूटा उसका ज्ञान करानेके लिये व्यवहार कथन है कि आत्मा ने यह छोड़ा।

प्रथम यथार्थ भेदज्ञान करके अभिप्राय बदल जाना चाहिये कि चैतन्य स्वभाव ही मैं हूँ; देहादि या रागादि वे सब मुझसे पर हैं।

जिसप्रकार कुँवारी कन्या पिताके घरको तथा सम्पत्तिको "यह मेरा घर और यह मेरी सम्पत्ति"—ऐसा मानती है; किन्तु जहाँ उसकी सगाई हुई कि तुरन्त उसका अभिप्राय बदल जाता है कि पिताका घर अथवा पिताकी सम्पत्ति मेरी नहीं है, किन्तु पतिका घर और पतिकी सम्पत्ति मेरी है। अभी तो पिताके घरमें रहती है, फिर भी उसका अभिप्राय पलट जाता है। उसीप्रकार अज्ञानीने अनादि संसारसे "देह और राग सो मैं"—ऐसा माना है; किन्तु जहाँ चैतन्य स्वभावकी दृष्टि करके सिद्ध दशाके साथ सम्बन्ध जोड़ा वहाँ उसकी दृष्टि पलट गई कि सिद्ध भगवान जैसी सम्पत्तिवाला स्वभाव सो मैं हूँ, राग और देहादि मैं नहीं हूँ। अभी तो अल्प रागादि तथा देहादिका सम्बंध होने पर भी उसका अभिप्राय पलट गया है और अभिप्राय पलटनेसे उस अभिप्रायके अनुसार परिणमन भी पलट गया है। अर्थात् सिद्ध दशाकी ओरका परिणमन होने लगा है और संसारकी ओरका परिणमन छूटने लगा है। भले ही चाहे जितने व्रत तप-त्याग करे, हजारों रानियोंको छोड़कर वैराग्यपूर्वक द्रव्यलिंगी मुनि हो, किंतु इसप्रकार शुद्ध स्वभावके साथका सम्बंध जोड़कर विकारके साथका सम्बंध न तोड़े तब तक किंचित् भी धर्म नहीं होता; वह अनादि संसाररूपी पीहरमें ही रहता है!

धर्मी जानता है कि मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय तीनोंमें कर्मका तो अभाव है, और कर्मके निमित्तसे होनेवाले विकारका भी अभाव है। द्रव्य-गुणमें तो त्रिकाल विकार नहीं है और पर्याय भी उस ओर उन्मुख है इसलिये उसमें भी विकार नहीं है इसप्रकार आत्मस्वभावमें विकारका अभाव है—ऐसी प्रतीति द्वारा साधकको क्रमशः विकारका पूर्ण अभाव होकर सिद्ध पद प्रगट होता है। विकारके अभावरूप स्वभावकी प्रतीति करे उसे पर्यायमें विकारका अभाव हुए बिना नहीं रहता। पर्याय बुद्धिसे ही आत्मा विकारी भासित होता है; स्वभाव बुद्धिसे देखने पर आत्माके द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों विकारसे शून्य हैं; संसार उनमें है ही नहीं। संसार किसका ?—कि जो उसे अपना मानें

उसका; अर्थात् विकारमें जिसकी बुद्धि है उसीको संसार है। स्वभावकी बुद्धिवाला साधक तो कहता है कि मुझमें संसार है ही नहीं;—ऐसे शुद्धात्माकी दृष्टि करना ही संसारसे छूटकर सिद्ध होनेका उपाय है।

आत्माका ऐसा अभाव स्वभाव है कि वह परसे और विकारसे शून्य है। ज्ञान–आनन्दादि निज भावोंसे भरा हुआ और रागादि परभावोंसे रहित है। अभावशक्तिके कारण आत्मस्वभावमें परका और विकारका अभाव है; किन्तु अभावशक्ति स्वयं कहीं आत्मामें अभावरूप नहीं है; अभावशक्ति स्वयं तो आत्माके स्वभावरूप है। परके अभावरूप भाव भी आत्माका स्वभाव है।

आत्मामें परका तो अभाव है, उसका तो कभी भाव नहीं होता। आत्माके स्वभावमें विकारका अभाव है, उसका भी कभी भाव नहीं होता, किन्तु आत्माकी भविष्यकी केवल ज्ञानादि पर्यायें जो इस समय अभावरूप हैं उनका भाव होता है। साधकको ऐसे अपने आत्म स्वभावकी प्रतीति है, केवलज्ञानकी भी प्रतीति है, विकारके अभावकी भी प्रतीति है, उसे वर्तमान निर्मलता वर्तती है और अल्पकालमें विकारका सर्वथा अभाव होकर जगमगाता हुआ केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

[—यहाँ तेतीसवीं भावशक्ति, तथा चौंतीसवीं अभावशक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

[३५–३६]

भाव–अभावशक्ति और अभाव–भावशक्ति

आत्माकी ये शक्तियाँ बताकर आचार्य भगवान कहते हैं कि अरे जीव ! तू घबराना मत...'अरेरे ! बहुत कालसे सेवन किया हुआ अज्ञान अब कैसे टलेगा ? व मुझे सम्यग्ज्ञान कैसे होगा ?'—ऐसा तू घबराना मत। अनादिसे अज्ञानका सेवन किया इसलिये वह अज्ञान सदा टिककर ही रहे—ऐसा नहीं, व अनादिसे ज्ञान नहीं किया इसलिये अब वह ज्ञान नहीं ही हो—ऐसा भी नहीं। अनादिसे समय समय विद्यमान ऐसे अज्ञानका 'अभाव' करके, अपूर्व सम्यग्ज्ञानका 'भाव' हो ऐसी शक्तियाँ तेरी आत्मामें भरी हैं; उसके सन्मुख हो...तो तेरी घबराहट मिट जाय।

"आत्मामें भवति (वर्तती) हुई पर्यायके व्ययरूप भाव–अभावशक्ति है;" तथा "न भवति हुई पर्यायके उदयरूप अभाव–भाव-शक्ति है।" आत्मामें पहले समय जो पर्याय विद्यमान हो उसका दूसरे समय अभाव हो जाता है और पहले समय जो पर्याय अविद्यमान हो उसका दूसरे समय भाव (उत्पाद) होता है; इसप्रकार प्रति समय एक पर्यायका व्यय और दूसरी पर्यायका उत्पाद अनादि–अनन्त होता

ही रहता है—ऐसा ही वस्तुका स्वभाव है; किसी अन्यके कारण पर्यायके उत्पाद–व्यय नहीं होते।

"भावका अभाव" और "अभावका भाव" इन दोनोंका एक ही समय है भिन्न–भिन्न समय नहीं है। जैसे कि साधकको केवलज्ञान प्रगट हुआ वहाँ पहले जो साधक दशा थी उसका अभाव हुआ, वह "भावका अभाव" है, और पहले जो केवलज्ञान दशा नहीं थी वह प्रगट हुई उसका नाम "अभावका भाव" है। इसप्रकार भाव–अभाव-शक्ति और अभाव–भावशक्ति–यह दोनों शक्तियाँ एक ही समयमें कार्य कर रही हैं। यदि भावका अभाव न हो तो केवलज्ञान होने पर भी छद्मस्थ साधकदशा दूर न हो, और अभावका भाव न हो तो साधक दशा दूर होने पर भी केवलज्ञानकी उत्पत्ति न हो,—अर्थात् कोई पर्याय ही न रहे, और पर्यायके बिना द्रव्यका भी अभाव ही हो। इसलिये इन दोनों शक्तियोंसे अपना स्वरूप समझना चाहिये।

प्रत्येक आत्मामें प्रति समय इसप्रकार हो ही रहा है उसकी यह बात है। द्रव्यरूपसे आत्मा अखंड विद्यमान रहता है और उसकी पर्यायें स्वयमेव बदलती रहती हैं। पहले समय जो पर्याय विद्यमान हो उसका दूसरे समय अभाव हो जाता है, और पहले समय जो पर्याय न हो वह दूसरे समय नई उत्पन्न होती है। पहली पर्याय आगे बढ़कर दूसरे समय भी चलती रहे—ऐसा कभी नहीं होता; तथा एक पर्याय दूर होकर दूसरे समय नई पर्याय उत्पन्न न हो ऐसा भी कभी नहीं होता।

अहो! अभावरूप पर्यायका दूसरे समय भाव हो— ऐसा अपना स्वभाव है, तो फिर सम्यग्दर्शन या केवलज्ञानादि पर्यायें प्रगट करनेके लिये बाह्यमें देखना कहाँ रहा? बाह्यमें देखना तो नहीं रहा किन्तु पर्यायकी ओर देखना भी नहीं रहा। क्योंकि जिस पर्यायमें केवलज्ञानका अभाव है उस अभावमेंसे कहीं केवलज्ञान नहीं होता। पहले समय केवलज्ञानका अभाव है तो दूसरे समय केवलज्ञानका भाव

कहाँसे होगा ?—द्रव्यमेंसे ही उस अभावका भाव होगा; अभावका भाव करनेकी शक्ति द्रव्यके स्वभावमें है; इसलिये उस स्वभावकी ओर देखनेसे ही पहले अविद्यमान ऐसी निर्मलपर्याय प्रगट हो जाती है। जो जीव द्रव्य सन्मुखदृष्टि नहीं करता उसे भी प्रति समय "अभावका भाव" तो होता ही रहता है, किन्तु वह अभाव-भाव उसे विकाररूप ही होता रहता है। साधकको तो स्वभावके अवलम्बनसे, निर्मलरूपसे अभाव-भाव होता रहता है; प्रति समय विशेष-विशेष निर्मल पर्याय होती रहती है। सिद्ध भगवानको यद्यपि अब पर्यायकी निर्मलतामें वृद्धि होना शेष नहीं रहा, तथापि उन्हें भी शुद्ध पर्यायके भाव-अभाव तथा अभाव-भाव होते ही रहते हैं; सिद्धको एककी एक पर्याय नहीं रहती, किन्तु पहले समयकी शुद्ध पर्यायका दूसरे समय अभाव (भाव-अभाव), और पहले समय अविद्यमान ऐसी शुद्ध पर्यायका दूसरे समय उत्पाद (अभाव-भाव) इसप्रकार पर्यायमें भाव-अभाव तथा अभाव-भाव उन्हें भी होता ही रहता है।

रागादि मलिनता तो आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये वह तो आत्माके साथ नित्य नहीं रहती; किन्तु आत्माके स्वभावके आश्रयसे जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई वह पर्याय भी दूसरे समय नहीं रहती। दूसरे समय उसका अभाव होकर दूसरी नई निर्मल पर्याय प्रगट होती है। इसप्रकार निर्मल पर्यायमें भी प्रति समय भिन्न-भिन्न अनुभव है। जो पर्याय उत्पन्न हुई उसका दूसरे समय विनाश, और जो पर्याय—अविद्यमान थी उसका उत्पाद—इसप्रकार पर्यायका परिवर्तन सदा होता ही रहता है। साधकका ज्ञान एक-एक समयकी पर्यायको पृथक् करके नहीं पकड़ सकता, किन्तु वस्तु स्वभाव ऐसा है—ऐसा उसकी प्रतीतिमें आजाता है और उस प्रतीतिके बलसे उसकी पर्यायोंका परिणमन तो द्रव्य स्वभावका ही अवलम्बन लेनेसे निर्मल-निर्मलरूपसे होता रहता है।

प्रवचनसार गाथा ११३ में कहते हैं कि—"पर्यायें पर्यायभूत स्वव्यतिरेक व्यक्तिके कालमें ही सत् होनेके कारण उससे अन्य कालों

असत् ही हैं।" तथा पर्यायोंका "क्रमानुपाती स्वकालमें ही उत्पाद होता है।" देखो, इसमें बहुत सरस सिद्धान्त है। पर्याय अपने कालके अतिरिक्त अन्य कालमें असत् है, इसलिये कोई भी पर्याय अपने समयको छोड़कर पहले या बादके आगे—पीछे समयमें नहीं होती। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायोंका क्रमानुपाती स्वकालमें उत्पाद होता है। शरीर हिले—चले—बोले या न हिले—चले—बोले,—उन सबमें परमाणुओंका स्वकालमें उत्पाद है; जीवकी उपस्थिति या अनुपस्थिति के कारण उसमें कुछ नहीं होता।

प्रत्येक द्रव्यमें, प्रति समय एक पर्यायका व्यय और दूसरी पर्यायकी उत्पत्ति होती ही रहती है। जो पर्याय थी वह गई, और नहीं थी वह हुई—इसमें भाव–अभाव और अभाव–भाव दोनों आ जाते हैं। भावका अभाव और अभावका भाव—ऐसे परिणमनकी अटूट धारा प्रत्येक वस्तुमें चल रही है। जो वस्तुके ऐसे परिणमनको ही नहीं मानते वे तो गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं, उन्हें तो मिथ्यात्वके अभावरूप और सम्यक्त्वके भावरूप परिणमन नहीं होता। द्रव्य—गुण तो त्रिकाल भावरूप रहते हैं और पर्याय तो एक समयके ही भावरूप है, दूसरे समय उसका अभाव होकर दूसरा नया भाव प्रगट होता है वहां त्रिकाली एकरूप भावके आश्रयसे साधककी पर्यायमें निर्मलताका भाव बढ़ता जाता है और मलिनताका अभाव होता जाता है। ऐसे परिणमनके बिना अज्ञानदशा दूर होकर साधकदशा अथवा साधकदशा दूर होकर सिद्धदशा नहीं हो सकती।

यहाँ जितनी शक्तियोंका वर्णन करते हैं वे सर्व शक्तियाँ प्रत्येक आत्मामें विद्यमान हैं; अनन्त शक्तियोंका धारक एक आत्मा है; जहाँ एक शक्ति है वहीं दूसरी अनन्त शक्तियाँ एक साथ विद्यमान हैं; इसलिये यदि एक शक्तिके द्वारा आत्म स्वभावको जाने तो अनन्त शक्तिवान चैतन्यमूर्ति आत्मा प्रतीतिमें आजाता है।

प्रश्नः—ऐसा सूक्ष्म समझकर क्या करना है? अन्तमें तो

क्रोधादि कम करनेका ही तात्पर्य है न ? भले ही ना समझ गड़रिये जैसा हो, तथापि इसे समझे बिना भी क्रोधादि कम करे तो धर्म हो जायेगा ?

उत्तरः—अरे भाई ! सांसारिक कार्योंमें तो तू बुद्धि–रुचि लगाता है और यहाँ गड़रियेका दृष्टान्त देकर तुझे बिना समझे धर्म करना है;—यह तो तेरी धर्मकी अरुचि ही है। आत्माका स्वभाव समझे बिना बड़े बैरिस्टरको या गड़रियेको—किसीको धर्म नहीं हो सकता; उसीप्रकार क्रोधादि भी सचमुच दूर नहीं होते। क्रोध क्या ? क्रोध करनेवाला और उसे कम करनेवाला कौन ? तथा उसका क्रोध रहित स्वभाव कैसा है ? वह सब जाने बिना किसके लक्षसे क्रोधादिका त्याग करेगा ? जिसप्रकार प्रकाशके भाव बिना अंधकारका अभाव नहीं होता; प्रकाश हो तभी अंधकार दूर होता है; उसीप्रकार क्रोध रहित ऐसे चिदानन्द स्वभावकी ओरका भाव प्रगट हुये बिना क्रोधका अभाव नहीं होता। ज्ञानी तो चैतन्यस्वभावमें एकता करके क्रोधादिका अभाव कर डालते हैं। ऐसे चैतन्यस्वभावके लक्ष बिना अज्ञानी क्रोध टालना चाहे तो क्रोध दूर नहीं होता। भले ही वह कषायकी मन्दता करे तथापि उसको अनन्तानुबन्धी कषाय तो विद्यमान ही है।

जैसे—दो व्यक्ति हैं; एक रत्नोंका पारखी है, वह तो हाथमें चिन्तामणि रत्न रखकर जिसका चिंतवन करे उसे प्राप्त करता है; और दूसरा गड़रिये जैसा है; वह रत्नको पहिचाने बिना हाथमें सफेद पत्थर लेकर चिन्तवन करता है; किन्तु इसप्रकार चिंतवन करनेसे कहीं चिंतित वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि उसने पत्थरको पकड़ रखा है। उसीप्रकार धर्मी तो अपनी दृष्टिमें चैतन्य चिन्तामणि अनन्तशक्ति सम्पन्न भगवान आत्माको लेकर उसका चिंतवन करता है, और उसके चिंतनसे वह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्राप्त करता है तथा कषायोंका अभाव करता है। किन्तु अज्ञानी अनन्तशक्ति सम्पन्न चैतन्य—चिन्तामणिको पहिचाने बिना राग—द्वेष, पुण्य—पापादि कषायोंको पकड़कर उनके चिन्तनसे—"यह करते—करते हमें

सम्यग्दर्शन हो, सम्यग्ज्ञान हो सम्यग्चारित्र हो,"—ऐसी इच्छा करता है; किन्तु इसप्रकार कहीं सम्यग्दर्शनादि नहीं हो सकते। इसप्रकार अपने शुद्ध स्वभावको समझ कर उसे पकड़े बिना (अर्थात् उसीका अवलम्बन किये बिना) सम्यग्दर्शनादि धर्म नहीं होते और कषायें दूर नहीं होती।

❁ आत्मामें शरीरादि जड़का तो त्रिकाल अभाव है।

❁ रागादि विकारका भी त्रिकाली स्वभावका अभाव है।

❁ स्वभावमेंसे प्रगट हुई एक समयकी निर्मल पर्यायका भी दूसरे समय अभाव हो जाता है और दूसरी पर्याय प्रगट होती है।

❁ शुद्ध द्रव्य स्वभाव त्रिकाल ज्योंका त्यों एकरूप बना रहता है, और वही अवलम्बनभूत है।

साधकपर्याय हो या सिद्धपर्याय हो,—सर्व पर्यायोंके समय शुद्ध द्रव्य स्वभाव तो सदैव एकरूप वर्तता है; किन्तु पर्यायमें साधकपनेके समय सिद्धपना नहीं होता। साधकपर्यायका अभाव हो तब सिद्धपर्यायका भाव होता है। एकके अभाव बिना दूसरीका भाव करना चाहे, अथवा एकके भाव बिना दूसरीका अभाव करना चाहे तो ऐसा नहीं हो सकता। मिथ्यात्वके अभाव बिना सम्यक्त्वका भाव अथवा सम्यक्त्वके भाव बिना मिथ्यात्वका भाव नहीं हो सकता; इसलिये पहले समय वर्तती हुई पर्यायका दूसरे समय अभाव होनेरूप भाव–अभावशक्ति, तथा पहले समय न वर्तती हुई पर्यायका दूसरे समय उत्पाद होनेरूप अभाव–भावशक्ति—ऐसी दोनों शक्तियाँ ज्ञान–स्वरूप आत्मामें विद्यमान हैं।—ऐसे शक्तिवान आत्माको पहिचाननेसे भगवान आत्माका शुद्धरूप अनुभव होता है, अर्थात् सम्यग्श्रद्धा–ज्ञानमें अनन्त शक्तिवान भगवान आत्मा प्रसिद्ध होता है, यही धर्म है और यही मोक्षका उपाय है।

ऐसे अपने आत्माको श्रद्धा–ज्ञानमें लिये बिना देहकी क्रिया

को या मंदरागको चारित्र मान ले, तथा वह करते–करते सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होगा—ऐसा मानले वह तो कैसी मूढ़ता है। उसमें तो चारित्रकी तथा सम्यग्दर्शनादिकी विराधना है। सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र क्या वस्तु है—उनकी महिमाकी उसे गंध भी नहीं है।

सिद्ध पर्याय वर्तमान अभावरूप होने पर भी उसका भाव होनेकी शक्ति द्रव्यस्वभावमें विद्यमान है; उसका विश्वास करनेसे सिद्ध पर्याय प्रगट हो जाती है। अभावपर्यायका भाव करनेकी शक्ति चैतन्यमें है; सिद्धपदका अभाव है, उसका भाव चैतन्यस्वभावके आश्रयसे होता है, उसके लिये किसी परके आश्रयकी आवश्यकता नहीं है। मेरी वर्तमान पर्यायमें केवलज्ञानका अभाव होने पर भी, उसका सदैव अभाव ही रहे ऐसा नहीं है; उसका भाव करनेकी शक्ति मेरे आत्मामें विद्यमान है;—इसप्रकार साधकको स्वशक्तिका विश्वास है, इसलिये उसे स्वशक्तिकी सन्मुखतासे अल्पकालमें केवलज्ञानका भाव प्रगट हो जाता है।

वर्तमानमें जिस पर्यायका अभाव है वह भविष्यमें प्रगट होकर भावरूप होती है।—कहाँसे प्रगट होती है?—तो कहते हैं कि–अपने स्वभावमेंसे। यह स्वभाव कैसा है?—तो कहते हैं कि–शुद्ध अनन्तशक्ति सम्पन्न है; उस स्वभावमें विकार नहीं है; इसलिये विकार प्रगट होनेकी बात न लेकर निर्मल पर्याय प्रगट होनेकी बात ही लेना चाहिये। इस समय आत्मामें सिद्ध पर्यायका अभाव है, इसलिये वह कभी प्रगट ही नहीं होगी—ऐसा नहीं है; क्योंकि आत्माकी अभाव–भावशक्ति ऐसी है कि भविष्यकी जिस निर्मल पर्यायका इस समय अभाव है वह बादमें भावरूप होती है।–ऐसी निज शुद्ध–शक्तिकी प्रतीति होनेसे साधकको ऐसा सन्देह नहीं होता कि भविष्यमें मेरे स्वभावसे अशुद्धता प्रगट होगी;— किंतु उसे तो स्वभावके विश्वास पूर्वक निःशंकता है कि–मेरे स्वभावमेंसे शुद्ध पर्यायका ही प्रवाह आदि–अनन्तकाल तक प्रवाहित रहता है; भविष्यमें

मेरे आत्मामेंसे विकारका "भाव" नहीं होगा; उसका तो "अभाव" होगा और केवलज्ञान तथा सिद्धपदका भाव होगा।

हे जीव! तेरी पर्यायमें हितका अभाव है और तुझे हित प्रगट करना है तो वह हित कहाँ ढूंढना? परमें या विकारमें ऐसी शक्ति नहीं है कि तुझे हित दे। अपने स्वभावमें ही हित ढूँढ़; उसीमें ऐसी शक्ति है कि हितरूप दशा अपनेमेंसे प्रगट करे।

अपने शुद्ध स्वभावको प्रतीतिमें लेकर उसके अवलम्बनसे पहले समयमें विद्यमान ऐसी निर्मल–निर्मल पर्यायोंको प्रगट करके धर्मी जीव उनका कर्त्ता होता है, किन्तु विकारका कर्त्ता नहीं होता; उसका तो अभाव करता जाता है; तथा शरीरादि जड़का तो आत्मामें अभाव ही है; इसलिये उसका भी कर्त्ता नहीं होता।

आत्मामें जड़का त्रिकाल अभाव है; वह कभी आत्मामें भावरूप नहीं होता; शुद्ध स्वभावमें विकारका अभाव है इसलिये उस शुद्ध स्वभावकी दृष्टिमें धर्मीको विकारी भाव भावरूप होकर प्रगट नहीं होते, उसे तो "अभाव" रूपसे ऐसी निर्मल पर्यायें ही "भाव"रूप होकर प्रगट होती हैं। ऐसा "अभाव-भावशक्तिका" सम्यक् परिणमन है। ऐसा सम्यक् परिणमन किसे होता है?—कि जिसकी दृष्टि शुद्ध द्रव्य पर है उसीको शुद्ध परिणमन होता है।

सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी जो निर्मल पर्याय पहले समय अभावरूप थी और दूसरे समय वह पर्याय प्रगट होकर भावरूप हुई;—तो उस "भाव"रूप कौन परिणमित हुआ है?

❀ शरीरादिका आत्मामें अभाव है,

❀ पहले समयके विकारका दूसरे समयमें अभाव है;

❀ पहले समयकी निर्मल पर्यायका भी दूसरे समयमें अभाव है;

—वे तीनों अभावरूप हैं; उनमेंसे कोई दूसरे समय भावरूप नहीं होते; तो फिर दूसरे समयका शुद्धभाव कहाँसे आया? तो कहते हैं कि शुद्ध द्रव्यमें ही वैसे भावरूप होनेकी शक्ति है, इसलिये वह स्वयं

ही दूसरे समयमें वैसे भावरूप हुआ है।—इसप्रकार शुद्धद्रव्यको लक्षमें लेकर जो उसके सन्मुख परिणमन करे उसीने अभाव–भाव शक्तिवाले आत्माको जाना और माना है। वर्तमान पर्यायमें ऐसी शक्ति नहीं है कि वह दूसरी शक्तिको प्रगट करे, इसलिये पर्याय दृष्टि द्वारा "अभाव–भाव" शक्तिवाले आत्माकी प्रतीति नहीं हो सकती। शुद्ध द्रव्य पर जिसकी दृष्टि नहीं है उसे आत्माकी शक्तियोंका निर्मल परिणमन नहीं होता।

वर्तमानमें जो निर्मल पर्यायें अभावरूप हैं उनके प्रगट होनेकी शक्ति मेरे आत्मामें है; इसलिये अपने आत्माकी शक्तिके सन्मुख होकर "अभावका भाव" करूँ;—ऐसा न मानकर अज्ञानी मानता है कि—परमेंसे, परके आलंबन द्वारा अपनी निर्मल पर्याय प्रगट करूँ; तो उसे निज शक्तिकी प्रतीति नहीं है। धर्मात्माको निज शक्तिकी प्रतीति है, वे परमेंसे अपनी पर्यायका प्रगट होना नहीं मानते, इसलिये अपनी निर्मल पर्याय प्रगट करनेके लिये वे परकी ओर या विकारकी ओर नहीं देखते, पर्यायबुद्धि नहीं करते, किंतु शुद्ध द्रव्योन्मुख होकर उसमेंसे निर्मल पर्याय प्रगट करते हैं। जहाँ निर्मल पर्यायकी शक्ति भरी होगी वहाँसे प्रगट होगी या बाह्यमेंसे आयेगी ?—जहाँ शुद्ध ज्ञान–आनन्दकी शक्ति विद्यमान है उस ओर उन्मुख होने पर उसीमेंसे ज्ञान–आनंदकी शुद्ध पर्याय प्रगट होती है। स्वशक्तिकी ओर उन्मुख हुये बिना बाह्यसे प्रगट करना चाहे तो अनन्तकालमें भी प्रगट नहीं हो सकता।

अज्ञानी तो परका अपनेमें "अभाव" है उसे "भाव"रूप करना चाहता है; आत्माकी अभाव–भावशक्तिकी उसे खबर नहीं है।

ज्ञानी तो "अभावरूप" ऐसी निर्मल पर्यायको अपनी स्वशक्तिमें अन्तर्मुख होकर "भाव"रूप करता है, इसलिये शुद्धतामेंसे शुद्धताको ही प्रगट करता जाता है। जिसकी दृष्टि शुद्धस्वभाव पर नहीं है वह विकारको बढ़ाना चाहता है। जो शुभाशुभ परिणाम हैं उन्हें दूसरे

ही क्षण प्रगट करूं—इसप्रकार उसे आश्रवकी ही भावना है; आत्माकी शुद्ध शक्तिकी भावना उसे नहीं है।

आत्मा जड़की क्रिया करता है, अथवा जड़की क्रियासे आत्माको लाभ होता है—ऐसा माननेवाला अपनेमें जड़का "भाव" करना चाहता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

उसीप्रकार विकारसे लाभ माननेवाला विकारको अपनेमें भावरूप रखना चाहता है, वह भी मिथ्यादृष्टि है, उसे प्रतिक्षण विकारका ही भाव होता है, किन्तु निर्मलताका भाव नहीं होता। दयादिके शुभ परिणामोंको मैं भविष्यमें टिका रखूंगा—ऐसी जिसकी भावना है उसे आश्रवकी भावना है, इसलिये संसारकी भावना है। सम्यग्दृष्टिकी भावना स्वभाव पर है; वह तो शुद्ध स्वभावकी भावनासे शुद्धताका ही भाव करता जाता है। मैं अनंत शक्तिका पिण्ड शुद्ध चैतन्य स्वभाव हूँ; मेरे स्वभावमें समस्त रागका अभाव है, मेरे स्वभावमें ऐसी शक्ति है कि जो निर्मल पर्याय पहले अभाव-रूप हो उसे प्रगट करूं—इसप्रकार अपने स्वभावको जानकर उसीकी भावनासे धर्मी जीव निर्मल पर्यायरूप परिणमित होता जाता है।

अनादि कालके अज्ञानी जीवने सत्समागमसे बहुमानपूर्वक स्वभावका श्रवण करके, फिर अन्तरोन्मुख होकर उस स्वभावकी प्रतीति की वहाँ अनादिकालीन मिथ्यात्वका अभाव हुआ (वह भाव-अभाव है,) और अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ (वह अभाव-भाव,) —ऐसा सम्यग्दर्शन हुआ उसी समय सिद्ध दशा वर्तमान नहीं है, तथापि भविष्यकी सिद्ध पर्याय प्रगट होनेकी शक्ति मेरे द्रव्यमें है—इसप्रकार सम्यक्त्वीको द्रव्यदृष्टिके बलसे सिद्धदशाकी निःशंकता हो गयी है। सिद्धदशा करूं या सम्यग्दर्शनादि करूं—ऐसे विकल्पसे कहीं सिद्धदशा या सम्यग्दर्शनादि नहीं होते; किन्तु निर्विकल्प द्रव्यस्वभावमें एकाग्र होने पर सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याय प्रगट हो जाती है; इसलिये धर्मीकी दृष्टिमें ऐसे शुद्ध द्रव्यस्वभावकी ही मुख्यता है।

"मोक्ष करूं"—ऐसा विकल्प आये, किंतु उस विकल्पकी मुख्यता नहीं है, विकल्पकी शरण नहीं है, शुद्ध स्वभावकी ही शरण है। उसीकी शरणसे मिथ्यात्व दूर होकर सम्यक्त्व होता है, उसीकी शरणमें अस्थिरता दूर होकर स्थिरता होती है; उसीकी शरणसे अल्पज्ञता दूर होकर सर्वज्ञता होती है। इसप्रकार शुद्ध द्रव्यस्वभावके आश्रयसे शुद्ध परिणमन होता है;—उसमें पुरुषार्थ भी साथ ही है; और वही सम्यक् पुरुषार्थ है। इसके अतिरिक्त एक पुरुषार्थ गुणको पृथक् करके पुरुषार्थ करने जाये तो उसे भेदके आश्रयसे राग ही होता है, किन्तु शुद्धता नहीं होती। "मैं पुरुषार्थ करूं"—ऐसे विकल्पसे सच्चा पुरुषार्थ नहीं होता। पुरुष अर्थात् शुद्ध आत्मा; उसके साथ परिणति एकाकार होकर शुद्धतारूप परिणमित हुई वही सच्चा पुरुषार्थ है; उसमें एकसाथ अनंतगुणोंका निर्मल परिणमन उछलता है। शुद्ध चैतन्यतत्वके सम्मुख होकर उसमें सावधानी की वहाँ अब विषयकषायरूपी चोर नहीं आ सकते।

इस चैतन्यस्वरूप आत्माके परिणमनमें ऐसा भाव—अभावपना है कि पहले समयकी अवस्था दूसरे समय अभावरूप हो जाती है। इसलिये प्रतिसमय उसकी अवस्था बदल जाती है। यदि एक ही अवस्था चलती रहे और भावका अभाव न हो तो अज्ञानीका अज्ञान कभी दूर हो ही नहीं सकता; साधककी साधकता कभी दूर हो ही नहीं सकती; उसीप्रकार नवीन पर्याय प्रगट होने रूप "अभाव—भाव" यदि न हो तो अनादिसे अभावरूप ऐसा सम्यग्ज्ञान कभी प्रगट हो ही नहीं सकता, केवलज्ञान प्रगट हो ही नहीं सकता; किन्तु ऐसा नहीं है।

आचार्य भगवान कहते हैं कि अरे जीव! तू आकुलित न हो......अरे रे! चिरकालसे जिस अज्ञानका सेवन किया है वह कैसे दूर होगा? और मुझे सम्यग्ज्ञान कैसे होगा?—इसप्रकार तू अकुलाना मत। अनादिकालसे अज्ञानका सेवन किया इसलिये वह अज्ञान सदैव बना ही रहता है—ऐसा नहीं है; और अनादिकालसे ज्ञान नहीं किया

इसलिये अब वह ज्ञान नहीं हो सकता—ऐसा भी नहीं है। अनादिसे प्रतिसमय विद्यमान ऐसे अज्ञानका अभाव करके अपूर्व सम्यग्ज्ञानका भाव होता है—ऐसी शक्तियाँ तेरे आत्मामें विद्यमान हैं; उसका एक बार विश्वास कर तो तेरी आकुलता दूर हो जाये। जो—जो पर्याय आती है वह "अभाव" को साथ लाती है, इसलिये दूसरे समय अवश्य ही उसका अभाव हो जायेगा। जिसप्रकार जो जन्मता है वह मरणको साथ ही लाता है; उसीप्रकार जो पर्याय जन्मती है वह दूसरे समय अवश्य ही नाशको प्राप्त होती है, और दूसरे समय नई पर्याय उत्पन्न होती है। शुद्ध द्रव्यका आश्रय करने वालेको वह पर्याय शुद्ध होती है; इसलिये हे भाई! तू अकुलाना नहीं; इस अपूर्ण पर्यायके समय ही उसके पीछे (अन्तर्स्वभावमें) पूर्ण शुद्ध पर्याय प्रगट होनेकी शक्ति तेरे आत्मामें भरी है, इसलिये उसके सन्मुख हो।

वर्तमानमें आत्माको संसार पर्यायका सद्भाव है, किन्तु उस "भावका अभाव" कर दे ऐसी शक्ति भी साथ ही विद्यमान है। यदि उसे प्रतीतिमें ले तो संसारका अभाव हुये बिना न रहे।

और वर्तमानमें इस आत्माको सिद्ध पर्यायका अभाव है, किन्तु उस "अभावका भाव" करनेकी शक्ति भी साथ ही विद्यमान है यदि आत्माके ऐसे स्वभावको प्रतीतिमें ले तो सिद्धदशा प्रगट हुये बिना न रहे।

—इसप्रकार "भाव–अभाव" और "अभाव–भाव" शक्ति वाले आत्मस्वभावको पहिचाननेसे संसार दूर होकर सिद्ध दशा होती है वह सिद्ध दशा होनेके बाद भी भाव–अभाव और अभाव–भाव तो होता ही रहता है अर्थात् एकके बाद एक पर्याय बदलती ही रहती है; किन्तु वे समस्त पर्यायें एक समान शुद्ध ही होती हैं, प्रतिक्षण नई-नई पर्यायका अनुभव होता रहता है।

भावका अभाव और अभावका भाव ऐसे अखंड प्रवाहकी धारामें साधक–धर्मीको शुद्धताकी वृद्धि होती जाती है।

जगतके चेतन या अचेतन समस्त पदार्थोंमें भी भावका अभाव और अभावका भाव ऐसा पर्यायका रूपान्तर अपने-अपने स्वभावसे हो ही रहा है। जो जीव ऐसे वस्तु स्वभावको जाने उसे जगतके किसी पदार्थमें "वर्तमान चालू पर्यायका मैं अभाव करूँ, अथवा न हो उसे उत्पन्न करूँ ऐसी भ्रम बुद्धि नहीं रहती; किंतु मोह रहित ज्ञातापना ही रहता है।

चैतन्य स्वभावकी अतिशय विराधना करनेवाला जीव निगोद दशाको (—आत्माकी नीचसे नीच दशाको) प्राप्त होता है; जीवके स्वभावको भूलकर देहकी अत्यन्त मूर्च्छासे वह निगोदका जीव एक अन्तमुंहूर्तमें उत्कृष्टरूपसे ६६,३३६ शरीर बदल लेता है; एक शरीर छोड़कर दूसरा और दूसरा छोड़कर तीसरा—इसप्रकार ६६,३३६ भव ४८ मिनटमें धारण करता है।—देखो उसकी ममताका फल !! और प्रतिक्षण वह अनंतानंत दुःखकी वेदना भोग रहा है—ऐसा अपार दुःख कि जिसे केवली भगवान ही जानें और वह निगोदका जीव ही भोगे ! और सिद्ध भगवन्त शरीर रहित रूपसे प्रति समय चैतन्यकी पर्याय बदलकर परिपूर्ण आनन्दका ही अनुभव कर रहे हैं। देहकी ममता तोड़कर देहसे भिन्न आनन्दस्वरूप आत्माकी आराधना की उसके फलमें सिद्धदशा प्रगट हुई; वहाँ प्रतिक्षण देहातीत अतींद्रिय आनन्दका ही वेदन है, एक आनन्दपर्याय बदलकर दूसरी और दूसरी बदलकर तीसरी—इसप्रकार आदि अनन्तकाल तक आनन्दकी ही धारा चलती रहती है। अहो ! वह आनन्द जगतके जीवोंको इन्द्रियों द्वारा गम्य नहीं है।

वर्तमान साधकदशामें सिद्ध दशाका अभाव होने पर भी उस अभावका भाव होनेकी शक्ति आत्मामें है। संसारपर्यायके समय सिद्ध-पर्याय प्रगट नहीं होती, किन्तु वह प्रगट होनेको शक्ति तो आत्मामें विद्यमान ही है। अन्तरमें शक्ति भरी है उसीमेंसे वह पर्याय चली आती है। जिसप्रकार पानीका विशाल सरोवर भरा हो, उसमेंसे धारा प्रवाहित होती रहती है; उसीप्रकार चैतन्य सरोवर ऐसे आत्माके

स्वभावमें निर्मल पर्यायें प्रगट होनेकी शक्ति भरी है उसीमेंसे निर्मलपर्यायोंका प्रवाह चला आता है;—लेकिन किसे ? कि जो अपने स्वभावकी ओर देखे उसे।

अहा ! अपने आनन्दके लिये मुझे कहीं परकी ओर देखना ही नहीं है......मेरा आत्मा ही आनन्द स्वभावसे परिपूर्ण भरा हुआ है; संतोंने उसीके अपार गीत गाये हैं।—इसप्रकार स्वसन्मुख होकर अपने स्वभावकी प्रतीति करना ही इन शक्तियोंके वर्णनका तात्पर्य है।

हे जीव ! सिद्धदशा आदि निर्मलपर्यायोंका इस समय तुझमें अभाव है और उनका भाव करना है; तो वह अभावका भाव किसके आधारसे होगा ? निमित्तके विकारके, या वर्तमान पर्यायके आधारसे वह भाव नहीं होगा; एक पर्यायमें दूसरी पर्यायको प्रगट करनेका सामर्थ्य नहीं है; किन्तु वस्तुके स्वभावमें त्रिकाल शक्ति विद्यमान है उसमेंसे प्रतिसमय अविद्यमान पर्यायोंका उत्पाद होता रहता है; इसलिये अभाव रूप ऐसी निर्मल पर्यायोंका भाव द्रव्यस्वभावकी सन्मुखतासे होता है। अभाव भाव शक्तिकी प्रतीति करने वाला द्रव्य स्वभाव सन्मुख होता है और द्रव्यके आश्रयसे उसे प्रतिक्षण विशेष-विशेष निर्मल पर्यायें प्रगट होती जाती हैं। अल्पज्ञताके समय सर्वज्ञताका अभाव है; किन्तु वस्तुमें सर्वज्ञताकी शक्ति त्रिकाल भरी है—उसकी धर्मीको प्रतीति है; और उस शक्तिके आधारसे ही सर्वज्ञताका विकास हो जायेगा (–अभावका भाव हो जायेगा)—ऐसी धर्मीको निःशंकता है। चौथे गुणस्थानमें पर्यायमें केवलज्ञानका अभाव होने पर भी सम्यक्त्वीको सर्वज्ञ शक्ति वाला आत्मस्वभाव प्रतीतिमें आगया है इसलिये श्रद्धा अपेक्षासे केवलज्ञान हो गया है। यदि सर्वज्ञ शक्तिका निःशंक निर्णय न हो तो उस जीवने आत्माको जाना ही नहीं।

पूर्णता प्रगट होनेसे पूर्व जिसमेंसे पूर्णता प्रगट होना है ऐसे स्वभावकी प्रतीति हो जाती है उसका नाम सम्यग्दर्शन है। यदि आत्माके स्वभावको प्रतीतिमें ले तो, "अरे रे ! अनादिका अल्पज्ञपना

है वह कैसे दूर होगा ?"—ऐसी शंका या आकुलता न रहे। विद्यमान ऐसी अल्पज्ञताका अभाव कर डाले और अप्रगट ऐसी सर्वज्ञता प्रगट करे—ऐसी शक्ति आत्मामें विद्यमान है—ऐसा साधकको आत्मविश्वास जागृत हो गया है, इसलिये अब उस शक्तिके अवलम्बनसे अल्पकालमें अल्पज्ञता दूर हो जायेगी और सर्वज्ञता प्रगट हो जायगी;—उसमें साधकको सन्देह नहीं रहता। अहो! अनन्त शक्तिसम्पन्न चैतन्य भगवान प्रतिसमय विराजमान हैं उसके सन्मुख होकर सेवन करते-करते साधकको अविद्यमान ऐसे केवलज्ञानादि भाव प्रगट हो जाते हैं। पर्यायके आधारसे पर्याय नहीं है इसलिये धर्मीकी दृष्टिमें पर्यायका अवलम्बन नहीं है किन्तु अखंड आत्मस्वभावका ही अवलम्बन है। जहाँ अखण्ड आत्माका अवलम्बन लिया वहाँ मिथ्यात्वका अभाव होकर सम्यग्दर्शन हुआ है और उसके बाद भी उसीके अवलम्बनसे साधकको निर्मल-निर्मल पर्यायोंके ही भाव-अभाव और अभाव-भाव होते रहते हैं। यह समझने जैसी बात है कि स्वभाव दृष्टिमें साधकको विकारका भाव-अभाव या अभाव-भाव नहीं है, किन्तु निर्मलताका ही भाव-अभाव और अभाव-भाव है; एक निर्मल पर्याय हुई उसका दूसरे समय अभाव और दूसरी निर्मलपर्यायका भाव; पुनश्च दूसरे समय उस निर्मलपर्यायका अभाव और तीसरी निर्मलपर्यायका भाव;—इसप्रकार स्वभावके आश्रयसे निर्मलताका ही भाव-अभाव और अभाव-भाव होता है। स्वभावकी दृष्टिमें विकारका तो अभाव ही है, उस दृष्टिमें विकारका परिणमन ही नहीं है, इसलिये विकारके भाव-अभावकी अथवा अभाव-भावकी इसमें मुख्यता नहीं है। यहाँ तो स्वभावोन्मुख होकर स्वभावके अवलम्बनसे निर्मल-निर्मल क्रमबद्ध पर्यायोंके भाव-अभावरूपसे तथा अभाव—भावरूपसे परिणमित साधक आत्माकी बात है: निर्मलपर्याय सहित आत्माकी बात है। मात्र विकाररूप परिणमित हो उसे वास्तवमें आत्माका परिणमन नहीं कहते। शुद्ध स्वभावके आश्रयसे आत्मा निर्मल पर्यायरूप परिणमित हो ही रहा है, वहाँ

"इस पर्यायको इधर पलट दूं" ऐसी पर्याय बुद्धि ज्ञानीको नहीं है, वह तो स्वभावके साथ एकता करके निर्मलरूप परिणमित होता जाता है।

भावका अभाव, और अभावका भाव–इसरूप प्रतिसमय परिणमित होता रहे ऐसा आत्माका स्वभाव है, इसलिये आत्माके सर्व गुण भी इसीप्रकार परिणमित हो रहे हैं। जहाँ अनन्त गुणोंके पिंडरूप आत्मस्वभावके लक्षसे परिणमन हुआ वहाँ समस्त गुणोंमें निर्मल परिणमनका प्रारम्भ हो जाता है। द्रव्यके अनन्त गुणोंमें ऐसी शक्ति (अभाव–भाव शक्ति) है कि वर्तमानमें जिस निर्मल पर्यायका अभाव है उसका दूसरे समय भाव होगा; और इसप्रकार अनन्तानन्त-काल तक नई–नई निर्मल पर्यायोंका भाव आता ही रहेगा—ऐसी आत्मामें शक्ति है। वह भाव कहाँसे आयेगा ?—तो कहते हैं द्रव्यके स्वभावमेंसे;—इसप्रकार द्रव्यस्वभावोन्मुख होकर उसकी प्रतीति करना है।—इसप्रकार अनेकान्तमूर्ति आत्माकी प्रतीति करे तभी उसकी शक्तियोंकी प्रतीति होती है और उसीको स्वभावोन्मुखतासे निर्मल–निर्मल पर्यायें होती हैं।—ऐसा अनेकान्तका फल है। जो जीव स्वभावोन्मुख नहीं होता उसे अनेकान्तमूर्ति आत्माकी प्रतीति नहीं होती, तथा अनेकान्तके फल रूप निर्मल पर्याय भी उसे नहीं होती।

"अनेकान्त भी सम्यक्एकान्त ऐसे निजपदकी प्राप्तिके अतिरिक्त अन्य हेतुसे उपकारी नहीं है।"—ऐसा श्रीमद्रायचन्द्रजीने कहा है उसमें भी दोनों पक्ष जानकर शुद्ध आत्मस्वभावोन्मुख होनेका ही रहस्य बतलाया है। जो जीव शुद्ध आत्मस्वभावकी ओर नहीं ढलता उसे अनेकान्त नहीं होता, वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

जिसमें निर्मल पर्यायोंकी शक्ति विद्यमान है उसीके लक्ष और आलम्बनसे निर्मल पर्यायोंका विकास होता है। भविष्यकी जो निर्मल पर्याय प्रगट करना चाहता है वह कहांसे आयेगी?–परके या विकारके आश्रयसे निर्मल पर्याय नहीं होगी, किंतु अपने शुद्ध स्वभावका आश्रय करनेसे आत्मा स्वयं निर्मल–पर्यायरूप परिणमित

हो जायगा । पर्यायमें जो कमी है उसे पूरी करना है (अर्थात् केवलज्ञानका अभाव है उसका भाव करना है) तो वह कहांसे आयेगी ?—द्रव्यकी शक्तिमें पूर्णता भरी है उसके अवलम्बनसे पर्यायमें भी पूर्णता प्रगट हो जायगी। इसप्रकार द्रव्यकी शक्ति ही पर्यायकी कमी को दूर करनेवाली है—अन्य कोई नहीं; इसलिये साधककी दृष्टिमें निज सामान्य द्रव्यका ही अवलम्बन है। ज्ञानशक्तिमें केवलज्ञान प्रदान करनेकी शक्ति है; श्रद्धाशक्तिमें क्षायिक सम्यक्त्व देनेकी शक्ति है; आनन्द शक्तिमें पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द देनेकी शक्ति है।—इसके अतिरिक्त किन्हीं संयोगोंमें या विकारमें ऐसी शक्ति नहीं है कि श्रद्धा–ज्ञान–आनन्द प्रदान करे। स्वभावमें ही ऐसी शक्ति है, इसलिये अपना चैतन्य द्रव्य ही श्रद्धा–ज्ञान आनन्द देनेवाला है। ऐसे द्रव्यकी ओर उन्मुख होकर उसका सेवन करनेसे वह श्रद्धा–ज्ञान और आनन्दकी पूर्णता प्रदान करता है।

जय हो ऐसे दिव्यदान दातारकी !

[—यहाँ ३५ वीं भाव–अभावशक्तिका तथा ३६ वीं अभाव-भाव शक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

[३७–३८]

भाव-भावशक्ति और अभाव-अभावशक्ति

एक एक शक्तिके वर्णनमें अमृतचंद्राचार्यदेवने 'समयसार' का भण्डार खोल दिया है...हरेक शक्तिमें शुद्ध आत्माका रस झर रहा है। किसी भी शक्ति द्वारा आत्मस्वरूपको पहिचाननेसे स्वभावसन्मुखता होकर अपूर्व आनंदरसका अनुभव होता है।—उसका नाम है "आत्मप्रसिद्धि"।

यह ज्ञानस्वरूप आत्मकी अनन्त शक्तियोंका वर्णन चल रहा है। आत्ममें कोई भी एक पर्याय विद्यमान वर्तती है—ऐसा "भावशक्ति" में कहा। ३३। आत्म वर्तमान पर्याय वर्तती है उसके अतिरिक्त आगे–पीछेकी पर्यायें उसमें अविद्यमान हैं ऐसा "अभावशक्ति में कहा। ३४।

वर्तमानमें जो पर्याय वर्तती है वह दूसरे समय अभावरूप हो जाती है—ऐसा "भाव–अभाव" शक्तिमें कहा। ३५।

दूसरे समयकी जो पर्याय व–वर्तमानमें अविद्यमान है वह

दूसरे समय प्रगट होती है—ऐसा "अभाव–भाव" शक्ति में कहा । ३६ ।

अब त्रिकाली भावके आधारसे वर्तमान भावका अस्तित्व "भाव–भाव" शक्तिमें कहते हैं; उसमें त्रिकालीके आधारसे वर्तमान कहकर द्रव्य–पर्यायकी एकता बतलाते हैं । ३७ ।

और द्रव्य–पर्यायकी जो एकता हुई उसमें परका और विकारका अत्यन्त अभाव है, वह "अभाव–अभाव" शक्तिमें बतलाते हैं ।

ज्ञानस्वरूप आत्मामें "भवति पर्यायके भवनरूप भाव–भाव शक्ति है," तथा "न भवति पर्यायके अ-भवनरूप अभाव–अभाव शक्ति है ।"

श्री अमृतचन्द्राचार्य देवने एक–एक शक्तिके वर्णनमें "समयसारका भंडार भर दिया है । प्रत्येक शक्तिमें शुद्ध आत्माका रस झर रहा है । किसी भी शक्ति द्वारा यदि आत्माके स्वरूपको पहिचानने जाये तो अनन्तगुणके पिण्ड ऐसे भगवान् आत्माकी सन्मुखता होकर अपूर्व आनन्द रसका अनुभव होता है ।

मेरा स्वभाव अनन्त गुणोंका भंडार है—ऐसा जहाँ ज्ञान हुआ वहाँ त्रिकाली शुद्ध भावके आश्रयसे उस पर्यायमें स्वसंवेदन भाव वर्तता है । उसका नाम "भाव–भाव" है । त्रिकाली भाव और वर्तमान भाव दोनों एक होकर वर्तते हैं ऐसी भाव–भाव शक्ति है । आत्मा त्रिकाल भाव–रूप रहकर प्रतिसमय भावरूप वर्तता है, इसप्रकार भवते भावका भवन है । और आत्मा कभी पररूप नहीं होता; आत्मामें परका अ–भाव है और वह सदैव अभावरूप ही रहता है—ऐसी अभाव–अभाव शक्ति है । इसप्रकार यह शक्तियाँ आत्माका स्वमें एकत्व और परसे विभक्तपना बतलाती हैं । "भाव–भाव" अर्थात् गुणका भाव और पर्यायका भाव–ऐसे दोनों भाव सहित आत्मा वर्तता है; और "अभाव–अभाव" अर्थात् अपनेसे भिन्न ऐसे पर द्रव्य–गुण–पर्यायें सदैव अपनेमें अभावरूपसे ही वर्तते हैं; ऐसी

दोनों शक्तियाँ आत्मामें हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है"—ऐसा लक्षमें लेनेसे उसमें यह सब शक्तियाँ साथ आ ही जाती हैं।

जहाँ शुद्ध चिदानन्द आत्माका स्वसंवेदन हुआ वहाँ ज्ञानादि गुण उस गुणरूपसे नित्य रहकर वर्तमान निर्मल पर्यायरूपसे वर्तते हैं, और उसीप्रकार निर्मलतारूप वर्तते रहेंगे। त्रिकाल भावरूप गुणका भवन—परिणमन होकर वर्तमान पर्यायरूप निर्मलभाव वर्तता है और अब गुणके परिणमनमें वैसा ही भाव वर्तता रहेगा। साधकको शुद्धताकी वृद्धि होती है वह अलग बात है; किन्तु अब निर्मल भावमें बीचमें दूसरा विकारी भाव नहीं आयेगा; गुणोंका ज्योंका त्यों निर्मल परिणमन होता रहेगा—ऐसी यह बात है।

ज्ञान त्रिकाल ज्ञानभावरूप रहकर वर्तमान–वर्तमानरूप परिणमित होता है; प्रभुताका भाव त्रिकाल प्रभुतारूप रहकर वर्तमान–वर्तमानरूप परिणमित होता है; श्रद्धा त्रिकाल श्रद्धाभावरूप रहकर वर्तमान–वर्तमानरूप परिणमित होती है; आनन्द सदैव आनन्दभावरूप रहकर वर्तमान–वर्तमानरूप परिणमित होता है; वीर्य त्रिकाल वीर्यशक्तिरूप रहकर वर्तमान–वर्तमानरूप परिणमित होता है;—इसप्रकार समस्त गुण अपने–अपने त्रिकालभावरूप रहकर अपनी–अपनी पर्यायके वर्तमान भावरूप परिणमित होते हैं; किन्तु ज्ञान परिणमित होकर अन्य गुणोंरूप हो जाये अथवा अन्य गुण परिणमित होकर ज्ञानादिरूप हो जायें—ऐसा नहीं होता। "भावका भवन" है इसलिये त्रिकालरूप रहकर वर्तमानरूप परिणमित होता है। इसप्रकार त्रिकाल भावरूप और वर्तमान भावरूप ऐसा वस्तुका स्वभाव है, उसका नाम "भाव–भाव शक्ति" है। अहो! मेरे ज्ञान–दर्शनादिके त्रिकाली भाव जो पहले वर्तते थे वे ही वर्तते रहेंगे, शक्तिरूप भाव है उसमेंसे व्यक्ति प्रगट होगी; ज्ञान दर्शनके भाव त्रिकाल ज्ञान–दर्शनरूप स्थिर रहकर अपनी–अपनी पर्यायमें परिणमित होंगे।—ऐसे स्वभावकी जिसने प्रतीति की उसे अब ज्ञान–दर्शनमय निर्मल परिणमन ही होता रहेगा; बीचमें अज्ञान भाव आये और भटकना पड़े—ऐसा नहीं

होता वर्तमानमें जो जानता है वह भविष्यमें भी ज्ञातारूप ही रहेगा; वर्तमानमें श्रद्धा करता है वह भविष्यमें भी श्रद्धा करेगा; क्योंकि ज्ञानादिका जो वर्तमान है वह "त्रिकालका वर्तमान" है। त्रिकालीभावके आश्रयसे जो परिणमन हुआ वह त्रिकाली भावकी जातिका शुद्ध ही होता है। और परका आत्मामें अत्यन्त अभाव है, वह सदैव अभावरूप ही रहता है; रागादिका भी त्रिकाली स्वभावमें अभाव है और उस स्वभावके आश्रयसे वर्तमानमें भी उस रागके अभावरूप परिणमन हो जाता है। ऐसी आत्माकी "अभाव–अभाव शक्ति है"। रागको जानते हुये ज्ञान स्वयं रागरूप नहीं हो जाता, ज्ञान तो ज्ञानरूप ही रहता है।

जिसप्रकार—एक सुवर्णकी खान हो और दूसरी कोयलेकी। तो जिस ओर उन्मुखता करे उसीकी प्राप्ति होती है। उसीप्रकार यह भगवान आत्मा अनन्त ज्ञानादि निर्मल शक्तियोंका भंडार है; उसके सन्मुख दृष्टि करनेसे पर्यायमें निर्मलताकी प्राप्ति होती है। और शरीरादि जड़ हैं उनकी सन्मुखतासे विकारकी उत्पत्ति होती है। भाई ! अपने आत्माकी शक्तिको पहचान तो उसमेंसे निर्मलताकी प्राप्ति हो।

वर्तमानमें जो आत्मा वर्तता है वही भूतकालमें वर्तता था और भविष्यमें वही वर्तेगा;—इसप्रकार एक समयमें त्रिकाल स्थित रहनेकी शक्ति आत्मामें विद्यमान है; त्रिकाल भावरूप रहकर वह उस–उस समयके भावरूप परिणमित होता है। परिणमित होनेसे वस्तुस्वभावमें कोई फेरफार नहीं हो जाता, अथवा उसमें न्यूनाधिकता नहीं होती। आत्मा त्रिकाल एकरूप स्वभावसे वर्तता है, और उस त्रिकाली एकरूप स्वभावके साथ एकता करके वर्तमान भाव भी एकरूप (शुद्धतारूप) ही वर्तता है। जहाँ शुद्ध स्वभावका आश्रय वर्तता है वहां ऐसी शंका नहीं है कि मुझे अशुद्धता होगी, अथवामें पिछड़ जाऊंगा। क्योंकि आत्माके स्वभावमें विकार नहीं है; इसलिये आत्मस्वभावके आश्रयसे जिसका परिणमन है उसे विकार होनेकी

शंका नहीं होती। इसप्रकार सम्यग्दृष्टिको शुद्ध परिणमन पूर्वक शुद्धात्मद्रव्यकी प्रतीति होती है। पहले जब ऐसे शुद्धात्माका ज्ञान नहीं था, तब विपरीत दृष्टिसे विकारका ही परिणमन होता था; किन्तु अब शुद्धात्माकी दृष्टिमें विकारकी अधिकता नहीं रही, शुद्धताकी ही अधिकता रही।—ऐसी शुद्ध आत्माकी दृष्टिमें सम्यक्त्वीको विकारका अभाव ही है।

आत्माकी शक्तियाँ अनन्त हैं, किन्तु अनन्तशक्तियोंके भावोंसे अभेद है। आत्माकी किसी भी एक शक्तिके भावको यथार्थरूपसे लक्षमें लेने पर अनंत शक्तिसम्पन्न सम्पूर्ण आत्मा ही लक्षमें आजाता है। सम्यक्त्वीकी दृष्टि पूर्ण आत्माको स्वीकार करती है; उस अखंड आत्माकी दृष्टिमें उसके समस्त गुणोंका निर्मल भाव प्रगट होता है। इस प्रकार "सर्व गुणांश सो सम्यक्त्व है।" शुद्धस्वभावके आश्रयसे जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ वहाँ ज्ञान भी स्वसंवेदनसे सम्यक् हुआ, चारित्रमें भी आनन्दके अंश का वेदन हुआ, वीर्यका वेग भी स्वोन्मुख हुआ।—इसप्रकार सम्यग्दर्शनके साथ सर्व गुणोंमें निर्मलता प्रारम्भ हो जाती है; किसी गुणमें निर्मलता भले ही कम-अधिक हो, किन्तु प्रतीतिमें तो पूर्ण निर्मलता आ ही गई है। सम्यग्दर्शन स्वयं तो श्रद्धा-गुणकी पर्याय है, किन्तु उसके साथ ज्ञानादि अनंत गुणोंका भी निर्मल अंश वर्त ही रहा है। कोई कहे कि सम्यग्दर्शन तो हुआ किन्तु आत्माकी अतीन्द्रिय शांतिका वेदन नहीं हुआ; सम्यग्दर्शन तो हुआ किन्तु आत्माका स्वसंवेदनज्ञान न हुआ, सम्यग्दर्शन तो हुआ किन्तु वीर्यका वेग आत्माकी ओर नहीं ढला,—तो ऐसा कहनेवालेने अनंत गुणोंसे अभेद आत्माको माना ही नही है; द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप आत्माके भावोंको उसने जाना ही नहीं है; और अपनेको सम्यक्त्वी मानकर वह सम्यग्दर्शनके नामसे अपने स्वच्छन्दका पोषण कर रहा है।

आत्माकी भाव-भावशक्ति है इसलिये उसमें द्रव्य-गुण-पर्याय सदैव भावरूप ही हैं; जहाँ द्रव्यभाव है वहीं गुणका भाव है;

जहाँ द्रव्य-गुणका भाव है वहीं पर्यायका भाव है। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनोंका भाव एक साथ ही है; एक ही पर्याय भले नित्य न रहे, किन्तु पर्याय रहित द्रव्य–गुण कभी नहीं होते। कोई कहे कि आत्मामें ज्ञान-आनन्दशक्ति तो है, किन्तु वर्तमानमें उसका कोई भाव भासित नहीं होता; तो ऐसा कहनेवालेने आत्माकी भाव-भावशक्तिको नहीं जाना है; निर्मलभावके भवनसहित ही त्रिकाल भावकी प्रतीति होती है। निर्मलपर्याय हुये बिना "भवती पर्याय"वाले आत्माकी प्रतीति कहाँसे होगी? जहाँ आत्माके स्वभावका भान हुआ वहाँ निर्मल पर्यायरूप भवन (परिणमन) होता है। भाव-भावशक्तिके बलसे द्रव्य-गुण और निर्मल पर्यायें तीनों अभेद होकर शुद्धरूपसे वर्तते हैं, और उसके द्रव्य-गुण-पर्यायमें विकारका अभाव है। आत्माकी अभाव-अभाव शक्तिका ऐसा बल है कि अपनेसे भिन्न शरीरादि पदार्थोंको, कर्मोंको या विकारको वह अपने स्वभावमें प्रवर्तमान नहीं होने देता। आत्माके द्रव्यमें, गुणमें और उस ओर उन्मुख हुई शुद्ध पर्यायमें,—तीनोंमें विकारका, कर्मका और शरीरादिका अभाव ही है और अभाव ही रहेगा। द्रव्य-गुण-पर्यायकी एकतामें अब कभी टूट नहीं पड़ेगी, और विकारके साथ कभी एकता नहीं होगी। विकार आत्माके साथ नहीं वर्तेगा किन्तु पृथक् हो जायेगा। ऐसी आत्मशक्तिको प्रतीतिमें लेकर उसमें एकता करना सो मोक्षका उपाय है।

आत्मामें एक ऐसी "अभाव–अभाव" शक्ति है कि उसके द्रव्य-गुण-पर्याय परके अभावरूप ही हैं; आत्माके श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, आनन्दादि समस्त गुणोंमें तथा उसकी पर्यायोंमें परका तो अभाव वर्तता ही है; इसलिये कोई निमित्त प्राप्त करूं तो मेरे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रका विकास हो यह बात नहीं रहती। देव-गुरु-शास्त्रादिके निमित्त भले हों, किन्तु आत्मामें तो उनका अभाव है। यहाँ तो तदुपरान्त विकारके भी अभावकी सूक्ष्म बात लेना है। आत्माके द्रव्य-गुण-पर्यायमें परका त्रिकाल अभाव है, उसका तो यह अर्थ हुआ कि परके आश्रयसे होनेवाले पर भावोंका भी

आत्मामें अभाव है। तथा "ज्ञानादिमें जो अल्पता है उसे दूर करके पूर्णता करूं"—ऐसा भेद भी नहीं रहता। एकरूप शुद्ध द्रव्यकी सन्मुखता ही होती है और उस द्रव्यकी ओर उन्मुख हुई पर्याय शुद्ध ही होती जाती है; उसमें विकारका अभाव ही है।–ऐसा अभाव–अभाव-शक्तिका तात्पर्य है।

जिसकी दृष्टि शुद्धआत्मा पर हो उसीको इन शक्तियोंका रहस्य समझमें आता है। आत्मामें कर्मोंका त्रिकाल अभाव है, वे कर्म कभी आत्मामें भावरूपसे नहीं वर्तते। अज्ञानी पुकार करते हैं कि अरे कर्म मार्ग नहीं देते। किन्तु आचार्यदेव कहते है कि अरे भाई! अपने आत्माकी ओर तो देख! तेरे आत्मामें कर्म तो अनादिसे अभावरूप वर्त ही रहे हैं; वे तेरे आत्मामें आये ही नहीं। कर्मका अभाव कहनेसे कर्मकी ओरके विकारी भावका भी आत्माके स्वभावमें अभाव है—ऐसा लक्षमें आता है और शुद्ध आत्मस्वभाव पर दृष्टि जाती है; वहाँ पर्यायमें भी विकारका अभाव वर्तता है। त्रिकालमें भी अभाव था और वर्तमानमें भी अभाव हुआ;—ऐसा अभाव-अभाव शक्तिका निर्मल परिणमन है। ऐसे आत्माको श्रद्धा-ज्ञानमें ले तब जीव तत्त्वको यथार्थ माना कहा जाये। ऐसे जीव तत्त्वका आश्रय करते ही निर्मल पर्यायरूप संवर निर्जरा तत्त्व प्रगट होते हैं और उसीके आश्रयसे पूर्ण शुद्धतारूप मोक्ष दशा होती है; तथा पुण्य–पाप–आस्रव और बन्धरूप मलिन तत्त्वोंका अभाव हो जाता है; शरीरादि अजीवका तो जीवमें अभाव ही था।—इसप्रकार इसमें नवों तत्त्वोंकी स्वीकृति आजाती है; तथा उनमेंसे उपादेय तत्त्वोंका अंगीकार तथा हेय तत्त्वोंका त्याग भी हो जाता है।—इसका नाम धर्म है।

शुद्ध द्रव्यस्वभावकी दृष्टिसे देखें तो यह भगवान-आत्मा अनादिसे कभी विकाररूप प्रवर्तित ही नहीं हुआ। एक समयकी पर्यायके विकारको ही सम्पूर्ण आत्मा मान लेना तो अशुद्धदृष्टि–क्षणिक-दृष्टि हो गई। शुद्ध द्रव्यस्वभावको जानते हुये उसके सन्मुख होनेसे पर्याय भी शुद्ध हो जाती है;—इसप्रकार शुद्ध द्रव्य–तथा शुद्ध पर्यायकी

एकतारूप आत्मा प्रतीतिमें आये वह सम्यक्श्रद्धा है। यदि अकेले द्रव्यको शुद्ध माने और द्रव्यके साथ शुद्ध पर्याय न माने तो वह वेदान्त जैसा हो गया; उसने वास्तवमें शुद्ध द्रव्यको भी नहीं जाना। शुद्ध पर्यायके बिना शुद्ध द्रव्यको जाना किसने ? शुद्ध द्रव्यको जानते हुये पर्याय स्वयं शुद्ध न हो—ऐसा नहीं होता; क्योंकि द्रव्यके साथ पर्यायकी एकता हुये बिना उसका यथार्थ ज्ञान होता ही नहीं। इसप्रकार "विकारका आत्मामें अभाव है"—ऐसा स्वीकार करनेवाला शुद्ध द्रव्यकी दृष्टिसे निर्मलपर्यायरूप परिणमित होकर तदनुसार स्वीकार करता है। शुद्ध द्रव्यके आश्रयसे पर्यायमें शुद्धता प्रगट हुये बिना विकारके अभावका यथार्थ स्वीकार नहीं हो सकता।—यह मुख्य रहस्य है।

चैतन्यस्वरूप आत्मामें कर्मका और विकारका अभाव है; कर्म और विकारके अभावस्वरूप आत्मस्वभावकी जिसे दृष्टि हुई है उसे ऐसा भय नहीं रहता कि कर्म मुझे हैरान करेंगे, अथवा ऐसा सन्देह नहीं होता कि मेरे आत्मामेंसे विकार प्रगट होगा। वह तो शुद्ध स्वभावकी सन्मुखताके बलसे निःशंक और निर्भय वर्तता है।

"वर्तमानमें तो हमें मिथ्यात्वादि नहीं हैं किंतु भविष्यमें हुये तो कौन जाने ?"—ऐसी जिसे शंका है उसे तो वर्तमानमें ही मिथ्यादृष्टि जानना। अरे भाई ! क्या मिथ्यात्वादि भाव तेरे स्वभावमें भरे हैं ? स्वभावमें तो उनका अभाव है। यदि ऐसे स्वभाव पर दृष्टि हो तो मिथ्यात्वादि होनेकी शंका नहीं हो सकती। स्वभावके बलसे वर्तमानमें मिथ्यात्वादिका अभाव हुआ और त्रिकालमें भी उनका अभाव ही है। रागादिके अभावरूप स्वभाव है; इसलिये उसमेंसे रागादि प्रगट हों—यह बात ही नहीं रहती।

आत्माका स्वभाव त्रिकाल परभावके त्यागस्वरूप ही है; परभावका उसमें अभाव ही है। राग है और उसका अभाव करूं—ऐसा भी स्वभाव दृष्टिमें नहीं है। पर्यायमें रागका अभाव अवश्य होता जाता है; किन्तु "रागका कुछ अभाव है और सम्पूर्ण अभाव करूं"—ऐसे

भेदके अवलम्बन रहित ज्ञानीकी दृष्टि तो शुद्ध एकरूप स्वभाव पर ही है.—कि जिसमें रागादिका सदैव अभाव ही है। इसप्रकार रागके अभावरूप चिदानन्दस्वभाव पर दृष्टि ही रागके अभावका उपाय है। सम्यक्त्वीको चौथे गुणस्थानमें स्वभावबुद्धिमें सम्पूर्ण संसारका अभाव हो गया है।—ऐसे पूर्ण स्वभावको श्रद्धा–ज्ञानमें लेकर उसका आश्रय किया वहाँ पर्यायमें भी रागका अभाव ही है।—इसप्रकार द्रव्य–गुण–पर्याय तीनोंमें रागका अभाव ही है और अभाव ही रहेगा।

"सिद्धको विकार क्यों नहीं होता ?"—तो कहते हैं कि आत्माके स्वभावमें ऐसी अभाव–अभाव शक्ति है कि विकारका अपनेमें अभाव ही रखता है। सिद्ध भगवानको वह स्वभाव विकसित हो गया है इसलिये उन्हें विकार नहीं होता। "कर्म नहीं हैं इसलिये सिद्धको विकार नहीं होता;"—ऐसा कहना वह तो निमित्तका कथन है। वास्तवमें तो विकाररूप होनेका आत्माका स्वभाव ही नहीं है, इसलिये सिद्धको विकार नहीं होता।

आत्माकी ऐसी शक्ति है कि उसके ज्ञानगुणकी पर्याय सदैव ज्ञानरूप ही हो; श्रद्धाका परिणमन श्रद्धारूप ही हो; आनन्दका परिणमन आनन्दरूप ही हो; इसप्रकार समस्त गुण अपने अपने भावरूप रह कर ही परिणमित हों ऐसा स्वभाव है।—ऐसा आत्मा वह लक्ष्य है और लक्ष्यके आश्रयसे निर्मल पर्याय होती रहती है। ज्ञान अज्ञानरूप परिणमित हो, श्रद्धा मिथ्यात्वरूप परिणमित हो अथवा आनन्द दुःखरूप परिणमित हो,—तो वह परिणमन स्वद्रव्यके आश्रयसे नहीं हुआ है। गुणके साथ एकत्व होकर निर्मल परिणति हो उसीको वास्तवमें गुणका परिणमन कहा जाता है। विकार वास्तवमें गुणकी परिणति नहीं, वह तो अध्द्धरसे (ध्रुवके आधार बिना) होनेवाला क्षणिक परिणाम है। यहाँ तो कहते हैं कि ध्रुवके आधारसे जो निर्मल परिणमन हो वही सच्चे भावका भवन है। शक्तिवान शुद्ध आत्माके सन्मुख परिणमन होनेसे ध्रुव उपादान और क्षणिक उपादान

दोनों शुद्धरूप परिणमित होते हैं–दोनोंकी एकता होती है और बीचमें से विकारकी अड़चन निकल जाती है। ध्रुव उपादान और क्षणिक उपादान इन दोनोंरूप वस्तु स्वभाव है।

आत्मा ध्रुव रह कर वर्तमान–वर्तमान निर्मल भावरूप परिणमित हो ऐसी भाव–भावशक्ति है; तथा त्रिकालमें और वर्तमानमें दोनोंमें परका तथा विकारका अभाव ही रखे ऐसी अभाव–अभाव शक्ति है। यह दोनों शक्तियाँ ज्ञानस्वरूप आत्मामें एक साथ वर्तती हैं। ऐसा इस ३७ तथा ३८ वीं शक्तिमें बतलाया।

इसप्रकार ३३—३४, ३५—३६ तथा ३७—३८ इन छह शक्तियोंमें भाव–अभाव सम्बन्धी कुल छह बोल कहे। मिथ्यात्वका अभाव होकर वर्तमान सम्यक्त्व पर्याय प्रगट होती है, उसमें यह छह बोल निम्नानुसार लागू होते हैं:—

१. सम्यक्त्व पर्याय वर्तमान विद्यमान वर्तती है वह "भाव"।[३३]

२. वर्तमान सम्यक्त्व पर्यायमें पूर्वकी मिथ्यात्व पर्याय अविद्यमान है, तथा भविष्यकी केवलज्ञान पर्याय भी अविद्यमान है, वह "अभाव" [३४]

३. पहले समय मिथ्यात्व भावरूप था वह वर्तमानमें अभावरूप हुआ वह "भाव–अभाव"; (अथवा जो सम्यग्दर्शन पर्याय वर्तमान भावरूप है वह दूसरे समय अभावरूप हो जायेगी वह "भाव–अभाव"। [३५]

४ पूर्व समयमें सम्यक्त्वका अभाव था और वर्तमान समयमें वह प्रगट हुआ, वह "अभाव–भाव;" (अथवा दूसरे समयकी जो सम्यक्त्व पर्याय वर्तमान अभावरूप है वह दूसरे समय भावरूप होगी —यह "अभाव–भाव।") [३६]

५. श्रद्धा गुण नित्य श्रद्धाभावरूप रहकर सम्यक्त्व पर्यायके भावरूप हुआ है वह "भाव–भाव।" [३७]

६. श्रद्धाके सम्यक् परिणमनमें परका तथा मिथ्यात्वादिका

अभाव है और अभाव ही रहेगा वह "अभाव–अभाव।" [३८]

इसप्रकार ज्ञानस्वरूप आत्माके परिणमनमें वे छहों धर्म एक साथ ही वर्तते हैं। इसीप्रकार सम्यक्त्व पर्यायकी भाँति केवलज्ञान–सिद्ध–दशा आदिमें भी वे छहों प्रकार एक साथ लागू होते हैं उन्हें समझना चाहिये।

"अभाव–भाव" कहनेसे वर्तमानमें जो पर्याय हुई वह पहले अभावरूप थी; इसप्रकार उसमें "प्राक्अभाव" आ जाता है। तथा "भाव–अभाव" कहनेसे वर्तमानमें जो पर्याय विद्यमान है वह बादके समयोंमें अभावरूप हो जायेगी; इसप्रकार उसमें "प्रध्वंस–अभाव" कहनेसे जीवमें अपनेसे भिन्न ऐसे द्रव्य-गुण पर्यायका त्रिकाल अभाव ही है; इसप्रकार उसमें "अत्यन्त–अभाव" भी आ जाता है; और "अन्योन्य अभाव" तो पुद्गलोंकी वर्तमान पर्यायोंमें ही परस्पर लागू होता है।

भाव–अभाव सम्बन्धी जो छह शक्तियाँ कहीं वे एक–सी नहीं हैं किन्तु प्रत्येकमें अन्तर है।

प्र०—३३ वीं "भाव" शक्ति कही और ३७ वीं 'भाव–भाव' शक्ति कही उन दोनोंमें क्या अन्तर है ?

उत्तर:—"भावशक्ति"में तो वर्तमान पर्यायकी बात थी, वह तो भविष्यमें अभावरूप हो जायेगी; जब–कि 'भाव–भावशक्तिमें तो जो ज्ञानादि भाव हैं वे त्रिकाल ज्ञानादि भावरूप ही रहते हैं, उनका कभी अभाव नहीं होता। इसप्रकार दोनोंमें अन्तर है।

प्र०:—३४ वीं "अभावशक्ति" कही और ३८वीं "अभाव–अभावशक्ति" कही, उन दोनोंमें क्या अन्तर है ?

उ०:—जो "अभावशक्ति" कही उसमें तो वर्तमान पर्यायमें भूत-भविष्यकी पर्यायोंके अभावकी बात है, और इस "अभाव-अभाव शक्ति"में तो त्रिकाल अभावकी बात है। जैसे कि–साधकको भविष्यकी केवलज्ञान पर्यायका वर्तमानमें जो अभाव है वह अभाव शक्तिमें आता है; किन्तु "अभाव–अभाव शक्ति"में वह नहीं आता। क्योंकि यदि

वह केवलज्ञानपर्याय अभाव-अभावरूप हो तब तो वह सदैव अभावरूप ही रहेगी; इसलिये भविष्यमें भी कभी केवलज्ञान प्रगट ही नहीं होगा; किन्तु ऐसा नहीं है। केवलज्ञान पर्यायका वर्तमान अभाव है; किन्तु भविष्यमें वह भावरूप हो सकती है और परका आत्मामें अभाव है वह तो त्रिकाल अभावरूप ही रहता है, भविष्यमें भी वह आत्मामें भावरूप नही वर्तेगा; इसलिये वह अभाव-अभाव शक्तिमें आता है।

प्रश्न:—३५ वीं "भाव-अभावशक्ति" कही और ३६ वीं "अभाव-भावशक्ति" कही उन दोनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर:—"भाव-अभाव" में विद्यमान पर्यायका व्यय होनेकी बात है और "अभाव-भाव" में अविद्यमान पर्यायकी उत्पत्ति होनेकी बात है।—इसप्रकार एक ही समयमें दोनों होने पर भी उसमें विवक्षा भेद है।

एक साथ अनन्त शक्तिवान चैतन्यस्वरूप भगवान आत्माको प्रतीति में लेकर उसके साथ ज्ञानकी एकता करना सो मोक्षका उपाय है।

[यहां ३७ वीं भाव-भावशक्तिका तथा ३८ वीं अभाव-अभावशक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

[३६]

भावशक्ति

आत्मा ही स्वयं छह कारकरूप होकर सुखरूप परिणमित होनेके सामर्थ्यवाला है। अपने सुखादि भावोंके लिए परको कारक बनाये ऐसा आत्माका स्वभाव नहीं है... जिसे आनंदमय सच्चा जीवन जीना हो उसे अन्तर्मुख होकर आत्मामें ढूँढना है...अंतर्दृष्टिसे जहां चैतन्यस्वभावका सेवन किया वहाँ चैतन्य भगवान प्रसन्न होकर कहते हैं कि—माँग! माँग! जो चाहिये हो वह माँग ले! इस चैतन्य राजाके पास सम्यग्दर्शनसे लेकर सिद्ध दशा तकके समस्त पद प्रदान करनेकी शक्ति है; इसलिये इस चैतन्य राजाकी सेवा करके उसे ही प्रसन्न कर, दूसरोंसे न मांग; बाहर न देख; अंतर—अवलोकन कर!

आत्मामें अनंत शक्तियाँ हैं, उनका यह वर्णन चल रहा है। आत्मा ज्ञान लक्षणसे प्रसिद्ध होता है, तथापि वह एकान्त ज्ञानस्वरूप ही नहीं है, ज्ञानके साथ अन्य अनंत शक्तियाँ स्थित हैं इसलिये भगवान

आत्मा अनेकान्तस्वरूप है। अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्माकी अनेक शक्तियोंका वर्णन अनेक प्रकारसे अलौकिक रीतिसे आगया है। अभी तक ३८ शक्तियोंका वर्णन हुआ, अब ९ शक्तियाँ शेष हैं। उनमेंसे ३९ वीं "भावशक्ति" में विकारी छह कारकोंका अभाव बतलाते हैं; फिर ४० वीं "क्रियाशक्ति"में स्वभावरूप छह कारक बतलायेंगे और उसके बाद कर्म–कर्त्ता–करण–सम्प्रदान–अपादान–अधिकरण तथा सम्बन्ध इन सातों शक्तियोंका आत्माके स्वभावरूपसे वर्णन करके आचार्य भगवान् ४७ शक्तियोंका कथन समाप्त करेंगे।

कैसी है आत्माकी भावशक्ति ? कर्त्ता–कर्म आदि कारकोंके अनुसार जो क्रिया उससे रहित भवनमात्रमयी (–होनेमात्रमय) भावशक्ति है। पहले तेतीसवें बोलमें भावशक्तिका कथन किया था वहाँ तो अवस्थाकी विद्यमानता बतलाई थी; और यह भावशक्ति भिन्न है। इस भावशक्तिमें कारकोंसे निरपेक्षपना बतलाते हैं।

दुःख दूर करके सुखी होनेके लिये सुख कहाँ ढूंढें–उसकी यह बात है। भाई, तेरा सुख तुझमें है और तेरा आत्मा ही स्वयं छह कारकरूप होकर सुखरूप परिणमित होनेके सामर्थ्यवाला है परको कारक बनाकर उससे सुख लेना चाहेगा तो कभी सुख प्राप्त नहीं होगा। अपने सुखादि भावोंके लिये परको कारक बनाये ऐसा आत्माका स्वभाव नहीं है। कर्त्ता–कर्म आदि भिन्न–भिन्न कारकोंके अनुसार जो क्रिया हो उसरूप परिणमित होनेका आत्माका स्वभाव नहीं है, किन्तु उससे रहित परिणमित होनेका आत्माका स्वभाव है। आत्माके द्रव्य–गुण या पर्याय अपनेसे भिन्न अन्य किसी कारकके आधारसे स्थित रहे ऐसा आत्माका पराधीन स्वभाव नहीं है, किन्तु अन्य कारकोंसे रहित स्वयं अपने भावरूप परिणमित हो ऐसा उसका स्वभाव है। यदि ऐसे स्वभावमें ढूंढे तभी सुख प्राप्त हो सकता है। अन्य कारणोंमें ढूंढे तो सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

हीरोंका हार अपने गलेमें पहिना हो, उसे अपने गलेमें देखे तो

मिल सकता है, किन्तु बावला बनकर अन्यत्र बाह्यमें ढूंढे तो नहीं मिल सकता और उलझन दूर नहीं हो सकती। उसीप्रकार सुख अपनेमें जहाँ भरा है वहाँ ढूंढे तो मिलता है। आत्मामें सुखस्वभाव भरा है; उसमें अन्तर्मुख होकर ढूंढे तो मिल सकता है; किन्तु बाह्यवृत्तिसे बावलेकी भाँति बाह्यमें ढूँढे तो सुख मिल नहीं सकता और दुःख दूर नहीं हो सकता। सुख और सुखके कारक आत्मामें ही हैं बाह्यमें नहीं हैं; इसलिये जिसे वास्तविक सुख एवं आनन्दमय जीवन जीना हो उसे अन्तर्मुख होकर आत्मामें ढूँढ़ना है। परमें सुख नहीं है, रागमें सुख नहीं है; इसलिये परमें या रागमें ढूँढ़नेसे सुख प्राप्त नहीं हो सकता। आत्मामें भरपूर सुख है; उसमें अन्तर्मुख होकर ढूँढे तो सुखका अनुभव हो। सुख, प्रभुता, सर्वज्ञता आदि समस्त शक्तियाँ आत्मामें भरी हैं, उसमें ढूँढ़े तो मिल सकती हैं।

तो फिर क्या करें ? कहते हैं कि संतोंके उपदेशानुसार आत्माकी शक्तियोंको पहिचान कर प्रतीति करना, अन्तरोन्मुख होकर उनमें एकाग्र होना। उनमें एकाग्रतासे ज्ञान–आनन्द–प्रभुता प्रगट होती है.. आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाता है।

जहाँ अन्तर्दृष्टि पूर्वक चैतन्य स्वभावका सेवन किया वहाँ चैतन्य भगवान प्रसन्न होकर कहते हैं कि माँग..माँग !! तुझे क्या चाहिये ? जो चाहिये हो माँग ले ! केवलज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द देनेकी शक्ति मुझमें है। जो कुछ चाहिये हो वह आत्माकी शक्तिमें भरा ही है; इसलिये आत्माकी शक्तिका विश्वास करके जो कुछ चाहिये हो वह उससे मांग...आत्मामें एकाग्र हो...बाह्यमें न ढूँढ़...सम्यग्दर्शनसे लेकर सिद्ध दशा तकके समस्त पद प्रदान करनेकी शक्ति इस चैतन्यराजामें है; इसलिये इस चैतन्यराजाकी सेवा करके उसे प्रसन्न कर... दूसरोंके पास भीख न माँग...बाह्यमें न देख; अंतर्–अवलोकन कर।

आत्मा कहाँ है ? जहाँ आत्मा है वहीं ढूँढ़ तो मिलेगा। आत्मा अपनेसे बाहर कहीं नहीं है, इसलिये बाह्यमें ढूँढ़नेसे आत्माके

गुणोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती । आत्माके गुण आत्मासे बाहर नहीं हैं, आत्मामें ही हैं । भाई ! तेरी प्रभुता तुझमें है...बाह्यमें न ढूँढ़...अपनी प्रभुताके लिये बाह्य सामग्रीको ढूँढ़नेकी व्यग्रता न कर, क्योंकि बाह्य सामग्रीसे तुझे तेरी प्रभुता प्राप्त नहीं हो सकती । बाह्य सामग्रीसे निरपेक्षरूप स्वयं अकेला छह कारकरूप (कर्ता–कर्म–करण आदि) होकर केवलज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दरूप परिणमित हो जाये ऐसा स्वयंभू भगवान यह आत्मा है । आत्मको ही "प्रभु" कहा है, आत्माको ही "भगवान" कहा है । अहो अपनी प्रभुता छोड़ कर परको कौन ढूँढ़े ? ऐसा स्पष्ट स्वभाव होने पर भी पामर जीव अपनी प्रभुताको परमें ढूँढ़ते हैं । उन्हें आचार्य भगवान समझाते हैं कि अरे जीवों ! तुम्हारी प्रभुता तुममें ही भरी है...अन्तर्अवलोकन करके उसे ढूँढ़ो ! अन्तर्मुख होकर अपनी प्रभुताको धारण करो और पामर बुद्धि छोड़ो !

अहो ! अपनी प्रभुताको भूले हुए पामर जीव निमित्त और रागके पास जाकर अपनी प्रभुताकी भीख माँगते हैं, और भिखारीरूपसे चौरासी लाख योनिके अवतारमें परिभ्रमण करते हैं । आचार्यदेव उन्हें उनकी प्रभुताका दान देते हैं, —उनकी प्रभुता बतलाते हैं । अरे जीव ! तेरे स्वभावमें प्रभुताका कल्पवृक्ष है; यह आत्मा ही चैतन्य कल्पवृक्ष है, उसके पास जाकर प्रभुताकी याचना कर तो तुझे अवश्य अपनी प्रभुता मिलेगी । प्रभुतासे भरे हुए अपने चैतन्यचिन्तामणिका चिन्तवन कर तो उसके चिंतवनसे सम्यग्दर्शनादि प्रभुता प्रगट हो । प्रभुताका निधान अपनेमें भरा है उसे बाह्यमें ढूँढ़े तो कहाँसे मिलेगा ? अहो ! तुम्हें तुम्हारी प्रभुताके निधान बतला रहे हैं...उन्हें एक बार तो देखो..आत्माकी प्रभुताको देखनेका कुतूहल–रुचि–उमंग करो और तुम्हें अपनी प्रभुता प्राप्त न हो–ऐसा नहीं हो सकता । जो अपने अन्तर्स्वभावमें ढूँढ़े, उसे प्रभुता अवश्य प्राप्त होगी ही ।

आत्मा ज्ञानादि अनंत गुणोंकी प्रभुतावाला है; यहाँ विविध शक्तियों द्वारा उसकी प्रभुता बतलाते हैं। यदि इन शक्तियों द्वारा आत्मा

यथार्थ स्वरूप समझले तो परसे निराले परिपूर्ण स्वरूपकी प्रतीति हो जाये। आत्माकी भिन्न भिन्न शक्तियोंका जो वर्णन किया है उस प्रत्येक शक्तिके वर्णनमें विविधता है। आत्माकी अनंत शक्तियाँ परस्पर विलक्षण अर्थात् भिन्न-भिन्न लक्षणवाली हैं; इसलिये समस्त शक्तियोंमें एककी एक बात नहीं किन्तु नई-नई बात है। आत्माकी विशालताकी ओर जिसका लक्ष न हो, ज्ञानका रस न हो उसे नये-नये पक्षोंसे समझनेमें अरुचि उत्पन्न होती है, किन्तु यदि अनेक पक्षोंसे समझे तो ज्ञानकी निर्मलता और दृढ़ता बढ़ती जाये और अंतरमें चैतन्यके प्रति रस तथा उल्लास प्रगट हो; तथा स्वयंको अनुभव हो कि मेरी पर्यायमें नयें-नये भाव प्रगट होते जारहे हैं और सूक्ष्मता बढ़ रही है। अंतरमें ज्यों-ज्यों गहराई तक उतरे त्यों त्यों सूक्ष्म रहस्य समझमें आयेंगे। इसलिये अन्तरमें इस बातकी अपूर्वता लाकर समझनेके लिये अपूर्व प्रयत्न करने योग्य हैं।

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्माकी अनेक शक्तियोंमेंसे इस समय ३६ वीं भाव शक्तिका वर्णन हो रहा है। कर्ता-कर्मादि कारकोंके अनुसार होनेवाली क्रियासे रहित शुद्ध भावरूप हो ऐसी आत्माकी भावशक्ति है। राग-द्वेषका या शुभ भावका (रागका) अनुसरण करके आत्मा शुद्ध भावरूप हो ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। आत्माका जो शुद्ध भाव हुआ उसका राग कर्ता नहीं है, राग कर्म नहीं है, राग करण नहीं है, राग सम्प्रदान नहीं है, राग अपादान नहीं है या राग अधिकरण नहीं है।-इसप्रकार कारकोंके अनुसार होनेवाली क्रियासे वह रहित है। तथा आत्मा स्वयं भी स्वभावसे रागका कर्ता नहीं है, रागका कर्म नहीं है, करण नहीं है, सम्प्रदान नहीं है, अपादान नहीं है, तथा अधिकरण भी नहीं है। उसीप्रकार रागका और स्वभावका स्व-स्वामित्वरूप सम्बन्ध भी नहीं है। राग करे और उसके फलको भोगे ऐसा आत्माके स्वभावमें है ही नहीं। आत्माका स्वभाव तो ज्ञान-आनंदमय है; आनंदका उपभोग करे ऐसा उसका स्वभाव है; परके या विकारके कारकोंका अनुसरण करे ऐसा उसका स्वभाव नहीं है।

"शुभ राग या शरीरादिकी क्रिया वे किसी प्रकार आत्माके धर्मके कारण हैं ?—किसी प्रकार उनका आधार है ?"—तो कहते हैं कि नहीं; उन रागादिकी क्रियाके अनुसार न हो ऐसा आत्माका स्वभाव है। पर्यायमें एक समय पर्यंत विकारकी योग्यता हो उसे आत्माकी त्रैकालिकशक्ति नहीं कही जाती; त्रिकाली स्वभावकी दृष्टिसे तो आत्मामें विकाररूप होनेकी योग्यता भी नहीं है—ऐसा समझाना है। आत्माकी किसी शक्तिके स्वभावमें रागादिका कर्ता–कर्म–करण-सम्प्रदान–अपादान अथवा अधिकरणपना नहीं है; और उस त्रिकाली स्वभावका अनुसरण करके जो निर्मल भाव हुआ, वह भाव भी रागादि कारकोंका अनुसरण नहीं करता। –इसप्रकार कारकोंके अनुसार होनेवाली रागादि क्रियासे रहित परिणमित होनेका आत्माका स्वभाव है।

प्रश्नः—राग–द्वेष और अज्ञानरूप भी आत्मा परिणमित होता तो है न ?

उत्तरः—एक समय पर्यंतकी अवस्थाके विकारको अज्ञानी ही अपने कार्यरूपसे स्वीकार करता है, और उसका फल संसार है। वह आत्माका स्वभाव नहीं है तो उसे आत्मा कैसे कहा जायेगा ? आत्माकी कोई शक्ति ऐसी नहीं है कि परके साथ कारकोंका सम्बन्ध रखे ! परका अनुसरण करनेसे विकार होता है, वह आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये उसे आत्मा नहीं कहते। एक-एक समय मिलकर अनंत-काल विकारी परिणमनमें व्यतीत हुआ, तथापि दो समयका विकार आत्मामें एकत्रित नहीं हुआ, तथा एक समय पर्यंतका जो विकार है वह भी आत्माके स्वभावरूप नहीं हो गया है; इसलिये स्वभावदृष्टिमें रागको आत्माके साथ कर्ता–कर्मपना नहीं है; वह करण नहीं है—साधन नहीं है, सम्प्रदान नहीं है, अपादान नहीं है, आधार नहीं है, और उसके साथ आत्माको स्वस्वामित्वपनेका सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्नः—तो फिर राग द्वेष किसने किये ?

उत्तर:—आत्मा पर जिसकी दृष्टि नहीं है उसने ! एक समय पर्यंतकी विपरीत मान्यतासे आत्माको राग द्वेषरूप ही मानकर उन रागादिको अपना माना है। सम्यक्त्वी तो एक शुद्ध ज्ञायक स्वभावको ही अपना मानता है। सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् परमार्थतः राग-द्वेषका कर्तृत्व माना ही नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्वी अपने शुद्धात्म स्वरूपके साथ रागादिको एकमेक नहीं करता।

"जैन दर्शनमें तो बस ! कर्मकी ही बात है और कर्मसे ही सब कुछ होता है ऐसा भगवानने कहा है":—इसप्रकार अज्ञानी मानते हैं, किंतु उन्हें जैन दर्शनकी खबर नहीं है। जैन दर्शनमें तो अनंत शक्ति सम्पन्न अनेकान्त स्वरूप शुद्ध आत्माकी ही मुख्यता है; और विकारके समय उसे निमित्तरूपसे कर्म होते हैं—ऐसा भगवानने बतलाया है। कर्मरूप होनेकी शक्ति पुद्‌गलकी है। आत्मा जड़ कर्मोंका बंध करे या उन्हें दूर करे अथवा जड़ कर्म आत्माको हैरान करें—ऐसा कहनेका भगवानका आशय नहीं है। आत्मा परकी अवस्था नहीं करता और पर पदार्थ आत्माकी अवस्था नहीं करते,—अपने-अपने छह कारकोंसे ही प्रत्येक द्रव्यकी अवस्था होती है। पर्यायमें विकार और उसके निमित्तरूपकर्म हैं वे जानने योग्य हैं, किंतु उतना ही आत्माको मानकर उसके आश्रयमें रुके तो मिथ्यात्व दूर नहीं होता, इसलिये व्यवहारनय ज्ञानमें जानने योग्य है किन्तु वह आदरणीय नहीं है—ऐसा जिन शासनमें आचार्यदेवने ढिंढोरा पीटकर कहा है।

जीव और पुद्‌गल दोनों एक-दूसरेसे निरपेक्षरूपसे स्वयमेव छह कारकरूप होकर परिणमन करते हैं। पंचास्तिकायको ६२ वीं गाथामें स्पष्ट कहा है कि निश्चयसे अभिन्न कारक होनेसे जीवको तथा कर्मको—दोनोंको स्वयं अपने-अपने स्वरूपका ही कर्तृत्व है। "..स्वयमेव षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानं न कारकांतरमपेक्षते.." पुद्‌गल द्रव्य स्वयं ही छह कारकरूप होकर, अन्य कारकोंकी अपेक्षाके बिना ही कर्मरूपसे परिणमित होता है। तथा जीव भी अपने औदयिकादि भावोंरूपसे "..स्वयमेव षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानो

न कारकांतरमपेक्षते..." स्वयमेव छह कारकरूप होकर, अन्य कारकोंकी अपेक्षा बिना ही परिणमित होता है। इस गाथाका भावार्थ बतलाते हुए श्री जयसेनाचार्यदेव लिखते हैं कि—"अयमत्र भावार्थः। यथैवाशुद्धषट्कारकीरूपेण परिणममानः सन्नशुद्धमात्मानं करोति तथैव शुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेणाभेदषट्कारकीस्वभावेन परिणममानः शुद्धमात्मानं करोतीति" जिसप्रकार अशुद्ध छह कारकों-रूपसे परिणमित होता हुआ अशुद्ध आत्माको करता है उसीप्रकार शुद्ध आत्मतत्त्वके सम्यक्श्रद्धान–ज्ञान–अनुष्ठानरूपसे अभेद छह कारक स्वभावसे परिणमित होता हुआ शुद्ध आत्माको करता है। इसप्रकार अशुद्धतामें तथा शुद्धतामें अन्य कारकोंसे निरपेक्षपना है।

दूसरा निमित्त हो भले, किन्तु उस समय उससे निरपेक्षरूपसे ही वस्तु परिणमित होती है "अपनेको योग्य जीवके परिणाम प्राप्त करके, ज्ञानावरणादि अनेक प्रकारके कर्म अन्य कर्तासे निरपेक्षरूप ही उत्पन्न होते हैं...कर्त्रंतरनिरपेक्षाण्येवोत्पद्यंते"—ऐसा पंचास्तिकायकी ६६ वीं गाथामें कहा है। (विशेषके लिये देखिये गाथा ६२ तथा ६६)।

अन्य कारकोंसे निरपेक्षपना बतलाकर आचार्यदेवने अत्यन्त स्पष्टीकरण किया है। व्यवहारसे अन्य जितने कारक कहे जाते हों उन सबसे निरपेक्षरूप ही जीव–पुद्गलका परिणमन है। ऐसा निरपेक्षपना जान ले तो पराश्रय छूटकर स्वाश्रयसे शुद्धतारूप परिणमन हुए बिना न रहे।

और प्रवचनसारकी १२६ वीं गाथामें भी आचार्यदेवने कहा है कि—संसार दशामें या साधक दशामें भी आत्मा अकेला ही स्वयं कर्ता-कर्म-करण और कर्मफल है; अन्य कोई उसका सम्बन्धी नहीं है। तथा १६ वीं गाथामें कहा है कि शुद्धोपयोगकी भावनाके प्रभावसे केवलज्ञान प्राप्त करनेवाला आत्मा स्वयमेव छह कारकरूप होता है इसलिये "स्वयंभू" है। निश्चयसे परके साथ आत्माको कारकपनेका

सम्बन्ध नहीं है। (इन दोनों गाथाओंके विस्तृत अवतरण इसी लेखमें आगे आयेंगे)।

स्वयं शुद्धभावरूप परिणमित होकर फिर ऐसा जानता है कि पूर्वकालमें रागादिरूप भी मैं ही अकेला परिणमित होता था; मेरा वह परिणमन किसी परके कारण नहीं था; और अब स्वभावरूप परिणमित होनेसे ऐसा भी भान हुआ कि पूर्वकालमें जो रागादिरूप परिणमन था वह मेरा स्वभाव नहीं था—इसप्रकार ज्ञानी द्रव्य–पर्याय दोनोंको यथार्थरूपसे जानता है।

यहाँ आचार्यदेव द्रव्यदृष्टिकी प्रधानतासे कहते हैं कि–आत्मामें विकारके छह कारकानुसार क्रिया होनेका अभाव है; आत्मा भेदरूप छह कारकोंकी क्रियासे रहित है। और शुद्ध छह कारकानुसार होनेरूप क्रिया शक्ति है—यह बात अब अगली शक्तिमें कहेंगे।

रागको कर्ता बनाकर आत्मा उसके अनुसार धर्मरूपी कार्य करे ऐसा आत्माका स्वभाव नहीं है।

रागको कर्म बनाकर आत्मा उसका कर्ता हो ऐसा भी आत्माका स्वभाव नहीं है।

इसीप्रकार रागको साधन बनाकर आत्मा उससे धर्मको साधे ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है।

पहले पर्यायमें रागादिका कर्ता–कर्मपना था, किन्तु जहाँ पर्याय अन्तरोन्मुख हुई वहाँ वह कर्ता–कर्मपना नहीं रहा। अज्ञान भावके समय रागादि कारकोंको अनुसरण करता था, किन्तु जहाँ अन्तरोन्मुख होकर अभेद स्वभावका अनुसरण किया वहाँ भेदरूप कारकोंका अनुसरण करनेकी क्रिया नहीं रही। इसप्रकार अपने स्वभावका अनुसरण करे और भेदरूप कारकोंका अनुसरण न करे ऐसी आत्माकी भावशक्ति है। जो शुद्ध भाव हुआ वह अपने स्वभावका ही (अभेदरूप छह कारकोंका ही) अनुसरण करता है और भेदरूप कारकों का—रागका या परका अनुसरण नहीं करता।

निमित्तके अनुसार होनेका आत्माका स्वभाव नहीं है। जैसे विलक्षण निमित्त आयें वैसा ही विलक्षण परिणमन होता है—ऐसा मानने वाला निमित्तका ही अनुसरण करता है किन्तु आत्माका अनुसरण नहीं करता, इसलिये जो निमित्तका अनुसरण नहीं करता ऐसे आत्म स्वभावकी—आत्माकी (भावशक्तिकी) उसे खबर नहीं है। किन्तु अपने स्वभावसे भिन्न अन्य कारकोंकी अपेक्षाके बिना–निरपेक्षरूपसे स्वयं अपने निर्मल भावरूपसे परिणमित होता है—ऐसी आत्माकी भावशक्ति है।

प्रवचनसारकी १६ वीं गाथामें सर्वज्ञ हुए आत्माका स्वयंभूरूपसे वर्णन करते हुए आचार्य भगवान ने अद्‌भुत बात कही है; वहाँ स्पष्ट कहते हैं कि—

"शुद्ध उपयोगकी भावनाके प्रभावसे समस्त घातिकर्म नष्ट हो जानेके कारण जिसने शुद्ध अनंत शक्तिवान चैतन्य स्वभाव प्राप्त किया है ऐसा आत्मा—

(१) शुद्ध अनंत शक्तिवान ज्ञायक स्वभावके कारण स्वतंत्र होनेसे जिसने कर्तापनेका अधिकार ग्रहण किया है ऐसा,

(२) शुद्ध अनंतशक्तिवाले ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही प्राप्य होनेसे (–स्वयं ही प्राप्त होता है इसलिये) कर्मपनेका अनुभव करता हुआ,

(३) शुद्ध अनंतशक्तिवाले ज्ञानरूप परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही साधकतम (–उत्कृष्ट साधन) होनेसे करणपनेको धरता हुआ,

(४) शुद्ध अनंतशक्तिवान ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही कर्म द्वारा समाश्रित होता है इसलिये (अर्थात् कर्म स्वयंको ही दिया जाता है इसलिये) सम्प्रदानपनेको धारण करता हुआ,

(५) शुद्ध अनंतशक्तिवान ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके समय पूर्वकालमें प्रवर्तित विकलज्ञानस्वभावका नाश होजाने पर भी सहज–ज्ञान–स्वभाव द्वारा स्वयं ही ध्रुवत्वका अवलम्बन करता है इसलिये अपादानपनेको धारण करता हुआ, और

(६) शुद्ध अनंतशक्तिवान ज्ञानरूपसे परिणमित होनेवाले स्वभावका स्वयं ही आधार होनेसे अधिकरणपनेको आत्मसात करता हुआ;

—इसप्रकार स्वयमेव छह कारक रूप होता है इसलिये "स्वयंभू" कहलाता है।

इससे ऐसा कहा कि—निश्चयसे परके साथ आत्माको कारकपनेका सम्बन्ध नहीं है, कि जिससे शुद्धात्मस्वभावकी प्राप्तिके लिये सामग्री (–बाह्य साधन) ढूंढ़नेकी व्यग्रतासे जीव (व्यर्थ ही) परतंत्र होते हैं।"

परसे निरपेक्ष रहकर ज्ञानआनन्दरूप परिणमित होनेके अपने स्वभावको अज्ञानी नहीं जानता और बाह्य कारणोंको ही ढूंढ़ता है इसलिये वह व्यर्थ ही दुःखी–व्याकुल होता है, कहीं स्थिर नहीं होता। स्थिरता तो अन्तर्में करना है, किन्तु उसे तो वह जानता नहीं है। आतमरामको जाने बिना कहाँ आराम करेगा !

यहाँ कहते हैं कि बाह्य कारण तो दूर रहो...किन्तु विकारके कर्ता–कर्म–करण आदि छह कारक–जो आत्माकी पर्यायमें होते हैं—उनके अनुसार परिणमित होनेका भी आत्माका स्वभाव नहीं है। परके कारण विकार होता है या परके कारण गुण होता है—ऐसा जो माने उसने तो बाह्य कारकोंको आत्मामें माना है, और वह तो मिथ्यात्वी है; तथा भेदरूप कारकोंसे विकाररूप परिणमित होता है–ऐसा ही आत्माको माने और शुद्ध आत्माको न जाने तो उसने भी आत्माके वास्तविकस्वभावको नहीं जाना है, वह भी मिथ्यात्वी है। जो सम्यग्दर्शनादि शुद्ध भाव हुए वे द्रव्यके साथ अभेद हुए, वहाँ कर्ता

और कर्म तथा आधार आदि समस्त कारक अभेद हुए; कर्ता अलग, कर्म अलग और साधन कोई दूसरा—ऐसा भेद वहाँ नहीं रहा। ज्ञाता स्वयं ही छह कारकरूप होकर शुद्धभावरूप परिणमित हुआ है वहाँ भेदरूप कारकोंकी क्रिया अस्त हो गई है।

देखो, इसमें निमित्त आदि कारक तो निकाल दिये, क्योंकि उनका तो आत्मामें अभाव है–१,। विकारी कारक भी आत्माके स्वभावमें नहीं हैं इसलिये द्रव्य दृष्टिमें उन्हें भी निकाल दिया–२,। और निर्मल छह कारकोंके भेदकी दृष्टि भी निकाल दी–३,। इसप्रकार अभेदस्वभावके आश्रयसे भेदरूप कारकोंकी क्रिया रहित शुद्धभावरूपसे आत्मा परिणमित होता है। आत्मा निर्मल छह कारकरूपसे अभेद परिणमित होता है; छह कारकोंके भेद पर लक्ष रहे तो राग होता है और अभेद आत्माके आश्रयसे शुद्धभावरूपसे आत्माका परिणमन होजाता है, उसमें भेदरूप कारकोंका अवलम्बन नहीं है, इसलिये अभेदका ही अवलम्बन है–ऐसा इस भावशक्तिमें बतलाया।

(१) शुद्धभावरूप सम्यक्त्वादि कार्य हुआ वह आत्माका कर्म;

(२) आत्मा स्वतंत्ररूपसे उसरूप परिणमित होता है, इसलिये उसका कर्ता;

(३) आत्मा द्वारा ही वह भाव किया गया है इसलिये आत्मा साधकतम करण;

(४) आत्मामें से ही वह भाव प्रगट हुआ है इसलिये आत्मा सम्प्रदान;

(५) वह भाव प्रगट होकर आत्मामें ही रहा है इसलिये आत्मा अपादान है;

(६) वह भाव आत्माके ही आधारसे हुआ है इसलिये आत्मा ही अधिकरण है।

—इसप्रकार शुद्धभावमें अपने ही छह कारक अभेदरूप हैं;

परन्तु भेदरूप कारकोंका आत्मा अनुसरण नहीं करता; वह इसप्रकार—

(१) सम्यक्त्वादि शुद्धभावरूप कार्य हुआ वह रागका कार्य नहीं है, क्योंकि राग भाव उस रूप परिणमित नहीं हुआ है।

(२) सम्यक्त्वादि शुद्धभावका कर्ता राग नहीं है।

(३) उस शुद्धभावका साधन राग नहीं है, इसलिये राग उसका करण नहीं है;

(४) वह शुद्धभाव प्रगट होकर रागमें नहीं रहा इसलिये राग उसका सम्प्रदान नहीं है;

(५) वह शुद्धभाव रागमेंसे नहीं आया इसलिये राग उसका अपादान नहीं है।

(६) वह शुद्धभाव रागके आधारसे नहीं है इसलिये राग उसका अधिकरण नहीं है।

—इसप्रकार रागादि कारकोंका अनुसरण किये बिना ही स्वयं शुद्ध भावरूप परिणमित होनेका आत्माका स्वभाव है, उसे यह भावशक्ति बतलाती है। भाव अर्थात् शुद्धभावरूपसे भावना–परिणमित होना; उस शुद्ध भावरूपसे स्वयं भवनेकी (स्वयं परिणमित होनेकी) आत्माकी शक्ति है; उसमें आत्मासे भिन्न अन्य किन्हीं कारकोंका अवलम्बन नहीं है।

अहो ! निरालम्बी चैतन्यकी अपूर्व बात है ! किन्तु स्वयं अन्तर्मुख होकर अपने चैतन्यतत्त्वका अवलम्बन कभी नहीं किया है। एक बार आत्माकी अचिन्त्यशक्तिको पहिचाने तो बाह्यमें कहीं मोह न रहे...और अन्तर्मुख होने पर अल्पकालमें मुक्ति होजाये। ऐसा आत्मस्वभाव समझनेके लिये अन्तरसे प्रेम आना चाहिये; अंतरमें अत्यन्त रुचिपूर्वक—अत्यन्त जिज्ञासा पूर्वक–अत्यन्त पात्रता पूर्वक —अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक अपनी मानकर यह बात समझना चाहिये।

जिसने एकबार भी भावभासन पूर्वक अपने आत्मामें इस बातके संस्कार जमा लिये उसे वे संस्कार फलित होकर सिद्धदशा होजायेगी—इसमें कोई सन्देह नहीं है। जो यह बात समझले उसके आत्मामेंसे संसारकी ओरके (—मिथ्यात्वादिके) छहों कारकोंका परिणमन छूटकर मोक्षकी ओरके कारकोंका परिणमन (स्वभावके आश्रयसे) होने लगे।

"स्वतंत्र परिणमित हो वह कर्ता।" रागभाव कहीं सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित नहीं होता, किन्तु आत्मा स्वयं ही स्वतंत्ररूपसे सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित होता है इसलिये आत्मा ही उन सम्यग्दर्शनादिका कर्ता है, राग उनका कर्ता नहीं है।

"कर्ताका इष्ट सो कर्म।" सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावरूप परिणमित होना ही आत्माका इष्ट है और आत्मा उसका कर्ता है। इसके अतिरिक्त निमित्तको या रागको इष्ट मानकर उसीके अनुसार जो मिथ्यात्वभावरूपसे परिणमित होता है उसे वास्तवमें आत्मा नहीं कहते, वह तो आस्रव तत्त्वमें जाता है।

उसीप्रकार कर्ताका साधकतम साधन वह करण है। आत्माको सम्यग्दर्शनादि इष्ट कार्यरूप परिणमित होनेमें पर या रागादि सच्चा साधन नहीं है किन्तु अपना स्वभाव ही साधकतम होनेसे उसका साधन है, किन्तु इसलिये आत्मा ही करण है। निमित्तोंको या रागको साधन मानकर जो उसके आश्रयसे परिणमित होता है उनके सम्यग्दर्शनादि इष्ट कार्य नहीं होता किन्तु मिथ्यात्वादि होता है।

उसीप्रकार कर्ता अपना कार्य जिसे दे वह सम्प्रदान; आत्मा अपना सम्यग्दर्शनादि कार्य रागको या निमित्तको नहीं देता, इसलिये राग या निमित्त उसके सम्प्रदान नहीं हैं; आत्मा अपने स्वभावमें ही अभेदरूपसे उसे रखता है इसलिये आत्मा ही उसका सम्प्रदान है।

जिसमेंसे कार्य लिया जाये अथवा कार्यमें जो ध्रुवरूप स्थित रहे वह अपादान है। संयोग और राग तो छूट जाता है इसलिये वह

अपादान नहीं है; सम्यग्दर्शनादि कार्यमें आत्मा ही अखण्डरूपसे स्थित रहनेवाला है और उसीमेंसे वह कार्य लिया जाता है, इसलिये वही अपादान है।

उसीप्रकार राग या निमित्त उस सम्यग्दर्शनरूपी कार्यका आधार भी नहीं है; रागके या निमित्तके आधारसे वह कार्य नहीं होता इसलिये राग उसका अधिकरण नहीं है, किन्तु स्वभाव ही उसका आधार होनेसे अधिकरण है।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा शुद्धभावरूप परिणमनमें परके कारकानुसार होनेवाली क्रियासे रहित है; परके कारकानुसार होनेवाली जो विकारी क्रिया उससे रहित शुद्धभावरूपभवनमात्र शक्तिवाला आत्मा है, उसमें अन्तरोन्मुख होनेसे ही कल्याण है।

आत्माका स्वभाव क्या है उसकी यह बात चल रही है। पर्यायमें राग–द्वेष–मोहरूप विकार करता है वह भी जीव स्वयं ही उलटे पुरुषार्थसे करता है किन्तु वह जीवका सच्चा स्वरूप नहीं है। विकारको हितरूप माननेसे जीव संसारमें दुःख भोग रहा है। विकार-रहित अपना वास्तविक स्वरूप क्या है उसे पहिचाने तो सच्चे अनुभव द्वारा दुःख दूर होकर मुक्ति हो; इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव, भिन्न कारकोंके अनुसार विकाररूपसे या हीनतारूपसे परिणमित होनेका तेरा स्वभाव नहीं है, किन्तु उससे रहित शुद्धतारूप तथा पूर्णता रूप परिणमित होनेका तेरा स्वभाव है। परसे निरपेक्षता होने पर अपने स्वभावसे पूर्णता ही है। बस ! पूर्णता......पूर्णता और पूर्णता ही है—ऐसे स्वभावका स्वीकार वह सम्यग्दर्शन है। और ऐसे स्वभावसे च्युत होकर परको कारक मानकर अज्ञानदशामें विकाररूप भी स्वयं अपने कारकोंसे परिणमित होता है, कोई दूसरा उसे परिणमित नहीं करता।

प्रवचनसारकी १८६ वीं गाथामें कहते हैं कि—"यह आत्मा परद्रव्यके ग्रहण–त्यागरहित होने पर भी अभी संसारावस्थामें,

परद्रव्यके परिणामको निमित्तमात्र करते हुए–(पराश्रय करनेमें निमित्त बनाते हुए) ऐसे केवल स्वपरिणाममात्रका—वह स्वपरिणाम द्रव्यत्वभूत होनेसे उसका—कर्तृत्व अनुभवता हुआ, अपने उसी स्वपरिणामको निमित्तमात्र करके कर्म परिणामको प्राप्त करती हुई ऐसी पुद्गल रज द्वारा विशिष्ट अवगाहरूपसे ग्रहण होता है और कदाचित् छूटता है। "स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स"—ऐसा मूल सूत्रकार भगवानने ही कहा है उसमेंसे यह स्पष्ट अर्थ टीकाकार आचार्यदेवने खोला है। विकारी परिणाम भी आत्माके अस्तित्वमें होते हैं, स्वकृत होनेसे आत्माके आश्रयसे, अपने कारणसे होते हैं, इसलिये उन्हें "दव्वजादस्स" कहा है, और उन स्वपरिणामोंका कर्ता आत्मा ही होता है—ऐसा बतलाया है। किन्तु जहाँ शुद्ध चिदानन्द स्वरूपको दृष्टिमें लेकर उसके सन्मुख हुआ वहाँ वह अशुद्ध परिणमन नहीं रहता; और गौणरूपसे अल्परागादि रहे उसका कर्तृत्व भी शुद्ध द्रव्यकी दृष्टिमें नहीं रहता। साधकदशामें विकारी कारकोंकी क्रिया-रहित निर्मलभावरूपसे स्वयं ही परिणमित होता है। इसप्रकार बंधमार्गमें तथा मोक्षमार्गमें आत्मा अकेला ही है।

इस सम्बन्धमें प्रवचनसार गाथा १२६ में कहते हैं कि—"जो पुरुष इसप्रकार 'कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है'—ऐसा निश्चय करके वास्तवमें परद्रव्यरूपसे परिणमित नहीं होता वही पुरुष, परद्रव्यके साथ सम्पर्क जिसका रुक गया है और द्रव्यके भीतर पर्यायें जिसके प्रलीन हुई हैं ऐसे शुद्ध आत्माको उपलब्ध करता है, किन्तु अन्य कोई ऐसे शुद्ध आत्माको उपलब्ध नहीं करता।"

पुनश्च, यह बात विशेष स्पष्टरूपसे समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि–"जब मैं संसारी था तब भी (–अज्ञानदशामें भी) मेरा कोई भी सम्बन्धी नहीं था; उस समय भी मैं अकेला था, कारण कि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा स्वतंत्र था (अर्थात् स्वाधीनरूपसे करता था;) मैं अकेला ही करण था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा साधकतम (उत्कृष्ट

साधन)' था; मैं अकेला ही कर्म-(-कार्य) था, क्योंकि मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूपसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण आत्मासे प्राप्य (प्राप्त होने योग्य) था; और मैं अकेला ही सुखसे विपरीत लक्षणवाला "दुःख" नामका कर्मफल था—कि जो (फल) उपरक्त चैतन्यरूपसे परिणमित होनेके स्वभाव द्वारा उत्पन्न किया जाता था।'

"...इस समय भी (मुमुक्षुदशामें अर्थात् ज्ञानदशामें भी) सचमुच मेरा कोई भी नहीं है। इससमय भी मैं अकेला ही कर्ता हूँ; कारण कि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा स्वतंत्र हूँ (अर्थात् स्वाधीनरूपसे करता हूँ); मैं अकेला ही करण हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव द्वारा साधकतम हूँ; मैं अकेला ही कर्म हूँ, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप परिणमित होनेके स्वभावके कारण आत्मासे प्राप्य हूँ, और मैं अकेला ही अनाकुलता-लक्षणवाला "सुख" नामका कर्मफल हूँ—कि जो (फल) सुविशुद्ध चैतन्यरूपसे परिणमित होनेके स्वभाव द्वारा उत्पन्न किया जाता है।"

"इसप्रकार बंधमार्गमें तथा मोक्षमार्गमें आत्मा अकेला ही है ऐसा भानेवाला यह पुरुष परमाणु की भाँति एकत्व भावनामें उन्मुख होनेसे (अर्थात् एकत्वके भानेमें तत्पर-लगा हुआ—होनेसे), उसे परद्रव्यरूप परिणति बिलकुल नहीं होती; और परमाणुकी भाँति (अर्थात् जिसप्रकार एकत्वभावरूप परिणमित होनेवाला परमाणु परके साथ संगको प्राप्त नहीं होता उसीप्रकार), एकत्वको भानेवाला पुरुष परके साथ संपृक्त नहीं होता; इसलिये परद्रव्यके साथ असंपृक्तताके कारण वह सुविशुद्ध होता है। और कर्ता, करण, कर्म तथा कर्मफलको आत्मारूपसे भाता हुआ वह पुरुष पर्यायोंसे संकीर्ण (-खण्डित) नहीं होता; और इसलिये पर्यायों द्वारा संकीर्ण न होनेके कारण सुविशुद्ध होता है।"

विकारदशाके समय भी उसके छहों कारक यद्यपि आत्मामें हैं, किंतु उन अशुद्ध छह कारकोंके अनुसार परिणमित होनेका आत्माका त्रिकालीस्वभाव नहीं है— ऐसा यहाँ बतलाना है। आत्मामें एक

ऐसा अनादिअनंत भाव है कि जो परका या विकारका कर्ता नहीं होता। आत्माकी अनंत शक्तियोंमें विकारकी कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान या अधिकरण हो ऐसी तो कोई शक्ति नहीं है, वह तो मात्र क्षणिक पर्यायका धर्म है; इसलिये अनंतशक्तिवान अखण्ड आत्माकी दृष्टिमें तो उसका अभाव ही है। ऐसे स्वभावकी ओर उन्मुख होकर शुद्धभावरूपसे परिणमित होने पर धर्मीको भान हुआ कि—अहो! विकारी कारकोंकी क्रियाके अनुसार परिणमित होनेका मेरा स्वभाव नहीं है। अभेद स्वभावमें एकत्वरूपसे शुद्धभावरूप परिणमित होनेका ही मेरा स्वभाव है। शरीर-मन-वाणीका, परजीवका या पुण्य-पापका कर्ता होकर परिणमित होनेका आत्माका स्वभाव नहीं है। पर्यायमें एक समय पर्यंतकी विकारकी अमुक योग्यता है उसे धर्मी जानते हैं, किंतु उसे शुद्धस्वभावमें नहीं लेते, उसे आदरणीय नहीं मानते। इसलिये शुद्धस्वभावके आदरकी दृष्टिमें विकारका अभाव ही वर्तता है। यदि विकारके अभावरूप त्रिकाल निर्दोष स्वभावकी दृष्टि छोड़कर अकेले विकारभावको ही जाननेमें रुके तो वहाँ एकान्त पर्यायबुद्धिरूप मिथ्यात्व होता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने इन ४७ शक्तियोंमें सम्पूर्ण समयसारका दोहन करके आत्माका स्वरूप बतलाया है। यह सूक्ष्म अंतरका विषय है। संक्षेपमें बहुत रहस्य भर दिया है। अंतरकी गहराईमें उतरकर समझे वह उसकी गम्भीरता की महिमा समझ सकता है।

इस भगवान आत्मामें अनंत शक्तियाँ हैं; वे सब शक्तियाँ कैसी हैं?—(१) आत्माकी कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है कि शरीरादि परका कार्य करे; इसलिये जो परका कर्तृत्व मानता है उसने आत्माकी शक्तिको नहीं पहिचाना है। (२) पर्यायमें एक समय पर्यंतका जो विकार है वह शक्ति में नहीं भरा है, इसलिये उस विकारके कर्तृत्वमें ही जो रुके उसे आत्माकी शक्तिकी प्रतीति नहीं है। (३) अनंत शक्तियाँ भिन्न-भिन्न होने पर भी उन सब शक्तिस्वरूप आत्मा तो एक है, इसलिये भिन्न-भिन्न शक्तिके भेदके लक्षसे भी सम्पूर्ण आत्मा प्रतीति-

में नहीं आता। इसप्रकार पर, विकार और भेद—इन तीनोंसे पार एकाकार चैतन्यस्वभावकी दृष्टिसे ही अनंत शक्तिसम्पन्न भगवान आत्मा प्रतीति तथा अनुभवमें आता है। और ऐसे आत्माकी प्रतीतिवाला जीव भेदके आश्रयसे होनेवाली विकारी क्रियाको या जड़की क्रियाको अपने स्वरूपमें स्वीकार नहीं करता; इसलिये उसे अभेदस्वभावके आश्रयसे सम्यग्दर्शनादि परिणमन होते हैं वह धर्म है और वही धर्म की क्रिया है। इसप्रकार स्वाश्रय अभेदरूप कारकोंमें भेदरूप कारकोंके अनुसार होनेवाली विकारी क्रियाकी नास्ति है और अभेदरूप कारकके आश्रयसे होनेवाली निर्मल क्रियाकी अस्ति है। उसमेंसे भेद कारकोंके अनुसार होनेवाली विकारी क्रियाका नास्तिपना इस ३९वीं शक्तिमें बतलाया; और अभेदाश्रित निर्मल भाव होनेरूप क्रियाका अस्तिपना अगली शक्तिमें बतलायेंगे।

जिसे रागादि व्यवहारके आश्रयकी भावना है अथवा वह करते-करते निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्ति होगी—ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, वह रागरहित आत्मस्वभावको नहीं मानता। सम्यक्त्वीकी दृष्टिमें अपने शुद्ध चिदानन्दस्वभावका ही अवलम्बन है और उसीकी भावना है; साधकपनेमें व्यवहार रत्नत्रयादिका राग भले हो किंतु उसकी उसे भावना नहीं है। अहो! अपने चैतन्यतत्त्वको वास्तविकरूपसे जानकर जीवने उसकी भावना पूर्वकालमें कभी नहीं की है। एक क्षण भी जिसकी भावना करनेसे अनंतकालके जन्म-मरण छूट जायें ऐसे चैतन्यतत्त्वकी यह अपूर्व बात है। अपूर्व रुचिपूर्वक बारम्बार इसका श्रवण–मनन और भावना करने योग्य है।

देहसे भिन्न यह चैतन्यस्वरूप आत्मा त्रिकाल स्थायी होने पर भी प्रतिक्षण पलटनेरूप क्रिया भी उसमें होती है। यदि ऐसी क्रिया न हो तो वस्तुका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होगा। कहा है कि:—

"करता परिणामी दरब, कर्मरूप परिणाम, क्रिया परजयकी फेरनी, वस्तु एक त्रय नाम।"

(—नाटक-समयसार)

परिणमित होनेवाला द्रव्य वह कर्ता है, जो परिणाम होता है वह उसका कर्म है, और एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमें परिवर्तित होने रूप क्रिया है। यह तीनों वस्तुरूपसे एक हैं; अर्थात् कर्ता एक वस्तु और उसका कर्म दूसरी वस्तुमें–इसप्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुमें कर्ताकर्मपना नहीं होता। यह चैतन्यमूर्ति आत्मा कर्ता होकर शरीरादिके कार्य को करे ऐसा तो नहीं है, और आत्मा कर्ता होकर रागादिको करे ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा कर्ता होकर अपने निर्मल परिणामको करे वही उसका स्वभाव है।

आत्मा परिवर्तित होकर अपनी ज्ञानादि पर्यायोंरूप होता है, किन्तु वह बदलकर कभी जड़ शरीररूप नहीं होता, इसलिये आत्मा शरीरके कार्योंका कर्ता नहीं है। शरीरकी क्रियारूपसे तो जड़ परमाणु बदलते हैं। जो वस्तु जिस कार्यरूप परिणमित हो उसीको उसका कर्ता कहा जाता है। आत्मा कहीं शरीरके कार्यरूप परिणमित नहीं होता; और वास्तवमें रागमें अभेद होकर भी परिणमित नहीं होता; आत्मा तो अपने निर्मल ज्ञानदर्शनादिपर्यायरूपी कार्यमें अभेद होकर परिणमित होता है, इसलिये उसीका वह कर्ता है और वही उसका कर्म है। इसके बदले जो विकारमें तन्मयता मानकर परिणमित हो वह मिथ्यादृष्टि है।

देखो, यह आत्माकी क्रियाका वर्णन! इसमें क्रियाका उत्थापन नहीं होता, किंतु वास्तविक धर्मकी क्रियाकी स्थापना होती है। हा! जगत जड़की और विकारकी क्रियामें धर्म मान रहा है उस बातकी उत्थापना होती है और शुद्धभावरूप धर्मकी क्रियाकी सम्यक्रूपसे स्थापना होती है। जितने तीर्थंकर–संत–मुनि–धर्मात्मा हुए हैं और होंगे, उन सबने इसी क्रियासे धर्म किया है और कहा है। भगवानने और सन्तोंने तीन प्रकारकी क्रिया स्थापित की है—

(१) शरीरादिकी क्रियाको जड़की क्रियाके रूपमें स्थापित किया है।

(२) राग–द्वेष–मोहरूप विकारको अधर्मकी क्रियाके रूपमें स्थापित किया है।

(३) आत्माके सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावको धर्मकी क्रियाके रूपमें स्थापित किया है।

इसके अतिरिक्त शरीरादि जड़की क्रियासे या पुण्यादिकी विकारी क्रियासे धर्म हो–इस बातकी भगवानने स्थापना नहीं किंतु उत्थापना की है।

जिसप्रकार कुलीन पिता अपने पुत्रको सीख देता है, उसी प्रकार इस आत्माके धर्मपिता सर्वज्ञ भगवान और संत सीख देते हैं कि–हे वत्स ! हे भाई ! शरीरकी क्रियामें या रागमें धर्म मानना तो बाह्य वृत्ति है, उस बाह्य वृत्तिमें तेरी शोभा नहीं है इसलिये तू उस बाह्यवृत्तिको छोड़। बाह्य भावोंसे चिदानन्दस्वभावको लाभ मानना और उनमें रमण करना तो कुचाल है, उसमें तेरा कुल–तेरा चैतन्यस्वरूप लज्जित होता है, तेरे चैतन्यस्वभावकी कुलीनतामें वह शोभा नहीं देता इसलिये तू उसे छोड़ दे। तू हमारे कुलका है इसलिये हमारी भाँति सर्वज्ञ–वीतराग होनेका तेरा स्वभाव है; तुझमें सर्वज्ञ–वीतराग होनेकी पूर्ण शक्ति विद्यमान है, उसे तू सँभाल ! देखो, यह सर्वज्ञ पिताकी सीख ! सर्वज्ञ प्रभुकी सीख सर्वज्ञ–वीतराग होनेकी ही है। जो स्वयं वीतराग हुए वे राग रखनेको सीख क्यों देंगे ? जो जीव रागको रखने योग्य मानता है उसने सर्वज्ञ प्रभुकी सीख नहीं मानी है, इसलिये वह सर्वज्ञदेवकी आज्ञासे बाहर है, मिथ्यादृष्टि है।

[—यहाँ ३९ वीं भावशक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

[४०]

क्रियाशक्ति

स्वभावके अवलम्बनसे स्वयं छह कारकरूप होकर अपने सम्यग्दर्शनादि निर्मल भावोंको करे ऐसी क्रियाशक्ति आत्मामें है। अपने निर्मलभावरूप क्रिया करनेके लिये उसे किन्हीं बाह्य कारकोंका आश्रय नहीं लेना पड़ता। अहो! परमात्मा होनेकी शक्ति स्वयं अपनेमें ही भरी होकर होने पर भी जीव अपनी प्रभुताके निधानको नहीं देखते और बाह्यमें भटकते हैं, इसलिए संसारमें परिभ्रमण करते हैं। यहाँ आचार्यदेव आत्माकी शक्तियोंका वर्णन करके उसकी प्रभुता बतलाते हैं कि—देखो रे देखो! चैतन्यके निधान देखो! अरे जीवों! तुम्हारे अन्तरके ऐसे निधान बतलाता हूँ कि जिन्हें देखते ही अनादिकालीन दीनता दूर हो जाय और आत्मामें अपूर्व आह्लाद जागृत हो.....जिसके सन्मुख दृष्टि करते ही प्रदेश प्रदेशमें रोमांच हो जाये कि—"अहो! ऐसी मेरी प्रभुता!!"—ऐसी अचिंत्य प्रभुता आत्मामें विद्यमान है।

ज्ञानस्वरूप आत्माकी शक्तियोंका वर्णन चल रहा है। प्रत्येक आत्मामें यह शक्तियाँ त्रिकाल स्वयंसिद्ध हैं; इन शक्तियोंको कहीं नया नहीं उत्पन्न करना पड़ता; किन्तु उन्हें पहिचान कर पर्यायमें प्रगट करना होता है अपने आत्माकी अनंत शक्तियोंको पहिचाननेसे पर्यायमें उनका व्यक्त वेदन होता है उसका नाम धर्म है।

"कारकोंके अनुसार होनेरूप जो भाव उस-मयी क्रियाशक्ति आत्मामें है।" ३९ वीं शक्तिमें भेदरूप कारकोंके अनुसार होनेवाली विकारी क्रियासे रहितपना बतलाया है और इस शक्तिमें अभेदरूप शुद्ध कारकोंके अनुसार होनेवाली निर्मल क्रिया सहितपना बतलाते हैं। अपने स्वभावका ही अनुसरण करके निर्मल भावरूप हो ऐसी क्रियाशक्ति आत्मामें है, किन्तु आत्मा परकी क्रिया करे या परका अनुसरण करके क्रिया करे ऐसी उनकी क्रियाशक्ति नहीं है। अपने स्वभावका ही अवलम्बन रखकर एक अवस्थामेंसे दूसरी निर्मल अवस्थारूप परिणमित हो-ऐसी क्रियाशक्तिवाला आत्मा है। किन्तु आत्मा पलटकर परभावरूप हो जाये ऐसी उसकी शक्ति नहीं है।

प्रश्नः—पर्यायमें विकारी भावरूप भी आत्मा परिणमित तो होता है ?

उत्तरः—यह आत्माकी शक्तिका वर्णन है; शक्ति अर्थात् आत्माका वैभव; उसमें विकारकी बात क्यों आयेगी ? विकार तो दीनता है; आत्माके वैभवमें उस दीनताका अभाव है। शक्तिसन्मुख देखनेवालेको अपनी परिपूर्णता ही भासित होती है और परिपूर्णतारूप आत्म वैभवके आधारसे पर्यायमेंसे विकाररूपी दीनता छूट जाती है। पर्यायमें विकार होने पर भी वह शक्तिके आधारसे नहीं हुआ है, तथा आत्माकी शक्तियोंमें भी ऐसी कोई शक्ति नहीं कि वह विकारकी कर्त्ता हो। शुद्धभावसे छह कारकरूप होकर स्वयं परिणमित होनेके स्वभाववाला है-इस सम्बंधमें पहिले (३९ वीं शक्तिके वर्णनमें प्रवचनसारादिका आधार देकर) बहुत कहा जा चुका है।

प्रथम तो आत्माका स्वभाव क्या है उसका सत्समागमसे बारम्बार श्रवण करके उसका उल्लास लाकर, उसका ग्रहण और धारणा करके दृढ़ निर्णय करना चाहिये । यथार्थ निर्णय किये बिना प्रयत्नका बल अन्तरोन्मुख नहीं होता; आत्माके स्वभावका निर्णय करके उसमें अन्तर्मुख होनेसे सम्यग्दर्शनादि निर्मल भाव प्रगट होते हैं । ऐसे निर्मल भावोंको स्वयं छह कारकरूप होकर करे ऐसी आत्माकी क्रियाशक्ति है । आत्माको अपने निर्मल भावरूप क्रिया करनेके लिये किन्हीं बाह्य कारकोंका आश्रय नहीं लेना पड़ता; तथा आत्मा कारक होकर जड़की या रागकी क्रिया करे ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है । अपने ही कारकोंका अनुसरण करके अपने वीतराग भावरूप परिणमित होनेकी ही क्रिया करे ऐसा आत्माका स्वभाव है । देखो, इसमें अकेली स्वभावदृष्टि ही होती है और बाह्यमें किसीके आश्रयसे लाभ होता है—इस दृष्टिका नाश हो जाता है । अपने स्वभावके आश्रयसे ही अपनी परमात्मदशा प्रगट होती है; आत्माको अपनी परमात्मदशा प्रगट करनेके लिए किसी अन्यका आश्रय लेना पड़े अथवा अन्य कोई उसे मदद करे—ऐसा है ही नहीं ।

अभीतक अनंत जीव परमात्मा हो गये हैं; जो परमात्मा हुए हैं वे सभी अपने स्वभावके कारकोंके अनुसार परिणमित होकर ही परमात्मा हुए हैं; आत्माके अतिरिक्त बाह्य पदार्थोंको कर्ता बनाये बिना ही वे परमात्मा हुए हैं; बाह्य पदार्थोंको संप्रदान या अपादान बनाये बिना ही वे परमात्मा हुए हैं; बाह्य पदार्थोंका आधार लिये बिना ही वे परमात्मा हुए हैं और बाह्य पदार्थोंके सम्बन्ध बिना ही वे परमात्मा हुए हैं । अल्पज्ञताका नाश करके परमात्मदशारूप परिणमित होनेरूप जो क्रिया हुई उसके स्वयं ही कर्ता हैं अपना आत्मा ही उसका साधन है, अपना आत्मा ही उसका सम्प्रदान और अपादान है; अपना आत्मा ही उस परमात्मदशा का आधार है और अपने स्वभावके साथ ही उसका संबन्ध है ।—इसप्रकार बाह्य छह कारकोंके अनुसार शुद्धभावरूपसे स्वतः परिणमित होनेकी क्रिया करे ऐसा आत्माका

स्वभाव है। अहो ! परमात्मा होनेकी शक्ति स्वयं अपनेमें ही भरी होने पर भी जीव अपनी प्रभुताके निधानको नहीं देखते और बाह्यमें भटकते हैं इसलिये संसारमें परिभ्रमण करते हैं। यहाँ आचार्यदेव आत्माकी शक्तियोंका वर्णन करके उसकी प्रभुता बतलाते हैं।

देखो रे देखो ! चैतन्यके निधान देखो ! अरे जीवों ! तुम्हारे अन्तरके ऐसे चैतन्य निधान बतलाऊँ कि जिन्हें देखते ही अनादिकालीन दीनता दूर हो जाय और आत्मामें अपूर्व आह्लाद जागृत हो......जिसके सन्मुख दृष्टि करते ही प्रदेश प्रदेशमें रोमांच हो जाये कि–"अहो ! ऐसी मेरी प्रभुता !!" ऐसी अचिंत्य प्रभुता आत्मामें विद्यमान है। भाई ! तेरे आत्मामें ऐसी प्रभुता है कि जगतमें अन्य किसीकी भी सहायताके बिना स्वतः अकेला ही अपनेमेंसे अनंत ज्ञान और आनन्द प्रगट करके तू स्वयं परमात्मा हो जा–ऐसी तेरी शक्ति है। एक बार तो अंतरमें दृष्टि करके अपनी प्रभुताको देख ! दृष्टि करते ही निहाल कर दे ऐसा तेरा स्वभाव है। तू अपने स्वभावकी प्रभुताका विश्वास रखकर उसके आधारसे शुद्धभावरूप परिणमित होनेकी क्रिया कर और दूसरा कोई साधन होकर तुझे परिणमित कर देगा ऐसी व्यर्थकी आशा छोड़ दे। अरे अपनी ही अपनेको खबर न हो तो फिर सुखी कैसे होगा ? अपनेको ही भूलकर बाह्यमें भटकता फिरे तो उसे सुख कहाँसे मिलेगा ? इसलिये अन्तरमें मेरा आत्मा क्या वस्तु है कि जिसमें मेरा सुख भरा है !–इसप्रकार अन्तर्शोध करके आत्माका पता लगाना चाहिए। आत्माकी सत्ताके अतिरिक्त अन्यत्र तो कहीं सुखका अस्तित्व है ही नहीं।

सम्यक्त्वी धर्मात्मा चौथे गुणस्थानमें असंयमी हो, गृहस्थदशामें व्यापार–धंधा–घरबार वर्तते हों तथापि उसके अन्तरमें सदैव आत्माके वैभवका भान वर्तता है। अरे ! आठ वर्षकी बालिकाको या मेंढकके आत्माको भी ऐसे आत्माका भान हो सकता है। यह शरीर तो ऊपरका खोल है, वह कहीं आत्मा नहीं है, आत्मा तो अन्तरमें पृथक् है। जब वह जागकर अपने स्वरूपका भान करे तब कर सकता है।

यह ४७ शक्तियाँ आदि शब्द बोलना उसे भले न आये किंतु इन शक्तियोंके वाच्यरूप भाव आत्मामें हैं वे उसके संवेदनमें आजाते हैं; आत्माकी सम्पूर्ण प्रभुता उसकी प्रतीतिमें आ जाती है; स्वतः छह कारकरूप होकर निर्मल भावरूपसे परिणमित होनेकी क्रिया उसके आत्मामें हो जाती है। अंतर्मुख होकर ऐसी क्रिया करनेमें ही कल्याण है, अन्य किसीप्रकारसे कल्याण नहीं है। "अरे ! मेंढक और आठ वर्षकी बालिकाके आत्मा भी ऐसा आत्मभान करते हैं तो मुझसे क्यों नहीं होगा ? मुझमें भी ऐसी प्रभुता है और मैं भी उसका भान कर सकता हूँ"— इसप्रकार आत्मामें उल्लास लाकर–आत्माका विश्वास लाकर प्रयत्न करना चाहिये; जो ऐसा प्रयत्न करेगा उसे आत्माके आनन्दका अपूर्व अनुभव होगा ही।

देखो भाई ! यह कोई साधारण बात नहीं; और न साधारण पुरुषकी कही हुई है; यह तो परमात्मपदकी साधना करनेवाले वीतरागी संतोंने आत्माके आनन्दमें झूलते झूलते आत्माकी अचिंत्य शक्तियोंका अद्‌भुत वर्णन किया है। अंतरके अनुभवकी यह वस्तु है। वीतरागी संतोंके आत्महितके लिये यह जो मार्ग बतलाया है वही परम सत्य है; इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ माने तो वह जीव वीतरागी संतोंको या उनके कहे हुए वीतरागी शास्त्रोंको नहीं मानता; भगवानको या भगवानके कहे हुए मार्गको नहीं जानता; आत्माके वीतरागी ज्ञानस्वभावकी उसे खबर नहीं है। प्रत्येक आत्मामें विद्यमान अनंत शक्तियोंका ऐसा वर्णन सर्वज्ञके वीतराग शासनके अतिरिक्त अन्य कहाँ है ? अनेकान्त उस सर्वज्ञ भगवान्‌के शासनका अमोघ लांछन है; उस अनेकांतके द्वारा ही आत्माका सच्चा स्वरूप ज्ञात होता है। प्रत्येक शक्तिके वर्णनमें महान् रहस्य आ जाता है। एक भी शक्तिको यथार्थ पहिचान ले तो उसमें शक्तिमान ऐसे द्रव्यको मान लिया; द्रव्यके गुणोंको मान लिया, उसकी पर्यायको मान लिया, विकारको मान लिया, परिणमन मान लिया, विकार रहित होनेके स्वभावको मान

लिया; प्रत्येक आत्माकी पृथक्ताको मान लिया; पर वस्तुएँ भी हैं, वे आत्मासे भिन्न हैं आत्मा उनका अकर्ता है,—यह सब रहस्य इसमें समा जाता है। अनेकान्तके बिना एक भी वस्तुका सच्चा ज्ञान नहीं होता। अनेकान्त शासन अर्थात् सर्वज्ञ का शासन–जैन–शासन–वस्तुस्वभावका शासन,–उसके सिवा अन्यत्र कहीं यह बात नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्यदेवने समयसारकी ४१५ गाथाओंमें तो आत्मस्वभावका वैभव भर दिया है और अमृतचन्द्राचार्यदेवने उसका दोहन करके उसके रहस्य खोले हैं, वे स्वयं कुन्द–कुन्द प्रभुके गणधर समान हैं। कुन्दकुन्दाचार्यदेवने तीर्थंकर जैसे कार्य किये हैं और अमृतचन्द्राचार्यदेवने गणधर जैसे। अहो ! इस काल उन संतोंका महान् उपकार है। संतोंने ढिंढोरा पीटकर जगतके समक्ष वस्तुस्वरूपकी घोषणा की है।

शुद्ध छह कारकरूप होनेका आत्माका स्वभाव है, उसके आधारसे अपने अनंत गुणोंकी निर्मल परिणमित होनेकी क्रिया करे–ऐसी शक्ति आत्मामें है। स्वसन्मुख निर्मल परिणमनमें छहों कारक अभेद हैं। अभेद स्वभाव पर दृष्टि जानेसे आत्मा स्वयं निर्मल पर्यायरूपसे परिणमित हो जाता है, उसमें छहों कारक अपने ही हैं। कर्त्तास्वयं, कर्मस्वयं, साधनस्वयं, सम्प्रदानस्वयं, अपादानस्वयं और अधिकरण भी स्वयं ही है; इसलिये हे जीव ! अपने धर्मके लिये तू अपने मैं ही देख.........व्यर्थं व्यग्र होकर बाह्यमें कारणोंको न ढूंढ; क्योंकि तेरे धर्मके कारक बाह्यमें नहीं हैं। अपने छह कारकोंका अनुसरण करके परमात्मदशारूप परिणमित हो जाये ऐसी प्रभुता तुझमें ही भरी है; अपनी प्रभुताको कहीं बाह्यमें न ढूँढ......अपनी प्रभुताके लिये बाह्य सामग्रीको (–शरीरको निमित्तको या रागादिको) ढूँढनेकी व्यग्रता न कर। बाह्य सामग्रीके बिना स्वयं अकेला अपने छह कारकोंरूप केवलज्ञानरूपसे परिणमित हो जाये ऐसा स्वयंभू भगवान् स्वयं ही है। अहो ! ऐसी अपनी प्रभुताको छोड़कर परको कौन ढूंढे ? बाह्यमें साधनोंके लिये कौन भटके !!

ध्रुव उपादानरूप और क्षणिक उपादानरूप स्वभाववाला

आत्मा स्वयं ही है। ध्रुव उपादान त्रिकाल शुद्ध है; उसके आधारसे क्षणिक उपादान (–पर्याय) शुद्ध हो जाता है। उस समय दूसरे योग्य निमित्त भले हों, किंतु सचमुच वे कारक नहीं हैं, उन निमित्तोंका अनुसरण करके आत्मा शुद्धतारूप परिणमित नहीं होता, किंतु अपने स्वभावका अनुसरण करके ही वह शुद्धतारूपसे परिणमित होता है—ऐसा भगवान् आत्माका स्वभाव है। "भगवान" या "प्रभु"–ऐसे शब्द आयें वहाँ जीवकी दृष्टि बाह्यमें जाती है; किन्तु भाई रे ! जो भगवान हो गये उनकी यह बात नहीं है; उन्हें कहीं यह बात नहीं समझाते; यह तो तेरे आत्माकी बात है। इस आत्माको ही हम भगवान् कहते हैं और आत्माको ही "प्रभु" कहते हैं। जो भगवान् और प्रभु हुए वे कहाँसे हुए ? आत्मामें शक्ति है उसीमेंसे हुए हैं और इस आत्मामें भी ऐसी शक्ति है; अंतर्दृष्टिके बलसे उस शक्तिको खोलकर यह आत्मा भी भगवान् और प्रभु हो सकता है; इसलिये प्रथम अपने स्वभावकी ऐसी शक्तिका विश्वास कर और उसकी महिमा ला। फिर उस स्वद्रव्यके आश्रयसे एकाग्र होने पर, परके कारकोंकी अपेक्षा बिना अपने ही कारकोंसे तेरा आत्मा प्रभुतारूप परिणमित हो जायगा। आत्मा अपनी प्रभुता दूसरेको नहीं देता और दूसरेकी प्रभुताको अपनेमें स्वीकार नहीं करता तथा दूसरेके पाससे अपनी प्रभुता नहीं लेता। हे जीव ! तू अपनी ऐसी प्रभुताको धारण कर। "प्रभुतर प्रभु तेरी साँची......" शक्तिरूपसे तो सभी आत्माओंमें प्रभुता है किंतु उसका सम्यक्भान करके पर्यायमें प्रभुता व्यक्त करे उसकी बलिहारी है। प्रभुताके भानके बिना तो उल्टा (पामरता दीनतारूप) परिणमन है।

" ऐसा राग हो तो मुझे लाभ हो और ऐसा निमित्त हो तो मुझे लाभ हो"–इसप्रकार रागके और निमित्तके निकट जाकर जो अपनी प्रभुता माँगता है वह दीन भिखारी है उसे प्रभुता कहाँसे मिलेगी ?" दीन भयो प्रभु पद जपै, मुगति कहाँ से होय ? प्रभुताकी

शक्ति तो स्वयंमें भरी है उसे पहिचानकर उसका भजन–सेवन करे तो प्रभुता प्राप्त हो। अरे जीव! तेरे स्वभावमें प्रभुताका कल्पवृक्ष लगा है, उसकी छायामें जाकर प्रभुता माँग तो तुझे अवश्य तेरी प्रभुताकी प्राप्ति हो। जिस हाथमें कोयला या पत्थर लेकर चिंतवन करे तो कुछ नहीं मिलता; किंतु चिन्तामणि लेकर चिंतवन करे तो बाह्य वैभवकी प्राप्ति होती है; उसीप्रकार शरीरको या रागरूपी कोयलेको लेकर चिंतवन करे तो उससे कहीं आत्माकी प्रभुता प्राप्त नहीं होती। किंतु आत्माका स्वभाव स्वयं चैतन्य–चिंतामणि है, उस चिन्तामणिका चिंतवन करे तो प्रभुताकी प्राप्ति हो......अर्थात् मैं ही प्रभुतासे परिपूर्ण चैतन्य चिंतामणि हूँ—इसप्रकार अपने आत्माका चिंतवन करनेसे आत्मा स्वयं प्रभु हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो अपनी प्रभुता दूसरेके पाससे माँगे वह तो दीन होकर चार गतियोंमें परिभ्रमण करता है, इसलिये आचार्यदेव आत्माकी प्रभुता बतलाते हैं कि अरे जीव! तेरी प्रभुताके निधान तुझे बतला रहे हैं उन्हें एकबार तो देख! अपने निधानको देख तो सही! अपने स्वभावकी प्रभुताको देखनेका कुतूहल–रुचि उमंग करे तो उसे प्रभुता मिले बिना न रहे। निरपेक्षरूपसे अपने वीतरागी छह कारकोंरूप होकर प्रभुतारूपसे परिणमित होनेकी क्रिया करे ऐसी आत्माकी क्रिया शक्ति है। ऐसे निरपेक्ष स्वभावका भान होने पर स्व–पर प्रकाशक सम्यग्ज्ञान विकसित हो जाता है और यथार्थ निमित्त कैसे होते हैं–ऐसी निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्धरूप सापेक्षताको भी वह ज्ञान यथार्थरूपसे जानता है। निरपेक्षताको पहिचाने बिना अकेली सापेक्षता का ज्ञान सच्चा नहीं होता।

विकारदशामें भी आत्मा स्वयं ही अशुद्ध छह कारकोंरूप होकर परिणमित करनेवाला नहीं है। परन्तु इन शक्तियोंमें तो आत्माके शुद्ध स्वभावका वर्णन है इसलिये यहाँ अशुद्धताकी बात नहीं आती। इस विषयका विशेष स्पष्टीकरण ३९ वीं शक्तिमें आगया है।

यहाँ तो आत्मा अपने स्वभावका स्वसंवेदन करके शुद्धतारूपसे परिणमित हो–ऐसी ही बात है।

प्रश्न:—अनेक लोग कहते हैं कि आत्मा अरूपी है इसलिये वह इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ?

उत्तर:—यह बात मिथ्या है। आत्मा अरूपी होनेसे वह इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता यह सत्य है; परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञानसे तो आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। मति–श्रुतज्ञान भी जब अन्तरोन्मुख होते हैं तब उन्हें अतीन्द्रियपना है और उन मति–श्रुतज्ञानमें भी आत्मा स्वसंवेदन–प्रत्यक्ष होता है स्वयंको उसका अनुभव होता है। यदि स्वयंको अपने स्वसंवेदनका निःशंक अनुभव न हो तो निःशंकताके बिना साधक कैसे होगा ? और वह आत्माको साधेगा किसप्रकार ? साधक जीव (चौथे गुणस्थानवर्ती अविरति सम्यग्दृष्टि भी) अपने ज्ञानको अंतरोन्मुख करके स्व–संवेदन प्रत्यक्षसे आत्माको जानता है। आत्मामें ही "स्वयं प्रकाशमान विशद-स्पष्ट स्वसंवेदनमयी प्रकाशशक्ति" है, इसलिये आत्मा स्वयं अपने ज्ञानसे ही अपना स्पष्ट–प्रत्यक्ष स्वानुभव करे ऐसा उसका स्वभाव है। (–इस "प्रकाशशक्ति"के विशेष विवेचनके लिये देखो, आत्मधर्म अंक १०९–१०)

स्वयं अपने ही छह कारकों द्वारा, इन्द्रियादि कारकोंकी सहायताके बिना ज्ञाता सन्मुख होकर स्वयं अपना प्रत्यक्ष स्पष्ट स्वसंवेदन करे ऐसा आत्माका स्वभाव है, परोक्ष रहनेका उसका स्वभाव नहीं है। प्रत्यक्ष होनेका स्वभाव है उस स्वभावके लक्षसे स्वसंवेदन प्रत्यक्षताका परिणमन हो जाता है।

स्वभावका सम्यक्परिणमन कब होता है ?—कि जब उसमें पर्यायकी एकता हो तब।

वह एकता कब होती है ?—कि जब उस स्वभावपर दृष्टि पड़े तब ।

शुद्ध स्वभावमें दृष्टि करे तो उसमें एकता हो और स्वभावकी शक्तियोंका सम्यक् परिणमन हो । इसका नाम धर्म है और यही मोक्षका मार्ग है । अपने स्वभावके कारकोंका अनुसरण करके शुद्ध भावरूप होनेकी क्रिया करे ऐसी आत्माकी शक्ति है; इसलिये आत्माके समस्त गुण भी इसीप्रकार अपने स्वभावके कारकोंके अनुसार निर्मलरूपसे परिणमित हों ऐसे स्वभाववाले हैं; किसी भी गुणका ऐसा स्वभाव नहीं है कि अपने निर्मल परिणमनके लिये परके कारकोंका अनुसरण करें तथा परका अनुसरण करके विकाररूपसे या हीनरूपसे परिणमित हो वह भी गुणका सच्चा स्वरूप नहीं है, वह तो उपाधिभाव है; अखण्ड स्वभावको ही कारक बनाकर परिणमित होनेसे वह उपाधिभाव छूट जाता है और शुद्धतारूप परिणमन हो जाता है; वही आत्माकी शुद्ध क्रिया है, वही धर्म क्रिया है, उसी क्रियासे मोक्ष होता है । देखो यह कर्त्ता की क्रिया । कर्त्ता ऐसा आत्मा अपने ही छह कारकों–द्वारा (अर्थात् स्वयं ही छह कारकोंरूप होकर) अपनी क्रिया करता है; कर्त्ता अपनेसे भिन्न अन्य किन्हीं कारकों द्वारा अपनी क्रिया नहीं करता जैसे कि—

मिथ्यात्वका नाश करके सम्यग्दर्शनरूपसे परिणमित होनेकी क्रिया अन्य कारकोंका अनुसरण किये बिना स्वयं अपने चैतन्य स्वभावका अनुसरण करके करता है। सम्यग्दर्शनमें सच्चे देव–गुरु शास्त्र आदि निमित्त होने पर भी उन निमित्तोंको अपने कारक बनाये बिना, अपने ही छह कारकोंका अनुसरण करके आत्मा सम्यग्दर्शनरूप परिणमित होता है। इसप्रकार अपने कारकों द्वारा ही अपनी क्रिया करता है । इसप्रकार ज्ञान, चारित्र, आनन्दादि समस्त गुणोंमें निर्मल परिणमनरूप क्रिया आत्मा स्वयं स्वतः छह कारकरूप होकर करता है, ऐसी क्रियाशक्ति आत्मामें त्रिकाल है ।

यह एक बात मुख्य समझने योग्य है कि शुद्धताके ही छह कारकरूप होनेका आत्माका स्वभाव है, किन्तु अशुद्धताके कारकरूप होनेका आत्माका स्वभाव नहीं है। जो जीव मात्र अशुद्धतारूप ही परिणमित होता है उसने स्वयं छह कारक स्वभावको नहीं जाना है, इसलिये वह अकेले परको ही कारक मानकर उसके आश्रयसे अशुद्धतारूप परिणमित होता है। यदि परसे निरपेक्ष स्वयं छह कारकरूप होनेसे आत्माके स्वभावको जाने तो उस स्वभावके आश्रयसे शुद्धतारूप परिणमन हुए बिना न रहे; इसप्रकार शुद्ध द्रव्य स्वभावके ऊपर दृष्टि करनेसे स्वसन्मुखताके बल अनुसार पर्यायमें शुद्धता होने लगती है, अतः द्रव्य स्वभावके साथ एकता करनेसे ही उस जैसी शुद्ध अवस्था हो जाती है, इसलिये वहाँ द्रव्य-पर्यायका भेद नहीं रहता और अभेदमें निर्विकल्प आनन्दका अनुभव होता है। ऐसा आत्मा स्वभावकी समझका फल है।

जीव अपने स्वभावको कारण न बनाकर परको कारण बनाता है, वह संसार है; यदि स्वभावको कारण बनाये तो शुद्धतारूप परिणमन हो और मोक्षको जाये। आत्माका स्वभाव शुद्धताका ही कारण होनेका है। इसलिये उसे कारणरूपसे जो स्वीकार करे उसको शुद्धतारूप कार्य हुए बिना नहीं रहता। हे जीव! तेरी सिद्धिका साधन तेरे आत्मामें ही विद्यमान है, तेरी क्रिया शक्तिके कारण तेरा आत्मा अपने ही छह कारकों द्वारा एक अवस्थामेंसे दूसरी अवस्थारूप परिणमित हो जाता है।—इसलिये पराश्रय बुद्धि छोड़ और ऐसे अपने स्वभावका ही आश्रय करके निर्मल भावरूपसे परिणमित होनेकी क्रिया कर।—ऐसा भगवान संतोंके उपदेशका तात्पर्य है।

[—यहाँ ४० वीं क्रियाशक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

★

[४१]

कर्मशक्ति

"कर्म शक्ति" कहनेसे यह जड़ कर्मोंकी शक्तिकी बात नहीं है; किंतु अपने सम्यग्दर्शनादि कर्मरूप (कार्यरूपसे) स्वयं परिणमित हो ऐसी आत्माकी कर्म शक्ति है; उस शक्तिका यह वर्णन है। पूज्य गुरुदेवका यह प्रवचन मुमुक्षुओंके लिये मननीय है।

क्रिया शक्तिमें आत्माके स्वाभाविक छह कारक बतलाये; अब छह शक्तियोंमें उन स्वाभाविक छहों कारकोंका पृथक्-पृथक् वर्णन करके आचार्यदेव अधिक स्पष्टता करते हैं।

"प्राप्त होता हुआ ऐसा जो सिद्धरूप-भाव उस-मयी कर्मशक्ति है।"

व्याकरणमें छह कारक और एक सम्बन्ध—ऐसी सात विभक्तियाँ आती हैं; उन सातों विभक्तियोंका यहाँ सात शक्तियोंरूपसे वर्णन करके आत्माका एकत्व-विभक्त स्वरूप बतलाया है। परमार्थ विभक्ति उसे कहा जाता है जो आत्माको परसे विभक्त करे। स्व-में

एकत्व और परसे विभक्त ऐसा आत्माका स्वभाव है। कर्ता-कर्म-करण आदि छह कारक और एक सम्बन्ध यह सातों विभक्तियाँ आत्माको परसे विभक्त—पृथक् बतलाती हैं। अन्तिम सम्बन्ध शक्ति कहेंगे; वह सम्बन्ध शक्ति भी कहीं आत्माका परके साथ सम्बन्ध नहीं बतलाती, किंतु अपनेमें ही स्व-स्वामी सम्बन्ध बतलाकर परके साथका सम्बन्ध छुड़वाती है; इसप्रकार परसे भिन्न आत्माको बतलाती है। ऐसे विभक्त आत्माको जाने बिना "इस शब्दकी यह विभक्ति और अमुक शब्दकी अमुक विभक्ति"—ऐसी व्याकरण पढ़ जाये तो उसके कहीं कल्याण नहीं होता। जिसने सर्वसे विभक्त आत्माको जाना उसने सब विभक्तियाँ जानलीं। आत्माका परके साथ कर्ता-कर्मपना माने, परको साधन माने या आधार माने उसने आत्माकी विभक्तिको (—परसे भिन्नताको) नहीं जाना।

प्राप्त होता हुआ ऐसा जो सिद्धरूप भाव अर्थात् निश्चित हुआ भाव, सिद्ध हुआ भाव, प्रगटा हुआ भाव वह आत्माका कर्म है और उस कर्मरूप आत्मा स्वयं होता है ऐसी उसकी कर्मशक्ति है। यहाँ प्रथम कर्म अर्थात् कार्य बतलाकर फिर उसके कर्ता-करण आदि बतलायेंगे। वर्णनमें तो क्रमसे कथन आता है; वस्तुमें कहीं छह कारक क्रमशः नहीं हैं, वस्तुमें तो एक साथ ही छहों कारकरूप परिणमन है।

अनंत स्वभावके पिण्ड आत्मा पर दृष्टि करनेसे उस—उस समयकी निश्चित निर्मल पर्याय कार्यरूपसे प्राप्त होती है वह आत्माका कर्म है। "कर्म" कहनेसे यहाँ जड़ कर्मकी अथवा रागादि भावकर्म की बात नहीं है, किंतु चैतन्य स्वभावमेंसे जो सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायरूप कार्य प्राप्त किया जाये उसकी बात है। शुद्ध द्रव्य स्वभावका अवलम्बन लेनेसे प्रतिक्षण नया—नया निर्मलभाव प्राप्त होता है; वह प्राप्त होनेवाला भाव सिद्धरूप है अर्थात् प्रसिद्ध हो चुका है—प्रगट हो गया है। वस्तुमें शक्तिरूपसे तो अनादिसे था, किंतु अब वह भाव प्रसिद्ध हुआ—पर्यायमें व्यक्त हुआ इसलिये उसे सिद्धरूप भाव कहा

है। "सिद्धरूप भाव" में अकेली सिद्ध दशा नहीं लेना चाहिये किंतु सम्यग्दर्शनादि समस्त निर्मल पर्यायें सिद्धरूप भावमें आ जाती हैं। वह प्राप्त होता हुआ सिद्धरूप भाव सो कर्म है; आत्मा अपनी शक्तिसे उसरूप होता है ऐसी उसकी कर्मशक्ति है। यह शक्ति आत्मामें त्रिकाल है; किंतु उसका भान होने पर निर्मल पर्यायरूप कार्यकी (–कर्मकी) प्राप्ति नई होती है; पहले निमित्ताधीन बाह्यदृष्टिके समय निर्मलभावकी प्राप्ति नहीं थी और शक्तिका भी भान नहीं था; अब स्वभाव शक्तिका भान होने पर उसके आश्रयके सम्यग्दर्शनादि निर्मल भावको कर्मरूपसे प्राप्त किया। द्रव्यकी शक्तिमें तो वह भाव अनादिसे सिद्ध हुआ था किंतु पर्यायमें उसकी प्राप्ति नई हुई...पर्यायमें कर्मरूपसे व्यक्त होने पर उसे सिद्धरूप भाव कहा। उस–उस समयकी सिद्धरूप निर्मल पर्यायरूप होनेकी शक्ति द्रव्यमें विद्यमान है, उस द्रव्य स्वभावके आश्रयसे आत्मा निर्मल कर्मरूप ही परिणमित होता है—विकारी कर्मरूपसे परिणमित नहीं होता, ऐसा ही आत्माका स्वभाव है। द्रव्यदृष्टि द्वारा ही ऐसे स्वभावकी प्रतीति करने पर उसकी सन्मुखतासे अनंतगुण अपने-अपने निर्मल कार्यरूप परिणमित हो जाते हैं। जो निर्मलकार्य करना है उस कार्यरूप होनेकी शक्ति अपनेमें त्रिकाल है। कर्म शक्तिसे आत्मा स्वयं निर्मल–निर्मल भावरूपसे प्राप्त होता है,—निर्मल भावरूप कर्मरूपसे स्वयं ही परिणमित होता है।

भाई! तेरा कर्म तुझसे भिन्न नहीं है; उस-उस समयके निर्मल कर्मके साथ आत्मा स्वयं तन्मय होकर परिणमन करे, अर्थात् आत्मा स्वयं अपने कर्मरूप हो ऐसी उसकी कर्मशक्ति है; इसलिये तेरा कार्य दूसरा कोई दे देगा ऐसा नहीं है। अपनी स्वभाव शक्तिको संभालने पर तू स्वयं ही तन्मयरूपसे अपने सम्यग्दर्शनादि कार्यरूप परिणमित हो जायेगा ऐसी तेरी कर्मशक्ति है।

देखो, यह आत्माका कर्म! अज्ञानी करम–करम करते हैं किंतु यहाँ जड़ कर्मसे भिन्न आत्माका कर्म बतलाते हैं। जड़ कर्ममें

ऐसी शक्ति नहीं है कि आत्माका कुछ करे। आत्मामें ऐसी कर्मशक्ति है कि वह अपने सम्यग्दर्शनसे लेकर सिद्धपद तकके भावोंको प्राप्त करके तन्मयरूपसे परिणमित होता है, अर्थात् अपने कर्मरूप स्वयं ही होता है। जो जीव आत्माकी ऐसी कर्मशक्तिकी प्रतीति करे उसे जड़कर्मके सम्बन्धका अभाव हुए बिना न रहे।

कर्म सम्बन्धमें चार प्रकार हैं—

(१) जड़रूप ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म।

(२) राग-द्वेष-मोहादि विकाररूप भावकर्म।

(३) सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायरूप कर्म।

(४) आत्माके त्रिकाल स्वभावरूप कर्मशक्ति।

(१) द्रव्यकर्म वह पर है, (२) भावकर्म वह विभाव है, (३) निर्मल पर्यायरूप कर्म वह क्षणिक स्वभाव है और (४) कर्मशक्ति वह त्रिकाल शुद्ध स्वभावसे है। उस त्रिकाली स्वभावके आधारसे वर्तमान निर्मल पर्यायरूप कर्म प्रगट होता है और भावकर्म तथा द्रव्यकर्म छूट जाते हैं।

सम्यग्दर्शनादि धर्मरूप निर्मल कर्म कहीं बाहरसे नहीं आता, किंतु आत्मामें ही उसरूप होनेकी शक्ति है; आत्माके स्वभावका अवलम्बन करनेसे आत्मा स्वयं ही वैसे निर्मल कार्यरूपसे प्रसिद्ध होता है। देखो, यह आत्माकी कार्यशक्ति! आत्माकी कार्यशक्ति ऐसी नहीं है कि जड़का कुछ करे; विकार करे वह भी वास्तवमें आत्माकी शक्तिका कार्य नहीं है; किंतु शुद्ध ज्ञान–दर्शन–आनन्दादि भाव आत्माका सच्चा कर्म है।

शरीर–कर्म–भाषा आदि परमाणुकी अवस्था है वह परमाणुका कार्य है, क्योंकि वह उनमें तन्मय है।

राग-द्वेष-पुण्य-पापादि विकारी भावरूप अवस्था वह मिथ्यादृष्टिका कार्य है, क्योंकि वह उनमें तन्मय है।

सम्यक्त्वी तो अपने सम्यक्श्रद्धा–ज्ञान–आनन्दरूप भावोंमें तन्मय होता है और वही आत्माका वास्तविक कार्य है; तथा वही आत्मा द्वारा प्राप्त किया जाता है। आत्मा द्वारा कर्मरूपसे प्राप्त किया जानेवाला ऐसा जो सिद्धरूप साधकभाव (–उस-उस समय प्रसिद्ध हुआ साधकभाव) वही धर्मात्माका कर्म है; उसके द्वारा आत्माकी कर्मशक्ति पहिचानी जाती है। राग वास्तवमें आत्माका स्वाभाविक कर्म नहीं है इसलिये उसके द्वारा कर्मशक्तिवाले आत्माकी पहिचान नहीं होती।

क्या आठ जड़कर्म वह आत्माका कर्म है?—नहीं।

क्या रागादि भावकर्म वह आत्माका कर्म है?—नहीं। वे रागादि भाव आत्माकी पर्यायमें होते हैं तथापि आत्माका स्वभाव उनमें तन्मय होकर परिणमित नहीं होता इसलिये स्वभावदृष्टिमें वह आत्माका कर्म नहीं है।

तो आत्माका सच्चा कर्म क्या?—आत्मा स्वयं तन्मय होकर जिसे प्राप्त करे वह आत्माका सच्चा कर्म है। अपनी निर्मल पर्यायोंमें तन्मय होकर आत्मा उन्हें प्राप्त करता है—उन–उन पर्यायों तक पहुँच जाता है–इसलिये वे निर्मल पर्यायें ही आत्माका कर्म है और वही धर्म है।

भाई! परके कार्य तेरे आत्मामें नहीं हैं; और राग-द्वेष-मोहके कार्य भी तेरे स्वभावमें नहीं हैं; किंतु अपनी शक्तिमेंसे निर्मल पर्यायको प्राप्त कर वही तेरा कार्य है। सम्यग्दर्शनसे लेकर सिद्धपद तकके पद प्राप्त करनेकी शक्ति तेरे आत्मामें है और वही तेरे कार्य हैं; इसके सिवा बाह्यमें महान राजपद या इन्द्रपद आदिकी प्राप्ति हो वह कहीं तेरे आत्माका कार्य नहीं है। धर्मात्मा जानता है कि मैं तो अपने ज्ञान-आनन्द स्वभावमय हूँ और उसमेंसे प्राप्त होनेवाली अवस्था ही मेरा कार्य है; इसके अतिरिक्त रागादि विकार भी मेरा

कार्य नहीं है तो फिर उस विकारके फलरूप बाह्य संयोगोंमें तो मेरा कार्य कैसे होगा ? मेरे स्वभावमेंसे सिद्धपद प्रगट हो वही मेरा प्रिय कार्य है। "कर्ताका इष्ट सो कर्म;" धर्मी कर्ताका इष्ट तो उसकी अपनी निर्मल परिणति ही है; रागादि वह धर्मीका इष्ट नहीं है इसलिये वह उसका कर्म नहीं है। श्रद्धामें परमशुद्ध ऐसे चिदानन्द स्वभावको ही इष्ट करके उसमेंसे सम्यग्दर्शनादि निर्मलदशा प्राप्त करके सिद्धपदकी ओर कदम बढ़ाये हैं वही धर्मात्माका इष्ट कार्य है।

देखो, यह सिद्धपदका मार्ग...यह मोक्षका पंथ ! आत्माके स्वभावको इष्ट-प्रिय करके उसके आश्रयसे निर्मल पर्यायरूप कार्य करना वह सिद्धपदका मार्ग है। अहो ! ऐसे आत्माको तो इष्ट न करे और अन्य कार्योंको इष्ट माने वह तो सत्के मार्ग पर भी नहीं आया है; तो फिर उसे सत्के फलरूप मोक्षकी प्राप्ति कहाँसे होगी ? रागादि होने पर भी जिसने अन्तर्मुख होकर अपने चिदानन्द स्वभावको ही इष्ट किया है वह तो सत्के मार्ग पर लगा हुआ साधक है और वह सत्के फलरूप सिद्धपदको अल्पकालमें अवश्य प्राप्त करेगा।

अहो ! अपना सम्यग्दर्शनादि निर्मल कार्य मुझे बाहरसे नहीं लाना पड़ेगा; मेरे आत्मामें ही ऐसी शक्ति है कि मैं स्वयं उस कार्यरूप परिणमित हो जाऊँ।—ऐसा स्वशक्तिका निर्णय किया वहाँ निजकार्यके लिये बाह्य साधनोंकी चिंता नहीं रहती। इसप्रकार निश्चित पुरुषों द्वारा इस आत्माकी साधना होती है; क्योंकि आत्माको साधनेके लिये कोई बाह्य साधन है ही नहीं; अंतरमें आत्मा स्वयं ही सर्व साधन-सम्पन्न है; इसलिये बाह्य साधनोंकी चिन्ता व्यर्थ है। स्वयं अपने स्वभावके चिंतनसे ही यह आत्मा सधता है, बाह्यकी चिन्ता द्वारा नहीं सधता; इसलिये निश्चित पुरुषों द्वारा ही आत्मा सधता है। निमित्तादि बाह्य साधनोंकी चिन्ता छोड़कर अन्तर्मुख होकर आत्म स्वभावमें एकाग्र होने पर आत्मा स्वयं अपने

को साधता है। जिनके चिंतनमें अकेले ज्ञानानन्द मूर्ति आत्माके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है ऐसे निश्चित पुरुषों द्वारा ही भगवान आत्मा साध्य है, वें ही उसका अनुभवन करते हैं। अपनी कर्मशक्तिसे ही आत्मा अपने कार्यको साधता है,—प्राप्त करता है।

आत्मामें कर्मशक्ति त्रिकाल है, इसलिये वह कर्म रहित (अर्थात् अपने कार्य रहित) कभी नहीं होता आत्मा जड़कर्म रहित त्रिकाल है, किन्तु अपने भावरूप कर्म रहित वह कभी नहीं होता। हाँ, अज्ञान दशामें वह विपरीत (रागद्वेष मोहादि) कर्मरूपसे परिणमित होता है और स्वभावका भान होने पर सम्यग्दर्शनादि निर्मल कार्यरूपसे परिणमित होता है। किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि जिन्हें अपनी स्वभावशक्तिका भान हुआ है ऐसे साधक तो स्वभावके आलम्बनसे निर्मल कर्मरूप ही परिणमित होते हैं; मलिन कार्योंको वे अपने स्वभावमें स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वे मलिन भाव स्वभावके आधारसे नहीं हुए हैं और न स्वभावके साथ उसकी एकता है। शुद्ध स्वभावके आधारसे तो निर्मल कार्य ही होता है और उसीको वास्तवमें आत्माका कार्य स्वीकार किया जाता है।

देखो, विकार कैसे दूर होता है वह बात भी इसमें आ जाती है। 'मैं विकारको दूर करू''—इसप्रकार विकार दूर करनेकी चितासे वह दूर नहीं होता; विकारकी ओर देखकर इच्छा करे कि—मुझे यह विकार दूर करना है–तो वह इच्छा स्वयं भी विकार है, उस इच्छासे कहीं विकार दूर नहीं हो जाता। किंतु शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव परमपारिणामिक भावसे सदैव विकार रहित ही है; उस स्वभावकी ओर उन्मुख होकर जहाँ उसके साथ एकता की वहाँ पर्याय स्वयं निर्विकाररूपसे परिणमित हुई और विकार छूट गया। गुणीके साथ एकता करनेसे गुणका निर्मल कार्य प्रगट होता है और विकार टलता है।

औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पंचम-

पारिणामिक—यह पांच जीवके असाधारण भाव हैं। द्रव्य-गुण त्रिकाल पारिणामिक भावसे शुद्ध हैं, उनमें कभी विकार नहीं है, उनका आश्रय करनेसे औपशमिक क्षायिकादि निर्मलभाव प्रगट हो जाते हैं। औदयिकभाव परके आश्रयसे होता है, किंतु अन्तर्मुख स्वभावके आश्रयसे उसकी उत्पत्ति नहीं है इसलिये वह आत्माके स्वभावका कार्य नहीं है। आत्माकी समस्त शक्तियाँ पारिणामिक भावरूप हैं, उसे परकी अपेक्षा नहीं है। जिसप्रकार आत्मामें शुद्ध आनन्द स्वभाव तथा ज्ञान स्वभाव पारिणामिक भावसे त्रिकाल स्वतःसिद्ध हैं; उसीप्रकार कर्तास्वभाव–कर्मस्वभाव–करणस्वभाव–प्रभुतास्वभाव आदि भी परमपारिणामिक भावसे त्रिकाल स्वतःसिद्ध हैं; अन्तर्मुख होकर उनका भान करते ही उनके आधारसे निर्मल कार्य प्रगट हो जाता है। परम पारिणामिक भावके आश्रयसे जो कार्य प्रगट हुआ वह भी एक अपेक्षासे तो (–परकी अपेक्षा न लें तो) पारिणामिक भावरूप ही है, और कर्मके क्षय आदि की अपेक्षा लेकर उसे क्षायिक आदि कहा जाता है।

परम पारिणामिक भाव स्वरूप आत्मा 'कारण शुद्ध जीव' है, उसमें अनंत शक्तियाँ हैं, उसका यह वर्णन है। आत्माकी समस्त शक्तियाँ ऐसे स्वभाववाली हैं कि उनके आश्रयसे निर्मलता ही प्रगट होती है; एक भी शक्ति ऐसे स्वभाव वाली नहीं है कि जिसके आश्रयसे विकार हो। यदि स्वभावके आधारसे विकार होता हो तो वह दूर कैसे होगा? स्वभावके आधारसे यदि विकार होता हो, तब तो विकार स्वयं ही स्वभाव हो गया, इसलिये वह दूर हो ही नहीं सकेगा; परन्तु स्वभावका आश्रय करनेसे तो विकार दूर हो जाता है; इसलिये विकारको उत्पन्न करे ऐसा कोई स्वभाव आत्मामें है ही नहीं। इसप्रकार अंतरमें स्वभाव और विकारकी भिन्नताका निर्णय करके स्वभावोन्मुख होनेसे विकार दूर हो जाता है और निर्मलता प्रगट होती है उसका नाम धर्म है।

जिसप्रकार आमके वृक्षमें तो आम्रफल उत्पन्न होनेका ही स्वभाव है, आमके वृक्षमें कहीं निम्बोली उत्पन्न नहीं होती; उसीप्रकार यह आत्मा चैतन्य आम्र है, इसमें रागादि विकार उत्पन्न होनेका स्वभाव नहीं है इसके आधारसे तो निर्मलता ही उत्पन्न हो ऐसा स्वभाव नहीं है। यदि चैतन्यमें सिद्धपदकी शक्ति न हो तो सिद्ध दशा उत्पन्न कहाँसे होगी ? आमकी गुठलीमें आम होनेके बीज पड़े हैं उसमेंसे आमकी उत्पत्ति होती है, कहीं नीम या बेरीमें आम उत्पन्न नहीं होते। उसीप्रकार चैतन्यमें ही केवलज्ञान और सिद्धपदकी शक्ति विद्यमान है, उसीमेंसे वह प्रगट होता है, शरीरमेंसे या रागमेंसे प्रगट नहीं होता। आत्मामें परम पारिणामिक भावसे त्रिकाल प्रभुता है, उसके आश्रयसे प्रभुता हो जाती है। आत्माकी शक्तियाँ ऐसी स्वतंत्र हैं कि अपनी प्रभुतारूप कार्यके लिये उसे किसी अन्यका सहारा नहीं लेना पड़ता। ऐसे आत्म स्वभावको जाने तो सम्यग्दर्शनादि निर्मल कार्य प्रगट हो।

आत्माका स्वभाव निर्मल है और उस स्वभावके आश्रयसे निर्मल भावको अपने कर्मरूपसे प्राप्त करे ऐसी आत्माकी त्रिकाल शक्ति है। शरीर–मन–वाणी आदि परको अपने कर्मरूपसे प्राप्त करे ऐसी शक्ति आत्मामें तीनकालमें नहीं है; और पुण्य-पापरूप विकार भावोंको अपने कर्मरूपसे प्राप्त करे ऐसा भी आत्माका त्रिकाल स्वभाव नहीं है; निर्मल स्वभावभावको प्राप्त करे ऐसा ही आत्माका स्वभाव है। अज्ञानी एक समयके विकारको अपने कर्मरूपसे प्राप्त करता है, वह उसकी पर्यायकी योग्यता है, किंतु त्रिकाली द्रव्य स्वभावमें तो विकारको प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है; यदि द्रव्य स्वभावमें ही विकारको प्राप्त करनेकी योग्यता हो तो वह कभी दूर नहीं हो सकती। आत्माका शुद्ध स्वभाव तो निर्मल भावको ही कर्मरूपसे प्राप्त करना है, इसलिये उस स्वभावके आश्रयसे निर्मल भाव प्राप्त करके अनंत जीव विकार रहित सिद्ध परमात्मा हो गये हैं और उसी

प्रकार सदैव अन्य जीव भी सिद्ध होते ही रहेंगे।—यह सिद्धिका पंथ है।

अपने शुद्ध स्वभावको भूलकर अज्ञानी पराश्रयबुद्धिसे मिथ्यात्वरागादिको अपने कर्मरूपसे प्राप्त करता है वह संसार है; और ज्ञानी शक्तिके अवलम्बनसे सम्यग्दर्शनादिको अपने कर्मरूपसे प्राप्त करता है वह सिद्धिका मार्ग है।

प्रश्नः—पहले समयमें सम्यग्दर्शनादि निर्मल कार्य नहीं है तो दूसरे समयमें वह कहाँसे प्राप्त होगा ?

उत्तरः—पहले समयमें न हो और दूसरे समयमें निर्मल कार्यरूपसे आत्मा स्वयं परिणमित हो जाये—स्वयं अपनेमेंसे ही निर्मल कार्यको प्राप्त करे ऐसी उसकी कर्मशक्ति नित्य है। स्वभावका आश्रय करनेसे वर्तमानमें जो निर्मलभाव वर्तता है वह उस समयका सिद्ध हुआ भाव है; पहले—बादके भावकी या परकी उसे अपेक्षा नहीं है।

जिसमेंसे निर्मलताकी प्राप्ति हो ऐसा आत्माका स्वभाव है, किंतु विकारकी प्राप्ति हो ऐसा आत्माका स्वभाव नहीं है। विकार कहीं आत्माके स्वभावमेंसे प्राप्त नहीं होता, वह तो अधरसे (—पराश्रयसे) उत्पन्न हुई क्षणिक वृत्ति है, उसका तो नाश हो जाता है। परन्तु उसका नाश होनेसे कहीं आत्माका नाश नहीं हो जायेगा। पुण्यकी वृत्तिसे आत्माकी शुद्धता प्राप्त नहीं हो सकती, किंतु शुद्ध जीवतत्त्व नित्य स्थायी है, उसीके आधारसे आत्माकी शुद्धता प्राप्त होती है और वही आत्माका कर्म है। ऐसे निर्मल कर्मको प्रगट करके उसके साथ एकता करे ऐसा आत्माका स्वभाव है; किन्तु शुभाशुभ विकारी वृत्तियोंके साथ एकता करके उन्हें अपने कर्मरूप बनाये—ऐसा आत्माका स्वभाव नहीं है। इसप्रकार निर्मलभावको प्राप्त करनेकी द्रव्यकी शक्ति कही; और तदनुसार द्रव्यके समस्त गुणोंमें

भी ऐसा स्वभाव है कि स्वयं अपनी निर्मल पर्यायको कर्मरूपसे प्राप्त करें और विकारको प्राप्त न करें।

जैसे कि–ज्ञान गुणका ऐसा स्वभाव है कि अपने सम्यग्ज्ञान-रूप कार्यको कर्मरूपसे प्राप्त करता है; किन्तु अज्ञानको, विकारको या जड़को अपने कर्मरूपसे प्राप्त करे ऐसा ज्ञान शक्तिका स्वभाव नहीं है।

उसीप्रकार श्रद्धागुणमें ऐसा स्वभाव है कि अपने स्वभावकी प्रतीतिरूप कार्यको (–सम्यग्दर्शनको) अपने कर्मरूपसे प्राप्त करता है, किन्तु मिथ्यात्वको, विकारको या जड़को अपने कर्मरूपसे प्राप्त करे ऐसा श्रद्धाशक्तिका स्वभाव नहीं है।

उसीप्रकार आनन्दगुणमें ऐसा स्वभाव है कि अपने अतीन्द्रिय –अनाकुल-आह्लादके वेदनको अपने कार्यरूपसे प्राप्त करता है, किन्तु आकुलता, दुःख या इन्द्रिय–विषयोंको अपने कर्मरूपसे प्राप्त करे ऐसा आत्माकी आनन्द शक्तिका स्वभाव नहीं है।

इसीप्रकार आत्माके समस्त गुणोंमें समझ लेना चाहिये।

—आत्माके ऐसे स्वभावको लक्षमें लेकर जहाँ एकाग्र हुआ वहाँ उस स्वभावके आश्रयसे श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दादिका निर्मल कार्य वर्तता ही है—अर्थात् वह कार्य सिद्ध हुआ ही है; इसलिये "मैं निर्मल कार्य प्राप्त करूँ"—ऐसी भी आकुलता बुद्धि (–भेद बुद्धि) वहाँ नहीं रहती, क्योंकि अपनी कर्मशक्तिसे वह स्वयमेव निर्मल कार्यरूप हो ही गया है।

स्वयं कार्यरूप होनेके आत्माके ऐसे स्वभावको जो पहिचान ले वह किसी ईश्वरको या अन्यको अपने कार्यका कर्ता नहीं मानता; यह आत्मा किसीका कार्य है–ऐसा वह नहीं मानता; तथा इस आत्मा-का कार्य अपनेसे भिन्न कहीं परमें होना नहीं मानता। इसप्रकार परके साथका सम्बन्ध टूटकर स्व में ही एकतारूप अभेद परिणमन

होनेसे वहाँ विकाररूप कार्य भी नहीं रहता; स्वभावमें अभेदरूप निर्मल भाव ही वहाँ वर्तता है।—ऐसे वर्तते हुए सिद्धरूप भावको कार्यरूपसे प्राप्त करे ऐसी आत्माकी कर्मशक्ति है। जिसने जड़के कार्यको या विकारको–शुभ विकल्पको अपने कार्यरूपसे माना उसने आत्माके स्वभावको नहीं जाना है; इसलिये उसे धर्मकार्य नहीं होता, अधर्म ही होता है। धर्मी–साधकको भी दया–भक्ति–पूजा–यात्रादिका शुभराग होता है, किन्तु वे रागको अपने स्वभावका प्राप्य नहीं मानते उसे स्वभावका कार्य नहीं मानते.......उससमय स्वभावमें एकतासे जितनी निर्मलता वर्तती है उसीको वे अपने कार्यरूपसे स्वीकार करते हैं यही धर्मीका धर्म है।

निर्मल पर्यायरूप कर्मरूप होनेकी शक्ति आत्माकी है, इसलिये वह निर्मल कार्य प्रगट करनेके लिये कहीं बाह्यमें देखना नहीं रहता किंतु आत्मामें ही देखना रहता है; आत्मस्वभावके अन्तर्‌अवलोकनसे ही निर्मल कार्यकी सिद्धि होती है, अन्य किसी प्रकार उसकी सिद्धि नहीं होती।

जड़में या विकारमें ऐसी शक्ति नहीं है कि वह निर्मल–पर्यायको अपने कर्मरूपसे उत्पन्न कर सके। निर्मल पर्यायमें भी ऐसी शक्ति नहीं है कि वह अन्य निर्मल पर्यायको अपने कर्मरूपसे उत्पन्न कर सके। पूर्व पर्यायको कारण कहा जाता है वह तो उपचारसे है, सचमुच उसका तो अभाव हो जाता है इसलिये वह अन्य पर्यायका कारण नहीं है, किन्तु पूर्व पर्यायमें भी वर्तता हुआ अखण्ड द्रव्य ही स्वयं परिणमित होकर दूसरे समयमें दूसरी पर्यायको कर्मरूपसे प्राप्त करता है—स्वयं ही अभेदरूपसे उस कर्मरूप होता है; इसप्रकार निर्मल पर्यायरूप कर्म करनेकी शक्ति द्रव्यमें ही है; द्रव्यमें ही शुद्धताका भण्डार भरा है; उसीके आश्रयसे शुद्धता होती है। उसका आश्रय न करे और निमित्तादिका आश्रय करके शुद्धता होना माने तो वह जीव अपनी आत्मशक्तिको न माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। स्वभाव शक्तिके आश्रयसे ही निर्मलता

होती है। अर्थात् निश्चयके आश्रयसे ही धर्म होता है और व्यवहारके आश्रयसे धर्म नहीं होता—ऐसा अनेकान्त-नियम इसमें आ जाता है। आचार्य भगवानने इन शक्तियोंके वर्णनमें अद्‌भुत रीतिसे जैन शासनके रहस्यकी सिद्धि की है। पूर्व कालमें अनन्त तीर्थंकरों–गणधरों–संतों सम्यक्त्वियोंने ऐसा ही मार्ग जानकर उसका अनुसरण किया है और कहा है; वर्तमानमें भी महाविदेह क्षेत्रमें सीमन्धरादि बीस तीर्थंकर विराजमान हैं; वे तीर्थंकर तथा गणधर संत आदि भी ऐसा ही मार्ग जानकर उसका अनुसरण कर रहे हैं और कह रहे हैं। भरतक्षेत्रमें भी ऐसा ही मार्ग है और भविष्यमें भी जो तीर्थंकर—संत होंगे वे सब ऐसे ही मार्ग अनुसरण करेंगे और कहेंगे। अहो! एक ही सनातन मार्ग है; इस मार्गका निश्चय करे वहाँ मुक्तिकी शंका नहीं रहती। इस मार्गका निर्णय किया वहाँ आत्मा ऐसी साक्षी देता है कि बस! अब हम अनन्त तीर्थंकरों—संतों–ज्ञानियोंके मार्गमें मिल गये! अब हमारे संसारका अन्त आगया है, हम सिद्धिके मार्ग पर पहुँच गये हैं।

आत्मामें ही ऐसी शक्ति है कि अपने स्वभावमेंसे सम्यग्दर्शनादि कार्यको प्राप्त करे; इसके अतिरिक्त किसी भी पुण्यमें या रागमें ऐसी शक्ति नहीं है कि वह सम्यग्दर्शनादिको प्राप्त करे। कर्ता स्वयं परिणमित होकर जिस कार्यरूप हो वह उसका कर्म है। आत्मा ही परिणमित होकर सम्यग्दर्शनादिरूप होता है; राग या निमित्त परिणमित होकर कहीं उसरूप नहीं होते। अहो! अपने निर्मल कर्मरूप होनेकी कर्मशक्ति मुझमें ही है—इसप्रकार अपने आत्माको प्रतीतिमें लेकर उसीके सन्मुख होनेसे आत्मा स्वयं परिणमित होकर अपने निर्मल कर्मरूप हो जाता है। सम्यग्दर्शनरूप कार्य, सम्यग्ज्ञानरूप कार्य, सम्यग्चारित्ररूप कार्य–इन कर्मोंरूप आत्मा स्वयं अपनी कर्मशक्तिसे होता है; किन्तु महाव्रतादि विकल्पोंके आधारसे या शरीरकी दिगम्बर दशाके आधार कहीं सम्यग्कार्य नहीं होता। "कर्मशक्ति" किसी परके आधारसे या विकल्पके आधारसे नहीं है, इसलिये वे कोई

आत्माके कर्मरूप नहीं होते; अकेली पर्यायके आधारसे भी कर्मशक्ति नहीं है इसलिये पर्यायके आश्रयसे निर्मल कर्म प्राप्त नहीं होता अथवा पर्याय स्वयं दूसरे समयके कर्मरूप नहीं होती। कर्मशक्ति तो आत्मद्रव्यकी है, इसलिये आत्मद्रव्यके आश्रयसे आत्मा स्वयं निर्मल कर्मरूपसे परिणमित हो जाता है। इसप्रकार आत्मा और उसके कर्मकी अभेदता है। उस अभेदताके आश्रयसे ही कर्मशक्तिकी यथार्थ प्रतीति होती है। इसमें व्यवहारके आश्रयसे निर्मल कार्य होता है—यह बात तो भूसीकी तरह उड़ जाती है। अनन्तशक्तिसे अभेद चैतन्यद्रव्य है उसीके आश्रयसे समस्त गुणोंका निर्मल कार्य होता है; इसके अतिरिक्त श्रद्धादि गुणका भेद करके उस भेदके लक्षसे सम्यग्दर्शनादि कार्य करना चाहे तो ऐसा नहीं होता। गुणभेदको लक्षमें लेकर आश्रय करनेसे गुण सम्यक्रूपसे परिणमित नहीं होते; अभेदद्रव्यको लक्षमें लेकर आश्रय करनेसे श्रद्धादि समस्त गुण अपने-अपने निर्मल कार्यरूपसे परिणमित होने लगते हैं।

आत्माका ऐसा सूक्ष्म स्वरूप न समझे और दान-दयादि बाह्य स्थूलतामें धर्म मानले वह कहीं जैन धर्मका स्वरूप नहीं है; वह तो मूढ़ जीवोंका माना हुआ मिथ्या धर्म है। जिसप्रकार कड़वे चिरायतेकी थैली पर कोई 'मिसरी' नाम लिख दे तो उससे कहीं चिरायता कड़वाहटको छोड़कर मीठा नहीं हो जायेगा। उसीप्रकार दान-दयादि कड़वे विकारी भावोंको 'धर्म' नाम देकर कुगुरु मूढ़ जीवोंको ठग रहे हैं; किन्तु उससे कहीं दया-दानादिका राग वह धर्म नहीं हो जायेगा। धर्मकी प्राप्ति तो अपने आत्मामेंसे शुद्ध चैतन्यस्वभावके आश्रयसे ही होती है। धर्म वह आत्माका कर्म है और उसकी प्राप्ति आत्मामेंसे ही होती है। सम्यग्दर्शन यद्यपि श्रद्धागुणका कार्य है, किन्तु वह श्रद्धागुण अनन्तगुणके पिण्डसे पृथक् होकर कार्य नहीं करता.......अलग-अलग गुणकी अलग-अलग 'कर्मशक्ति' (कार्यरूप होनेकी शक्ति) नहीं है, किन्तु अखण्ड आत्मद्रव्यकी एक ही कर्मशक्ति

है, वह समस्त गुणोंमें व्याप्त होकर अपना कार्य करती है। इसलिये समस्त गुणोंका निर्मल कार्य अखण्ड द्रव्यके ही आश्रयसे होता है। केवलज्ञान भी आत्माका कर्म है और आठ कर्म रहित ऐसी सिद्धदशा भी आत्माका कर्म है। आत्मा अपनी शक्तिसे ही उस कर्मरूप परिणमित होता है, कहीं बाहरसे वह कर्म नहीं आता।

"आत्म भावनासे जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है;"

—इसका क्या मतलब ? केवलज्ञानरूपी कार्य जीव बाहरसे नहीं लाता, किन्तु अपनेमें तन्मय होकर अपने आत्म स्वभावकी भावना करते-करते आत्मा स्वयं ही केवलज्ञानरूप हो जाता है। "आत्म भावना भानेसे......"ऐसा गोखता रहे, किन्तु आत्मा क्या है और उसकी भावना कैसी होती है उसे न जाने, तथा बाह्यसे अथवा इस बोलनेके रागसे मुझे लाभ हो जायेगा ऐसा माने उसे केवलज्ञान नहीं होता, वह तो अज्ञानी ही रहता है। केवलज्ञान कैसे होता है?—कहते हैं कि आत्माकी भावनासे। आत्मा कैसा ?—तो कहते हैं कि ज्ञानादि अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण; ऐसे आत्माकी भावना अर्थात् उसके सन्मुख होकर उसकी सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान पूर्वक उसमें लीनता वह केवलज्ञानका उपाय है। जिसे निमित्तकी या पुण्यकी भावना है उसे आत्माकी भावना नहीं है।

इस आत्माको शांतिकी आवश्यकता है। आत्माका शांतिरूपी कार्य कहाँ है उसकी यह बात है। इस आत्माका शांतिरूपी कार्य शुद्ध स्वभावके अतिरिक्त किसी विकल्पमें, देव-गुरु-शास्त्रमें या गुफा-पर्वत आदिमें नहीं है; इसलिये हे भाई ! बाह्यदृष्टि छोड़कर अपने आत्मामें ही शांतिको ढूंढ़। जिसप्रकार मिसरी स्वयं मीठी है, नीबू स्वयं खट्टा है, कोयला स्वयं काला है, अग्नि स्वयं गर्म है, उसीप्रकार आत्मा स्वयं शांति स्वरूप है। भाई ! ऐसे अपने आत्माकी ओर देखनेसे वह स्वयं ही शांतिरूप हो जायेगा। इसके अतिरिक्त जो बाह्यमें शांति-ढूंढ़े अथवा बाह्य साधन द्वारा शांति प्राप्त करना चाहे वह अपने आत्मा-

को या आत्माकी शक्तिको नहीं मानता है; उसे शांति नहीं मिलती।

जिसप्रकार कोई मनुष्य चक्रवर्तीको पहिचान कर उसकी सेवा करे तो उसे लक्ष्मी आदिका लाभ मिलेगा; किन्तु चक्रवर्तीको न पहिचाने और किसी निर्धन भिखारीको चक्रवर्ती मानकर उसकी सेवा करने लगे तो उसे कोई लाभ नहीं होगा; मात्र वह दुःखी ही होगा; उसीप्रकार चैतन्यचक्रवर्ती आत्माको पहिचान कर जो उसका सेवन करे उसे तो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप लक्ष्मीका लाभ प्राप्त होता है; किन्तु चैतन्यचक्रवर्तीको न पहिचाने और रागकी तुच्छ वृत्तियोंको ही चैतन्यस्वभाव मानकर सेवन करे तो उसे रत्नत्रयका लाभ प्राप्त नहीं होता, किन्तु वह दुःखी ही होता है।

"आप पुण्यसे धर्म नहीं मानते, इसलिये आप पुण्यको उड़ाते हो"—इसप्रकार कुछ लोग नासमझीके कारण शिकायत करते हैं; किन्तु वास्तवमें जो पुण्यको पुण्य न मानकर पुण्यको सच्चा धर्म मानते हैं वे ही पुण्यको उड़ाते हैं; पुण्यको ही धर्म माना इसलिये पुण्यतत्वका पृथक् अस्तित्व उनकी मान्यतामें रहा ही नहीं। ज्ञानी तो पुण्यको पुण्यरूप जानते हैं, और धर्मको उससे भिन्न धर्मरूप जानते हैं, इसलिये उनकी मान्यतामें पुण्य और धर्म दोनोंका भिन्न-भिन्न यथावत् अस्तित्व रहता है। ज्ञानी तो पुण्यको पुण्यरूपसे स्थापित करते हैं और अज्ञानी उसकी उत्थापना करते हैं।

जिसप्रकार हरी निबोलीको कोई नीलमणि मान ले, तो वह निबोलीको भी नहीं जानता और नीलमणिको भी नहीं पहिचानता। काँचके टुकड़ेको कोई हीरा मानले, तो वह काँचको भी नहीं जानता और हीरेको भी नहीं पहिचानता। बिल्लीको ही शेर मानले, तो वह बिल्लीको भी नहीं जानता और शेरको भी नहीं पहिचानता; उसी प्रकार जो रागको ही वीतराग धर्म मानले वह रागको भी नहीं जानता और उसे धर्मकी भी पहिचान नहीं है। व्यवहारके आश्रयसे निश्चय-

का प्रगट होना माने वह न तो व्यवहारको जानता है और न निश्चयको। निमित्त उपादानका कोई कार्य करता है ऐसा जो मानता है वह निमित्तको भी नहीं जानता और न उपादानको ही। स्वका कार्य परके आश्रयसे होता है—ऐसा जो मानता है वह स्वको भी नहीं जानता और परको भी नहीं पहिचानता।

देव-गुरु-शास्त्रका उपदेश तो ऐसा है कि तेरे आत्माके आश्रयसे ही तेरा धर्म है, पराश्रयसे शुभरागकी वृत्ति उठे वह तेरा धर्म नहीं है; तथापि जो पुण्यको धर्म मानता है उसने देव-गुरु-शास्त्रको, पुण्यको या धर्मको—किसीको नहीं माना; निश्चय-व्यवहारको या द्रव्य-गुण-पर्यायको भी नहीं जाना है। संत कैसे होते हैं, धर्मात्मा कैसे होते हैं, सच्चे वैराग्यकी—त्यागकी या व्रतादिकी भूमिका कैसी होती है उसकी उसे खबर नहीं है। अहो! जिसकी प्रतीतिमें मूलभूत चैतन्यस्वभाव नहीं आया, उसमें किसी भी तत्त्वका यथार्थ निर्णय करनेकी शक्ति नहीं है। अपने चैतन्य स्वभावका आश्रय करते ही ज्ञानकी स्वपरप्रकाशक शक्ति विकसित हो जाती है और वह स्व-परको यथार्थ जानती है। मात्र परकी ओर झुका हुआ ज्ञान स्वको या परको—किसीको यथार्थ नहीं जानता और स्वभावकी ओर झुका हुआ ज्ञान स्वको तथा परको—दोनोंको यथार्थ जानता है। अहो! इसमें जैनशासनका गंभीर रहस्य है। इस रहस्यको समझे बिना जैनशासनके मूलका पता नहीं चल सकता। जहाँ स्वभावोन्मुख हुआ वहाँ अपने स्वभावमें ज्ञान–आनन्द आदिका परिपूर्ण सामर्थ्य है उसे जाना; वर्तमान पर्यायमें कितने ज्ञान–आनन्द प्रगट हुए हैं वह भी जाना; कितने बाकी हैं वह भी जाना; ज्ञानआनन्द प्रगट होनेमें निमित्त (देव-गुरु आदि) कैसे होते हैं वह भी जाना; ज्ञान-आनन्द प्रगट हुए उसके साथ (साधकपनेमें) किस भूमिकामें कैसा व्यवहार होता है और कैसे रागादि छूट जाते हैं वह भी जाना; दूसरे ज्ञानी-मुनियोंकी अन्तर् दशा कैसी होती है वह भी जाना। इसप्रकार शुद्ध आत्मस्वभावोन्मुख होकर उसे

जाननेसे समस्त जैनशासनको जान लिया। और जिसने ऐसे आत्मस्वभावको नहीं जाना उसने जैनशासनके एक भी तत्त्वको यथार्थरूपसे नहीं जाना।

देखो, यह धर्म और धर्मकी रीति कहलाती है।

धर्म क्या है ?—आत्माकी निर्मल पर्याय;

धर्म कैसे होता है ?—शुद्ध आत्मद्रव्यके आश्रयसे।

शुद्ध स्वभावको न जाने और अन्यके आश्रयसे जो धर्म माने उसने धर्मका स्वरूप या धर्मकी रीतिको नहीं जाना है। शुभरागको शास्त्रोंमें कहीं धर्मका परम्परा कारण कहा हो तो वह उपचारसे है ऐसा समझना चाहिए; जब उस रागका आश्रय छोड़कर शुद्ध स्वभावका आश्रय किया तभी धर्म हुआ और पूर्वके रागको उपचारसे कारण कहा; किन्तु वास्तविक कारण वह नहीं है; वास्तविक कारण तो शुद्धस्वभावका आश्रय किया वही है।

साधक जीव अपने शुद्धस्वभावका आश्रय करके अपने निर्मल ज्ञानादि कार्यरूप होता है। वहाँ स्वाश्रयसे सम्यग्ज्ञानरूप परिणमित होने पर उस-उस भूमिकामें वर्तते हुए रागादिको भी वह ज्ञेयरूपसे जानता है। उस रागको जानते समय भी उसे जाननेवाला जो ज्ञान है वही धर्मीको अपने कर्मरूपसे है, किन्तु जो राग है उसे वे अपने कर्मरूपसे स्वीकार नहीं करते; उसे तो ज्ञानसे भिन्न जानते हैं। रागको जानते समय भी श्रद्धामें राग रहित स्वभावका ही अवलम्बन वर्तता है; इसलिये ऐसी स्वभावदृष्टिमें ज्ञानीको राग तो "असद्भूत" होगया। रागको जानते हुए उनका जोर राग पर नहीं जाता, उनका जोर तो ज्ञानस्वभाव पर ही रहता है, उस ज्ञानस्वभावके आश्रयसे निर्मल पर्याय ही उन्हें 'सद्भूत'रूपसे वर्तती है, रागादिको वे "असद्भूत" जानते हैं। मिथ्यादृष्टि रागसे भिन्न शुद्धस्वभावको नहीं जानता, वह तो रागको स्वभावके साथ एकमेकरूपसे ही जानता है, इसलिये

उसे तो "असद्भूत" ऐसे रागका भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता। इसप्रकार शुद्धस्वभावरूप निश्चयके ज्ञान बिना रागादि व्यवहारका ज्ञान सम्यक् नहीं होता; निश्चयके ज्ञान पूर्वक ही व्यवहारका ज्ञान सम्यक् होता है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा अनन्तगुणोंका पिण्ड है; उसे पहिचाननेके लिये उसकी शक्तियोंका यह वर्णन है। अन्तर्मुख ज्ञान द्वारा भगवान आत्माको लक्षमें लेने पर वह अनन्तशक्तिके एकरूप स्वादसे अनुभवमें आता है। उन अनन्तशक्तियोंमें एक ऐसी कर्मशक्ति है कि अपने स्वभावमेंसे प्रगट होनेवाले निर्मल भावमय होकर आत्मा स्वयं अपना कर्म होता है। ऐसी शक्तिवाले आत्माको जानना वह धर्मका मूल है।

प्रश्नः—आप आत्माको जाननेकी बात करते हैं, किन्तु परिग्रह छोड़नेको क्यों नहीं कहते ?

उत्तरः—मैं अपनी ज्ञानादि अनन्त शक्तियोंसे परिपूर्ण हूँ और परका एक अंश भी मुझमें नहीं है—ऐसा भेदज्ञान करके अपने अनन्तशक्ति सम्पन्न आत्माकी पकड़ होनेसे (—श्रद्धाज्ञानमें उसे पकड़नेसे) बाह्य पदार्थोंकी और परभावोंकी पकड़ छूट जाती है, इसलिये श्रद्धा—ज्ञानकी अपेक्षासे वहाँ सर्व परिग्रहका त्याग हो जाता है। ऐसा त्याग होनेसे अनन्त संसार छूट जाता है। मिथ्यात्वके कारण जो रागादि एकत्वबुद्धिरूप पकड़ है वही अनन्त संसारके कारणरूप महान परिग्रह है; उस परिग्रहका त्याग कैसे हो उसकी यह बात है। मिथ्यात्वका त्याग होनेके पश्चात् ही अविरति आदिका त्याग होता है। अन्तरमें अनन्त गुणोंके पिण्डकी जिसे पकड़ नहीं है और बाह्यमें त्यागी होकर ऐसा मानता है कि मैंने परिग्रह छोड़ दिया, किन्तु अन्तरमें रागकी रुचिके कारण समस्त परिग्रहकी पकड़ उसके बनी हुई है, इसलिये उसने किंचित् भी परिग्रह छोड़ा है—ऐसा जिनेन्द्र भगवानके मार्गमें

स्वीकार नहीं किया जाता। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा अपने स्वभावसे निर्मल कार्यरूप परिणमित होता है; उस निर्मलकार्यमें विकारी कार्यका अभाव है, इसलिये विकारके निमित्तरूप परिग्रहकी पकड़ भी वहाँ छूट गई है। इसप्रकार निर्मल कार्यमें परिग्रहत्याग भी आ ही जाता है।

यह ज्ञानरूप आत्मा बाह्य पदार्थोंसे तो भिन्न ही है और रागसे भी वास्तवमें भिन्न है; रागके साथ तन्मय होनेका उसका स्वभाव नहीं है; ज्ञानादिके साथ तन्मय होनेका ही उसका स्वभाव है। स्वसन्मुख हुआ ज्ञान आत्माके साथ तन्मय होकर आत्माको जानता है, और रागको जाननेवाला ज्ञान रागमें तन्मय हुए बिना ही उसे जानता है। ज्ञान यदि स्वसन्मुख होकर आत्मामें तन्मय न हो तो वह आत्माको यथार्थरूपसे नहीं जान सकता। और यदि ज्ञान रागमें तन्मय हो जाये तो वह रागको भी नहीं जान सकता; रागसे भिन्न रहे तभी वह रागको जान सकता है। ज्ञान स्वको तो तन्मय होकर जानता है और परको—रागादिको तन्मय हुए बिना ही जानता है ऐसा ही ज्ञानका स्वभाव है। ऐसे निर्मल ज्ञानरूप कार्यको प्राप्त करके, उसमें तन्मय होकर आत्मा स्वयं अपने कर्मरूप होता है—ऐसी उसकी कर्मशक्ति है।

[—यहाँ ४१ वीं कर्मशक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

[४२]

कर्तृत्व शक्ति

अहो, आत्माकी यह शक्तियाँ बतलाकर अमृतचन्द्रदेवने अमृत बहाया है...अरे जीव ! तुझमें ऐसी-ऐसी शक्तियाँ हैं, तो अब तुझे बाह्यमें कहाँ अटकना है ? अंतरमें अपनी शक्तियोंसे परिपूर्ण सर्व गुण सम्पन्न अपने आत्माका ही अवलम्बन कर, ताकि भव दुःखसे उद्धार होकर मोक्ष सुखकी प्राप्ति हो ।

निर्मल कार्यरूप जो कर्म उसरूप आत्मा स्वयं होता है—ऐसा कर्मशक्तिमें बतलाया । अब, निर्मल कार्य तो हुआ किन्तु उस कार्यका कर्ता कौन ? उस कार्यका कर्ता कोई दूसरा नहीं किन्तु आत्मा स्वयं ही उसका कर्ता होता है—यह बात कर्तृत्वशक्तिमें बतलाते हैं:—"होनेरूप ऐसा जो सिद्धरूपभाव उसके भावकपनेमयी कर्तृत्वशक्ति है ।" आत्मामें एक ऐसी शक्ति है इसलिये अपने निर्मलभावका कर्ता स्वयं ही होता है । पहले २१ वीं अकर्तृत्वशक्तिमें ऐसा बतलाया था कि ज्ञाता स्वभावसे भिन्न जो समस्त विकारी परिणाम उनके कर्तापनेसे निवृत्त स्वरूप आत्मा है; और अब, ज्ञाता स्वभावके साथ एकमेक जो अविकारी परिणाम उनका कर्ता आत्मा है—ऐसा इस

कर्तृत्वशक्तिमें बतलाते हैं। इसप्रकार भगवान आत्मा विकारका अकर्ता और शुद्धताका कर्ता—ऐसे स्वभाववाला अनेकान्त मूर्ति है।

कर्तृत्वशक्ति रागके आधारसे नहीं है किन्तु आत्मद्रव्यके आधारसे है; इसलिये राग कर्ता होकर सम्यग्दर्शनादि कार्य नहीं करता किन्तु आत्मद्रव्य स्वयं कर्ता होकर सम्यग्दर्शनादि कार्य करता है। ऐसे आत्मस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है वह स्वयं कर्ता होकर अपने सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वह सिद्धरूप भाव है और आत्मा उसका भावक है। भवनरूप भावमें तन्मय होकर, उसका भावक होकर आत्मा स्वयं उसे भाता है अर्थात् उसे करता है,—ऐसी उसकी कर्तृत्वशक्ति है।

कर्मरूपसे आत्मा ही परिणमित होता है, कर्तारूपसे भी आत्मा स्वयं ही परिणमित होता है; साधनरूपसे भी स्वयं ही परिणमित होता है। कर्ता-कर्म-करण आदि छह कारक भिन्न-भिन्न नहीं हैं किन्तु अभेद हैं; आत्मा स्वयं अकेला ही कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान–अपादान-अधिकरणरूप होता है; छह कारकोंरूप तथा ऐसी अनन्त शक्तियोंरूप आत्मा स्वयं ही परिणमित होता है। इसप्रकार एक साथ अनन्तशक्तियोंका परिणमन ज्ञानमूर्ति आत्मामें उछल रहा है इसलिये वह अनेकान्तमूर्ति भगवान है।

अपने ज्ञानादि कार्यका कर्ता आत्मा स्वयं ही है और उसका साधन भी अपनेमें ही है। पहले २९४ वीं गाथामें आचार्यदेवने कहा था कि "आत्मा और बन्धको द्विधा करनेरूप कार्यमें (अर्थात् भेदज्ञानरूप कार्यमें) कर्ता जो आत्मा उसके करण सम्बन्धी मीमांसा (गहरी जांच, विचारणा)की जाने पर, निश्चयसे अपनेसे भिन्न करणका अभाव होनेसे भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है..." देखो, भेदज्ञानरूप कार्यका कर्ता आत्मा स्वयं ही है और उसका साधन भी अपनेमें ही है। कर्ताका साधन वास्तवमें कर्तासे भिन्न नहीं

होता; कर्तासे भिन्न जो भी साधन कहा जाये वह वास्तवमें साधन नहीं है। "अपनेसे भिन्न करणका अभाव है"—इसमें तो महानियम भर दिया है। अरे जीव! अपने साधनकी गहरी जांच अपनेमें ही कर...अपनेमें ही साधनको शोध। जो बाह्यमें साधनको शोधते हैं वे साधनकी गहरी जाँच करनेवाले नहीं, किन्तु उथले ज्ञानवाले—बाह्य दृष्टिवाले हैं। **जो आत्माके ज्ञानके साधनकी यथार्थ मीमांसा करें—गहरी जाँच करें—अन्तरमें अन्तर उतरकर खोज करें उन्हें तो अपनी पवित्र प्रज्ञा ही अपना साधन भासित होती है**, इसके अतिरिक्त राग या परद्रव्य उसे अपने साधनरूपसे भासित ही नहीं होते। साधन सम्बन्धी विशेष स्पष्टीकरण अब ४३ वीं शक्तिमें आयेगा; इससमय कर्तृत्वशक्तिका वर्णन चल रहा है।

आत्माकी ऐसी कर्तृत्वशक्ति है कि अपने ज्ञानादि कार्यका कर्ता स्वयं ही होता है। क्या भगवानकी दिव्यध्वनि इस आत्माके ज्ञानकी कर्ता है?—नहीं; केवली–श्रुतकेवलीके निकट ही क्षायिक सम्यक्त्व हो ऐसा नियम है, तो क्या केवली–श्रुतकेवली इस आत्माके क्षायिक सम्यक्त्वके कर्ता हैं? नहीं; उसरूप होकर उसके कर्ता होनेरूप कर्तृत्वशक्ति आत्माकी ही है; उसे किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि वस्तुकी शक्तियाँ दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखती।

शरीरादि जड़में ऐसी शक्ति नहीं है कि वे आत्माके कार्यके कर्ता हों। रागमें भी ऐसी शक्ति नहीं है कि वह आत्माके सम्यग्दर्शनादि कार्योंका कर्ता हो। आत्माके स्वभावमें ही ऐसी शक्ति है कि वह अपने सम्यग्दर्शनादि कार्यका कर्ता होता है। ऐसी शक्तिवाले आत्माको जो भजे उसे सम्यग्दर्शनादि कार्य हुए बिना नहीं रहता।

लोग पूछते हैं कि हम किसे भजें?—तो कहते हैं कि शक्तिमानको भजो। वास्तवमें शक्तिमान कौन है उसका स्वरूप जानना चाहिये। शक्तिमान कौन है उसका स्वरूप लोग नहीं जानते। सच्चा

शक्तिमान अपना आत्मा ही है इसलिये उसीका भजन (श्रद्धा-ज्ञान और लीनता) करने योग्य है। यहाँ आचार्यदेव शक्तिमान आत्माकी पहिचान कराते हैं। आत्मशक्तिको जाने बिना दूसरोंको (कुदेव-देवी, शक्ति—मैली माता आदिको) शक्तिमान मानकर भजता रहे तो उनके पाससे कुछ मिल नहीं सकता। कुदेवादिको जो भजता है वह तो महामूढ़ है। अरे मूढ़! तेरी शक्ति परमें नहीं है कि वह तुझे कुछ दे दे। यहाँ तो कहते हैं कि आत्माको जाने बिना मात्र रागसे पंचपरमेष्ठीको भजता रहे तो वह भी वास्तवमें शक्तिमानको नहीं भजता किन्तु रागको ही भजता है; पंचपरमेष्ठीको वह पहिचानता नहीं है और न वास्तवमें पंचपरमेष्ठीका भजन ही उसे आता है। यदि पंचपरमेष्ठीकी शक्तिको जानकर उनका भजन करे तो उन्हीं जैसे अपने आत्माकी शक्तिको जानकर उस शक्तिमानकी ओर उन्मुख हुए बिना न रहे। अपना आत्मा ही ऐसा शक्तिमान है कि उसका भजन करनेसे वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके अनन्त निधान देता है; केवलज्ञान और सिद्ध दशारूपी कार्य एक क्षणमें कर देनेकी उसकी शक्ति है। ऐसी शक्तिवाले आत्माका भजन ही परमार्थ भक्ति है; उसका फल मुक्ति है।

"शक्तिमानको भजो।"—ऐसा कहनेसे जीवोंकी दृष्टि बाह्यमें दूसरोंकी ओर जाती है; परन्तु "मैं स्वयं ही शक्तिमान हूँ"—इसप्रकार अपनी ओर दृष्टि नहीं करते। इस सम्बन्धमें एक लौकिक दृष्टान्त आता है वह इसप्रकार है:—एकबार एक मनुष्यने साधुके पास जाकर पूछा कि—"हे स्वामी! मुझसे अधिक तो नहीं हो सकता; इसलिये मुझे कोई ऐसा सरल उपाय बतलाइये कि जिससे मेरी मुक्ति हो जाये!" साधुने कहा "भाई, दूसरा कुछ नहीं हो सकता तो जो सबसे शक्तिमान हो उसका भजन करो।—बस यही धर्मका संक्षिप्त सिद्धान्त है।" वह मनुष्य घर पहुँचकर सोचने लगा कि सबसे शक्तिमान कौन है? विचार करते—करते वह सोगया। सबेरे उठकर देखा

तो उसके कीमती कपड़े चूहेने काट डाले थे। उसे बड़ा क्रोध आया... किन्तु उसी समय साधुका वचन याद आगया और निर्णय कर लिया कि बस! यह चूहा ही शक्तिमान है इसलिये इसीका भजन करूँ। ऐसा सोच ही रहा था कि एक बिल्ली आकर चूहे पर झपटी और चूहा भागा। तुरन्त उस आदमीका विचार बदला कि चूहेकी अपेक्षा बिल्ली अधिक शक्तिमान है, इसलिये उसका भजन करूँ।—इसीप्रकार बिल्लीके बाद कुत्तेका, कुत्तेके बाद अपनी स्त्रीका और अन्तमें स्वयं अपनी शक्तिका बल देखकर अपना भजन करने लगा।—यह तो सिद्धान्त समझानेके लिये एक कल्पित दृष्टान्त है। जिसप्रकार वह मूर्ख कुत्ते-बिल्लीका भी भजन करने लगा, उसीप्रकार तीव्र अज्ञानवश जीव धरणेन्द्र-पद्मावती-शीतला आदि अनेक कुदेव देवीदेवताओंका भजन करने लगते हैं; वहाँसे कुछ आगे बढ़ें तो निमित्तको और कर्म प्रकृतिको ही बलवान मानकर उसे भजने लगते हैं। कदाचित् इससे भी कुछ आगे बढ़ें तो अन्तरके शुभरागसे लाभ मानकर उसके भजनमें अटक जाते हैं। किन्तु जब श्रीगुरुके निकट जाकर पूछते हैं कि प्रभो! अभी तक मैंने अनेक देवी-देवताओंका भजन किया, निमित्तोंको माना, पूजा-भक्ति कर-करके शुभरागकी भी उपासना की, तथापि मेरी मुक्ति क्यों नहीं हुई? तब श्रीगुरु कहते हैं कि—भाई, सुन! अभीतक तूने जिन-जिनका भजन किया है उनमें किसीमें ऐसी शक्ति नहीं है कि तुझे मुक्ति दे सकें। मुक्ति दे सके ऐसी शक्ति तो तेरे आत्मामें ही है; इसलिये उस शक्तिमानको पहिचानकर उसका भजन कर तो अवश्य मुक्ति होगी। शक्तिमानको भूलकर अन्यका भजन करे तो मुक्ति कहाँसे हो सकती है? इसलिये शक्तिमानको भज। तेरे आत्मामें ही ऐसी अचिन्त्य शक्ति है कि वह तेरी मुक्तिका साधन हो।

जगतके छहों द्रव्योंमें जीवद्रव्य महान है; जीवोंमें भी पंचपरमेष्ठी महान हैं; पंचपरमेष्ठीमें भी सिद्ध महान हैं, इसलिये उन्हें भजो;—किन्तु अरे! वह सिद्धपद प्रगट होनेकी शक्ति तो अन्तरंगमें

नित्य प्रत्यक्ष ऐसे शुद्ध आत्मस्वभावमें भरी है; इसलिये अपने शुद्ध आत्मस्वभावका ही भजन करो। —ऐसा संतोंका उपदेश है। श्री प्रवचनसारकी टीकामें श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि—"पंचास्तिकायमें जीवास्तिकाय उपादेय है; उसमें भी पंचपरमेष्ठी उपादेय हैं; उन पंचपरमेष्ठीमें भी अर्हंत और सिद्ध उपादेय हैं, उनमें भी सिद्ध उपादेय हैं; और वस्तुतः (परमार्थतः) रागादि रहित अन्तर्मुख होकर, सिद्ध जीवोंके सदृश परिणमित स्वकीय आत्मा ही उपादेय है।

होनेरूप ऐसा जो सिद्धरूप भाव अर्थात् निर्मल पर्यायरूप भाव वह कार्य है, उसका कर्ता कौन? आत्मा स्वयं भावक होकर उसे करता है इसलिये आत्मा स्वयं ही कर्ता है। अपनी श्रद्धाशक्ति द्वारा सम्यग्दर्शनादि कार्यका कर्ता आत्मा स्वयं ही होता है; आत्मा स्वयं ही ज्ञानशक्ति द्वारा केवलज्ञानका कर्ता होता है। आत्मा स्वयं ही चारित्रशक्ति द्वारा चारित्रका कर्ता होता है। इसप्रकार अपनी अनन्तशक्तिके कार्यके कर्तारूप आत्मा स्वयं ही होता है—ऐसी उसकी कर्तृत्व शक्ति है। पर्यायमें जो-जो नया-नया कार्य सिद्ध होता है, उस-उस कार्यरूपसे परिणमित होकर आत्मा स्वयं कर्ता होता है। यह कर्तापना आत्माका स्वभाव है। जहाँ ऐसा कहा है कि "कर्तापना आत्माका स्वभाव नहीं है," वहाँ तो विकारके तथा जड़कर्मके कर्तृत्वकी बात है, और यहाँ तो निर्मल पर्यायरूप कार्यके कर्तृत्वकी बात है;—यह कर्तृत्व तो आत्माका त्रिकाली स्वभाव है। ज्ञानानन्दस्वभावी अनन्तशक्ति-सम्पन्न भगवान आत्माको जानकर जहाँ उसका आश्रय किया वहाँ आत्माकी कर्तृत्वशक्तिके कारण ज्ञानगुणने कर्ता होकर ज्ञानभावरूप कार्य किया; श्रद्धागुणने कर्ता होकर सम्यग्दर्शनरूपी कार्य किया, आनन्दगुणने कर्ता होकर अतीन्द्रिय आनन्दका वेदन किया;—इसप्रकार अनन्त गुणोंने कर्ता होकर अपनी-अपनी निर्मलपर्यायरूप कार्यको किया। कर्तृत्वशक्तिवाले आत्माको पहिचाननेसे आत्मा अपने निर्मलभावका ही कर्ता होता है और विकारका कर्तृत्व

उसे नहीं रहता। कर्तृत्वशक्तिवाला आत्मस्वभाव त्रिकाल एकरूप है; उस एकरूप स्वभावमें एकतासे निर्मल–एकरूप कार्य ही होता रहता है। आत्माकी कर्ताशक्ति ऐसी नहीं है कि वह रागका कर्ता हो; आत्माकी कर्ताशक्ति तो ऐसी है कि वह निर्मल भावोंका ही कर्ता होता है। जहाँ मात्र विकारका कर्तृत्व है वहाँ आत्माकी कर्तृत्वशक्तिकी प्रतीति नहीं है।

"आत्मामें तो अनन्तशक्ति है, इसलिये वह परके कार्य कर सकता है"—ऐसा अनेक मूढ़ जीव मानते हैं। यहाँ आचार्यदेव उससे कहते हैं कि अरे मूढ़! जगतके एक परमाणु या स्कंधको भी आत्मा करे ऐसी कर्ताशक्ति उसमें नहीं है। हाँ, एक क्षणमें समस्त विश्वको साक्षात् जाननेका कार्य करे ऐसी कर्ताशक्ति आत्मामें है। आत्माकी शक्तिका कार्य आत्मामें होगा या बाहर? आत्माकी अनन्त शक्तियाँ हैं उन समस्त शक्तियोंका कार्य आत्मामें ही होता है; एक भी शक्ति ऐसी नहीं है कि आत्मासे बाहर कोई कार्य करे। अहो! मेरा आत्मा, मेरी समस्त शक्तियाँ और समस्त शक्तियोंका कार्य—इस सबका मेरे अन्तरमें ही समावेश होता है,—ऐसी अन्तर्दृष्टि करना सो अपूर्व कल्याण है।

जिसप्रकार यह आत्मा और अन्य सर्व आत्मा जगतमें स्वयंसिद्ध अनादि अनन्त सत् हैं; कोई उनका कर्ता नहीं है; उसीप्रकार अपनी पर्यायरूप कार्यका कर्ता होनेकी शक्ति भी आत्मामें स्वयमेव है; पर्यायका कार्य नवीन उत्पन्न होता है, इसलिये उसका कर्ता कोई दूसरा होगा—ऐसा नहीं है; आत्मा ही स्वयं उसरूप परिणमित होकर कर्ता होता है। धर्मी जानता है कि मेरा जो साधकभाव है उसका मैं स्वयं कर्ता हूँ; मेरे आत्मामें ही उसका कर्ता होनेकी शक्ति है। अपने कार्यके लिये अन्य किसी कर्ताकी आवश्यकता हो ऐसा पराधीन वस्तुस्वरूप नहीं है। कार्यसे भिन्न कोई कर्ता नहीं है और कर्ताका कार्य अपनेसे भिन्न नहीं है। इसीप्रकार साधन आदि भी भिन्न नहीं हैं।

—इसप्रकार अनन्तशक्तिसे अभेद आत्मस्वभावकी प्रतीति करके परिणमित होने पर सम्यग्दर्शनसे लेकर सिद्धदशा तकके निर्मल कार्य सिद्ध हो जाते हैं। द्रव्यकी एक कार्यशक्तिमें उसके समस्त गुणोंके कार्योंका कर्तृत्व समा जाता है; इसलिये कर्ताशक्तिको ढूंढ़नेके लिये गुणभेद पर देखना नहीं रहता किन्तु अखण्ड द्रव्य पर देखना रहता है। अखण्ड आत्मद्रव्यके सन्मुख देखते ही उसकी परिपूर्ण शक्तियाँ प्रतीतिमें आती हैं और वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं।

सर्वज्ञके समस्त शास्त्रोंका तात्पर्य वीतरागभाव है; और वह वीतरागभाव निरपेक्ष आत्मस्वभावके अवलम्बनसे ही होता है। परके आश्रयसे जो अपनी शक्ति माने, उसे परकी ओरके रागका अभिप्राय दूर नहीं होता और न कभी वीतरागता होती है। मेरी अनन्त शक्तियाँ मेरे आत्माके ही आश्रित हैं; मैं जो कार्य (सम्यग्दर्शनादि) करना चाहता हूँ वह मेरे आत्माके ही आश्रयसे होता है—ऐसा निर्णय करके स्वभावका आश्रय करनेसे वीतरागभाव होता है वह धर्म है, वह जैन शासनका सार है, वह संतोंका आदेश है, और वही सर्व शास्त्रोंका उपदेश है।

अनन्त शक्तिवान शुद्ध चैतन्य स्वभावी आत्माको देखें तो उसमें किसी पर वस्तुको ग्रहण करने, छोड़ने या बदलनेका कर्तृत्व नहीं है; तथा विकारका कर्तृत्व भी उसमें नहीं है; उस समय स्वभावमें अभेद हुई निर्मल पर्यायका ही कर्तृत्व है। पर्यायदृष्टिसे देखने पर क्षणिक विकारका कर्तृत्व है, किन्तु उतना ही आत्माको माने तो उसने आत्माके स्वभावको नहीं जाना है।

आत्मा भावक होकर किसे भायेगा ? अथवा आत्मा कर्ता होकर किसे करेगा ? आत्मा भावक होकर (कर्ता होकर) विकारको अपने कार्यरूपसे भाये ऐसा उसका स्वभाव नहीं है; किन्तु आत्मा भावक होकर अपने स्वभावमेंसे प्राप्त होनेवाले निर्मलभावको ही

भाये—ऐसा उसका स्वभाव है। ऐसे स्वभावकी दृष्टिमें धर्मात्मा निर्मल भावरूपसे परिणमित होकर उसीका कर्ता होता है।

अहो! इस समयसारमें आचार्यदेवने आत्मस्वभावकी अनन्त गम्भीर महिमा भरी है...इन शक्तियोंमें महान गम्भीरता है। अन्तरमें उतरकर आत्माके साथ मिलाकर समझे उसे महिमाकी खबर पड़ती है। ऐसी शक्तियोंवाले आत्मस्वभावको स्वीकार करनेसे साधकपर्याय तो हो ही जाती है। जहाँ आत्मस्वभावको स्वीकार किया वहाँ स्वभाव स्वयं साधकपर्यायका कर्ता होता है और वहाँ विकारका कर्तृत्व नहीं रहता। साधक अपने अखण्ड आत्मस्वभावको साथ ही साथ रखकर उसीमें एकत्वरूपसे परिणमन करता है इसलिये उसे निर्मल-निर्मल पर्यायें ही होती हैं। यह अन्तर्दृष्टिका विषय है और ऐसी अन्तर्दृष्टिसे ही धर्म होता है।

आत्मा स्वयं अपने स्वभावको जाने वह मोक्षका कारण है... और आत्मा आत्माको नहीं जान सकता—यह मान्यता संसारका कारण है। धर्मी जानता है कि स्व-परको जाननेरूप सम्यग्ज्ञानरूपसे परिणमित होना ही मेरा कार्य है; अज्ञानरूपसे परिणमित होनेका मेरा स्वभाव नहीं है। ऐसे शुद्ध आत्मस्वभावको जानकर उसमें ज्ञानको एकाग्र किया वहाँ समग्र जैनशासन आगया। आत्मा जहाँ अपने स्वभावरूपसे परिणमित हुआ वहाँ मोह-राग-द्वेषादि शत्रु विलीन हो गये, इसलिये उसमें जैन शासन आ गया।

यह भगवान आत्मा वचन-गोचर या विकल्पगोचर नहीं है किन्तु ज्ञानगोचर है; और वह भी अन्तरोन्मुख ज्ञान द्वारा ही गोचर है। ज्ञानको अन्तर्मुख करके अपने आत्माको लक्षमें लेना सो जैनधर्म है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी रीतिसे जैनधर्म नहीं होता; और ऐसे जैनधर्मके बिना कभी किसीको कहीं किसी प्रकार मुक्ति नहीं होती।

"होनेवाला वह कर्ता" और जो कुछ हो वह उसका कर्म। मेरी जो पर्याय होती है उसरूप होनेवाला मेरा द्रव्य है—ऐसा निर्णय करनेवालेकी दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर जाती है, और सामान्यद्रव्यमें तो विकार नहीं है, इसलिये द्रव्यस्वभाव विकाररूप होकर विकारका कर्ता हो ऐसा नहीं होता। इसलिये द्रव्यदृष्टिवाला जीव विकारका कर्ता नहीं होता; वह तो निर्मल पर्यायरूप होकर उसीका कर्ता होता है। जिस प्रकार स्वर्णद्रव्य स्वयं कर्ता होकर स्वर्णकी पर्यायरूप होता है, किन्तु स्वर्ण कर्ता होकर लोहेकी पर्यायरूप नहीं होता; उसीप्रकार आत्माका ऐसा स्वभाव है कि वह कर्ता होकर अपनी स्वभाव दशाको करता है; कर्ता होकर विकार करे ऐसा आत्माका द्रव्यस्वभाव नहीं है। कर्ताका इष्ट सो कर्म है; कर्ता ऐसे आत्मामें रागादि विकारीभाव इष्ट नहीं हैं, वे तो उससे विपरीत हैं, इसलिये वह वास्तवमें कर्ताका कर्म नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निमल पर्यायें ही आत्मस्वभावके साथ एकमेक होनेसे वे आत्माका इष्ट हैं और वही कर्ताका कर्म है। ऐसे कार्यका कर्ता होना आत्माका स्वभाव है।

"स्वाधीनरूपसे परिणमित हो वह कर्ता।" आत्माका स्वाधीन परिणमन तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, और विकार तो पराधीन परिणमन है। स्वके आधीन होकर स्वाधीनरूपसे अपने सम्यग्दर्शनादिको करे ऐसी कर्तृत्व शक्तिवाला आत्मा है। ऐसे "कर्ता"-को जहाँ लक्षमें लिया वहाँ साधकपर्याय सम्यग्दर्शनादिकी सिद्धि हुई, और उस सिद्धरूपभावके कर्तारूपसे आत्मा परिणमित हुआ...अर्थात् वह धर्मी हुआ।

देखो, धर्म कैसे होता है उसकी यह रीति कही जारही है। धर्मकी यह रीति समझनेके साथ उच्च प्रकारका पुण्य भी बँधता है और उसके फलमें स्वर्गादिका संयोग प्राप्त होता है। किन्तु धर्मके रुचिवान जीवको उस पुण्यकी या संयोगकी रुचि नहीं होती। जिसे पुण्यकी या संयोगकी रुचि-उत्साह-उल्लास है उसे धर्मकी रुचि-उत्साह या

उल्लास नहीं है। जिसे पुण्यकी रुचि होगी वह पुण्य रहित आत्माकी ओर कैसे उन्मुख होगा ? जिसे संयोगकी रुचि हो वह असंयोगी आत्माकी ओर क्यों ढलेगा ? जिसे चैतन्य स्वभावकी ही रुचि है वही चैतन्य स्वभावकी ओर उन्मुख होकर मुक्तिकी साधना करता है। और जिसे संयोगकी या रागकी रुचि है वह असंयोगी—वीतरागी चैतन्य स्वभावका अनादर करके संसारकी चारों दुर्गतियोंमें भटकता है।

मेरी समस्त पर्यायोंरूप होनेवाला मेरा शुद्धद्रव्य ही है; अन्य कोई नहीं। बस ! जहाँ ऐसा निर्णय किया वहाँ समस्त पर्यायोंमें शुद्ध द्रव्यका ही अवलम्बन रहा; इसलिये समस्त पर्यायें निर्मल ही होने लगीं। ऐसा निर्णय करनेवालेको शुद्ध आत्माके ही आश्रयसे एकाग्रता होनेके कारण परकी चिन्तासे विमुख हो गया; इसलिये एकाग्रचिन्तानिरोधरूप ध्यान हुआ। परका मैं कर्ता और मेरी पर्याय परसे होती है—ऐसा जो माने उसे परकी चिन्ता दूर होकर स्वमें एकाग्रता नहीं होती; इसलिये उसे आत्माका ध्यान नहीं होता; और आत्माके ध्यान बिना वीतराग भावरूप धर्म नहीं होता। समस्त शास्त्रोंका तात्पर्य वीतरागभाव है और वह वीतराग भाव शुद्ध आत्माके ही आश्रयसे होता है ...इसलिये शुद्ध आत्माका आश्रय करना ही समस्त शास्त्रोंका सार सिद्ध हुआ। इस समयसारकी सुप्रसिद्ध १५ वीं गाथामें आचार्यदेवने यही बात स्पष्ट बतलाई है कि जो शुद्ध आत्माकी अनुभूति है वह समस्त जिन शासनकी अनुभूति है; जो शुद्धात्माको जानता है वह समस्त जिन शासनको जानता है। यह महान सिद्धान्त और जैनशासनका रहस्य है।

अहो ! कुन्दकुन्द स्वामी तो भगवान थे...उन्होंने तो तीर्थंकर जैसा काम किया है...और अमृतचन्द्राचार्य उनके गणधर जैसे थे। संतोंने महान आश्चर्यजनक कार्य किये हैं। अहो ! आकाश जैसे निरालम्बी मुनि तो जैनधर्मके स्तम्भ हैं। निरालम्बी आत्माका स्पर्श करके उनकी वाणी निकली है। ऐसे वीतरागी संतोंका, चैतन्यपदको प्राप्त करानेवाला परम हित-उपदेश प्राप्त करके आत्माको ऊपर ले

जाना अर्थात् अन्तर्मुख होकर आत्माकी उन्नति करना ही जिज्ञासु आत्मार्थी जीवोंका कर्तव्य है।

प्रभो ! तेरी प्रभुता तुझमें विद्यमान है। तू परको प्रभुता दे और परसे अपनी प्रभुता माँगे उसमें तो तेरी पामरता है। अपनी प्रभुताकी भीख दूसरोंसे माँगना उसमें तेरी प्रभुता-शोभा नहीं है किन्तु दीनता है। उस दीनताको छोड़ और अपनी प्रभुताको धारण कर। जो जीव अपने आत्माकी प्रभुताको स्वीकार नहीं करता और मात्र बाह्यदृष्टिसे भगवानके निकट जाकर कहता है कि "हे भगवान ! आप प्रभु हैं...हे भगवान ! मेरा हित करो...मुझे प्रभुता दो !" तो भगवान उससे कहते हैं कि रे जीव ! तेरी प्रभुता हमारे पास नहीं है भाई ! तुझमें ही तेरी प्रभुता है; इसलिये अन्तरोन्मुख हो...अन्तर्दृष्टि करके अन्तरमें ही अपनी प्रभुताको ढूँढ ! जिसप्रकार हमारी प्रभुता हममें है उसीप्रकार तेरी प्रभुता तुझमें है; तेरा आत्मा ही प्रभुतासे परिपूर्ण है। अपने आत्माको सर्वथा दीन मानकर बाहरसे तू अपनी प्रभुता ढूँढ़ेगा तो तुझे अपनी प्रभुता नहीं मिलेगी।—"दीन भयो प्रभुपद जपे, मुक्ति कहाँसे होय ?" अपनेमें प्रभुता विद्यमान है उसे तो मानता नहीं है और बाह्यमें भटकता है उसे तो मिथ्यात्वके कारण पामरता होती है।

राग होनेपर भी मैं राग जितना तुच्छ—पामर नहीं हूँ, किन्तु मैं तो प्रभुत्व शक्तिसे परिपूर्ण हूँ;—इसप्रकार रागका उल्लंघन करके अपनी प्रभुताका स्वीकार करना सो अपूर्व पुरुषार्थ है। अपनी प्रभुताको भूलकर जीव संसारमें भटका है और अपनी प्रभुताकी सम्हाल करनेसे जीव स्वयं परमात्मा हो जाता है। जब तक देहसे और रागसे पार आत्माकी प्रभुताको अपूर्व प्रयत्न द्वारा न पहिचाने तब तक भेदज्ञान-सम्यग्ज्ञान नहीं होता; और सम्यग्ज्ञानके बिना अज्ञानीको धर्म कैसा ? इसलिये जिसे वास्तवमें धर्म करना हो—धर्मी होना हो उसे अपूर्व उद्यम करके अपने आत्मस्वभावकी पहिचानसे भेदज्ञान

करना चाहिये । भेदज्ञानी जीव अपने स्वभावके आश्रयसे निर्मल पर्यायरूप परिणमित होकर उसीका कर्ता होता है और विकारका कर्ता नहीं होता;—इसका नाम धर्म है ।

अहो ! आत्माकी यह शक्तियाँ बतलाकर अमृतचन्द्रदेवने अमृत बहाया है; अरे जीव ! ऐसी-ऐसी शक्तियाँ तुझमें ही हैं; तो अब तुझे बाह्यमें कहाँ रुकना है ! ? अन्तरमें अपनी शक्तियोंसे परिपूर्ण सर्व गुण सम्पन्न अपने आत्माका ही अवलम्बन कर...जिससे तेरा भवदुःखोंसे छुटकारा हो... और तुझे मोक्ष सुखकी प्राप्ति हो ।

[—४२ वीं कर्तृत्वशक्तिका वर्णन पूरा हुआ ।]

[४३]

करणशक्ति

[इस "करणशक्ति"में धर्मके साधन सम्बन्धी खूब स्पष्टीकरण किया गया है। जिज्ञासु जीवोंको समझने योग्य है।]

"अहो ! सम्यग्दर्शनसे लेकर सिद्धदशा तकके मेरे कार्योंका साधन होनेकी शक्ति मेरे आत्मामें है; कोई बाह्य पदार्थ मेरे साधन हैं ही नहीं;"—ऐसा निर्णय करनेवाला धर्मात्मा बाह्यसाधन ढूँढ़नेकी व्यग्रता नहीं करता; अन्तर्-स्वभावका अवलम्बन लेकर अपने आत्माको ही सम्यग्दर्शनादिका साधन बनाता है।—यह बात आचार्यदेवने इस करणशक्तिमें प्रसिद्ध की है।

आत्माने स्वयं कर्ता होकर अपने सम्यग्दर्शनादि कार्योंको किया; किन्तु उनका साधन क्या ? कर्ताने किस साधन द्वारा अपना कार्य किया ?—वह अब बतलाते हैं।

"भवते हुए भावके भवनके साधकतमरूपमयी करणशक्ति है।" इस शक्तिसे आत्मा स्वयं ही अपने भावका साधन होता है। "भवते हुए भाव" अर्थात् वर्तमान वर्तता हुआ भाव सो कार्य है; वह

कार्य होनेका उत्कृष्ट साधन आत्मा स्वयं ही है। साधकके आत्मामें जो सम्यग्दर्शनादि निर्मल कार्य होते हैं उनका "साधकतम" आत्मा स्वयं ही है। यहाँ आत्माको "साधकतम" कहा, इसलिये ऐसा नहीं समझना चाहिये कि "साधक" और "साधकतर" कोई दूसरा होगा। यहाँ "साधकतम" अनन्यपना बतलाता है अर्थात् निर्मल भावका साधन एक आत्मा स्वयं ही है, उसके भिन्न अन्य कोई साधन है ही नहीं।

अहो! सम्यग्दर्शनसे लेकर सिद्धदशा तक जो-जो भाव मुझमें होते हैं उनका साधन होनेकी शक्ति मेरे आत्मामें है; बाहरके कोई पदार्थ मेरा साधन हैं ही नहीं। ऐसा निर्णय करनेवाला अपने कार्यके लिये—(सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके लिये) बाह्य साधन ढूँढ़नेकी व्यग्रता नहीं करता; वह तो अन्तर्स्वभावका अवलम्बन लेकर अपने आत्माको ही सम्यग्दर्शनादिका साधन बनाता है।

"शरीर वह धर्मका साधन है; अच्छे निमित्त धर्मके साधन हैं, शुभराग धर्मका साधन है"—ऐसा मानकर अज्ञानी तो उन्हींके अवलम्बनमें रुक जाता है। उसे यहाँ समझाते हैं कि अरे जीव! तेरे धर्मका साधन होनेकी शक्ति तेरे आत्मामें ही है; इसलिये अन्तर्मुख होकर अपने आत्माको ही साधनरूपसे अंगीकार कर। इसके अतिरिक्त अन्य किन्हीं पदार्थोंमें या रागमें तेरे धर्मका साधन होनेकी शक्ति नहीं है। अन्य जो भी साधन कहे जाते हों वे सब उपचारसे ही हैं; वह उपचार भी कब लागू होता है? कहते हैं कि वास्तविक साधन जो आत्मस्वभाव है उसके अवलम्बन द्वारा जब निर्मल कार्य प्रगट करे तब निमित्त-राग-व्यवहारादिको उपचार साधन कहा जाता है। किन्तु कोई सच्चे साधनको न जानकर उपचारसाधनको ही सच्चा साधन मान ले तो उसे निर्मल कार्य नहीं होता; और कार्य हुए बिना उसके साधनका उपचार भी कहाँसे लागू होगा? जहाँ निश्चय साधन द्वारा कार्य हो वहीं दूसरोंको (गुरु उपदेश आदिको) व्यवहारसाधन कहा जाता है।

धर्मका सच्चा साधन जो अपना शुद्ध चिदानन्द स्वभाव है उसका तो आश्रय नहीं लेता और व्यवहारके शुभराग आदिको ही साधन मानकर उसके अवलम्बनमें रुक जाता है उस जीवको स्वभावकी रुचि नहीं है किन्तु विकारकी रुचि है; उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म कहाँसे होगा ? जिसे आत्माके वीतरागी धर्मका प्रेम हो वह उससे विरुद्धभावोंका आदर नहीं करता। राग तो आत्मस्वभावसे विपरीत एवं हानिकारक है, तथापि जो उसे लाभकारी मानता है वह रागको साधन मानता है, उसे रागका प्रेम है, रागरहित स्वभावका प्रेम नहीं है; जिसे रागका प्रेम है वह रागरहित स्वभावकी साधना कैसे कर सकेगा ? जो सम्यग्ज्ञानी है वह रागको अपने स्वभावसे विरुद्ध जानता है; उसे साधनरूपसे नहीं जानता किन्तु बाधकरूपसे जानता है; इसलिये उसमें तन्मय नहीं होता। अपने शुद्धस्वभावको ही साधन जानकर उसमें एकता द्वारा रागका अभाव कर देता है।— इसप्रकार स्वभावसाधन द्वारा ही सिद्धि प्राप्त होती है। किसी बाह्य साधनके अवलम्बन बिना आत्मा स्वयं अपनी शक्तिसे ही साधन होकर सिद्धिको साधता है।

अनेक व्यक्ति पूछते हैं कि धर्मका साधन क्या है ? यहाँ वह साधन बतलाते हैं। भाई ! आत्मा स्वयं ही अपने धर्मका उत्कृष्ट साधन होनेके लिये शक्तिमान है। जिसप्रकार अग्निकी उष्णताका साधन अन्य कोई नहीं है किन्तु वह स्वयं ही अपने स्वभावसे उष्णताका साधन है; उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्माको अपने ज्ञान-आनन्दका अन्य कोई साधन नहीं है, वह स्वयं ही साधन होकर ज्ञान-आनन्दरूपसे परिणमित होता है। एकबार आत्माकी ऐसी शक्तिका विश्वास तो कर ! आत्माके ऐसे साधनका विश्वास करे तो बाह्यसाधन (निमित्तादि) ढूंढ़नेकी पराश्रयबुद्धि छूट जाये और स्वभावके साधनसे अनन्त शांति हो जाये।

प्रश्नः—इन्द्रियाँ, पुस्तकें, चश्मा आदि तो ज्ञानके साधन हैं न ?

उत्तरः—ज्ञानका ऐसा पराधीन स्वभाव नहीं है कि उसे अपनेसे भिन्न साधनका आश्रय लेना पड़े। आत्मा स्वयं ही ज्ञानस्वभावी है इसलिये स्वयं ही ज्ञानका साधन है। इन्द्रियादि जड़ हैं वे ज्ञानके साधन नहीं हो सकते। ज्ञानका साधन ज्ञानसे पृथक् नहीं होता; इन्द्रियाँ तो ज्ञानसे पृथक् हैं।

प्रश्नः—व्यवहार तो निश्चयका साधन है न ?

उत्तरः—निश्चयरत्नत्रयका साधन होनेकी शक्ति अपने द्रव्यस्वभावमें ही है; क्योंकि करणशक्ति द्रव्यकी है। व्यवहाररत्नत्रयमें ऐसी शक्ति नहीं है कि साधक होकर निश्चयरत्नत्रयको साधे। एक स्वभावको ही साधन बनाकर जिसने निश्चयरत्नत्रयकी साधना करली, उसे व्यवहाररत्नत्रय उपचारसे साधन कहा जाता है। वास्तवमें तो आत्मद्रव्य ही साधकतम है; इसके अतिरिक्त व्यवहारसे कुछ भी साध्य नहीं है।

इस समयसारमें गाथा ३५६ से ३६५ की टीकामें प्रश्न रखा है कि "यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशोंके व्यवहारसे क्या साध्य है ?" उसके उत्तरमें स्पष्ट कहते हैं कि "उससे कुछ भी साध्य नहीं है।" देखो, आचार्यदेवने ऐसा नहीं कहा कि भेद द्वारा अभेद साध्य है या व्यवहार द्वारा निश्चय साध्य है; किन्तु उससे कुछ भी साध्य नहीं है ऐसा कहा है। जहाँ अन्तरके गुण-गुणी भेदरूप सूक्ष्म व्यवहारसे भी कुछ साध्य नहीं है वहाँ अन्य स्थूल रागादि तो सिद्धिका साधन कहाँसे होंगे ? राग द्वारा अर्थात् रागको साधन बनाकर आत्माके स्वभावमें नहीं पहुँचा जाता, किन्तु सीधे स्वभावके अवलम्बनसे ही स्वभावमें पहुँचा जाता है; इसलिये आत्मा स्वयं ही अपना साधन बनता है। जहाँ आत्मस्वभावका अवलम्बन ले वहाँ सम्यग्दर्शनादि अवश्य होते ही हैं; आत्मस्वभावके अवलम्बन बिना सम्यग्दर्शनादि होते ही नहीं।—इसप्रकार आत्मस्वभाव ही अबाधित साधन है। अन्य जो भी साधन कहे जाते हों वे उपचारसे हैं, नियमरूप नहीं हैं—ऐसा जानना।

शुद्ध अनन्त चैतन्य शक्तिवान यह आत्मा स्वयं ही केवलज्ञानरूप परिणमित होनेके स्वभाववाला होनेसे स्वयं ही साधकतम है; स्वयमेव छह कारकरूप होकर परिणमित होनेके कारण "स्वयंभू" है। इसलिये ऐसा कहा है कि निश्चयसे परके साथ आत्माको कारकपनेका सम्बन्ध नहीं है कि जिससे शुद्धात्म स्वभावकी प्राप्तिके लिये सामग्री (बाह्यसाधन) ढूँढ़नेकी व्यग्रता करनी पड़े। आचार्य तो कहते हैं कि व्यर्थ ही परतन्त्र होते हैं। इसप्रकार शुद्धात्म स्वभावकी प्राप्ति अन्य कारकोंसे निरपेक्ष होनेके कारण अत्यन्त आत्माधीन है। (देखो, प्रवचनसार गाथा–१६।) सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति भी अन्य कारकोंसे निरपेक्ष, अत्यन्त आत्माधीन है; उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र आदिकी प्राप्ति भी अन्य साधनोंसे निरपेक्ष, अत्यन्त आत्माधीन है।

अपनी पर्यायोंका साधन मैं ही हूँ और अन्य मेरा साधन नहीं है;–ऐसा निश्चय करके धर्मात्मा बाह्य साधनोंका आश्रय नहीं लेते किन्तु अपने आत्माका ही आश्रय करते हैं। आत्माका आश्रय करनेसे आत्मा स्वयं ही साधन होकर निर्मल पर्यायें होती हैं। "प्रवचनसार" गाथा १२६ में कहा है कि—

> कर्ता करणं कर्म कर्मफलं चात्मेति निश्चितः श्रमणः।
> परिणमति नैवान्यद्यदि आत्मानं लभते शुद्धम्॥ १२६॥

(विशेषके लिये इस गाथाकी टीका अथवा ३९ वीं शक्तिका प्रवचन देखें।)

लोगोंने स्थूलरूपसे—बाह्यदृष्टिसे बाह्य साधनोंको स्वीकार कर लिया है, किन्तु सूक्ष्मरूपसे–अन्तर्दृष्टि करके अपने धर्मका यथार्थ साधन कभी नहीं ढूंढ़ा। अरे! बाह्यमें अपने हितका साधन मानकर मैं अनन्तकालसे प्रयत्न कर रहा हूँ तथापि मुझे अपने हितकी प्राप्ति नहीं हुई, इसलिये अन्तरमें कोई अन्य साधन होना चाहिये—

इसप्रकार गहराईसे विचार करके जीवने कभी सच्चे साधनकी खोज नहीं की। अरे ! विकारसे भिन्न मेरे आत्माका अनुभव किस साधनसे होगा ?—इसप्रकार जिसके अन्तरमें गहरी जिज्ञासा जागृत हुई है उसे साधन बतलाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा और बन्धको पृथक् करनेरूप कार्यमें कर्ता जो आत्मा है उसके करण (साधन) सम्बन्धी गहरी विचारणा-मीमांसा की जाने पर, निश्चयसे अपनेसे भिन्न करणका अभाव होनेसे भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है। उस प्रज्ञा द्वारा उनका छेदन किया जाने पर वे अवश्य ही पृथक्त्वको प्राप्त होते हैं; इसलिये प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा और बन्धको भिन्न किया जाता है अर्थात् प्रज्ञारूपी साधन द्वारा ही उनका भेदज्ञान होता है। (देखो, समयसार गाथा २९४ टीका।)

आत्माके स्वभावको एवं रागादि बन्ध भावोंको प्रज्ञा द्वारा किसप्रकार छेदा जा सकता है ?—ऐसा प्रश्न शिष्यकी ओरसे होने पर आचार्यदेव उसका उत्तर देते हैं कि "आत्मा और बन्धके नियत स्वलक्षणोंकी सूक्ष्म अन्तर्संन्धिमें प्रज्ञा छैनीको सावधान होकर पटकनेसे उन्हें छेदा जा सकता है—ऐसा हम जानते हैं।"

—(समयसार गाथा २९४ टीका)

देखो, यह साधन ! आचार्यदेव स्वानुभव सहित कहते हैं कि हमने ऐसे अन्तरंग साधनसे ही आत्माको बन्धभावोंसे पृथक् जाना है। कर्ताका साधन अपनेमें ही है। कर्ताका साधन सचमुच कर्तासे भिन्न नहीं होता; इसलिये कर्तासे भिन्न जो भी साधन कहा जाये वह कोई सचमुच साधन नहीं है। "अपनेसे भिन्न करणका अभाव है"—ऐसा कहकर आचार्यदेवने महासिद्धान्त बतलाया है। अरे जीव ! अपने साधनकी गहरी खोज अपने में कर, अपने अन्तरमें ही साधनको ढूँढ़। जो अपने साधनको बाह्यमें ढूँढ़ते हैं वे उसकी गहरी खोज करनेवाले नहीं हैं किन्तु उथली बुद्धिवाले बाह्यदृष्टिवंत हैं। जो आत्महितके साधनकी सच्ची मीमांसा करते हैं, गहरी खोज करते हैं उन्हें तो अपने आत्मामें ही अपना

साधन भासित होता है; राग या बाह्यद्रव्य अपने साधनरूपसे किंचित् भासित नहीं होते। ज्ञानको सूक्ष्म करके (इन्द्रियों तथा रागसे पार ले जाकर) अन्तरोन्मुख करने पर भगवान आत्माका अनुभव होता है; उस अन्तरोन्मुख ज्ञानको प्रज्ञा कहते हैं और वही आत्माके अनुभवका साधन है। वह प्रज्ञारूपी निर्मल पर्याय आत्माके साथ अभेद होनेके कारण अभेदरूपसे आत्मा ही स्वयं अपना साधन है। "मैं ही अपने द्वारा ही अपने लिए ही अपनेमें से ही अपनेमें ही, अपनेको ही ग्रहण करता हूँ"—इसप्रकार स्वयंमें ही अभिन्न छह कारक हैं। (देखो, समयसार गाथा २९७)

अहो ! अपने सम्यग्दर्शनादि कार्योंका साधकतम होनेकी शक्ति आत्मामें त्रिकाल है; स्वयं ही कारण होकर अपने सम्यग्दर्शनादिकी साधना करे ऐसी शक्ति स्वयंमें ही है; किन्तु उसे भूलकर साधनके लिये व्यर्थ ही बाह्यमें दौड़धूप करता है। अन्तरके निज साधनको भूलकर अनन्तकालसे बाह्यमें दौड़धूपकी किन्तु कुछ भी जीवके हाथ नहीं लगा; तथापि सत्यसाधन क्या है उसका गहरा विचार भी नहीं करता।

श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि—

"यम नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो;
वनवास लयो मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो।
सब शास्त्रनके नय धारि हिये, मत मंडन खंडन भेद लिये,
वह साधन बार अनन्त कियो; तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो।
अब क्यों न विचारत है मनसें, कछु और रहा उन साधन सें ?
बिन सद्गुरु कोई न भेद लहे, मुख आगल है कह बात कहे !"

अरे जीव ! अन्तरके एक चैतन्य साधनको चूककर बाहरके अन्य साधन तूने अनन्तबार किये; व्रत और तप किये, दिगम्बर मुनिद्रव्यलिंगी होकर पंच महाव्रतका पालन किया, हजारों रानियाँ छोड़कर

शुभ वैराग्यसे त्यागी हुआ, शास्त्र पढ़े, वनमें रहा, मौन धारण किया, —ऐसे-ऐसे अनेक साधन अनन्तबार किये, तथापि अभीतक तुझे किंचित् मात्र हितकी प्राप्ति नहीं हुई। तो अब तू अपने मनमें क्यों विचार नहीं करता कि इन सब साधनोंके अतिरिक्त अन्य कौन-सा सच्चा साधन शेष रह जाता है? सद्गुरुगमसे तू उस साधनका विचार कर।

"प्रभो! मेरे हितका साधन क्या?"—ऐसा पूछने पर श्रीगुरु कहते हैं कि "हे वत्स! तेरा आत्मा अनन्तगुणोंसे परिपूर्ण चैतन्यमूर्ति है, उसका अवलम्बन कर, वही तेरे हितका साधन है। तेरे आत्मासे भिन्न अन्य कोई तेरे हितका साधन नहीं है; इसलिये अभी तक माने हुए बाह्य साधनोंकी दृष्टि छोड़ और अन्तरके चैतन्य स्वभावकी दृष्टि कर...उसका विश्वास करके उसीको साधन बना। तेरा शुद्ध आत्मा ही साध्य है और उस शुद्ध आत्माका अवलम्बन करना ही साधन है;—इसप्रकार तेरे साध्य और साधन दोनोंका तुझमें ही समावेश हो जाता है।

आत्माकी अनन्तशक्तियोंमें एक ऐसी करणशक्ति है कि जो सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें होती हैं उनका साधन आत्मा स्वयं ही होता है। सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायोंका उत्कृष्ट साधन आत्मा ही है। निमित्तादि परवस्तुओंमें या रागमें ऐसी शक्ति नहीं है कि वह आत्माकी निर्मल पर्यायका साधन हो, और आत्माका स्वभाव ऐसा नहीं है कि अपने निर्मल कार्यके लिये वह किसी अन्य साधनकी अपेक्षा रखे। आत्माका स्वभाव स्वयं ही साधकतम होनेके कारण उसकी सन्मुखतासे ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं, किन्तु निमित्तादि परद्रव्य कहीं आत्माके कार्यका साधकतम नहीं है, इसलिये उसकी सन्मुखतासे आत्माके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप कार्य नहीं होता। "निमित्तादि किंचित् साधन तो होते हैं न?—तो कहते हैं कि नहीं; निमित्तमें ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि वह आत्माके मोक्षमार्गरूपी

कार्यंका किंचित् भी साधन हो। मोक्षमार्गंका साधन होनेकी परिपूर्ण शक्ति आत्मामें ही है।

पुनश्च, जिसप्रकार आत्मा अपने कार्यके लिये अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं रखता, उसीप्रकार वह साधनरूप होकर किसी अन्यका कार्य करे ऐसा भी नहीं होता। अपनी निर्मल पर्यायोंका साधन होनेकी आत्मामें परिपूर्ण शक्ति है, किन्तु शरीर, वाणी आदिकी क्रियामें साधन हो ऐसी किंचित् शक्ति आत्मामें नहीं है; और सचमुच विकारी भावोंका साधन होना भी आत्माका स्वभाव नहीं है। आत्माके ऐसे स्वभावकी श्रद्धा करनेवाला जीव विकारके साधकतमरूपसे परिणमित नहीं होता किन्तु अपनी निर्मल पर्यायके ही साधकतमरूपसे परिणमित होता है, आत्मा अपने स्वभावके अवलम्बनसे स्वयं ही साधन होकर अपनी मुक्तिको साधता है; मुक्तिके लिये बाह्यमें अन्य कोई साधन नहीं ढूँढ़ना पड़ता।

निश्चयरत्नत्रयका साधन व्यवहाररत्नत्रय है ?—तो कहते हैं कि नहीं, एक शुद्ध चिदानन्दस्वभावका अवलम्बन ही निश्चयरत्नत्रयका साधन है। व्यवहार रत्नत्रयको साधन कहना तो कथन मात्र है। व्यवहार रत्नत्रयके शुभरागमें ऐसी शक्ति नहीं है कि वह मोक्षका या मोक्षमार्गका साधन बन जाये। यहाँ तो साधन (–साधकतम) उसीको कहते हैं कि जो कार्यके साथ अभेद हो, आत्मा मोक्षमार्गरूपी कार्यके साथ अभेद है, इसलिये आत्मा ही उसका साधन है। किन्तु रागकी मोक्षमार्गरूपी कार्यके साथ अभेदता न होनेसे राग उसका साधन नहीं है और आत्माके स्वभावकी रागके साथ अभेदता न होनेसे आत्मा रागका साधन नहीं है।

प्रश्नः—तो फिर रागका साधन कौन है ?

उत्तरः—रागका कोई ध्रुवसाधन नहीं है। राग तो ऊपरकी क्षणिक विकृति है और उसका साधन भी क्षणिक पर्याय ही है।

पर्यायमें अन्तर्मुख होकर जहाँ ध्रुवस्वभावको अपना साधन बनाया वहाँ विकारका साधन कोई रहता ही नहीं, अर्थात् वहाँ विकार होता ही नहीं; वहाँ तो निर्मलता ही होती है। इसप्रकार अपनी निर्मलपर्यायका साधन होना ही आत्माका स्वभाव है। [चारित्रमें भूमिकानुसार राग होते हैं वह गौण हैं]

हे नाथ ! इस आत्माको सुखी करनेके लिये किस साधनका अवलम्बन किया जाये ? मेरे सुखका साधन क्या है ?—इसप्रकार साधनकी आकांक्षा रखनेवाले शिष्यको श्री आचार्यदेव समझाते हैं कि हे भाई ! तू चिन्ता न कर, तेरा आत्मा ही स्वयं तेरे सुखका साधन है; उसका अवलम्बन करते ही तू सुखी हो जायेगा; इसलिये अपने आत्माको ही सुखका साधन जानकर उसमें अन्तर्मुख हो। जब देख तभी तेरे सुखका साधन तुझमें विद्यमान ही है, अन्तर्मुख होकर उसका अवलम्बन करे इतनी देर है। अन्तर्मुख होने पर तेरा आत्मा ही तेरे सुखका साधन बन जायेगा, दूसरा कोई साधन तुझे नहीं ढूँढ़ना पड़ेगा।

अहो ! आचार्यदेवने कितनी अद्भुत बात समझाई है। जो यह बात समझे उसके आत्मामें अपूर्व आनन्दोल्लासकी उत्पत्ति हुए बिना नहीं रहेगी। अहो ! मुझमें ही मेरा सुख भरा था, किन्तु अभीतक मैं उसे बाहर ढूँढ़ता रहा, इसलिये दुःखी हुआ। स्वभावमें ही मेरा सुख है ऐसा सम्यक्भान होने पर बाह्यमें सुखबुद्धि छूट गई और अपने स्वभावमें मग्न होकर आत्मा स्वयं सुखरूप परिणमित हुआ उस सुखका साधन आत्मा ही है, अन्य कोई उसका साधन नहीं है।

किसमें ऐसी शक्ति है कि जिसका अवलम्बन करनेसे वह आत्माकी निर्मल पर्यायका साधन हो ? निमित्तोंमें ऐसी शक्ति नहीं है, रागमें भी ऐसी शक्ति नहीं है, अकेली पर्यायमें भी ऐसी शक्ति नहीं है तथा एक-एक गुणके आश्रयमें भी ऐसी शक्ति नहीं है, इसलिये उन

निमित्तोंकी रागकी, पर्यायकी या गुणभेदकी—किसीकी सन्मुखतासे निर्मल पर्याय नहीं होती। अनन्तगुणोंसे अभेद आत्मस्वभावमें ही ऐसी शक्ति (करणशक्ति) है कि उसका अवलम्बन करनेसे वह निर्मल पर्यायका साधन होता है, इसलिये उसकी सन्मुखतासे ही निर्मल पर्याय होती है। गुणोंके भेद करके एक गुणके लक्षसे साधकपना नहीं होता; यदि एक गुणके लक्षसे ही साधकपना माने तो उसने एक गुण जितना ही सम्पूर्ण आत्माको माना है; इसलिये श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि समस्त गुणों सहित सम्पूर्ण आत्मा उसकी मान्यतामें नहीं आया। अनन्तगुणोंसे परिपूर्ण आत्माको माने बिना कभी साधकपना हो ही नहीं सकता।

जीव विकल्प द्वारा एक गुणको पृथक् करके लक्षमें लेता है, किन्तु वस्तुमें कहीं एक गुण पृथक् नहीं होता; इसलिये उस विकल्प द्वारा वस्तु प्रतीतिमें नहीं आती। जिसप्रकार जड़ चेतनको अत्यन्त प्रदेशभेद है, दोनों वस्तुओंके प्रदेश ही भिन्न हैं, उसीप्रकार कहीं वस्तु और वस्तुकी अनन्तशक्तियोंको प्रदेशभेद नहीं है। ज्ञानके प्रदेश अलग, दर्शनके अलग, आनन्दके अलग—ऐसा प्रदेशभेद नहीं है, तथा अनन्तशक्तियोंसे भिन्न दूसरा कोई शक्तिमान नहीं है किन्तु शक्तिमान (वस्तु) स्वयं ही अनन्तशक्तिस्वरूप है; इसप्रकार शक्तिमान और शक्तियोंमें स्वरूपभेद नहीं है मात्र समझानेके लिये अभेदमें भेद उत्पन्न करके एक गुणकी मुख्यतासे "ज्ञान सो आत्मा" ऐसा कहा जाता है। वहाँ भेद सन्मुख देखनेसे आत्मा समझमें नहीं आता; किन्तु अनन्त धर्म स्वरूप एक अखण्ड चैतन्य वस्तु आत्मा है, उसके सन्मुख देखनेसे ही आत्माका सच्चा स्वरूप समझमें आता है। यह बात कुछ सूक्ष्म तो है, किन्तु पूर्व अनन्तकालमें जो नहीं किया है ऐसा आत्मकल्याण जिसे करना हो उसे अन्तरमें बारम्बार उद्यम करके यह बात समझने योग्य है ही। इस बातको समझने पर ही भवभ्रमणसे छुटकारा होगा, अन्य किसीप्रकार छुटकारा नहीं हो सकता।

श्री "तत्त्वार्थ सूत्र" के पाँचवें अध्यायमें एक सूत्र है कि—

"द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" समस्त गुण द्रव्यके आश्रयसे विद्यमान हैं अर्थात् द्रव्य स्वयं ही अनन्तगुण स्वरूप है; इसलिये उस द्रव्यके आश्रयसे परिणमित होने पर समस्त गुणोंका निर्मल परिणमन हो जाता है; परन्तु गुण स्वयं निर्गुण है अर्थात् एक गुणके आश्रयसे दूसरे गुण विद्यमान नहीं हैं; इसलिये एक गुणका भेद करके उसके आश्रयसे श्रद्धा ज्ञान-एकाग्रता करना चाहे तो वह नहीं हो सकता; क्योंकि एक गुणको श्रद्धा-ज्ञानमें लेते हुए दूसरे अनन्त गुण शेष रह जाते हैं; इसलिये सम्पूर्ण वस्तु जैसी है वैसी प्रतीतिमें या ज्ञानमें नहीं आती; और प्रतीतिमें तथा ज्ञानमें सम्पूर्ण वस्तु आये बिना उसमें एकाग्रता भी कहाँसे होगी ? एक ज्ञानगुणके आश्रयसे केवलज्ञान प्रगट करना चाहे तो उसे केवलज्ञान नहीं होता; क्योंकि केवलज्ञान यद्यपि ज्ञानगुणकी पर्याय है तथापि वह गुण कहीं वस्तुसे पृथक् होकर परिणमित नहीं होता। अखण्ड वस्तुका आश्रय करके परिणमित होने पर आत्माके समस्त गुण निर्मलरूपसे परिणमित हो जाते हैं। श्रद्धागुण सम्यक्त्वरूपसे, ज्ञानगुण केवलज्ञानरूपसे, चारित्र गुण स्वरूपमें एकाग्रतारूपसे, तथा आनन्दगुण आनन्दरूपसे परिणमित हो जाता है। वहाँ प्रत्येक गुणका भिन्न-भिन्न अवलम्बन नहीं है, एक अखण्ड चैतन्यवस्तुका ही अवलम्बन है और वही समस्त गुणोंकी निर्मल पर्यायका साधन है।

भाई, तेरे आत्मामें और प्रत्येक आत्माके स्वरूपमें जो वस्तु स्थिति है उसीका यह वर्णन है। तुझे तेरे आत्माका वैभव बतलाया जा रहा है। यह शक्तियाँ कहीं नवीन उत्पन्न नहीं करना है, शक्तियाँ तो तुझमें सदैव हैं ही किन्तु तूने उनकी प्रतीति नहीं की है इसलिये अन्तर्मुख होकर प्रतीति नवीन करना है। इन शक्तियोंकी प्रतीति करनेसे अर्थात् ऐसी शक्तियों स्वरूप आत्माको प्रतीतिमें लेनेसे आत्मा स्वयं निर्मलरूपसे परिणमित होता है और उसकी शक्तियाँ पर्यायमें प्रगट हो जाती हैं, निर्मलरूपसे विकसित हो जाती हैं। —इसका नाम मोक्षमार्ग है; और उन शक्तियोंके सम्पूर्ण विकसित हो जानेका नाम मोक्ष है।

"मोक्ष कह्यो निज शुद्धता, ते पामे ते पंथ;
समजाव्यो संक्षेपमां, सकल मार्ग निर्ग्रंथ।"

(—आत्मसिद्धि)

यहाँ भिन्न-भिन्न शक्तियाँ बतलानेका प्रयोजन नहीं है, किन्तु आत्मवस्तु अनन्तशक्ति सम्पन्न है वह बतलाना है; अनन्तधर्मस्वरूप अनेकान्तमूर्ति आत्मद्रव्यकी पहिचान कराना है। कोई भी शक्ति लो, जैसे कि–जीवत्वशक्ति; वह शक्ति किसकी है ?—आत्मद्रव्यकी। आत्मद्रव्य कितना है ? —एक साथ ज्ञानादि अनन्तधर्म जितना। ऐसे आत्मद्रव्यको प्रतीतिमें लिये बिना उसकी कोई भी शक्ति निर्मल कार्य नहीं देती; और शुद्ध द्रव्यको प्रतीतिमें लेकर उसके आश्रयसे परिणमित होने पर समस्त शक्तियाँ निर्मल कार्य देती हैं; द्रव्य परिणमित होने पर उसकी समस्त शक्तियाँ निर्मलरूपसे परिणमित हो जाती हैं। अज्ञानीका आत्मा भी परिणमित होता तो अवश्य है; किन्तु वह स्वद्रव्यके आश्रयसे परिणमित न होकर परके आश्रयसे विकाररूप परिणमित होता है; इसलिये आत्माकी शक्तिका कार्य नहीं माना जाता। शक्तिका कार्य उसे कहा जाता है जो कार्य शक्ति जैसा ही निर्मल हो तथा शक्तिके साथ अभेद हो। आत्मा अपनी करणशक्ति द्वारा साधकतम होकर अपने अनन्तगुणोंकी निर्मल पर्यायोंके साधनरूपसे परिणमित होता है। —इसप्रकार भगवान आत्मा ही अपना साधन है ऐसा जो जाने उसे बाह्य साधन ढूँढ़नेकी व्यग्रबुद्धि, आकुलताबुद्धि, मिथ्याबुद्धि, पराधीनबुद्धि नहीं रहती किन्तु स्वाश्रय करके अन्तर्‌स्वभावमें ही एकाग्र होना रहता है। उसके श्रद्धा-ज्ञानमें द्रव्य स्वभाव ही मुख्य रहता है और वह जीव निःशंकरूपसे स्वभाव साधन द्वारा मोक्षको साधता है।

निमित्तसे या विकारसे मेरी पर्याय निर्मल होती है—ऐसा जो मानता है उसे स्वाश्रयका सम्यक् पुरुषार्थ नहीं है किन्तु पराश्रयका विपरीत पुरुषार्थ है। अपने स्वभावके साधनसे ही मेरी पर्याय

निर्मल होती है—ऐसा जो वास्तवमें जानता है वह तो स्वसन्मुख होकर स्वभावका पुरुषार्थ करता है और उसीको सम्यग्दर्शनादि निर्मल कार्य होते हैं। अहो ! शुद्ध चैतन्य द्रव्यके आश्रयके अतिरिक्त गुण-भेदके आश्रयसे लाभ होनेकी मान्यता भी जहाँ उड़ा दी है वहाँ रागके या परके आश्रयसे लाभ होनेकी मान्यता तो कहाँसे बनी रहेगी ?

यह एक नियम है कि जिससे जिसे लाभ हो, उसके साथ उसकी एकताबुद्धि होती है। जिसे अपनेसे भिन्न जानता हो उससे कोई अपनेको लाभ नहीं मानता; और जिससे लाभ मानता हो उसे अपना माने बिना नहीं रहता। शरीरसे आत्माको लाभ होता है—ऐसा माननेवाला शरीर तथा आत्माको एकरूप ही मानता है; रागसे आत्माको लाभ माननेवाला रागको और आत्माके स्वभावको एकरूप ही मानता है; पुण्यसे धर्म होता है—ऐसा माननेवाला पुण्यको और धर्मको एकरूप ही मानता है; व्यवहारसे निश्चय होता है—ऐसा माननेवाला निश्चयव्यवहार दोनोंको एकरूप ही मानता है; एक गुणके भेदके आश्रयसे लाभ होता है ऐसा माननेवाला एक ही गुणके साथ आत्माकी एकता मानता है किन्तु अनन्तगुणोंके साथ आत्माकी एकताको नहीं जानता; इसलिये गुणभेदके विकल्पको हो वह आत्मा मानता है।—यह सब मिथ्यादृष्टि जोवकी मान्यताके प्रकार हैं। जहाँ अन्तरंग-चिदानन्द स्वभावमें एकता नहीं हुई वहाँ अन्यत्र कहीं एकता माने बिना रहता ही नहीं। धर्मी जानता है कि मेरा चिदानन्द स्वभाव ही मुझे लाभका कारण है; और "जिससे लाभ माने उसके साथ एकता माने बिना रहता ही नहीं;"—इस सिद्धान्तके अनुसार धर्मी अपने स्वभावसे ही लाभ मानकर उसीमें एकता करते हैं और स्वभावमें एकतासे उन्हें सम्यग्दर्शनादिका लाभ होता है।

पर्यायरूपसे यद्यपि गुण ही परिणमित होता है; किन्तु गुणके भेदके आश्रयसे गुणका निर्मल परिणमन नहीं होता; अभेद द्रव्यके आश्रयसे ही गुणोंका निर्मल परिणमन होता है। एक ज्ञानगुणके

चिन्तनसे केवलज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञानस्वभावी अखण्ड आत्माके चिन्तनसे केवलज्ञान होता है; उसीप्रकार एक गुणके चिन्तनसे सम्यक्त्व नहीं होता किन्तु अखण्ड चिदानन्द स्वभावके चिन्तनसे ही सम्यक्त्व होता है। उसीप्रकार एक आनन्दगुणको लक्षमें लेकर चिन्तवन करनेसे आनन्दका अनुभव नहीं होता, किन्तु आनन्दादि अनन्तगुणोंसे अभेद आत्माके चिंतवनसे ही आनन्दका अनुभव होता है। इसप्रकार अभेद द्रव्यके आश्रयसे ही उसके समस्त गुणोंका निर्मल परिणमन होता है; इसलिये निर्मलताका साधन आत्मा स्वयं ही है। गुण भण्डार आत्मा स्वयं ही अपनी करणशक्तिसे साधकतम होकर रत्नत्रय धर्मको साधता है।

देखो, यह साधक होनेकी रीति! यह धर्मको साधनेका उत्कृष्ट साधन! अपने स्वभावको ही साधन बनाकर अनन्त जीवोंने सिद्धपदको साधा है; वर्तमानमें अनेक जीव उसीप्रकार सिद्धपदको साध रहे हैं और भविष्यमें भी साधेंगे। स्वभाव साधनसे बाहर अन्य साधनको जो ढूंढ़ेगा उसे सिद्धपदकी सिद्धि नहीं होगी, वह तो संसारका ही साधक रहेगा अर्थात् संसारमें ही भटकेगा। यहाँ तो स्वभाव-साधन समझकर साधक होकर अपने सिद्धपदको साधें—ऐसे जीवोंके लिये बात है;

अनन्तगुणमूर्ति आत्मस्वभावको ही जो अपना साधन मानता है वह जीव निमित्तको—रागको—व्यवहारको अपना साधन नहीं मानता इसलिये उससे लाभ नहीं मानता। जिसप्रकार पतिव्रता स्त्री अपने पतिके सिवा अन्य पुरुषका संग स्वप्नमें भी नहीं करती, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अपने चैतन्य स्वामीके अतिरिक्त अन्य किसीको स्वप्नमें भी अपने साधनरूपसे स्वीकार नहीं करते। यही साध्यकी सिद्धिका साधन है; अन्य किसी साधनसे साध्यकी सिद्धि नहीं होती। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि—"अनन्त चैतन्य जिसका चिह्न है ऐसी इस आत्मज्योतिका हम निरन्तर अनुभव करते हैं,

क्योंकि उसके अनुभव बिना अन्यप्रकारसे साध्य आत्माकी सिद्धि नहीं है।

सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं
न खलुः न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः।
(—समयसार कलश २०)

भगवान आत्मद्रव्यमें अन्य साधनोंके बिना स्वयंसे ही निर्मल पर्यायरूप परिणमित होनेकी शक्ति है; द्रव्य स्वयं परिणमित होकर समस्त गुणोंका कार्य करता है। वर्तमान वर्तते हुए परिणामके साधकतम होनेकी आत्माकी शक्ति है—ऐसा कहा, उसमें जो वर्तमान परिणाम लिये वे निर्मल परिणाम हैं; क्योंकि साधककी दृष्टि त्रैकालिक शक्तिमान ऐसे द्रव्य पर गई है और उस द्रव्यके आश्रयसे निर्मल परिणाम ही होता है; उस निर्मल परिणामका ही साधन होना द्रव्यका स्वभाव है। व्यवहारसम्यग्दर्शनमें ऐसा स्वभाव नहीं है कि वह निश्चयसम्यग्दर्शनका साधन हो। निश्चय सम्यग्दर्शन तो शुद्ध द्रव्यको ही साधन बनाकर होता है, और उसी साधनसे वह टिकता है। इसप्रकार समस्त निर्मल पर्यायोंमें शुद्धद्रव्यको ही साधन समझ लेना।

साधकपनेके समय निमित्तरूपसे बाह्य वस्तुएँ हों तो भले हों, भूमिकानुसार राग हो तो भले हो, परन्तु साधक धर्मात्मा उन किसीको अपने साधकत्वके साधनरूपसे स्वीकार नहीं करते; साधकत्वके साधनरूपसे तो अपने आत्माको ही स्वीकार किया है। उस अखण्ड साधनमेंसे ही मोक्षमार्गकी और मोक्षकी निर्मल पर्यायोंका प्रवाह चला आता है।

रागमें और निमित्तोंमें ज्ञानका ज्ञेय होनेकी शक्ति है; किंतु ज्ञानका साधन होनेकी शक्ति नहीं है। ज्ञानका ज्ञेय होने पर भी जो उन्हें ज्ञानका साधन मानते हैं वे बौद्धमतीके समान मिथ्यादृष्टि हैं। ज्ञानका साधन तो सम्पूर्ण ज्ञायकस्वभाव है; उसे साधन न बनाकर

परज्ञेयोंको साधन मानता है अर्थात् ज्ञानस्वभावमें एकता न करके परज्ञेयोंके साथ एकता मानता है उसके ज्ञानका कार्य नहीं होता किन्तु अज्ञान होता है। जातिस्मरणज्ञान, जिनप्रतिमादर्शन, वेदना आदिको सम्यक्त्वोत्पत्तिके कारण कहे हैं वे सब उपचारसे—उन-उन निमित्तों-का ज्ञान करानेके लिये कहे हैं, परमार्थ साधन तो अपना चिदानन्द भगवान ही है। यह एक ही साधन है—"एक औषधि सौ रोगोंको नष्ट कर देती है;" उसीप्रकार इस एक ही स्वभाव साधनका स्वीकार अन्य समस्त बाह्य साधनोंके रोगको नष्ट कर देता है अर्थात् स्वभाव-साधनका स्वीकार करनेसे किन्हीं भी बाह्य साधनोंकी मान्यता छूट जाती है।

तीर्थंकर प्रकृति जड़ होने पर भी शास्त्रमें कहीं-कहीं उसे भी अरिहंतपदका कारण कहते हैं; वहाँ तो ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बतलाना है कि तीर्थंकर प्रकृतिका बंध करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव तीसरे भवमें अवश्य ही अरिहंतपद प्रगट करके तीर्थंकर होता है; वह तीर्थंकर प्रकृतिके साधनसे नहीं, किन्तु नित्य स्वभावके साधनसे ही। उसीप्रकार अचेतन वाणीको भी ज्ञानका साधन कहा जाता है, वह भी उपचारसे ही है; वह वास्तवमें ज्ञानका साधन नहीं है। ज्ञान होनेका सच्चा साधन तो ज्ञानस्वभाव ही है। उस परमार्थ साधनको लक्षमें ले उसीको सम्यग्ज्ञानादि कार्यकी सिद्धि होती है। परमार्थ साधनकी प्रतीतिका फल मोक्ष है और बाह्यसाधनको माने उसका फल संसार है।

भगवान आत्मा अनंतशक्तिस्वरूप है; उसकी ४३ वीं "करण-शक्ति" का यह वर्णन चल रहा है। करण अर्थात् साधन; आत्मा स्वयं कर्ता होकर अपने निर्मलपर्यायरूप कार्यको करता है; किन्तु उसका साधन क्या ?—तो कहते हैं कि करणशक्तिके कारण आत्मा स्वयं ही उत्कृष्ट साधन है। साधकको अपना आत्मा ही निर्मलताका साधन है। आत्मामें साधन होनेकी शक्ति तो त्रिकाल है, किन्तु स्वयं स्वसन्मुख होकर कभी उस साधनको ग्रहण नहीं किया है। यदि

६८

स्वसन्मुख होकर स्वभावसाधनको ग्रहण करले तो साधकदशा हुए बिना न रहे। त्रिकाली द्रव्यको साधनरूपसे अंगीकार करने पर ज्ञानादि अनंतगुण अपनी-अपनी निर्मल पर्यायरूपसे परिणमित हो जाते हैं। प्रवचनसारकी २१ वीं गाथामें भी कहते हैं कि—"केवली-भगवान स्वयमेव अनादि अनन्त, अहेतुक और असाधारण ज्ञानस्वभाव-को ही कारणरूपसे ग्रहण करते हैं इसलिये तुरन्त प्रगट होनेवाले केवलज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमित होते हैं........................" देखो, कितनी स्पष्ट बात है! केवलज्ञानका कारण अन्य कोई है ही नहीं; अपना त्रिकाली ज्ञानस्वभाव ही केवलज्ञानका कारण है; जिस क्षण निज द्रव्य स्वभावके उत्कृष्ट आलम्बन द्वारा उस ज्ञानस्वभावको ही कारणरूपसे ग्रहण करे उस क्षण केवलज्ञान होता है। इस केवलज्ञानकी भाँति समस्त निर्मल पर्यायोंमें भी समझ लेना।

आत्माको धर्मके साधनरूपसे मात्र स्वद्रव्यका ही अवलम्बन है; अन्य कोई साधन नहीं है। स्वद्रव्यमें अन्तर्मुख होने पर द्रव्य स्वयं ही निर्मलपर्यायका साधन होता है, ऐसी शक्ति आत्मामें है।

ज्ञानका साधन शास्त्र नहीं किन्तु ज्ञानका साधन आत्मा ही है।

चारित्रका साधन शरीर नहीं किन्तु चारित्रका साधन आत्मा ही है। आत्माके ही ग्रहणसे ज्ञानचारित्रादि निर्मल पर्यायें होती हैं इसलिये आत्मा ही उनका साधन है। समयसार गाथा २७७ में कहा है कि अभेदरूपसे आत्मा स्वयं ही श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र-तप आदिरूप है।

आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं चरित्रं च। आत्मा प्रत्याख्यानमात्मा मे संवरो योगः॥ २७७॥

आत्मा ही अपनी दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि निर्मल पर्यायोंमें अभेदरूपसे परिणमित होता है इसलिये वे पर्यायें आत्मा ही हैं, उनका साधन भी आत्मा ही है। त्रिकाली द्रव्य सो कारण और उसकी निर्मल पर्याय सो कार्य; ऐसे कारण-कार्य एकसाथ अभेद हैं; अन्य कोई भिन्न कारण नहीं है।

प्रश्नः—यदि कारण-कार्य दोनों साथ ही हों तो शुद्धद्रव्यरूप कारण तो त्रिकाल है तथापि कार्य क्यों नहीं है ?

उत्तरः—शुद्ध कारणको स्वीकार करे और निर्मल कार्य न हो ऐसा हो ही नहीं सकता; "कारण त्रिकाल है"—ऐसा स्वीकार किसने किया ? कारणको स्वीकार करनेवाला स्वयं ही निर्मल कार्य है। अज्ञानीने तो शुद्धद्रव्यको कारणरूपसे स्वीकार किया ही नहीं; उसने तो परको कारणरूप माना है अर्थात् शुद्ध कारण उसकी दृष्टिमें आया ही नहीं और सम्यग्दर्शनादि कार्य भी उसके नहीं हुआ है। शुद्ध कारणको स्वीकार करे और सम्यग्दर्शनादि कार्य न हो ऐसा हो ही नहीं सकता। "कारण है किन्तु कार्य नहीं है"—ऐसा जो कहता है उसने वास्तवमें कारणको कारणरूपसे स्वीकार किया ही नहीं। ध्रुववस्तु कारण, और जहाँ उसका स्वीकार किया वहाँ मोक्षमार्गरूप कार्य;—इसप्रकार कारण-कार्य दोनों एक साथ ही हैं। यदि कार्य नहीं है तो द्रव्यको कारणरूपसे स्वीकार करनेवाला कौन है ? शुद्ध द्रव्यके अवलम्बनसे जहाँ शुद्धकार्य हुआ वहाँ भान हुआ कि अहो ! मेरा स्वभाव ही मेरे कार्यका कारण है। ऐसा कारण मुझमें पहले भी था, किन्तु मैंने उसका अवलम्बन नहीं लिया इसलिये कार्य नहीं हुआ। अब उस शुद्ध कारणके स्वीकारसे सम्यग्दर्शनादि शुद्ध कार्य हुआ।

तीर्थंकर भगवन्तोंके मार्गमें तो मोक्षमार्गका साधन शुद्ध आत्मा ही है। शुद्ध आत्मस्वभावके अवलम्बनसे ही मोक्षमार्गको साधा जा सकता है और वही तीर्थंकर भगवन्तोंका बतलाया हुआ मुक्तिका मार्ग है। भगवान भी इसी मार्गसे मुक्तिको प्राप्त हुए हैं और "हे जीवों ! तुम भी इसीप्रकार अपने चिदानन्दस्वभावको ही साधनरूपसे अंगीकार करो......उसे साधन करनेसे ही सिद्धि होती है"—ऐसा भगवानका उपदेश है। इसके सिवा अन्य किसी साधनसे मोक्ष होता है—ऐसा भगवानने नहीं कहा।

देखो, यह धर्मका साधन बतलाया जा रहा है। धर्मका साधन क्या है ?

—देहकी क्रिया वह धर्मका साधन नहीं है ;

—पुण्य वह धर्मका साधन नहीं है;

अनंतशक्तिसम्पन्न धर्मी ऐसा जो आत्मा वही धर्मका साधन है। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र सो धर्म है और आत्माका स्वभाव ही उसका साधन है। स्वामी समन्तभद्राचार्यदेवने कहा है कि—"न धर्मो धार्मिकैर्विना" धर्म धार्मिकके बिना नहीं होता। परमार्थतः धर्मको धारण करनेवाला ऐसा जो आत्मा (धर्मी) उसके बिना सम्यग्दर्शनादि धर्म नहीं होता। अनंत गुणोंको धारण करनेवाला ऐसा आत्मा वह धर्मी है और उसीके आधारसे धर्म है। आत्मा स्वयं साधक होकर अपने धर्मको साधता है इसलिये आत्मा साधु है; अथवा आत्माके गुण अपनी–अपनी निर्मल पर्यायोंका जतन (–रक्षा) करते हैं इसलिये यति है; पुनश्च सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रादि निज ऋद्धिसहित होनेसे वह ऋषि है। इसप्रकार आत्मा स्वभावसे सर्वसाधन सम्पन्न है।

हे जीव ! तुझमें ऐसी कौन–सी अपूर्णता है जो तू बाह्य साधनोंको ढूंढ़ता है ? साधन होनेकी परिपूर्ण शक्ति तुझमें है; तेरा आत्मा ही सर्व साधन सम्पन्न होने पर भी तू बाह्यमें अपना साधन क्यों ढूंढ़ता है ? जैसे—किसीके यहाँ कड़ाही आदि साधन न हों तो वह पड़ौसीके यहाँ माँगने जाता है, किन्तु जिसके घरमें सर्व साधन हों वह दूसरोंके यहाँ किसलिये माँगने जायेगा ? उसीप्रकार चैतन्यस्वभाव स्वयं सर्व साधन सम्पन्न है; उसमें ऐसी कोई अपूर्णता नहीं है कि उसे दूसरोंसे साधन माँगना पड़ें।

प्रश्नः—वीतरागता प्रगट करनेके लिये वीतरागताके निमित्त तो ढूंढ़ना पड़ेंगे न ? पूर्वकालमें अन्य जीवोंके लिये जो वीतरागताके निमित्त हुए हैं, उन निमित्तोंको हम प्राप्त करलें तभी तो वीतरागता होगी ?

उत्तरः—अरे भाई ! ऐसा नहीं है; यह तो निमित्ताधीन दृष्टि है। निमित्ताधीन दृष्टि छोड़कर अपने स्वभाव साधनको ढूँढ़। जहाँ तू स्वभावसाधन कर लेगा वहाँ तुझे निमित्तोंको नहीं ढूँढ़ना पड़ेगा। स्वभावमें साधनशक्तिकी ऐसी अपूर्णता नहीं है कि अन्य साधन प्राप्त करना पड़ें। "अन्य जीवोंको जो वीतरागताके निमित्त हुए उन पदार्थोंको मैं प्राप्त करलूँ तो उनके निमित्तसे मुझे वीतरागता हो;"—यह दृष्टि ही विपरीत है; उसे स्वभावकी ओर नहीं ढलना है किन्तु अभी तो उसे निमित्त प्राप्त करना है ! इसलिये साधन होनेकी शक्तिवाले अपने स्वभावको वह वास्तवमें मानता ही नहीं है। ज्ञानी तो अपने स्वभाव सामर्थ्यको जानकर, उसका अवलम्बन लेकर उसीको साधन बनाता है।

जैसे–विशाल मन्दिरका निर्माण कराना हो तो पहले इस बातको लक्षमें लेना पड़ता है कि उसकी सामग्री कहाँ मिलेगी। उसीप्रकार इस आत्माका सिद्धमन्दिर मुक्तिमन्दिर बनानेके साधन कौन–से हैं ? उसकी यह बात है। भाई ! तेरे सिद्धमन्दिरका साधन हो ऐसी सामग्री (–साधन शक्ति, करण शक्ति) तेरे स्वभावमें ही भरी है। उसी साधनका उपयोग करके अर्थात् उपयोगको स्वभावोन्मुख करके अपने सिद्धमन्दिरको तैयार कर। अपनी सिद्धिको साधनेके लिये अपना स्वभावरूप एक ही साधन बस है; अन्य किसी साधनको मत ढूँढ़ ! अंतरंगमें निश्चय साधन प्रगट किये बिना अन्य किसीको व्यवहार साधन कहा जाता नहीं यह-नियम है—

[—यहाँ ४३ वीं करणशक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

* * *

[४४]

सम्प्रदानशक्ति

सम्यक्त्वी धर्मात्माको रत्नत्रयके साधक संत मुनिवरोंके प्रति ऐसा भक्तिभाव होता है कि उन्हें देखते ही उसका रोम-रोम भक्तिसे उल्लसित हो जाता है....अहो ! इन मोक्षके साक्षात् साधक संत भगवानकी भक्तिके लिये मैं क्या-क्या करूँ !! किस-किसप्रकार इनकी सेवा करूँ ! किसप्रकार इन्हें अर्पणता दूँ !—इसप्रकार धर्मात्माका हृदय भक्तिसे उल्लसित हो जाता है। और जब ऐसे साधक मुनि अपने आँगनमें आहारके लिये पधारें तथा आहारदानका प्रसंग बने वहाँ तो मानों साक्षात् भगवान ही आँगनमें पधारे..साक्षात् मोक्षमार्ग ही आँगनमें आया....इसप्रकार अपारभक्तिपूर्वक मुनिको आहारदान देते हैं। किन्तु उस समयभी आहार लेनेवाले साधक मुनिको तथा देनेवाले सम्यक्त्वी धर्मात्माको अंतरमें सम्यक् भान वर्तता है कि हमारा ज्ञायक आत्मा इस आहारका लेने या देनेवाला नहीं है। तथा निर्दोष आहार लेने या देने की शुभवृत्ति होती है उसका भी देनेवाला या पात्र हमारा आत्मा नहीं है। हमारा ज्ञायक आत्मा तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल भावोंका ही देनेवाला है और उसीके हम पात्र हैं।

कर्ता, कर्म और करणशक्तिका वर्णन किया; अब आत्माकी सम्प्रदानशक्ति बतलाते हैं। "अपनेसे दिया जानेवाला जो भाव उसके उपेयपनेमय सम्प्रदानशक्ति आत्मामें है।" आत्माको 'ज्ञानस्वरूप' कहकर उसकी पहिचान कराई है, तथापि उसमें अनंत शक्तियाँ हैं उनका यह वर्णन चल रहा है। आत्माका ऐसा स्वभाव है कि अपने भावको स्वयं ही झेलता है; निर्मलभाव प्रगट करके स्वयं अपनेको ही देता है। द्रव्य स्वभावमेंसे दिये जानेवाले केवलज्ञानादि निर्मलभावको झेलकर अपनेमें ही रखनेकी आत्माकी शक्ति है। जैसे लोक व्यवहारमें कुम्हार घड़ा बनाकर राजाको दे तो वहाँ राजा उस घड़ेका सम्प्रदान कहा जाता है; उसीप्रकार आत्मा की निर्मल पर्यायका सम्प्रदान आत्मा स्वयं ही है; आत्मा स्वयं ही उसे अंगीकार करता है। आत्मा अपनी निर्मल पर्याय प्रगट करके किसी अन्यको नहीं देता किन्तु अपनेमें ही रखता है; स्वयं अपनेको ही निर्मल पर्यायका दान देता है;—ऐसी आत्माकी सम्प्रदानशक्ति है।

चिदानन्द आत्मा दातार होकर निर्मल पर्याय-सम्यग्दर्शनादिका दान दे उस दानको लेनेकी आत्माकी पात्रता है; किन्तु रागको या परको ले ऐसी पात्रता आत्माके स्वभावमें नहीं है। सम्यग्दर्शनादि भावोंका स्वयं ही देनेवाला और स्वयं ही लेनेवाला है—ऐसी आत्माकी सम्प्रदान शक्ति है। आत्मा अपनी वस्तु किसी अन्यको नहीं देता और अन्यकी वस्तु स्वयं नहीं लेता। आत्मामें आहार ग्रहण करनेकी पात्रता है ऐसा नहीं कहा, किन्तु स्वयं अपनेसे दिये जानेवाले निर्मलभावकोही लेनेकी पात्रता है ऐसा कहा है। आहार तो जड़ परमाणुओंसे बना है, वह कहीं आत्मासे दिया गया भाव नहीं है और उसे ग्रहण कर सके ऐसी पात्रता आत्मामें नहीं है। आत्मामें ऐसी पात्रता है कि निर्मलभाव ही उसमें रहता है, विकारको या परको ग्रहण करनेकी पात्रता आत्माके स्वभावमें नहीं है। जहाँ स्वभाव दृष्टि की वहाँ धर्मी जीवको ऐसी पात्रता प्रगट हुई कि अपने स्वभावमेंसे दिये जानेवाले निर्मल भावको ही वह उपेयरूपसे स्वीकार करता है, रागादिको उपेयरूपसे अपनेमें ग्रहण नहीं करता।

मैं देनेवाला और दूसरा लेनेवाला, अथवा मैं लेनेवाला और दूसरा देनेवाला—ऐसा धर्मी नहीं मानते। मैं ही देनेवाला और मैं ही लेनेवाला–काहे का ?–तो कहते हैं कि सम्यग्दर्शनादि निर्मल भावोंका। —इसप्रकार धर्मी अपने आत्माको ही अपने सम्प्रदानरूपसे जानता है।

सम्यक्त्वी धर्मात्माको रत्नत्रयके साधक संत–मुनिवरोंके प्रति ऐसा भक्तिभाव होता है कि उन्हें देखते ही उनके रोम–रोमसे भक्ति उछलने लगती है.....अहो ! इन मोक्षके साक्षात् साधक संत–भगवानके लिये मैं क्या–क्या करूं !! किसप्रकार उनको सेवा करूं !! किसप्रकार उन्हें अर्पण हो जाऊँ !!—इसप्रकार धर्मीका हृदय भक्तिसे उछल पड़ता है। और जहाँ ऐसे साधक मुनि अपने आँगनमें आहारके लिये पधारें तथा आहारदानका प्रसंग उपस्थित हो, वहाँ तो मानों साक्षात् भगवान ही आँगनमें पधारे......साक्षात् मोक्षमार्ग ही आँगनमें आगया ! —इसप्रकार अपार भक्तिसे मुनिको आहारदान देते हैं। किन्तु उस समय भी आहार लेनेवाले साधक मुनिको तथा आहार देनेवाले सम्यक्त्वी धर्मात्माको अन्तरमें दृष्टि (—श्रद्धा) कैसी होती है उसका यह वर्णन है। उस समय उन दोनोंके अन्तरमें ऐसा सम्यक्–भान वर्तता है कि हमारा ज्ञायक आत्मा इस आहारका देने या लेनेवाला नहीं है; तथा यह निर्दोष आहार देने या लेनेका जो शुभराग है उसका भी दाता या पात्र (लेनेवाला) हमारा ज्ञायक आत्मा नहीं है, हमारा ज्ञायक आत्मा तो सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप निर्मल भावोंका ही देनेवाला है, उसीके हम पात्र हैं। इसप्रकार हमारा आत्मा ही हमारा दाता और आत्मा ही सम्प्रदान है। –ऐसी अन्तर्दृष्टि दोनोंको वर्तती है उसीकी सच्ची महिमा है। ऐसी अन्तर्दृष्टिके बिना मात्र शुभरागसे आहारदान दे या ले उसकी मोक्षमार्गमें कोई गिनती नहीं है। महात्मा मुनि और धर्मात्मा सम्यक्त्वी दोनों प्रतिक्षण अन्तर्दृष्टि द्वारा अपने स्वभावमेंसे निर्मल पर्यायका दान देते हैं और स्वयं ही पात्र होकर उसे लेते हैं;–ऐसा दान मोक्षका कारण

है और धर्म है। आत्मा परका या विकारका देने–लेनेवाला है ऐसा जो मानता है वह जीव मिथ्यादृष्टि है और ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव तो व्यवहारमें भी "कुपात्र" माना जाता है।

मुनियोंको या धर्मात्मा श्रावकोंको आहारदान देनेका भाव तो शुभराग है वह पुण्यास्रवका कारण है; और उसमें दाता–पात्र–दान तथा विधि यह चारों भिन्न-भिन्न हैं। सम्यक्त्वी गृहस्थ दाता है, मुनि उत्तम पात्र है, अपनी आहारादि वस्तुओंका देना वह दान है और नवधा भक्ति आदि विधि है। और यहाँ आत्मा स्वयं ही दानका दाता होकर अपनेको ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्रका दान देता है; स्वयं अपनेको अतीन्द्रिय आनन्दरूपी आहार देता है वह धर्म है, वह मोक्षका कारण है और उसमें दाता-पात्र-दान तथा विधि यह चारों अभेद हैं। भगवान आत्मा स्वयं दाता है, उस दाता द्वारा दी जानेवाली रत्नत्रय पर्यायको लेनेवाला पात्र भी स्वयं ही है; देने योग्य जो निर्मल पर्याय वह भी अपनेसे अभिन्न है, और अपनेमें एकाग्रतारूप विधि द्वारा स्वयं वह दान देता है इसलिये उसकी विधि भी अपनेमें ही है। जो आत्माके ऐसे सम्प्रदान स्वभावको जानले उसमें ऐसी पात्रता प्रगट होती है कि अपने स्वभावके पाससे वह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रका दान लेता है। अपने स्वभावद्वारा दियाजानेवाला ऐसा दान लेनेका ही आत्माका स्वभाव है। इसके अतिरिक्त बाह्यमें आहार देने–लेनेकी क्रिया तो परमाणुओंके परिवर्तनके नियमानुसार होती रहती है और उस-उस समयकी भूमिकानुसार उस-उस प्रकारका शुभभाव भी धर्मीको आता है; किन्तु धर्मी अपनेको उस रागका या आहारका सम्प्रदान नहीं मानता, वह तो सम्यग्दर्शनादि निर्मलभावोंके सम्प्रदानरूपसे ही परिणमित होता है और वही धर्म है।

चैतन्यस्वरूप आत्माके भान बिना आहारकी क्रियाको तथा रागको आत्माका स्वरूप मानकर, शुभभावसे आहार दे तो वहाँ मिथ्यात्व सहित पुण्य बन्ध होता है; उससे परित-संसार नहीं होता किन्तु जुग-

लिया भोगभूमिमें अवतार होता है। यहाँ तो उस धर्मकी बात है जिससे संसारका अन्त होकर मोक्ष प्राप्त हो। अज्ञानी क्षण-क्षणमें (पर्याय-पर्यायमें) अपने स्वभावको भूलकर मिथ्यात्व भावसे विकारको ही प्राप्त करता है; धर्मात्मा ज्ञानी तो अपने स्वभावको पहिचानकर उसमेंसे क्षण-क्षण पर्याय-पर्यायमें निर्मलभावको ही लेता है। निर्मल पर्यायको देनेकी तथा उसीको लेनेकी आत्माकी सम्प्रदान शक्ति है; परवस्तुका कुछ भी लेने या परको कुछ देनेकी शक्ति आत्माके द्रव्य-गुणपर्यायमें नहीं है। तथा रागका देनेवाला या लेनेवाला भी आत्माका स्वभाव नहीं है। पर्यायमें क्षणिक रागादि होते हैं उन्हींको ग्रहण करनेवाला जो अपनेको माने वह अपने सम्प्रदान स्वभावको नहीं जानता है। भाई, तेरा स्वभाव परिणमित होकर तुझे केवलज्ञान प्रदान करे और तू उसे ले ऐसे सम्प्रदानकी शक्तिवाला तेरा आत्मा है। अज्ञानीने अपने आत्माको ऐसा माना है कि मानों वह रागका ही पात्र हो! उसे समझाते हैं कि अरे भगवान! तेरे आत्मामें तो ऐसी शक्ति है कि रागको तोड़कर स्वयं केवलज्ञानका पात्र हो...उसे पहिचान।

जैसे—किसी निर्धन मनुष्यको बड़ाभारी राज्य मिलनेका प्रसंग आ जाये और उस समय वह कहे कि "अरे! हम तो गरीब आदमी हैं, हममें राज्य लेने या राजा बननेकी पात्रता कहाँसे हो सकती है?"—तो वह पुण्यहीन है। और जो पुण्यवान है वह तो तुरन्त स्वीकार करेगा कि हम राजा होनेके योग्य हैं; हम अपनी शक्तिसे राज्यका संचालन करेंगे। उसीप्रकार यहाँ निर्धन अर्थात् अज्ञानी जीवको आचार्यदेव उसका चैतन्य राज्य प्राप्त होनेकी बात सुनाते हैं कि "अरे जीव! तुझमें केवलज्ञानपदका सम्प्रदान होनेकी शक्ति है; ज्ञान साम्राज्यको प्राप्त करके उसे सँभालनेकी तेरी शक्ति है।" वहाँ जो ऐसा कहे कि अरे! हम तो अज्ञानी पापमें डूबे हुए हैं, हममें केवलज्ञान लेने या परमात्मा होनेकी पात्रता कहाँसे हो सकती है?"—तो वह जीव पुरुषार्थहीन है। और जो पुरुषार्थवान है—आत्माका उल्लासी है वह तो इस बातको सुन-

कर तुरन्त स्वीकार करता है कि अहो ! हमारा आत्मा केवलज्ञानके योग्य है, हमारी पर्यायमें केवलज्ञान साम्राज्य प्राप्त करनेकी शक्ति है; हम अपनी शक्तिसे केवलज्ञान लेंगे।—इसप्रकार आत्मस्वभावका विश्वास करके, उसमें लीन होकर धर्मी अपने आत्माको केवलज्ञानादि सम्प्रदानरूपसे परिणमित करता है। समस्त जीवोंमें ऐसी शक्ति है; जो उसे स्वीकार करता उसका तद्रूप परिणमन होता है—"सर्व जीव हैं कि सिद्धसम जो समझे सो होय" की भाँति।

यह बात तो उस जीवकी समझमें आ सकती है जिसे किसी भी प्रकार आत्माका हित करना है। चाहे जितना उच्च प्रकारका भोजन हो, किन्तु जिसे भूख न लगी हो उसे वह कैसे भायेगा ? जिसे भूख लगी हो उसीको भा सकता है। उसीप्रकार जिसे भव से थककर आत्माकी भूख नहीं लगी है उसे तो आत्माके आनंदकी अपूर्व बात सुनने—समझनेमें भी रसप्रद नहीं लगती; किन्तु जो जीव भवदुःखसे थक गया है कि अरे रे ! यह आत्मा अब भवदुःखसे छूटकर चैतन्यकी शांति कब प्राप्त करेगा !! इसप्रकार जिसे आत्मशांतिकी तीव्र भूख लगी है वह तो अपूर्व रुचिसे श्रवण करके अवश्य यह बात समझ जाता है और इसे समझनेसे जरूर उसके भवकी थकान उतर जाती है; जरूर उसकी भूख भग जाती है और आत्माकी अपूर्व शांतिका अनुभव होता है। जिसे भवकी थकान लगी हो और आत्माके सुखकी भूख जागृत हुई हो उस भूखेके लिये यह मिष्टान्न है; इस मिष्टान्नसे अनन्तभवकी भूख भग जाती है और अपूर्व सुखकी प्राप्ति होती है।

आत्मामें ऐसी सम्प्रदानशक्ति है कि वह स्वयं ही दाता और स्वयं ही पात्र है। आत्मा दाता होकर क्या देता है ? जो उसके स्वभावमें हो वही देता है। आत्माके स्वभावमें कहीं विकार नहीं भरा है कि वह विकारको दे। आत्माके स्वभावमें तो ज्ञान—आनंद ही भरा है इसलिये वह ज्ञान—आनंदका ही देनेवाला है और आत्मा स्वयं ही उसका लेनेवाला है। सन्त—मुनि आत्माके उस आनन्द स्वभावकी पहिचान कराते हैं, इसलिये वे संत निमित्तरूपसे आनंददाता

हैं। वीरसेनाचार्यदेव कहते हैं कि–इन महान परमागमों द्वारा श्री सर्वज्ञदेवने जीवोंको आनन्दकी भेंट दी है……सर्वज्ञके शास्त्रमें आनन्दकी प्राप्तिका मार्ग दर्शाया है इसलिये कहा है कि भगवानने ही आनन्दकी भेंट दी है। जो भगवानके कहे हुए शास्त्रोंका अन्तर्‌आशय समझ ले उसे अतीन्द्रिय आनन्दकी प्राप्ति हुए बिना नहीं रहती।

आत्माको आनन्दकी आवश्यकता है। वह आनंद देनेकी शक्ति आत्मामें ही है; रागमें आनन्द देनेकी शक्ति नहीं है; उसमें तो दुःख देनेकी शक्ति है। आइस्क्रीम, गुलाबजामुन, चाय, स्त्री, सुगंध आदिमें ऐसी शक्ति नहीं है कि आत्माको आनन्द प्रदान कर सकें। मूढ़ जीवोंने मूर्खतासे ही उनमें आनंद माना है। जो आत्माके आनन्दको जान ले वह अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं मानता; और जिसमें आनन्द न माने उसे लेता भी नहीं है।—इसप्रकार आत्मा पात्र होकर रागका या परका लेनेवाला नहीं है किन्तु अपने स्वभावमेंसे दिये जानेवाले आनन्दका ही लेनेवाला है। इसलिये ज्ञानस्वभावकी दृष्टिमें ज्ञानीके समस्त भाव ज्ञान–आनन्दमय ही होते हैं। रागादि सचमुच ज्ञानभाव नहीं हैं वे तो ज्ञानसे भिन्न ज्ञेय हैं; ज्ञानी उनका ज्ञाता है, किन्तु अपने आत्माको उस रागका सम्प्रदान नहीं बनाता; ज्ञान-आनंदका ही सम्प्रदान बनाता है, उसीको लेता है; उसीरूप परिणमित होता है। इसप्रकार सम्प्रदानशक्तिसे आत्मा स्वयं ही सम्यग्दर्शनादिका दाता तथा स्वयं ही उनका ग्रहण करनेवाला पात्र है अन्य कोई उसका सम्प्रदान नहीं है तथा वह किसीका सम्प्रदान नहीं है।—आत्माकी ऐसी शक्तिको जाननेसे आत्मा समझमें आता है और धर्म होता है।

जैसे—यदि कहीं ब्याज पर रुपये रखना हों तो ऐसी पेढ़ी ढूंढ़ता है जहांसे रुपये बढ़कर ब्याज सहित वापिस मिल सकें। उसीप्रकार आत्माके श्रद्धा-ज्ञानको कहां रखें—कहां एकाग्र करें कि जिससे उनमें वृद्धि होकर वापिस मिलें! “शरीर सो मैं, रागादि सो मैं”—इसप्रकार यदि श्रद्धा–ज्ञानको परमें या विकारमें रखे तो वे नष्ट हो जाते हैं—मिथ्या

हो जाते हैं। अपना चिदानन्द स्वभाव ही ऐसा समर्थ है कि उसमें श्रद्धा-ज्ञानको रखनेसे वे सम्यक् होते हैं और उसके आश्रयसे प्रतिक्षण निर्मलता बढ़ती जाती है; इसलिये धर्मी अपने श्रद्धा-ज्ञान परको समर्पित नहीं करते किन्तु अपने आत्माको ही समर्पित करते हैं।

हे जीव! तुझे आनन्दकी आवश्यकता हो तो अपने स्वभावसे ही मांग। जो जिसके पास हो वही वह देता है। तेरा आनन्द तेरे स्वभावके पास ही है इसलिए वही उसका दाता है; अन्य कहीं तेरा आनन्द नहीं है। आत्मामें एकाग्र होकर अपने पाससे ही अपना आनन्द ले। स्वभावमें एकाग्र होनेसे पर्याय स्वयं आनन्दरूप परिणमित हो जाती है; इसलिये आत्माने आनन्द दिया और आत्माने आनन्द लिया—ऐसा कहा जाता है; किन्तु दाता और ग्रहण करनेवाला कहीं पृथक् नहीं है।

आत्मा एक परम महिमावंत पदार्थ है। उसमें ज्ञान–दर्शन–सुख–वीर्य–आनन्द आदि अनन्त शक्तियाँ हैं। अपनेसे भिन्न पदार्थोंका वह मात्र दृष्टा ही है और वे पदार्थ मात्र उसके दृश्य ही हैं; दृष्टा आत्मा उन दृश्य पदार्थोंको मात्र देखनेवाला है किन्तु उनका लेने–देनेवाला नहीं है;—जिसप्रकार आँखें बाह्य दृश्योंको मात्र देखनेवाली हैं उन्हें लेने या देनेवाली नहीं हैं।

अब, दृष्टा स्वभावमें एकाग्रता द्वारा रागादिकी उत्पत्ति भी नहीं होती, इसलिये दृष्टा भगवान रागादिका भी देने या लेनेवाला नहीं है।

दृष्टा स्वभावमें एकाग्रतासे तो वीतरागी ज्ञान–दर्शन–आनन्दकी ही उत्पत्ति होती है, इसलिये दृष्टा भगवान ज्ञान–दर्शन आनन्दका ही देनेवाला है और उसीका लेनेवाला है।

—इतना रहस्य इस सम्प्रदानशक्तिमें भरा है। अनन्तशक्ति सम्पन्न एकाकार आत्मामें एक गुणका या पर्यायका भेद करके लक्षमें लेनेसे रागका विकल्प होता है और उसमें स्वरूपका दान नहीं मिलता। स्वरूपका दान लेनेके लिये स्वरूप सन्मुख होना चाहिये। चिदानन्द

स्वभाव सन्मुख होकर लीन होनेसे स्वरूपके श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दादिका दान मिलता है और उस दानका लेनेवाला आत्मा ही है; इसलिये आत्मा स्वयं ही उस स्वरूप हो जाता है।—ऐसा आत्माका स्वभाव है।

प्रश्नः—आत्मा कहाँ होगा ?

उत्तरः—जहाँसे यह प्रश्न उठता है वहीं आत्मा है। "आत्मा कहाँ होगा ?"—ऐसा प्रश्न पूछनेवाला स्वयं ही आत्मा है। आत्माके बिना यह प्रश्न कौन पूछेगा ? आत्माकी भूमिकामें ही यह प्रश्न उठता है।

और "आत्मा कहाँ होगा ?"—ऐसा प्रश्न किया; उसीमें यह बात आ जाती है कि प्रश्न कर्तामें उसका उत्तर समझनेकी शक्ति है।

"आत्मा कहाँ होगा ?" उस प्रश्नके उत्तरमें ज्ञानी ऐसा कहते हैं कि "यह जो ज्ञाता-दृष्टा है वही आत्मा है;"—और प्रश्नकर्ताको ऐसा उत्तर लक्षमें आता है कि ज्ञानीने मुझसे ऐसा कहा; जिस ज्ञान द्वारा वह लक्षमें आता है उस ज्ञानमें ही आत्मा है; इसलिये हे भाई ! तू स्वयं ही आत्मा है; इसलिये अपने ज्ञानमें ही आत्माको ढूंढ़। यह शरीर तू नहीं है, शरीरमें ढूँढ़नेसे आत्मा नहीं मिलेगा। देह तो जड़, रूपी और दृश्य है, उससे भिन्न चेतन, अरूपी और दृष्टा आत्मा है, देह विनाशी है, आत्मा अविनाशी है; देह इन्द्रियगोचर है आत्मा इन्द्रिय गोचर नहीं है किन्तु अतीन्द्रिय है; देह संयोगी कृत्रिम वस्तु है आत्मा असंयोगी स्वाभाविक वस्तु है। सबको जाननेवाला "यह ज्ञाता मैं स्वयं ही हूँ"—इसप्रकार अपनेको नहीं जानता—यह आश्चर्य है !! ज्ञाता स्वयं अपनेको नहीं जानता, स्वयं अपनेको भूल जाता है; यह एक महान भ्रम है और इसी भ्रमके कारण संसार-दुःख है।

एकबार दस मूर्ख एक गाँवसे दूसरे गाँव जारहे थे। रास्तेमें एक नदी आई। नदी पार करके दूसरे किनारे पहुँचे। वहाँ एक आदमी बोला कि हममेंसे कोई डूब तो नहीं गया ? चलो गिनकर देख लें।

ऐसा कहकर वह गिनने लगा—"एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ और नौ !" तुरन्त वह आदमी चौंक पड़ा कि अरे रे ! हममेंसे एक आदमी डूब गया ! फिर दूसरे मूर्खने गिना तो भी नौ हुए ।—इसप्रकार हरएक मूर्खने गिन लिया फिर भी नौ के नौ; क्योंकि गिननेवाला स्वयं अपनेको भूल जाता था। सब लोग बड़ी चिन्तामें पड़ गये कि अब क्या किया जाये ? वे लोग उलझनमें थे, उसी समय एक बुद्धिमान आदमी उधरसे निकला; उसने इन मूर्खोंकी उलझन समझ ली और बोला "भाइयों ! शांत होओ......धीरज रखो......तुममेंसे कोई डूबा नहीं है......चलो, सब एक पंक्ति बनाकर खड़े हो जाओ......देखो, यह एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ, और यह दस ! तुम लोग पूरे दस के दस हो ।—यह जानकर मूर्खोंका भ्रम दूर हो गया और उन्हें शांति हुई। फिर ध्यान आया कि अरे ! हम स्वयंको गिनना भूल जाते थे इसलिये "नौ" होते थे और एक आदमी खो जानेका भ्रम हो जाता था। कहा भी है कि "अपनेको आप भूलके हैरान हो गया।"

उन दस मूर्खोंकी भाँति अज्ञानी जीव स्वयं अपने स्वरूपको भूलकर हैरान होते हैं। यह शरीर, यह राग—इसप्रकार लक्षमें लेते हैं, किन्तु उन्हें जाननेवाला मैं स्वयं ज्ञायक हूँ—इसप्रकार स्वयं अपनेको स्वसंवेदनसे लक्षमें नहीं लेते; इसलिये रागादि और शरीरादिमें ही अपनत्वकी भ्रान्तिसे वे हैरान होते हैं। ज्ञानी उनका स्वरूप दर्शाते हुए कहते हैं कि अरे जीव ! तू शांत हो......धैर्य रख......धैर्यपूर्वक अपने अन्तरमें देख......तेरा स्वरूप तो रागसे और देहसे अत्यन्त भिन्न ज्ञान और आनन्दस्वरूप ही है। इसप्रकार अन्तर्मुख होकर आत्माको जानते ही भ्रम दूर हो जाता है और जीवको आनन्दका अनुभव होता है। उस समय उसे ऐसा लगता है कि अरे ! अभी तक मैं स्वयंके अस्तित्वको भूलकर भ्रमसे दुःखी हुआ। "अपनेको आप भूलके हैरान होगया।"

[दृष्टान्तमें मूर्ख दस थे और बुद्धिमान एक था; उसीप्रकार जगतमें अज्ञानी जीव अनेक हैं और ज्ञानी तो कोई बिरले ही होते हैं ।]

अज्ञानी अपने आत्माको भूलकर परमें आत्मा ढूंढ़ता है; किंतु परमें तो आत्माका अभाव है । यहाँ तो कहते हैं कि रागमें भी आत्माका अभाव है । रागादि रहित सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायोंमें ही आत्माका सद्भाव है, क्योंकि निर्मल पर्याय ही आत्माके स्वभावके साथ अभेद होती है, राग या शरीरके साथ आत्माकी अभेदता नहीं है । राग सम्प्रदान होकर आत्माके सम्यग्दर्शनादिको धारण कर रखे अथवा आत्मा सम्प्रदान होकर रागको धारण कर रखे—ऐसा नहीं है । उसीप्रकार आत्मा सम्प्रदान होकर शरीरको धारण कर रखे या शरीर सम्प्रदान होकर आत्माको धारण कर रखे—ऐसा भी नहीं है । आत्मा सम्प्रदान होकर अपनी निर्मल पर्यायको धारण कर रखता है । ऐसे आत्माको समझे बिना सुख नहीं होता । ऐसे आत्मस्वभावको समझना ही जन्म–मरणके दुःखोंसे छूटकर सुखी होनेका उपाय है । ज्ञानियोंने अन्तरका अचिन्त्य मार्ग प्रगट किया है......अहो ! संतोंने मुक्तिका मार्ग सुगम कर दिया है । संतोंकी बलिहारी है !!

जिसप्रकार तीर्थंकर भगवानकी दिव्यध्वनिको झेलनेवाले उत्कृष्ट पात्र गणधरदेव हैं, उसीप्रकार चैतन्यप्रभुके केवलज्ञानादि निर्मलभावोंको झेलनेकी पात्रता आत्मामें ही है । आत्मा स्वयं ही अपने निर्मलभावोंको ग्रहण करनेवाले पात्ररूप सम्प्रदान है । आत्माके धर्मको रहनेके लिये रागादिक या शरीर सम्प्रदान नहीं है, तथा आत्मा उन रागादिकका सम्प्रदान नहीं है । जिसप्रकार—आम्रवृक्ष आम ही देता है, उसमें आकके फल पैदा नहीं हो सकते; क्योंकि आमवृक्ष तो आमोंका ही सम्प्रदान है आक फलोंका नहीं; उसीप्रकार आत्मामें एकाग्र होनेसे आत्मा तो निर्मल पर्यायें ही देता है कहीं विकार नहीं देता; क्योंकि आत्मामें निर्मल पर्यायोंका ही सम्प्रदान होनेका स्वभाव है; विकारका सम्प्रदान होनेका आत्माका स्वभाव नहीं है । इसप्रकार ज्ञान–

आनन्दादि समस्त गुणोंमें भी ऐसा ही स्वभाव है कि अपने-अपने स्वभावसे निर्मल पर्याय ही देते हैं और उसीको स्वयं ग्रहण करते हैं।

जिस ज्ञानका विकास मात्र पर लक्षसे ही कार्य करे वह ज्ञान मिथ्या है; वह मिथ्याज्ञान सचमुच ज्ञानस्वभावने नहीं दिया है तथा ज्ञानस्वभाव उसका पात्र (लेनेवाला-ग्रहण करनेवाला) भी नहीं है। जो स्वज्ञेयको ग्रहण करके केवलज्ञानादिरूपसे परिणमित हो वह सम्यग्ज्ञान है; ऐसा ज्ञान देने और उसीको लेनेका आत्माके ज्ञानगुणका स्वभाव है। वाणी तो जड़ है, उस वाणी द्वारा ज्ञान नहीं दिया जाता और न ज्ञान उसे लेता है; तथा उस वाणीकी ओरके विकल्प द्वारा भी ज्ञान नहीं दिया जाता और न ज्ञान उस विकल्पको लेता है। आत्मा स्वयं ही अपने ज्ञानस्वभावमेंसे ज्ञान देता है और उस निर्मल ज्ञानको ही लेनेका ज्ञानगुणका स्वभाव है। इसके अतिरिक्त अज्ञानके साथ ज्ञानस्वभावका कुछ भी लेन-देन नहीं है। आत्माके साथ अभेदता करके जो ज्ञान प्रगट हुआ उसीके साथ आत्माको लेन-देन है, वह ज्ञान स्थिर रहकर केवलज्ञान हो जायेगा। मात्र पराश्रयसे वर्तता हुआ ज्ञान आत्माके साथ स्थिर नहीं रह सकेगा, वह तो नष्ट हो जायेगा। इसलिये हे भाई! यदि तुझे अपने ज्ञानको टिकाना हो—विकसित करना हो तो उसे आत्मामें समर्पित कर! जिसप्रकार सर्वज्ञ भगवानके निकट जाकर "अर्घं समर्पयामि स्वाहा" करता है, उसीप्रकार इस सर्वज्ञस्वभावी आत्माके निकट जाकर—उसीमें अंतर्मुख होकर "ज्ञानं समर्पयामि स्वाहा" कर, तो तुझे सर्वज्ञता प्रगट हो जायेगी। उस सर्वज्ञताको देना तथा उसे लेकर उसका सम्प्रदान होना तेरे ज्ञानगुणका स्वभाव है।

ज्ञानकी भाँति श्रद्धागुणमें भी ऐसा स्वभाव है कि सम्यग्दर्शनरूप भावको दे, और स्वयं ही उसे ग्रहण करे—यानी उसका सम्प्रदान हो। किन्तु मिथ्याश्रद्धाको दे या ले-ऐसा श्रद्धागुणका स्वभाव नहीं है।

स्वसन्मुख होकर आत्मस्वभावकी श्रद्धा की, उसे देने-लेनेका स्वभाव होनेसे वह आत्माके साथ सदैव स्थिर रहेगा; अर्थात् श्रद्धागुण सदैव सम्यक्त्व पर्याय देता ही रहता है और स्वयं ही सम्प्रदान होकर उसे लेता रहेगा।

इसीप्रकार—ज्ञान और श्रद्धाकी भाँति—चारित्रगुणका भी ऐसा ही सम्प्रदानस्वभाव है कि अपने अनाकुल शांतभावको दे और उसीको स्वयं ग्रहण करे। शांतिसे विपरीत आकुलता-राग-द्वेषरूप भावोंको देने या लेनेका चारित्रगुणका स्वरूप नहीं है। वे रागादि भाव आत्माके साथ अभेद होकर स्थिर नहीं रहते, और शांत–अरागभाव तो आत्मामें लीनता करके टिकता है।

पुनश्च, आनन्दका भी ऐसा ही स्वभाव है कि स्वयं अपनेको आनन्द दे तथा स्वयं ही सम्प्रदान होकर उसे ले; किन्तु परवस्तुमेंसे आनन्द ले–ऐसा आनंदगुणका स्वरूप नहीं है। तथा आनन्दगुणका ऐसा भी स्वरूप नहीं है कि वह दुःख दे या ले। दुःखका सम्प्रदान होना उसका स्वभाव ही नहीं है।

(इन ज्ञान–श्रद्धा–चारित्र और आनन्दकी भाँति पुरुषार्थ आदि समस्त गुणोंमें समझ लेना चाहिये।)

"अहो ! मैं ही दाता होकर अपने आत्माको सदैव आनंद देता ही रहूँ तथा मैं ही सम्प्रदान होकर सदैव आनन्द लेता ही रहूँ—ऐसा मेरा स्वभाव है।"—इसप्रकार जहाँ श्रद्धा हुई वहाँ अपने स्वभावके आनन्दका वेदन हुआ और बाह्यमें कहीं भी आनन्दकी किंचित्मात्र कल्पना नहीं रही। स्वयं ही दाता होकर अपनेको आनन्द दिया और स्वयं ही पात्र होकर अपना आनन्द लिया, इसलिये वह आनंद सदैव बना ही रहेगा अर्थात् आत्मा सदैव अपनेको आनन्द देता ही रहेगा और स्वयं सदा लेता ही रहेगा। इसलिये हे जीव ! यदि तुझे आनंदकी आवश्यकता हो तो आनन्ददाता ऐसे अपने आत्माके ही निकट जा; वहींसे

तुझे आनन्दकी प्राप्ति होगी; इसके अतिरिक्त जगतमें तुझे कहींसे आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।

आत्मा स्वयं ही निर्मल पर्यायका दाता है और स्वयं ही उसका पात्र है;—ऐसा आत्माका सम्प्रदान स्वभाव है। उसे समझानेके लिये यहाँ ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र तथा आनंद गुणकी भिन्न भिन्न बात ली है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि एक-एक गुणके भेदके लक्षसे निर्मलता नहीं होती। आत्मा तो एक साथ अनंतगुणका पिण्ड है, उसीके लक्षसे समस्त गुणोंकी निर्मल दशा होती है; एक शक्तिको पृथक् करके उसके लक्षसे विकास करना चाहे तो उसका विकास नहीं होता, वहाँ तो मात्र विकल्प होता है। उस विकल्पमें ऐसी शक्ति नहीं है कि किसी गुणकी निर्मल दशा प्रदान कर सके। अखण्ड आत्मस्वभावमें ही ऐसी शक्ति है कि वह अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण परमात्मदशा प्रदान करता है।

अहो! मेरा आत्मा अनंतानन्त शक्तिका भण्डार अनादि-अनन्त है। वह ऐसा उदार दाता है कि जब मैं पात्र बनकर लेना चाहूँ उसी समय परमात्मदशा मुझे दे सकता है। हे जीवो! ऐसे निजस्वभावकी तुम प्रतीति तो करो......उसकी पहिचान तो करो......उसके प्रति उल्लास तो प्रगट करो! जिसने ऐसे चैतन्यस्वभावको लक्षमें लिया उसका जीवन सफल है;—दूसरोंकी तो क्या कहें?

आत्मा स्वयं ही अपनेको सुखका दाता है। यदि वह स्वयं ही अपनेको सुखका देनेवाला न हो, तथा उसे दूसरेसे सुखकी याचना करना पड़ती हो, तब तो पराधीनता होगई; पराधीनतामें तो स्वप्नमें भी सुख कहाँसे हो सकता है? आत्मा स्वाधीनरूपसे स्वयं ही अपनेको सुखका देनेवाला है और स्वयं ही पात्र होकर लेता है।

(१) "पात्रको दान देना चाहिये,"—पात्र कौन है जगतमें? मैं आत्मा स्वयं ही अपना सुख लेनेको पात्र हूँ।

(२) "दाता है कोई ?" हाँ, अनन्तशक्तिसम्पन्न मैं स्वयं ही दाता हूँ।

(३) "दाता दानमें क्या क्या देगा ?" मेरा आत्मा दाता होकर ज्ञान–दर्शन–आनन्दरूप निर्मलपर्यायोंका दान देगा।

(४) "किस विधिसे दान देगा ?"—अपनेसे ही देगा, अर्थात् स्वयं अपने स्वरूपमें एकाग्र रहकर स्वरूप-भण्डारमेंसे ही निर्मल पर्यायें निकाल-निकालकर उनका दान देगा।

दान देनेका अवसर आनेपर दाता छिपता नहीं है; उसीप्रकार हे जीव ! तेरे लिये यह दानका अवसर आया है, उसे तू मत चूकना। तू स्वयं पात्र होकर तथा स्वयं ही दाता होकर ज्ञान–दर्शन-आनन्दकी निर्मल पर्यायोंका दान अन्तरमें एकाग्र होकर दे और सम्प्रदान होकर तू ही वह दान ले। अनन्तशक्तिसे परिपूर्ण चैतन्यस्वभाव जैसा महान दाता मिला है तो अब उसकी सेवा (श्रद्धा और एकाग्रता) करके परमात्मदशाका दान माँगे तो तुझे अपनी परमात्मदशाका दान अवश्य मिल जाये। वह परमात्मदशा लेकर उसका सम्प्रदान होना तेरा स्वभाव है।

"अपने स्वभावको साधकर मैं परमात्मा होऊँ,"—ऐसी भावनाके बदले "मैं समझकर फिर दूसरोंको समझा दूँ"—इसप्रकार जो दूसरोंको समझानेके अभिप्रायसे समझना चाहता है वह परको अपनी समझका सम्प्रदान मानता है इसलिये वह अन्तर्मुख होकर अपने स्वभावको नहीं साध सकता। जो आत्मार्थी हैं वे तो अपने-अपने हितके लिये ही समझना चाहते हैं।

अहो ! अनन्तकालमें बड़ी कठिनाईसे प्राप्त हो—ऐसा यह अवसर आया है; उसमें गुरुगमसे सत् स्वभावका श्रवण मिलना तो महान दुर्लभ है। ऐसे अवसरमें अपूर्व भावसे श्रवण, ग्रहण तथा

धारण करके स्वभावमें प्रवेश करनेकी यह बात है; वही करने योग्य है। इसके सिवा और सब तो घूरा खोदनेके समान व्यर्थ है।

भगवान आत्माका यथार्थ स्वरूप बतलानेके लिये यह उसकी शक्तियोंका वर्णन चल रहा है, उसमें इस (४४ वीं) सम्प्रदानशक्तिमें आत्माको सुपात्र सिद्ध किया।—काहे का ?—सम्यग्दर्शनसे लेकर सिद्धपद तकका। उन सम्यग्दर्शनका दाता भी आत्मा ही है और पात्र होकर उनका लेनेवाला भी वही है। देखो, यह दाताने सुपात्रदान दिया। अहो ! आत्माके अतीन्द्रिय आनन्दका दान ! इसकी अपेक्षा श्रेष्ठ दान और कौन होगा ? निर्मल ज्ञान-आनन्दमय पर्याय प्रगट हो उसका दाता भी स्वयं और उसे लेनेवाला—पात्र भी स्वयं;—ऐसी शक्ति आत्मामें त्रिकाल है।

वाह ! मेरा आत्मा ही महान दाता है और वही महान पात्र है। केवलज्ञान प्रदान करे और उसे ग्रहण करे ऐसी शक्ति मेरे आत्माकी है। मेरा द्रव्य ही दाता...और द्रव्य ही स्वयं लेनेवाला पात्र।—ऐसा निर्णय करके हे जीव ! अपने द्रव्यकी ओर देख......तो तुझे आनन्दके निधानका दान मिलेगा।

आहार, औषधि, पुस्तकें या पैसा आदि परवस्तुओंका दाता या उन्हें ग्रहण करनेवाला आत्मा नहीं है; रागादि विकार भावोंको दे या ले—ऐसा भी आत्माका स्वभाव नहीं है; आत्माका स्वभाव तो वीतरागी-आनन्दको ही देने-लेनेका है। ऐसे स्वभावको साधनेवाले साधकको कषायोंकी अत्यन्त मंदता सहज ही हो जाती है; किंतु उस मंद कषायके भावको भी देने या लेनेका अपना स्वभाव नहीं मानते; स्वभावके आश्रयसे जो अकषायी-वीतरागी भाव होते हैं उन्हींका दाता एवं पात्र अपना आत्मा है ऐसा साधक धर्मी जानते हैं। त्रिकाली स्वभाव तो रागका सम्प्रदान नहीं है और उस स्वभावके आश्रयसे होनेवाली पर्याय भी रागका सम्प्रदान नहीं होती।—इसप्रकार द्रव्यसे तथा पर्यायसे—दोनों प्रकारसे आत्मा विकारका सम्प्रदान नहीं है किंतु

वीतरागी भावका ही सम्प्रदान है। जहाँ शुद्ध द्रव्यका आश्रय किया वहाँ पर्यायमेंसे विकारकी योग्यता दूर होगई और अविकारी आनन्दकी योग्यता हुई, वह आनन्दकी ही पात्र है। जिसप्रकार उत्तम वस्तु रखनेका पात्र भी उत्तम होता है; सिंहनीका दूध सुवर्ण-पात्रमें ही रहता है; उसीप्रकार जगतमें महान् उत्तम ऐसा जो अतीन्द्रिय आनन्द उसका पात्र भी उत्तम ही है;—कौनसा पात्र है ?—तो कहते हैं कि आत्मस्वभावोन्मुख परिणति ही उस आनन्दका पात्र है। आत्मामें ही ऐसी उत्तम पात्र शक्ति (सम्प्रदान शक्ति) है कि स्वयं परिणमित होकर अपने अतीन्द्रिय आनन्दको स्वयं झेल सके—ग्रहण कर सके।

जिस जीवमें ऐसा अतीन्द्रिय आनन्द झेलनेकी पात्रता जागृत हो उसमें गुरुके प्रति विशिष्ट प्रकारकी विनय भी प्रगट होती है ! ज्ञानीको गुरुके प्रति अन्तरसे जैसा बहुमान आयेगा वैसा अज्ञानीको नहीं आसकता। यद्यपि निश्चयसे गुरु अपने आत्मामेंसे ज्ञान या आनन्द निकालकर कहीं शिष्यको नहीं दे देते, और शिष्यका आत्मा कहीं अपने ज्ञान या आनंद गुरुके पाससे नहीं लेता; गुरु देते हैं और पात्र शिष्य लेता है—यह बात तो व्यवहारकी है; तथापि श्रीगुरुके उपदेश द्वारा आत्मस्वभाव समझकर जहाँ शिष्यको अपूर्व आनन्दकी प्राप्ति हुई वहाँ रोम-रोममें गुरुके प्रति अपार विनयसे उसका आत्मा उछल पड़ता है......निश्चय प्रगट होनेसे उसका व्यवहार भी लोकोत्तर बन जाता है..:और श्रीगुरुके अनंत उपकारको व्यक्त करते हुये कहता है कि अहो प्रभो ! आपने ही इस पामरको आनन्दका दान दिया ...मैं अपने आनन्दको भूलकर अनन्तसंसारमें भटक रहा था; उससे छुड़ाकर आपने ही मुझे आनन्द प्रदान किया..घोर भव भ्रमणसे आपने ही मुझे बचाया..हे नाथ ! आपके अनंत उपकारका बदला हम कैसे दें ?—इसप्रकार अपार विनयपूर्वक गुरुके चरणोंमें अर्पित हो जाता है। निश्चयसे साधकदशामें देव-गुरुके प्रति ऐसा विनय आदिका व्यवहार सहज ही होता है। यदि आत्मामेंसे ऐसी विनय न आये तो उस जीवको निश्चयका परिणमन भी नहीं

हुआ है ऐसा समझना चाहिये। गुरुसे ज्ञान नहीं होता—ऐसा कहकर जो गुरुकी विनय छोड़ देता है वह महान स्वच्छन्दी है, उसमें आनन्दको झेलनेकी पात्रता जागृत नहीं हुई है। अहो ! यह तो निश्चय-व्यवहार की संधि सहित अचिन्त्य लोकोत्तर मार्ग है। साधकदशा क्या वस्तु है उसकी लोगोंको खबर नहीं है। साधकको तो सभी पक्षोंका विवेक वर्तता है। सम्यग्दृष्टिको गणधर जैसा विवेक प्रगट होता है। कहा है कि—

"जाके घट प्रगट विवेक गणधरको सो, हिरदे हरखि महा मोहको हरतु है; साचो सुख माने निज महिमा अडोल जाने, आपुहीमें आपनो सुभाउ ले धरतु है। जैसे जलकर्दम कतकफल भिन्न करे, तैसे जीव अजीव विलछनु करतु है; आतमसकति साधे ज्ञानको उदो आराधे; सोई समकिती भवसागर तरतु है"।

[—नाटक समयसार। ८]

—देखो, यह साधक सम्यक्त्वीकी अद्भुत दशा ! जिसके हृदयमें गणधर जैसा निज-परका विवेक प्रगट हुआ है, जो आत्माके अनुभवसे आनन्दित होकर मिथ्यात्वादि महामोहको नष्ट करता है, सच्चे स्वाधीन सुखको सुख मानता है, अपने ज्ञानादि गुणोंका अविचल श्रद्धान करता है, अपने सम्यग्दर्शनादि स्वभावको अपनेमें ही धारण करता है; जिसप्रकार कतकफल जल और कीचड़को पृथक् कर देता है उसीप्रकार जो जीव और अजीवको विलक्षण जानकर पृथक् करता है, जो आत्मशक्तिको साधता है और ज्ञानके उदयकी (केवलज्ञानकी) आराधना करता है;—ऐसा सम्यक्त्वी जीव भवसागरसे पार होता है।

सम्यक्त्वी जीवकी यथार्थ पहिचान करे तो जीवका लक्ष बदल जाये और अपने स्वभावकी ओर ढले। सम्यक्त्वी तो अपने स्वभावको ही साधते हैं। अरे जीव ! तू ही अपना दाता और तू ही अपना पात्र। तू दाता होकर अपनी पर्यायमें चाहे जितना दान दे, तथापि तेरी स्वभाव शक्तिमेंसे कुछ भी कम नहीं होगा—ऐसा तेरा

स्वभाव है। ऐसे दाताको छोड़कर अब तुझे बाह्यमें कौन–सा दाता ढूँढ़ना है ? इस दाताकी ओर देखकर तू उससे निर्मल पर्यायका दान लेनेकी पात्रता अपनेमें प्रगट कर...दूसरोंके पास भीख न माँग।

दूसरेके पास दान माँगने जाये तो वह नहीं भी देता, किन्तु यहाँ तो स्वयं पात्र हो वहाँ आत्मा सम्यग्दर्शनादिका दान दिये बिना नहीं रहता—ऐसा महान दाता है। जब स्वयं ही दाता है तब चिन्ता कैसी ? स्वभावमें एकाग्र होकर तुझे जितना चाहिये दान ले....तुझे जितने ज्ञान-आनन्दकी आवश्यकता हो उतने देनेकी शक्ति तेरे स्वभावमें भरी है। लौकिकमें दान देनेवालोंकी पूंजी तो कम होती है, किन्तु यहाँ तो आत्मा स्वयं ऐसा लोकोत्तर दाता है कि प्रतिक्षण (-प्रतिसमय) परिपूर्ण ज्ञान-आनन्दका दान अनन्तकाल तक देता ही रहे तथापि उसकी पूंजी जरा भी कम नहीं होती।

आत्मा स्वयं पूर्ण शक्तिमान है; स्वयं अपनेमें लीन होकर अपने स्वभावमेंसे निर्मलताका दान करता है, और स्वयं ही वह दान लेता है;—ऐसा दान लेनेकी पात्रतारूप सम्प्रदानशक्ति आत्मामें है। जिसप्रकार आत्मामें ज्ञानशक्ति है, आनन्दशक्ति है, उसीप्रकार यह सम्प्रदानशक्ति भी है। यदि आत्मामें ज्ञानशक्ति न हो तो आत्मा जानेगा कहाँसे ? यदि आत्मामें सुखशक्ति न हो तो आत्माको अनाकुलतारूप सुख कहाँसे होगा ? यदि आत्मामें श्रद्धाशक्ति न हो तो स्वयं अपना विश्वास कहाँसे करेगा ? यदि आत्मामें चारित्र शक्ति न हो तो अपने स्वरूपमें स्थिरता कैसे करेगा ? यदि आत्मामें जीवनशक्ति न हो तो आत्मा जी कैसे सकेगा ? यदि उसमें वीर्यशक्ति न हो तो अपने स्वरूपकी रचनाका सामर्थ्य कहाँसे लायेगा ? यदि प्रभुत्वशक्ति न हो तो अखण्डित प्रतापवाली स्वतंत्रतासे किसप्रकार शोभायमान होगा ? यदि उसमें कर्तृत्वशक्ति न हो तो अपने निर्मलकार्यको कैसे करेगा ? उसीप्रकार यदि आत्मामें सम्प्रदानशक्ति न हो तो स्वयं अपना दाता और स्वयं ही निर्मलताका ग्रहण करनेवाला पात्र कैसे हो सकेगा ?

अपने स्वभावसे आत्मा स्वयं ही ज्ञान-आनन्दका देनेवाला तथा स्वयं ही उसका लेनेवाला है—ऐसे भान बिना परवस्तुके लेनदेनका मिथ्या विकल्प कभी नहीं छूटेगा और अन्तरमें एकाग्रता नहीं होगी। ज्ञानी तो 'मैं ही अपना दाता और मैं ही अपना पात्र"—ऐसे निर्णयके बलसे अंतर्स्वभावमें एकाग्र होकर ज्ञान-आनन्दके निधान प्राप्त कर लेता है। आत्मामें ऐसी सम्प्रदानशक्ति है कि एक समयमें स्वयं ही दाता और स्वयं ही पात्र है; देने या लेनेका समय भेद नहीं है; तथा दाता या पात्र पृथक् नहीं हैं। अहो! अपने स्वभावमेंसे ही केवलज्ञान और सिद्धपदका दान लेनेकी मेरी शक्ति है—ऐसी प्रतीति करके, स्वसन्मुख होकर स्वयं अपनी शक्तिका दान कभी नहीं किया है; स्व-को चूककर पराश्रय द्वारा अनादिसे विकारका ही दान लिया है। यदि पात्र होकर स्वयं अपनी शक्तिका दान ले तो अल्पकालमें मुक्ति हो जाये; इसलिये हे जीव! अपनी स्वभावशक्तिको सम्हाल......और उस स्वभाव द्वारा दिये जानेवाले निर्मलज्ञान-आनन्दका दान ले।

[यहाँ ४४ वीं सम्प्रदानशक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

* * *

[४५]

अपादानशक्ति

इस अपादान शक्तिके वर्णन द्वारा आचार्यदेव तुझे तेरी ध्रुव खान बतलाते हैं; उसकी गहराईमें उतरकर सम्यग्दर्शनादि रत्न निकाल। जिसप्रकार रत्नोंकी खानसे रत्न निकलते हैं; उसीप्रकार चैतन्यरत्नकी ध्रुवखान आत्मा है, उसमेंसे सम्यक्‌दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप रत्नोंकी प्राप्ति होती है।

उत्पाद–व्यय होते हैं वह भाव भी आत्माका ही है, और ध्रुव स्थायी भाव भी आत्माका है; एक साथ उन दोनों भाववाले आत्माका अनेकान्त स्वभाव है।–ऐसे अनेकान्तस्वभावको पहिचानने पर ध्रुवके आश्रयसे पर्यायमें निर्मलता उल्लसित होती है।

यह धर्मकी बात है; धर्मके बिना कभी किसी जीवको सुख, शांति या मुक्ति नहीं होती। धर्म आत्मामें होता है; आत्मासे भिन्न अन्य किसी पदार्थमें धर्म नहीं होता। इसलिये जिसे धर्म करना हो उसे आत्माका स्वरूप जानना चाहिये। आत्माका स्वरूप जाननेके लिये उसके त्रिकाली धर्मोंका यह वर्णन चल रहा है; आत्माके त्रिकाली धर्मोंको जाननेसे उसके आश्रयसे मोक्षमार्गरूप धर्म प्रगट होता है।

चैतन्यमात्र भावसे लक्षित आत्मा अनन्तशक्तिका भण्डार है; उसकी कुछ शक्तियोंका वर्णन चल रहा है। अनन्त शक्तियोंका वर्णन वाणी द्वारा नहीं हो सकता; वाणीमें तो कुछ प्रयोजनभूत शक्तियोंका वर्णन आता है। यहाँ ४१ से ४६ तककी छह शक्तियोंमें कर्म, कर्ता, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण—इन छह कारकोंका वर्णन है; उनमेंसे चार कारक शक्तियोंका वर्णन होगया है; अब अपादान शक्ति कहते हैं:—उत्पाद–व्ययसे आलिंगित भावका उपाय (—नाश) होने पर हानिको प्राप्त न होनेवाले ऐसी ध्रुवत्वमयी अपादान शक्ति है।" उत्पाद-व्ययरूप भाव क्षणिक हैं उनका नाश होजाता है तथापि आत्माका ध्रुव स्वभाव कहीं नाशको प्राप्त नहीं होता, वह तो ज्योंका त्यों स्थित रहता है; और उस ध्रुव-स्थायी भावमेंसे ही नया-नया कार्य होता है।—इसप्रकार ध्रुवरूपसे स्थिर रहकर नया-नया कार्य करनेकी आत्माकी अपादान शक्ति है। उत्पाद-व्ययरूप क्षणिकभावमेंसे नया नया कार्य नहीं होता, किन्तु ध्रुव स्थायी भावमेंसे नया-नया कार्य होता है।—ऐसे निर्णयमें ध्रुवस्वभावकी दृष्टिसे निर्मल-निर्मल कार्य ही होता है।

पर्यायका नाश होने पर भी आत्माका नाश नहीं हो जाता, वह तो ध्रुव अपादानरूपसे स्थित रहकर नई-नई पर्यायरूप होता रहता है। अनन्त पर्यायें होकर नष्ट होगई इसलिये द्रव्यके स्वभावमेंसे कुछ कम होगया—ऐसा नहीं है। अज्ञानीको अपने ध्रुवस्वभावकी दृष्टि न होनेसे संयोगमें कमी आनेपर मानों मैं कम होगया, अथवा पर्यायका नाश होने पर मानों मेरे आत्माका ही नाश होगया—इसप्रकार संदेह-भय और आकुलता बनी ही रहती है; इसलिये मृत्युका भय उसे बना ही रहता है; ज्ञानी तो जानता है कि मेरा मरण नहीं है, मैं तो ध्रुव रहनेवाला हूँ; संयोगके कम होनेसे मेरा कुछ कम नहीं होता और पर्यायका नाश होनेसे मेरा नाश नहीं होजाता। संयोगमेंसे या नष्ट होती हुई पर्यायमेंसे मैं अपना सम्यग्दर्शनादि कार्य नहीं लेता; इसलिये वह कोई

मेरा अपादान नहीं है; ध्रुवस्थायी अपने स्वभावमेंसे ही मैं अपना सम्यग्दर्शनादि कार्य लेता हूँ इसलिये मेरा आत्मा ही मेरा अपादान है।

कोई भी संयोग ध्रुव नहीं रहते; विकारीभाव भी ध्रुव नहीं रहते; वे सब बदल जाने पर भी मेरा उपयोगस्वरूप आत्मा ही ध्रुव रहता है; इसलिये मेरा आत्मा ही मुझे शरणभूत है। यह एक मेरा शुद्ध आत्मा ही ध्रुव होनेसे मुझे शरणभूत है—ऐसा जानकर धर्मी शुद्ध आत्माका ही आश्रय करते हैं। शुद्ध आत्माके अतिरिक्त अन्य सब अध्रुव होनेसे अशरण है, इसलिये वह आश्रय करनेयोग्य नहीं है। प्रवचनसारमें कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि—

देहा वा द्रविणानि वा सुख दुःखेवाथ शत्रुमित्रजनाः।
जीवस्य न सन्ति ध्रुवा ध्रुव उपयोगात्मक आत्मा ।। १९३ ।।

शरीर, धन, सुख-दुःख अथवा शत्रुमित्रजन यह कुछ भी जीवके ध्रुव नहीं हैं; ध्रुव तो उपयोगात्मक आत्मा है। ऐसा होनेसे मैं अध्रुव ऐसे शरीरादिकको उपलब्ध नहीं करता, अर्थात् उनकी शरण नहीं लेता; ध्रुव ऐसे अपने शुद्ध आत्माको ही उपलब्ध करता हूँ—उसीकी शरण लेता हूँ। इसप्रकार शुद्ध आत्माको ध्रुव जानकर उसमें प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मत्व होता है और मोहका नाश हो जाता है।

जो ध्रुव नहीं रहते वे शरणरूप कैसे हो सकते हैं? और उनके आधारसे सुख कैसे होगा? संयोग और विकार तो अध्रुव हैं; वे अध्रुव शरणभूत कैसे होंगे? वे किसी जीवको शरणभूत नहीं हैं। ध्रुवरूप तो अपना उपयोगस्वभावी आत्मा ही है; उसका कभी वियोग या नाश नहीं होता, इसलिये वह शरणभूत है तथा उसीकी शरणमें सुख है। इसलिये—

आ सर्व जीवनिबद्ध, अध्रुव शरणहीन अनित्य छे;
ए दुःख दुःखफल जाणीने एनाथी जीव पाछो वले।

(—श्री समयप्राभृत ७४)

ज्ञानी-सम्यक्दृष्टि धर्मात्मा अपने आत्मस्वभावको ध्रुव, शरणरूप, नित्य, सुखरूप और अबन्ध जानकर निर्भयरूपसे अपनेमें एकाग्र होते हैं और पुण्य-पापादिको अपने स्वभावसे भिन्न, अध्रुव, शरणहीन, अनित्य, दुःखरूप तथा बन्धनरूप जानकर उनसे विमुख होते हैं।

विकारमें तथा किसी भी शुभरागमें ऐसी शक्ति नहीं है कि दूसरे क्षण वह ध्रुवरूपसे स्थिर रह सके; अरे ! निर्मल पर्यायमें भी ऐसी शक्ति नहीं है कि वह ध्रुवरूपसे स्थित रहे। वह पर्याय स्वयं ही दूसरे क्षण नष्ट हो जाती है; उसमेंसे दूसरी पर्याय नहीं आती। एक पर्याय नष्ट होने पर भी द्रव्य स्वभावसे ध्रुव स्थित रहकर आत्मा स्वयं अन्य-अन्य पर्यायरूपसे परिणमित होता है; इसलिये ध्रुवमेंसे पर्याय आती है। ऐसे ध्रुव—अपादानस्वरूप आत्माकी श्रद्धा करके उसकी शरण लेना सो धर्म है।

पुण्य-पाप और शरीर तो नष्ट हो जाते हैं; तब फिर कोई दूसरा शरण है ?—तो कहते हैं हाँ......पुण्य-पाप और शरीरका नाश होनेपर भी ध्रुवरूपसे रहनेवाला ऐसा जो स्वभाव वही शरण है। विकारका अथवा क्षणिक भावका नाश होने पर, बौद्ध मान्यताकी भाँति आत्मा कहीं सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता; क्षणिक भावोंका नाश होनेपर भी वह किंचित् हानिको प्राप्त नहीं होता—ऐसा एक ध्रुवस्वभाव आत्मामें है। उत्पाद-व्यय होता है वह भाव भी आत्माका ही है और यह ध्रुव स्थित भाव भी आत्माका है।—एकसाथ उन दोनों भाववाले आत्माका अनेकान्त स्वभाव है।

मात्र पर्याय पर ही जिसकी दृष्टि है और ध्रुवभावपर दृष्टि नहीं है उसे तो आत्माकी क्षणिकता ही भासित होती है; इसलिये वह तो क्षणिकके आश्रयसे अशरणरूप वर्तता है, उसे निर्मलता या शांतिका अनुभव नहीं होता। यदि अपने ध्रुव स्थायी स्वभावको जाने, तो उस ध्रुवमें एकाग्र होकर उसमेंसे निर्मल पर्यायें निकाले। जिसप्रकार रत्नोंकी

खानसे रत्न निकलते हैं, उसीप्रकार यह आत्मा चैतन्यरत्नकी ध्रुव खान है; इसमेंसे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप रत्न निकलते हैं। विकारकी खान खोदे तो उसमेंसे सम्यग्दर्शनादि रत्न नहीं निकलते। अपादान शक्तिके वर्णन द्वारा आचार्यदेव तुझे तेरी ध्रुव खान बतलाते हैं……उसकी गहराईमें उतरकर सम्यग्दर्शनादि रत्नोंको निकाल। पर्याय तो प्रतिक्षण बदल जाती है, वह बदलता हुआ क्षणिकभाव शरण नहीं देता, तथा उसमेंसे सम्यग्दर्शनादिकी प्राप्ति नहीं होती। क्षणिक पर्यायोंका नाश होनेपर भी जिसे किंचित् आँच नहीं आती ऐसा ध्रुव-स्वभाव ही सम्यग्दर्शनादिका कारण है और उसीमेंसे सम्यग्दर्शनादि प्राप्त होते हैं। जिसप्रकार कोई स्थिर वस्तुपर दृष्टि लगाये तो वहाँ एकाग्रता हो सकती है, किन्तु अस्थिर वस्तुपर दृष्टिकी एकाग्रता नहीं रह सकती। अपने स्वरूपमें उपयोगकी एकाग्रता करना उसमें सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप मोक्षमार्ग आजाता है।

क्षणिक पर्यायेंतो उत्पाद–व्ययसे आलिंगित हैं; वे कहीं ध्रुवसे आलिंगित नहीं हैं; त्रिकाली द्रव्य स्वभाव ध्रुवसे आलिंगित है; उसकी उत्पत्ति या विनाश नहीं होता। नष्ट होनेवाले भावमेंसे (अर्थात् पर्याय मेंसे) धर्मकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु ध्रुवस्थायी भावमेंसे (अर्थात् द्रव्यमेंसे) धर्मकी उत्पत्ति होती है। और शुद्ध द्रव्यकी ध्रुवताके आश्रयसे जो धर्मभाव प्रगट हुवा वह भी ध्रुवके साथ सदैव बना रहता है; यद्यपि उसमें उत्पाद–व्ययरूप परिणमन तो होता ही रहता है, किंतु ध्रुवके आश्रयसे वह परिणमन शुद्धरूप ही होता रहता है; उसमें बीचमें अशुद्धता नहीं आती। इसप्रकार ध्रुवरूपसे स्थित रहकर प्रतिक्षण अपनी शुद्धपर्यायका अपादान हो—ऐसा आत्माका स्वभाव है। विकार आत्माके ध्रुवस्वभावमें से नहीं निकलता, इसलिये उस विकारका अपादान होना आत्माका स्वभाव नहीं है।

जीवोंको ऐसा लगता है कि हम धर्म कहाँसे लें ?–शरीरकी क्रियामेंसे धर्म आता होगा ? पुण्य-पापमेंसे आता होगा ? किसी स्थानमेंसे आता होगा ?

आचार्यदेव समझाते हैं कि—ध्रुवमेंसे धर्म लो ! धर्मकी खान तुम्हारा ध्रुव आत्मा ही है; वही धर्मका स्थान है; उसीमेंसे तुम्हारा धर्म आता है। इसके अतिरिक्त शरीरकी क्रियामेंसे, रागमेंसे, बाह्य स्थानोंमेंसे या अन्यत्र कहींसे तुम्हारा धर्म नहीं आ सकता।

उत्पाद–व्ययरूप पर्याय तो दूसरे क्षण हानिको प्राप्त हो जाती है–उसका नाश हो जाता है, इसलिये अकेली पर्यायको देखनेसे आत्माका वास्तविक स्वरूप दिखाई नहीं देता; किन्तु पर्यायका नाश होने पर भी जिसकी हानि नहीं होती, जो ध्रुवरूपसे स्थित रहता है ऐसे स्वभावसे देखने पर आत्माका यथार्थरूप दिखाई देता है। आत्मा ऐसा अपरिमित शक्तिका भण्डार है कि उसमेंसे सदैव निर्मल पर्याय लेते ही रहो तथापि उसमें किंचित् हानि या अपूर्णता नहीं होती। सम्यग्दर्शन–ज्ञान-चारित्र कहांसे निकालोगे ?—अपरिमित शक्तिके भण्डारसे; द्रव्य स्वभाव ही अपरिमित शक्तिका भण्डार है; उसका आश्रय करनेसे पर्याय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप हो जाती है। इसके अलावा पर्यायमें ऐसी शक्ति नहीं है कि उसमेंसे सम्यग्दर्शनादि दूसरी पर्याय प्रगट हो।

जिसप्रकार बीता हुआ काल वापिस नहीं आता, किंतु भविष्यकाल वर्तमान–वर्तमानरूप होकर आता है, उसीप्रकार बीती हुई पर्याय वापिस नहीं आती; जो बीत जाती है उस पर्यायमेंसे दूसरी पर्याय नहीं आती, किंतु त्रिकाल स्थायी द्रव्य ही वर्तमान–वर्तमान पर्यायरूप होकर आता है अर्थात् द्रव्यमेंसे ही पर्याय आती है; इसलिये जिसे धर्म करना हो उसे ध्रुवस्वभाव सन्मुख दृष्टि करना चाहिये। ज्ञान-दर्शन-आनन्दसे परिपूर्ण ध्रुवस्वभावमें एकता करके जो पर्याय प्रगट होती है वह पर्याय भी सम्यक् दर्शन–ज्ञान–आनन्द स्वरूप होती है और वही धर्म है।

आत्माका ध्रुवस्वभाव ज्ञान–आनन्दसे परिपूर्ण है; उसमेंसे विकार नहीं आता; विकार तो पर्यायका क्षणिकभाव है और वह भी

पराश्रयसे उत्पन्न हुआ भाव है। आत्माका ध्रुवस्वभाव तो ऐसा है कि उसमेंसे ज्ञान–आनन्द ही निकलता रहे; चाहे जितना ज्ञान–आनन्द निकालने पर भी वे घट नहीं जाते या कम नहीं होते। आत्माके ध्रुवस्वभावमेंसे आनन्द प्रगट कर-करके करोड़ों–अरबों–असंख्य वर्षों तक उसका उपभोग किया; अब आत्मामें उनका अभाव तो नहीं हो जायेगा ?—ऐसी शंका धर्मीको नहीं होती। धर्मी तो अपने ध्रुवस्वभावका अवलम्बन करके आनन्दके उपभोगमें पड़े हैं, स्वभावकी दृष्टिमें वे ऐसे निःशंक हैं कि सिद्धदशामें सादि अनन्तकाल तक परिपूर्ण आनन्दका प्रति समय उपभोग करूँगा तथापि मेरे स्वभावका आनन्द कम नहीं होगा; ऐसी मेरे ध्रुवस्वभावकी अचिंत्य शक्ति है। अहो ! मेरे द्रव्यका ऐसा अचिन्त्य सामर्थ्य है कि प्रतिसमय परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द देता ही रहे, तथापि अनन्तकालमें भी उसमें किंचित् न्यूनता नहीं आती !

देखो, यह आत्माकी अपादान शक्ति ! इसमें उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों बतला दिये हैं। अकेले उत्पाद–व्यय जितना ही आत्मा नहीं है, किंतु ध्रुवरूपसे स्थित रहकर उत्पाद–व्यय करनेवाला है। अपादान शक्तिसे आत्मा ऐसा ध्रुव है कि उसमेंसे जब निर्मलता निकालना हो तब निकल सकती है और जितनी निकलना हो उतनी निकलती है। अनादिकालसे विकार किया इसलिये ध्रुवमेंसे निर्मलता प्रदान करनेकी शक्तिका घात हो गया—ऐसा नहीं है; ध्रुवस्वभावकी शक्ति तो ज्यों की त्यों परिपूर्ण वर्त ही रही है; जब अन्तर्मुख होकर उसे ग्रहण करे तब उसमेंसे निर्मलता प्रगट होती है और उसमें जितना एकाग्र हो उतनी निर्मलता प्रगट होती है। अपनेमेंसे निर्मलता दे-देकर द्रव्य कभी थक जाये अथवा निर्मल पर्यायका देना बन्द करदे ऐसा नहीं होता; द्रव्यकी शक्ति रंचमात्र कम नहीं होती। एक पर्याय बदलकर दूसरी, दूसरी बदलकर तीसरी, तीसरी बदलकर चौथी, चौथी बदलकर पाँचवीं;—इसप्रकार अनन्तकाल तक ध्रुवमेंसे निर्मल-

पर्यायें आती ही रहती हैं तथापि ध्रुवशक्तिका भण्डार किंचित् भी कम नहीं होता। अहो ! ऐसे ध्रुवस्वभावको जो प्रतीतिमें ले वह साधक हो जाये और उसे ध्रुवमेंसे निर्मलपर्यायोंका ही अटूट प्रवाह चलता रहे। रागमेंसे या परमेंसे मैं कुछ लाभ लूं—ऐसी बुद्धि उसे स्वप्नमें भी नहीं रहेगी। मेरे सम्यक्‌दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप धर्मका अपादान (जिसमेंसे उनकी प्राप्ति होती है वह) मेरा आत्मा ही है, अन्य कोई रागादिक मेरे धर्मका अपादान नहीं है; तथा मेरे आत्माका स्वभाव निर्मल पर्यायोंका ही अपादान होना है; रागादिका अपादान होना मेरे आत्माका स्वभाव नहीं है।—ऐसे स्वभावके भानमें उसमेंसे रत्नत्रयरूप निर्मल पर्याय प्रगट करके, उस निर्मलपर्यायके अपादानरूपसे धर्मी परिणमित होता है। इसप्रकार धर्मी जीवको ज्ञानमात्र परिणमनमें "अपादान शक्ति" भी निर्मलरूपसे साथ ही उल्लसित होती है; इसलिये "ज्ञानमात्र" होने पर भी भगवान आत्माको अनेकान्तपना स्वयमेव प्रकाशित हो रहा है।

कोई जीव अनन्तकाल पूर्व सिद्ध हुए और कोई वर्तमानमें सिद्ध हुए। जो पहले सिद्ध हुए उन्हें परिपूर्ण ज्ञान–आनन्दकी अनन्तपर्यायें प्रगट हुई और नष्ट होगई, तथापि ध्रुवस्वभावमें किंचित् न्यूनता नहीं आई है; अनन्तकाल पूर्व मोक्ष प्राप्त करनेवाले सिद्ध तथा वर्तमानमें मोक्ष प्राप्त करनेवाले सिद्ध—दोनोंके ध्रुवस्वभावका सामर्थ्य समान ही है; और इस आत्मामें भी उतना ही सामर्थ्य है। जब प्रगट करेगा तब इस ध्रुवशक्तिमेंसे ही निर्मल पर्याय प्रगट होगी, अन्यत्र कहींसे आनेवाली नहीं है।—ऐसी अपादानशक्ति आत्मामें है। परमाणु जड़ है, तथापि उसमें ऐसी अपादानशक्ति है कि अनादिकालसे विविध पर्यायें होनेपर भी उसकी ध्रुवशक्ति कम नहीं हुई है कि अब पर्याय न हो। अनन्तकाल तक उसके ध्रुव अपादानमेंसे पर्याय होती ही रहेगी—ऐसी उसमें शक्ति है। किन्तु इससमय परमाणुकी बात नहीं है; अभी तो जीवकी शक्तियोंका वर्णन चल रहा है। जीवके स्वभावको जाननेसे सम्यक्‌ज्ञान विकसित हो जाता है वह स्व-परको यथार्थ जानता है। जीवके स्वभावको जाने

बिना परका स्वभाव भी नहीं जाना जा सकता; इसलिये जीवके स्वभावको जाननेकी ही प्रधानता है। यदि एक भी शक्तिको यथार्थरूपसे जान ले तो अखण्ड आत्मस्वभाव लक्षमें आये बिना नहीं रहता, क्योंकि शक्ति शक्तिमानसे पृथक् नहीं है। शक्ति और शक्तिमान दोनोंकी प्रतीति एक साथ ही होती है। कोई कहे कि आत्माको तो पहिचान लिया किन्तु आत्माकी शक्तियाँ प्रतीतिमें नहीं आईं, तो उसने वास्तवमें आत्माको जाना ही नहीं है। तथा कोई ऐसा कहे कि हमने आत्माकी शक्तिको तो जान लिया, किन्तु आत्माको नहीं जाना; तो उसने वास्तवमें आत्माकी शक्तिको जाना ही नहीं। अनन्त शक्तिमान ऐसे आत्मस्वभावकी ओर उन्मुख हुए बिना उसकी किसी शक्तिकी यथार्थ प्रतीति नहीं होती।

संसारमेंसे तो जीव कम होते हैं और सिद्धमें बढ़ते हैं;— यद्यपि संसारी जीवोंकी संख्या इतनी विशाल (अक्षय-अनन्त) है कि वह कभी कम होती ही नहीं; तथापि जितने जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं उतने संसारसे तो कम होते ही हैं। किन्तु आत्मामें तो ऐसी अपादानशक्ति है कि उसमें अनन्तानन्त पर्यायें होकर नष्ट हों तथापि उसके ध्रुव सामर्थ्यका एक अंश भी कम नहीं होता; ध्रुव अपादान शाश्वत ज्योंका त्यों है, उसमेंसे पर्यायें परिणमित होती ही रहती हैं। जिसप्रकार लोकव्यवहारमें कहा जाता है कि—"विद्या दीयते वर्द्धमानः" विद्या देनेसे उसमें वृद्धि होती है; उसीप्रकार यहाँ आत्मा ज्ञान विद्याका ऐसा लोकोत्तर ध्रुव भण्डार है कि उसमेंसे चाहे जितनी विद्या पर्यायमें आये तथापि उसकी शक्तिमें किंचित् न्यूनता नहीं आती; उसीप्रकार श्रद्धा गुणमेंसे सम्यग्दर्शनकी पर्यायें सादि अनन्तकाल तक प्रगट होती ही रहें तथापि उसकी शक्ति कम नहीं होती; आनन्दशक्तिमेंसे आनन्दका उपभोग करते ही रहो तथापि उसकी शक्ति रंचमात्र कम नहीं होती।—ऐसे अपने ध्रुव सामर्थ्यकी दृष्टि करके उसमें एकाग्रतासे धर्मात्मा निर्मल पर्यायरूपसे परिणमित होता ही रहता है। ध्रुव

सामर्थ्यवान आत्माकी पहिचान होनेपर उसको दृष्टिसे साधकका जहाज मोक्षपुरीमें पहुँच जाता है। जिसप्रकार समुद्रमें ध्रुवतारेके लक्षसे जहाज चले जाते हैं, उसीप्रकार ध्रुव चैतन्यके विश्वाससे साधकका जहाज पार हो जाता है; ध्रुव चैतन्यस्वभावको ही दृष्टिके ध्येयरूप रखकर साधक आत्माका जहाज निःशंकरूपसे सिद्धपुरीमें पहुँच जाता है। शरीर–मन–वाणी–पुण्य–पाप या पर्याय—इन सबका नाश होनेपर भी तेरा स्वभाव ध्रुव है, वह कभी नाशको प्राप्त नहीं होता और न उसमेंसे कुछ कम होता है, इसलिये हे जीव ! उस ध्रुवका आश्रय कर और अध्रुवका आश्रय छोड़। ध्रुवके आश्रयसे उस स्वभावमेंसे सदैव ज्ञान–आनन्दमय निर्मलपर्यायें ही प्रगट होती रहेंगी।—इसप्रकार ध्रुव चैतन्यस्वभावके विश्वाससे ही आत्माका जहाज संसार समुद्रसे पार होकर मोक्षपुरीमें पहुँच जाता है। अन्य कोई संसारसे पार होनेका उपाय नहीं है।

आत्माका स्वभाव ऐसे अपादानरूप है कि उसमेंसे निर्मल पर्यायोंकी पूर्ति होती ही रहती है। आत्मामें शुद्धताका ध्रुव अपादान होनेका स्वभाव है, परन्तु अशुद्धताका ध्रुव अपादान होनेका स्वभाव नहीं है। अशुद्धता आत्माके ध्रुव द्रव्य–गुणके साथ अभेद होती ही नहीं, इसलिये द्रव्य–गुण उसका अपादान नहीं है।

यह कर्ता, कर्म आदि सात विभक्तियाँ हैं, वे आत्माके स्वरूपको परसे विभक्त तथा स्व से एकत्व बतलाती हैं। कर्ता शक्ति अन्यके कर्तृत्वसे भिन्नता बतलाती है, कर्मशक्ति विभावकर्म तथा जड़कर्मसे भिन्नता बतलाती है, करणशक्ति अपने स्वभावको ही साधन बतलाकर अन्य साधनोंसे भिन्नता बतलाती है, सम्प्रदानशक्ति भिन्न सम्प्रदानका अभाव बतलाती है, अपादानशक्ति अपनेसे भिन्न अन्य अपादानसे पृथक्त्व बतलाती है, अधिकरणशक्ति अपना ही आधार बतलाकर भिन्न आधारकी उपेक्षा कराती है और सम्बन्धशक्ति परके

सम्बन्धसे रहितपना बतलाकर स्वमें एकता कराती है।—इसप्रकार आत्माकी यह सब शक्तियां आत्माको परसे भिन्न बतलाकर स्वभावमें एकता कराती हैं। श्री आचार्यदेवने समयसारके प्रारम्भमें ही कहा था कि—

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन ।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलेयं छलं न गृहीतव्यम् ॥५॥

जीवोंने जिसे अनादिकालसे नहीं जाना है ऐसा आत्माका एकत्व विभक्त स्वरूप मैं अपने समस्त आत्मवैभवसे दर्शाऊंगा; और तुम अपने आत्मवैभवसे उसे प्रमाण करना। इसप्रकार आचार्यदेवने आत्माको अनेक प्रकारसे स्वभावसे एकत्वरूप तथा परभावोंसे अत्यन्त विभक्तरूप बतलाकर भव्य जीवोंपर महान उपकार किया है।

यहाँ आत्माके ज्ञानादिका अपादान आत्मा स्वयं ही है, आत्मासे भिन्न अन्य कोई अपादान नहीं है;—ऐसा कहकर आत्माका एकत्व-विभक्त स्वरूप बतलाया है।

जिसमेंसे आये उसे अपादान कहा जाता है; ज्ञान कहाँसे आता है?

क्या शरीरमेंसे ज्ञान आता है?—नहीं; इसलिये शरीर वह ज्ञानका अपादान नहीं है।

क्या वाणी या शास्त्रमेंसे ज्ञान आता है?—नहीं; इसलिये वाणी या शास्त्र वह ज्ञानका अपादान नहीं है।

क्या रागमेंसे ज्ञान आता है?—नहीं; इसलिये राग वह ज्ञानका अपादान नहीं है।

आत्मामेंसे ही ज्ञान आता है, इसलिये आत्मा ही ज्ञानका अपादान है।

देखो, यह महान स्वामित्व! अपना ध्रुवस्वभाव ही महान स्वामी है। अंतर्दृष्टिमें अपने ध्रुव चिदानन्दस्वभावका ही स्वामित्व स्वीकार

किया है; उसीमें ऐसी शक्ति है कि सम्यग्दर्शनादिका रक्षण और पोषण करता है। अपनेमेंसे जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई उसे बनाए रखता है और जो प्रगट नहीं हुई वह अपनेमेंसे देता है—इसप्रकार आत्मा स्वयं ही अपना महान स्वामी है स्वयं ही अपने योग–क्षेमका कर्ता नाथ है।

आत्माके ध्रुवस्वभावसे हटकर वृत्तिका बाह्यमें भटकना वह संसारकी खान है, और आत्माका ध्रुवस्वभाव वह मोक्षकी खान है। इसलिये बाह्य पदार्थोंसे अत्यन्त भिन्नता जानकर अपने चिदानन्द ध्रुवस्वभावमें एकता कर, वही धर्म है और वही मोक्षका उपाय है।

इसप्रकार परसे विभक्त और स्वभावसे एकत्वरूप ऐसा आत्मा स्वयं ही अपने धर्मका अपादान है—ऐसा इस ४५ वीं शक्तिमें बतलाया है।

[—यहाँ ४५ वीं अपादान शक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

*

[४६]

अधिकरणशक्ति

आत्माके सम्यग्दर्शनरूपी जो पुत्र, उसका आधार कौन है ?—तो कहते हैं कि अधिकरण शक्तिरूपी माता ही उसका आधार है ।....जिसप्रकार लोकमें बालकको माताका आधार, शिष्यको गुरुका आधार, प्रजाको राजाका आधार.—ऐसे विभिन्न आधार कहे जाते हैं; उसीप्रकार आत्मामें धर्मका आधार क्या ?—तो कहते हैं कि अपनी अधिकरण शक्तिके कारण आत्मा स्वयं ही अपने धर्मका आधार है; अन्य किसी भिन्न आधारकी उसे आवश्यकता नहीं होती ।

वनवासके समय सीताको बाह्यमें रामका वियोग हुआ था, किन्तु अन्तरमें आतमरामका वियोग नहीं था.... वनवासके समय भी निःशंकरूपसे उन्हें भान है कि—मुझे अपने चिदानन्द स्वभावका ही आधार है...यह वन या सिंह–बाघकी गर्जनाएँ कोई भी प्रतिकूल संयोग मुझे अपने स्वभावका आधार छुड़ानेमें समर्थ नहीं हैं ! ऊपर आकाश और नीचे धरतीके सिवा सगे-सम्बन्धी कोई नहीं हैं, फिर भी मैं अशरण नहीं हूँ; अन्तरमें मेरा चिदानन्द स्वभाव ही महान आधार है—शरण है । राजमहल मुझे शरणभूत थे और इस जङ्गलमें मैं अशरण हूँ—ऐसा नहीं है; आत्माके अतिरिक्त सारा जगत मेरे लिये अशरण ही है ।

अब अधिकरण शक्तिमें आत्माके धर्मका आधार क्या है वह बतलाते हैं। "भाव्यमान भावके आधारपनेमयी ऐसी अधिकरणशक्ति आत्मामें है," इसलिये आत्मा स्वयं ही अपने सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप धर्मका आधार है; अन्य कोई आधार नहीं है।

जिसप्रकार लोकमें बालकको माताका आधार, शिष्यको गुरुका आधार, प्रजाको राजाका आधार, स्त्रीको पतिका आधार, रोगीको वैद्यका आधार, छतको स्तम्भका आधार—इसप्रकार विभिन्न आधार कहे जाते हैं; उसीप्रकार आत्मामें धर्मका आधार क्या है ?—आत्मामें ऐसी अधिकरणशक्ति है कि वह स्वयं ही अपने धर्मका आधार होता है; अन्य किसी भिन्न आधारकी उसे आवश्यकता नहीं होती। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप भाव वह धर्म है; और उस भावका भवन (—परिणमन) आत्माके ही आधारसे होता है; किसी अन्यके आधारसे नहीं होता; इसलिये आत्मा ही उसका अधिकरण है।

आत्माके सम्यग्दर्शनरूपी जो पुत्र, उसका आधार कौन है ?—तो कहते हैं कि अधिकरणशक्तिरूपी माता ही उसका आधार है; परमार्थतः आत्मा स्वयं ही अपनेको ज्ञान देता है इसलिये ज्ञानपर्यायरूपी जो शिष्य उसका गुरु आत्मा स्वयं ही है; स्वयं ही अपना गुरु है; निर्मलपर्यायरूपी जो प्रजा उसका आधार चैतन्यराजा स्वयं ही है। निर्मल परिणतिरूपी जो स्त्री उसे अपने स्वभावरूप चैतन्यपतिका ही आधार है; राग–द्वेष-मोहरूपी रोग चैतन्यस्वभावके आधारसे ही मिटता है इसलिये आत्मा स्वयं ही अपना वैद्य है; और मोक्ष दशारूपी जो छत उसे स्थिर रहनेके लिये स्तम्भ भी आत्मा स्वयं ही है; आत्माके स्वभावके आधारसे ही मोक्षदशा होती है।—इसप्रकार अपने भावका आधार आत्मा स्वयं ही है।

शरीर–मन–वाणी या राग आत्माके धर्मका आधार नहीं है; तथा आत्मा उन शरीर-मन-वाणीका या रागका आधार नहीं है;

वास्तवमें आत्मा अपनी निर्मल पर्यायका ही आधार है। जिसने अपने स्वभावको ही अपना आधार बनाया, उसे स्वभावके आधारसे निर्मल-पर्यायें ही होती हैं; स्वभावके आधारसे मलिन पर्यायें नहीं होतीं, इसलिये निर्मलपर्यायका ही आधार होना आत्माका स्वभाव है; मलिनताका आधार होना आत्माका स्वभाव नहीं है। आत्माका स्वभाव ही ऐसा है कि उसके आधारसे दुःखकी उत्पत्ति होती ही नहीं; उसके आश्रयसे तो आनन्दकी ही उत्पत्ति होती है। धर्मीकी श्रद्धामें अपने शुद्ध आत्माका ही आधार है, और उसके आधारसे उसे निर्मलपर्यायें ही होती रहती हैं।

देखो, आचार्यदेवने छह शक्तियोंमें आत्माका ही छह कारकोंरूपसे वर्णन किया है। आत्मा ही अपना कर्म, आत्मा ही अपना कर्ता, आत्मा ही अपना करण, आत्मा ही अपना सम्प्रदान, आत्मा ही अपना अपादान और आत्मा ही अपना अधिकरण—इसप्रकार छहों कारक आत्मासे अभिन्नरूप हैं; भिन्न पदार्थोंको कारक कहना वे वास्तवमें कारक हैं ही नहीं। निमित्तरूप छह कारकोंका आत्मामें त्रिकाल अभाव है और इन स्वभावरूप छह कारकोंका आत्मामें त्रिकाल सद्भाव है।—इसप्रकार छह कारकोंकी छह विभक्तियाँ और एक सम्बन्ध विभक्ति–यह सातों विभक्तियाँ आत्माको परसे विभक्त बतलाती हैं।

देखो, यह आत्माके धर्मका आधार बतलाते हैं। "निरोगी शरीर हो, आँख–कान आदि इन्द्रियाँ स्पष्ट हों, पैसा मकान आदिकी सुविधा हो तो उसके आधारसे धर्म होता है"—ऐसा कोई माने तो आचार्यदेव उससे कहते हैं कि तू मूढ़ है; क्या तेरे आत्मामें तेरे धर्मका आधार हो—ऐसी अधिकरणशक्ति नहीं है जो तुझे दूसरोंका आधार लेना पड़े? भाई, तेरा आत्मा ही तेरे धर्मका आधार है; तेरा असंख्य प्रदेशी चैतन्यक्षेत्र ही तेरे सम्यग्दर्शनादि धर्मका आधार है; इसके सिवा बाह्य क्षेत्रके आधारसे तेरा धर्म नहीं है। "अहो! महाविदेह क्षेत्रमें तो धर्मका स्रोत बह रहा है;"—इसप्रकार जहाँ महाविदेहक्षेत्रकी बात

आये वहाँ मानो उस क्षेत्रके आधारसे ही धर्म होगा—इसप्रकार अज्ञानीकी दृष्टि बाह्यमें जाती है। किन्तु उस महाविदेहक्षेत्रमें विचरनेवाले धर्मात्मा स्वयं तो ऐसा जानते हैं कि हमारा असंख्य प्रदेशी चैतन्यमूर्ति आत्मा ही हमारे धर्मका आधार है, यह बाह्यक्षेत्र कहीं हमारे धर्मका आधार नहीं है।—ऐसा जाननेके पश्चात् व्यवहारसे धर्मका बहुमान करनेके लिये ऐसा कहा जाता है कि "अहो ! महाविदेहक्षेत्र तो धर्मकी भूमि है......उस भूमिके आधारसे सीमंधरादि तीर्थङ्कर तथा लाखों केवली भगवन्त और करोड़ों सन्त साक्षात् विचर रहे हैं; उस भूमिमें धर्मकी खूब पैदावार होती है।"

उसीप्रकार मोक्षगामी सन्तोंका स्मरण करनेके लिये भक्तिसे ऐसा कहा जाता है कि—"अहो ! इस सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्रके आधारसे तो अनन्त तीर्थंकरों और सन्तोंने मोक्ष प्राप्त किया है......यह तो शाश्वत तीर्थ है और इसका प्रत्येक रजकण पूज्य।"—ऐसी भक्तिको सच्चा व्यवहार कब कहा जाता है ?—कि तीर्थंकर और सन्त चैतन्यस्वभावको अधिकरण बनाकर जिस भावसे मुक्तिको प्राप्त हुए हैं उस भावको जानकर अपनेमें भी वैसा भाव प्रगट करे तब।—ऐसी भावना होती है कि अहो ! ऐसा स्वावलम्बी भाव प्रगट कर करके पूर्वकालमें अनन्त तीर्थंकरों और सन्तोंने यहाँसे मोक्ष प्राप्त किया है।—इसप्रकार इसमें तो स्वावलम्बी भावकी प्रधानता आती है। ऐसे स्वावलम्बी भावको जाने बिना मात्र बाह्य क्षेत्रको ही अपनी मुक्तिका आधार मानकर उसीका बहुमान करता रहे तो उसे मात्र पुण्यबन्ध होगा किन्तु धर्मलाभ नहीं हो सकता। धर्म तो चैतन्य स्वभावके ही आधारसे होता है।

जिसप्रकार लकड़ीके मुलायम टुकड़े पर गहने नहीं गढ़े जाते; उसके लिये तो लोहेकी एरनका आधार होना चाहिये; उसीप्रकार शरीर–इन्द्रियाँ या रागादि तो मुलायम हैं उनके आधारसे धर्मकी गढ़ाई (धर्मका निर्माण) नहीं हो सकती। कठिन चैतन्यघन ऐसा जो आत्मस्वभाव, उसीके आधारसे धर्मकी गढ़ाई—धर्मका निर्माण होता है।

इन छह कारक शक्तियोंके वर्णन द्वारा तो आचार्यदेवने स्व-परको एकदम विभक्त बतलाकर भेदज्ञान कराया है। आत्मा स्वयंही अपनी शक्तिसे छह कारणरूप होता है; अन्य कारकोंकी उसे अपेक्षा नहीं है।

निमित्त वे आत्माके कर्ता नहीं हैं;
निमित्त वे आत्माका कर्म नहीं हैं;
निमित्त वे आत्माका साधन नहीं हैं;
निमित्त वे आत्माका सम्प्रदान नहीं हैं;
निमित्त वे आत्माका अपादान नहीं हैं;
निमित्त वे आत्माका अधिकरण नहीं हैं।

आत्मा स्वयं स्वभावसे ही अपने भावका कर्ता है; स्वयं ही कर्म है, स्वयं ही करण है, स्वयं ही सम्प्रदान है, स्वयं ही अपादान है और स्वयं ही अधिकरण है। अपनी शक्तिसे ही स्वयमेव छह कारकरूप होकर सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित होता है।

सम्यग्दर्शन हो उसका आधार कौन? शरीर, लक्ष्मी या इन्द्रियाँ उसका आधार नहीं हैं, शुभभाव भी उसका आधार नहीं है और मात्र पर्यायका आधार लेनेसेभी सम्यग्दर्शन नहीं होता; अधिकरण शक्तिसे आत्मा स्वयं ही परिणमित होकर सम्यग्दर्शनका आधार होता है। सम्यग्दर्शन वह भाव्यमान भाव है और आत्मा उसका आधार है। धर्मी जीव अपने आत्मस्वभावको ही आधाररूपसे भाता है; अपने स्वभावका ही आधार लेकर सम्यग्दर्शनादिरूपसे परिणमित होता है; इसके अतिरिक्त व्यवहारका, रागका या निमित्तका आधार धर्मी नहीं मानते।

एक ओर कहे कि आत्मस्वभावके आधारसे धर्म होता है और फिर कहे कि व्यवहारके–रागके–या निमित्तके आधारसे भी धर्म होता है, तो यह दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। आत्मस्वभावके

आधारसे ही धर्म होता है—ऐसा जो जानता है वह व्यवहार—राग या निमित्तके आधारसे धर्म मानता ही नहीं। और जो व्यवहार, राग या निमित्तके आधारसे धर्म मानता है उसने धर्मके सच्चे आधाररूप आत्मस्वभावको माना ही नहीं है। व्यवहारका—रागका या निमित्तका आधार लेनेसे तो विकारकी ही उत्पत्ति होती है; और यदि उसे धर्मका कारण माने तो मिथ्यात्व होता है। आत्मस्वभावके आधारसे तो निर्मलपर्यायकी ही उत्पत्ति होती है, इसलिये आत्मा निर्मल पर्यायका आधार है। यहाँ आधार और आधेय (द्रव्य और पर्याय) दोनों भिन्न नहीं किन्तु अभेद हैं। जिसप्रकार, गहनोंकी गढ़ाईका आधार एरन;—इस दृष्टान्तमें तो एरन भिन्न है, किन्तु यहाँ निर्मलपर्यायके आधाररूप द्रव्य कहीं उससे भिन्न नहीं है; द्रव्य स्वयं उस निर्मलपर्यायमें अभेद होकर परिणमित हुआ है। जिसप्रकार—एरनके आधारसे जितने गहने गढ़ना हों उतने तथा जैसे गढ़ना हों वैसे गढ़े जाते हैं; उसीप्रकार आत्मस्वभावके आधारसे जितनी निर्मल पर्याय करो उतनी तथा जैसी करना हो वैसी होती है; सम्यग्दर्शनसे लेकर सिद्धपद तककी समस्त निर्मल पर्यायोंका आधार होनेकी शक्ति आत्मस्वभावमें है। आत्मा स्वयं आधाररूपसे ध्रुव रहकर अपने ही आधारसे सम्यग्दर्शनादि पर्यायरूप होता है।—ऐसा आत्मा ही परम शरणभूत–परम आधारभूत है। जो जीव ऐसे आत्मस्वभावका आधार लेता है वह सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र और सिद्धपदको प्राप्त होता है; और जो जीव आत्मस्वभावका आश्रय छोड़कर परका आधार लेने जाता है वह निराधाररूपसे संसारमें परिभ्रमण करता है।

आत्माका स्वभाव त्रिकाल है;
विभाव क्षणिक है; और
संयोग अभावरूप हैं।

अब, यदि आत्मा अपने स्वभावका आश्रय छोड़कर संयोगका आश्रय लेने जाये तो वे संयोग कहीं उसे आधारभूत नहीं होते; मात्र

आकुलता और विभावकी उत्पत्ति होती है। और यदि संयोगका आश्रय छोड़कर अपने स्वभावका आश्रय करे तो उसके आधारसे निराकुल शांति होती है। धर्मात्मा जानता है कि चाहे जिस प्रसंगमें, चाहे जिस क्षेत्रमें मुझे अपने आत्माका ही आधार है......महलमें या जंगलमें मेरा आत्मा ही मुझे शरणभूत है। देखो, सीताजी धर्मात्मा थीं......जब चरम शरीरी लव और अंकुश उनके गर्भमें आये तब उनके मनमें आकांक्षा जागृत हुई कि मैं सम्मेद शिखर आदि तीर्थोंकी यात्रा करूं। और ठीक उसी समय नगरजनोंने आकर रामचन्द्रजीसे लोकापवादकी बात कही। रामचन्द्रजीने सेनापतिको बुलाकर आदेश दिया कि—"सीताको सम्मेदशिखर आदि तीर्थों तथा जिन बिम्बोंकी वंदना कराओ और उनकी इच्छा पूर्ण होनेपर फिर सिंहनाद नामक भयानक वनमें अकेली छोड़दो।" सीताजीने हर्ष सहित भक्तिभावसे तीर्थ वंदना की... सिंहनाद वन आनेपर रथको रोककर सेनापति एकदम रो उठते हैं..... तब सीताजी पूछती हैं कि "अरे सेनापति ! क्या होगया तुम्हें ? तीर्थ वन्दनाके इस शुभ अवसर पर तुम शोक क्यों कर रहे हो ?" सेनापतिकी आँखोंसे आंसू बह रहे हैं। वे कहते हैं "हे माता ! जिसप्रकार मुनिवर रागपरिणतिका त्याग कर देते हैं, उसीप्रकार श्री रामचन्द्रजीने लोकापवादके भयसे आपको वनमें अकेली छोड़ देनेका आदेश दिया है।" सेनापतिके शब्द कानोंमें पड़ते ही सीताजी मूर्छित होगईं...देखो, उस मूर्छाके समय भी धर्मात्मा सीताजीके अंतरमें भान है कि चाहे जिस प्रसंग पर अपने धर्मके लिये मुझे अपने आत्माका ही आधार है।—फिर सचेत होनेपर श्री रामचन्द्रजीको संदेश पहुँचाती हैं कि—"हे सेनापति ! मेरे रामसे कहना कि लोकापवादके भयसे मेरा त्याग कर दिया, किन्तु जैन धर्मको मत छोड़ना। अज्ञानी लोग जिन धर्मकी भी निन्दा करें तो उस निन्दाके भयसे सम्यग्दर्शनको मत छोड़ देना......चौविध संघकी सेवा करना.....मुनियों एवं अर्जिकाओंको भक्ति पूर्वक आहार दान देना...देखो, ऐसे दुःखद प्रसंग पर भी सीताजीको अंतर स्वभावके

आश्रयसे धर्मोल्लास उत्पन्न हुआ है......अन्तरमें धर्मके आधारभूत स्वभावका आश्रय है उसीके आधारसे यह उल्लास पैदा हुआ है...... अहो ! मैं भले ही वनमें अकेली रह गई, किन्तु मेरे अन्तरमें धर्मका आधार विद्यमान है, उसे मैं नहीं छोड़ती......और मेरे रामसे कहना कि वे भी धर्मको न छोड़ें'। इसप्रकार धर्मको ही शरणभूत जानकर धर्मात्मा उसीका आश्रय लेते हैं। अज्ञानी तो संयोगमें और आकुलतामें एकाकार होकर अन्तरके आधारको भूल जाते हैं। धर्मात्माको भी किंचित् आकुलता और शोक होजाता है, किन्तु वे आत्माके आधारको भूलकर शोकमें या संयोगमें एकाकार नहीं हो जाते। संयोगको अपने धर्मका आधार स्वप्नमें भी नहीं मानते; इसलिये सभी प्रसंगों पर स्वभावके आधारसे सम्यक श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्मतो वर्तता ही रहता है। साधारण जीवोंके लिये धर्मात्माके हृदयकी पहिचान करना कठिन है।

जहाँ शेर, चीते घूम रहे हैं ऐसे भयानक वनमें सीताजी अकेली बैठी हैं। उदरमें लव और अंकुश जैसे दो चरम शरीरी पुत्र पड़े हैं....शेर, चीतोंकी दहाड़ें सुनाई देती हैं। अरे ! यह शेर आया.... चीता आया....! किंचित् भय भी लगता है; तथापि स्वभावमें तो उस समय भी निःशंक हैं कि अरे ! मैंने तो अपने चैतन्यका आधार लिया है......यह जंगल, यह शेर, चीतोंकी गर्जनाएँ—कोई भी संयोग मुझे अपने स्वभावका आधार छुड़ानेमें समर्थ नहीं हैं। ऊपर आकाश और नीचे धरती......भले ही कोई सगे सम्बन्धी नहीं हैं किन्तु मैं अशरण नहीं हूँ; अन्तरमें मेरा चिदानन्द स्वभाव ही महान शरण है। देखो, सीताजी कहाँ हैं ? क्या जंगलमें हैं ?—नहीं, क्या संकटमें हैं ?—नहीं; अपनी आत्मामें हैं ? अंतरमें चैतन्य स्वभावकी शरण लेनेसे जो श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दके परिणाम होते हैं उन्हींमें सीताजीका आत्मा वर्त रहा है। आधारभूत ऐसे अपने स्वभावकी शरणको प्रतिक्षण दृढ़ करती हैं। बाह्यमें जो कुछ होना हो सो हो; किन्तु अन्तरमें जो चैतन्यका महान आधार है वह नहीं छूट सकता; उस चैतन्यके आधारसे हमें दुःख नहीं

किन्तु आनन्द ही है। आँखोंसे आँसू बह रहे हैं; फिर भी भान है कि—मेरा आत्मा इन आँसुओंका आधार नहीं है; किंचित् खेदके परिणाम होते हैं उनका आधार भी आत्मा नहीं है; मेरा आत्मा तो ज्ञान—आनन्दका ही आधार है। यह स्त्रीका शरीर मैं नहीं हूँ; इस भयानक जंगलमें या विशाल राजमहलमें रहनेवाले हम नहीं हैं। महल हमें शरणभूत थे और जंगलमें हम अशरण होगये—ऐसा नहीं है। अपने आत्माके सिवा सारा जगत हमारे लिये अशरण ही है।

—देखो, यह मात्र ऐसे विकल्प या विचारकी बात नहीं है, किन्तु आत्मबलसे अन्तरमें ऐसे अभिप्रायका निर्विकल्प परिणमन चैतन्यस्वभावके आधारसे होगया है; वह प्रतिक्षण, प्रत्येक प्रसंग पर वर्तता हो रहता है; उसकी यह बात है। चैतन्यस्वभावके आधारसे जो सम्यक् श्रद्धा—ज्ञान—चारित्ररूप परिणमन हुआ वही धर्म है।

आत्माके स्वभावमें ऐसी शक्ति है कि चाहे जैसे प्रतिकूल प्रसंगमें भी वह आधारभूत होता है और उसके आश्रयसे शांति मिलती है। सातवें नर्ककी घोर प्रतिकूलतामें पड़े हुए नारकियोंमें भी कोई कोई जीव पूर्वकालकी देशनालब्धिके संस्कारोंका आधार लेकर—अन्तरमें अपने चैतन्यस्वभावके आश्रयसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं और ऐसी अपूर्व आत्मशांतिका वेदन करते हैं कि स्वर्गके मिथ्यादृष्टि देवोंको भी उसकी गंध तक नहीं होती। आत्माका आधार लिये बिना बाह्यमें किसीके आधारसे सुख या शांति लेना चाहे तो वह तीन काल—तीनलोकमें कहीं प्राप्त नहीं हो सकती। किन्हीं भी संयोगोंमें किसी भी क्षण अपने स्वभावकी ओर उन्मुख होकर उसका आश्रय करनेसे सुख एवं शांतिका अनुभव होता है।

भाव्यमान भावका आधार हो ऐसी आत्माकी शक्ति है। ज्ञानी भावक होकर निर्मल भावको भाता है और अज्ञानी भावक होकर विकारकी भावना करता है। ज्ञानी तो स्वभावके आधारसे निर्मल

भाव प्रगट करके उन्हींके आधारसे परिणमित होता है। अज्ञानी अपने आत्माको विकारका ही आधार मानकर मात्र विकाररूपसे परिणमित होता है; निर्मल पर्यायके आधाररूप अपने शुद्ध स्वभावको वह नहीं जानता; इसलिये बाह्य आधारसे निर्मलता प्रगट करना चाहता है यह उसकी बाह्य दृष्टि है। चैतन्यका आधार छोड़कर जो बाह्यमें अपना आधार ढूंढ़ता है वह भले ही महान सम्राट हो तथापि भिखारी ही है; क्योंकि वह दूसरोंसे अपने ज्ञान–आनन्दकी भीख मांगता है। और "मैं ही अपने आनन्दका आधार हूँ, अपने ज्ञान-आनन्दके लिये मुझे अन्य किसी आधारकी आवश्यकता नहीं है"—ऐसी स्वभावदृष्टि करनेवाला सम्यक्त्वी कदाचित् नर्कमें हो तथापि वह महान सम्राट है।

शरीर या राग वह आत्माके धर्मका आधार नहीं है; क्योंकि शरीर और राग छूट जाने पर भी सम्यग्दर्शनादि बने रहते हैं, इसलिये वे कोई धर्मका आधार नहीं हैं; तथा आत्मा शरीरका या रागका आधार नहीं है। संसारका आधार ही आत्मा नहीं है; वह तो मोक्षका ही आधार होता है—ऐसा उसका स्वभाव है।

ऐसा सिद्धान्त है कि—केवली या श्रुतकेवलीके पादमूलमें ही क्षायिक सम्यक्त्व होता है; किन्तु उसमें तो यह बतलाया है कि उस समय कैसा निमित्त होता है। कहीं वह निमित्त इस जीवके क्षायिक सम्यक्त्वका आधार नहीं है; सम्यग्दर्शनका आधार आत्मा स्वयं ही है; आत्माके आधारसे ही वह परिणमन होता है।

जिसका जो आधार हो वह उससे अभिन्न होता है; भिन्न नहीं होता। यदि वस्तुमें अपना आधार होनेकी शक्ति न हो तथा भिन्न आधार हो तो अनवस्था दोष आजायें; आधारकी परम्परा कहीं न रुके। जैसे—कोई ऐसा कहे कि—आत्माका आधार यह शरीर, शरीरका आधार ? मकान; मकानका आधार ?—यह जम्बूद्वीप; जम्बूद्वीपका आधार ?—मध्यलोक; मध्यलोकका आधार ?—लोक; और लोकका

आधार ?—अलोक; तो अलोकका आधार कौन होगा ? अलोक से विशाल तो कोई है ही नहीं जिसे उसका आधार कहा जाये। इसलिये अलोकका आधार अलोक ही है, कोई भिन्न आधार नहीं है; तो फिर अलोककी भाँति जगतके अन्य पदार्थोंको भी निश्चयसे अपना–अपना ही आधार है, परका आधार नहीं है। समयसारमें भी आकाशका उदाहरण देकर भेदज्ञानकी अद्भुत बात समझाई है। वहाँ कहते हैं कि जब अकेले आकाशको ही लक्षमें लेकर उसके आधारका विचार किया जाये तब आकाशको अन्य किसी द्रव्यका आधार नहीं कहा जा सकता, इसलिये कोई भिन्न आधार लक्षमें नहीं आता। एक आकाश ही आकाश में है—ऐसा भलीभाँति समझमें आता है और ऐसा समझनेवालेको भी परके साथ आधार-आधेयपना भासित नहीं होता। उसीप्रकार मात्र ज्ञानस्वभावको लक्षमें लेकर उसके आधारका विचार किया जाये तो ज्ञानसे भिन्न अन्य किसी द्रव्यका आधार दिखाई नहीं देता; एक ज्ञान ही स्वयं अपनेमें ही है—ऐसा भलीभाँति समझमें आता है; और ऐसा समझनेवाले को अपने ज्ञानस्वभावसे भिन्न अन्य किन्हीं पदार्थोंके साथ अपना आधार–आधेयपना भासित नहीं होता। ऐसा अपूर्व भेदज्ञान होनेसे स्वयं अपने ज्ञानस्वभावके आधारसे ज्ञानरूप ही परिणमित होता है और राग–द्वेष–मोहकी उत्पत्ति नहीं होती।—यह संवर होनेका उपाय है।—(देखो, संवर–अधिकार गाथा १८१–८२–८३)

देखो, निरालम्बी आकाशका उदाहरण देकर आत्माका ज्ञानस्वभाव समझाया है। अहो ! समस्त लोक निरालम्बी है। चारों ओर तथा ऊपर–नीचे अनंतानंत अलोकाकाशके मध्यमें ३४३ घनराजु प्रमाण यह लोक शाश्वत विद्यमान है। अनंतानंत जीव–पुद्गलोंसे वह परिपूर्ण है। इस लोकके नीचे कोई आधार नहीं है अथवा ऊपरसे किसी रस्सीके आधारसे नहीं लटक रहा है तथा किसीने इसे धारण नहीं कर रखा है; तथापि यह लोक नीचे नहीं गिर पड़ता। लोकके नीचे बिलकुल रिक्त स्थान ही है तथापि वह नीचे नहीं उतर जाता; ज्योंका

त्यों निरालम्बीरूपसे स्थित है। जिसप्रकार लोक ज्योंका त्यों निरालम्बीरूपसे स्थित है, उसीप्रकार लोकके समस्त पदार्थ भी निरालम्बीरूपसे अपने–अपने स्वरूपमें स्थित हैं; उन्हें किसी भिन्न आधारकी अपेक्षा नहीं है। अहा ! देखो तो यह वस्तुस्वभाव !

पुनश्च, समवशरणमें विराजमान सर्वज्ञ परमात्माके नीचे रत्नमणिका दैवी सिंहासन होता है, किन्तु भगवानका शरीर उस सिंहासनका स्पर्श नहीं करता; भगवान तो सिंहासनसे चार अंगुल ऊपर–निरालम्बीरूपसे आकाशमें विराजमान होते हैं।

भगवानका आत्मा तो अपने स्वभावके आधारसे परिपूर्ण वीतरागी निरालम्बी होगया है और वहाँ शरीरका स्वभाव भी निरालम्बी होगया है। किसी भी बाह्यपदार्थके अवलम्बन बिना भगवानका आत्मा परिपूर्ण ज्ञान–आनन्दरूपसे परिणमित होरहा है। समस्त आत्माओंका ऐसा निरालम्बी स्वभाव है। किन्तु मूढ़-अज्ञानी जीवोंको बाह्य अवलंबनकी मिथ्याबुद्धि दूर नहीं होती और वे आत्माका अवलम्बन नहीं लेते। इसलिये इस अधिकरणशक्तिमें आचार्यदेवने समझाया है कि हे जीव ! स्वयं ही अपने धर्मका आधार हो ऐसी तेरे आत्माकी शक्ति है, इसलिये तू अपने आत्मस्वभावका ही अवलम्बन ले.....तथा दूसरोंके अवलम्बनकी बुद्धि छोड़।

[अहा ! कैसा निरालम्बी तत्त्व !]

[—यहाँ ४६ वीं अधिकरणशक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

* * *

[४७]

सम्बन्धशक्ति

इस जगतमें मेरा कौन है और किसके साथ मुझे परमार्थ सम्बन्ध है—उसके भान बिना, परको अपना मानकर, परके साथ सम्बन्ध जोड़कर जीव संसारमें भटक रहा है। आत्माका "स्व" क्या है और वास्तविक सम्बन्ध किसके साथ है—वह इस "सम्बन्धशक्ति" में बतलाया है। यह सम्बन्धशक्ति भी आत्माका परके साथ सम्बन्ध नहीं बतलाती, किन्तु अपनेमें ही स्व–स्वामी सम्बन्ध बतलाकर परके साथका सम्बन्ध तुड़वाती है;—इसप्रकार परसे भिन्न आत्माको बतलाती है। आत्मा ज्ञान–दर्शन–आनन्द स्वरूप अपने भावका ही स्वामी है, और वे भाव ही आत्माका स्व हैं,–ऐसा जानकर, स्वभावके साथ सम्बन्ध जोड़ना और परके साथ सम्बन्ध तोड़ना—ऐसा एकत्व–विभक्तपना वह समयसारका तात्पर्य है, तथा उस एकत्व–विभक्तपनेमें ही आत्माकी शोभा है।

यह भगवान आत्मा अपनी ज्ञान क्रियामें अनन्तशक्तिसे उल्लसित हो रहा है; उसके ज्ञानमात्र भावमें अनन्त धर्म एकसाथ परिणमित हो रहे हैं, इसलिये आत्मा अनेकान्तमूर्ति है। ऐसे अनेकान्तमूर्ति

आत्माकी ४७ शक्तियोंका श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने अद्भुत वर्णन किया है। उनमें से ४६ शक्तियोंका भावपूर्ण सरस विवेचन हो चुका है; अब अन्तिम सम्बन्धशक्ति है। "स्वभावमात्र स्वस्वामित्वमयी सम्बन्धशक्ति आत्मा है।"

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनन्दरूप जो अपना भाव है वही आत्माका स्वधन है और उसीका आत्मा स्वामी है; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ आत्माका स्व नहीं है और आत्मा उसका स्वामी नहीं है। देखो, यह सम्बन्धशक्ति! सम्बन्धशक्ति भी आत्माका परके साथ सम्बन्ध नहीं बतलाती, किंतु परके साथका सम्बन्ध तुड़वाकर स्वमें एकता कराती है;— इसप्रकार आत्माके एकत्व-विभक्त स्वरूपको बतलाती है। सम्यक्त्वी धर्मात्मा ऐसा अनुभव करता है कि—

"हुं ऐक शुद्ध सदा अरूपी ज्ञान–दर्शनमय खरे,
कंई अन्य ते मारुं जरी परमाणुमात्र नथी अरे!"

यह एक शुद्ध ज्ञान दर्शनमय सदा अरूपी आत्मा ही मैं हूँ; वही मेरा स्व है, इसके अतिरिक्त जगतमें अन्य कुछ—एक परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है। स्वयं अपने आत्मस्वभावकी ओर उन्मुख होकर स्वमें एकतारूपसे परिणमित हुआ, वहाँ किसी भी परद्रव्यके साथ किंचित् सम्बन्ध भासित नहीं होता।

ऐसे परसम्बन्धसे रहित शुद्ध आत्माको देखना ही धर्म है, वही जैनशासन है। आचार्य कुन्दकुन्द प्रभु कहते हैं कि—जो पुरुष आत्माको अबद्धस्पृष्ट (अर्थात् कर्म बन्धन रहित तथा सम्बन्ध रहित), अनन्य, अविशेष तथा नियत देखता है वह सर्व जिनशासनको देखता है; जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं....... पस्सदि जिणसासणं सव्वं........" जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—ऐसे पांच भावों स्वरूप आत्माकी अनुभूति है वह निश्चयसे समस्त जिनशासनकी अनुभूति है...देखो, आचार्य भगवान स्पष्ट कहते हैं कि—परके सम्बन्धसे रहित शुद्ध आत्माकी अनुभूति ही

जैनधर्म है। वास्तवमें आत्माका स्वभाव रागके भी सम्बन्धसे रहित है। जो जीव अपने आत्माको कर्म सम्बन्धवाला और विकारी ही देखता है किन्तु कर्मके सम्बन्धसे रहित तथा रागादि रहित ऐसे अपने शुद्धस्वभावको नहीं देखता उसने जिनशासनको नहीं जाना है और उसके आत्मामें जैनधर्म प्रगट नहीं हुआ है। ज्ञान-दर्शनस्वभाव ही मैं हूँ, तथा ज्ञान–दर्शन स्वभावसे भिन्न जो भाव हैं वह मैं नहीं हूँ; वे सब मेरे स्वरूपसे बाह्य हैं।—इसप्रकार ज्ञान-दर्शन स्वभावमें एकत्वरूपसे तथा अन्य समस्त पदार्थोंसे विभक्तरूपसे अपने आत्माका अनुभव करना सो जैनधर्म है। ऐसे आत्माको जाने बिना सचमुच जैनत्व नहीं होता।

इस जगतमें मेरा क्या है और किसके साथ मुझे परमार्थ सम्बन्ध है, उसके भान बिना, परको ही अपना मानकर जीव संसारमें भटक रहा है। परद्रव्य कभी अपना हो ही नहीं सकता; तथापि परको अपना मानकर वह जीव मोहके कारण दुःखी ही होता है। जो परको पररूप जाने और स्वको ही स्व-रूपसे जाने वह निःशंकरूपसे अपने स्वरूपमें एकाग्रतासे सुखी ही होगा।

दुःखका मूल क्या है ?

—परद्रव्यको अपना मानना वह।

सुखका मूल क्या ?

—स्व-परका भेदज्ञान करना वह।

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धाः बद्धा ये किल केचन॥

जो जीव सिद्ध हुए हैं वे भेदज्ञानसे ही सिद्ध हुए हैं; जो जीव बद्ध हुए हैं वे भेदज्ञानके अभावसे ही बद्ध हुए हैं।

भेदज्ञान क्या है उसका यह वर्णन चल रहा है। आत्माके ज्ञान दर्शन स्वभावके अतिरिक्त अन्य कहीं भी स्वामित्व माने तो उस जीवको भेदज्ञान नहीं किन्तु अज्ञान है। धर्मी अपने आत्माको कैसा ध्याते हैं वह प्रवचनसारमें कहते हैं—

नाहं भवामि परेषां न मे परे सन्ति ज्ञानमहमेकः ।
इति यो ध्यायति ध्याने स आत्मा भवति ध्याता ॥१९१॥

"मैं परका नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं"—इसप्रकार स्व-परके परस्पर स्व-स्वामिसम्बन्धको छोड़कर, "शुद्धज्ञान ही एक मैं हूँ"—इसप्रकार अनात्माको छोड़कर, आत्माको ही आत्मारूपसे ग्रहण करके, पर द्रव्यसे भिन्नत्वके कारण आत्मारूपी ही एक अग्रमें (ध्येयमें) चिन्ताको रोकता है......वह आत्मा वास्तवमें शुद्धात्मा होता है।" देखो, धर्मी जीव अपने आत्मामेंसे परद्रव्यके सम्बन्धको हटा देता है और एक शुद्ध ज्ञानस्वरूपसे हो अपने आत्माको ध्याता है। "प्रथम तो मैं स्वभावसे ज्ञायक ही हूँ; मात्र ज्ञायक होनेसे मेरा विश्वके साथ भी सहज ज्ञेय-ज्ञायक लक्षण सम्बन्ध ही है; परन्तु अन्य स्वस्वामिलक्षणादि सम्बन्ध नहीं हैं; इसलिये मुझे किसीके प्रति ममत्व नहीं है, सर्वत्र निर्ममत्व ही है।" मोक्षाधिकारी जीव ऐसे ज्ञायकस्वभावी आत्माका निर्णय करके सर्व उद्यमसे अपने शुद्धात्मामें ही वर्तता है। (देखो, प्रवचनसार गाथा २०० टीका ।) जो जीव परके साथ कर्ता-कर्मपना, स्वस्वामिपना आदि सम्बंध किंचित् भी माने, वह जीव परका ममत्व छोड़कर अपने ज्ञायक स्वभावमें प्रवर्तमान नहीं हो सकता, वह तो राग-द्वेष-मोह में ही वर्तता है; वह वास्तवमें मोक्षका अधिकारी नहीं है।

देखो, आत्माको किसके साथ सच्चा सम्बन्ध है वह बतलाते हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि—

"हुं कोण छुं ? क्यां थी थयो ? शुं स्वरूप छे मारुं खरुं ?
कोना सम्बन्धे वलगणा छे ? राखुं के ए परिहरुं ?
एना विचार विवेक पूर्वक शांत भावे जो कर्या,
तो सर्व आत्मिक ज्ञाननां सिद्धांत तत्त्वो अनुभव्यां।"

धर्मी जानता है कि मैं तो ज्ञान दर्शन स्वभावी आत्मा हूँ; ज्ञान-दर्शन स्वभाव ही मेरा स्व है और उसीका मैं स्वामी हूँ; इसके

अतिरिक्त अन्य किसीका मैं स्वामी नहीं हूँ; तथा अन्य कोई मेरा स्वामी नहीं है। यह कुटुम्ब–स्त्री–धन–शरीर कोई मेरा स्व नहीं है और मैं उनका स्वामी नहीं हूँ, नियमसारमें कहते हैं कि–यह स्त्री–पुत्रादिक कोई तेरे सुख–दुःखके भागीदार नहीं होते; वह तो अपनी आजीविकाके लिये ठगोंका गिरोह तुझे मिला है; यदि तू उन्हें अपना मानेगा तो ठगा जायेगा। (देखो, नियमसार गाथा १०१ की टीका ।) यह स्त्री–पुत्रादि कोई वास्तवमें इस आत्माके सम्बन्धी नहीं हैं। तीर्थंकर भगवान आदि आराधक जीव माताके गर्भमें हों उस-समय भी अपने आत्माको ऐसा ही जानते हैं; परके साथ किंचित् सम्बन्ध नहीं मानते। क्योंकि—

को नाम भणेद्बुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यम् ।
आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन् ॥ २०७ ॥
मम परिग्रहो यदि ततोऽहम जीवतां तु गच्छेयम् ।
ज्ञातैवाहं यस्मात्तस्मान्न परिग्रहो मम ॥ २०८ ॥

“जो जिसका स्वभाव है वह उसका स्व (धन, सम्पत्ति) है, और वह उसका (स्व-भावका) स्वामी है;—इसप्रकार सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टिके अवलम्बनसे ज्ञानी अपने आत्माको ही आत्माका परिग्रह नियमसे जानता है; इसलिये “यह मेरा स्व नहीं है, मैं इसका स्वामी नहीं हूँ”–ऐसा जानता हुआ परद्रव्यका परिग्रहण नहीं करता।”

(—समयसार गाथा २०७ टीका)

पुनश्च, ज्ञानी कहते हैं कि—“ यदि मैं अजीव परद्रव्यका परिग्रहण करूँ तो अवश्यमेव वह अजीव मेरा स्व हो; मैं भी अवश्यमेव उस अजीवका स्वामी होऊँ; और अजीवका जो स्वामी वह वास्तवमें अजीव ही होता है। इसप्रकार विवश (लाचारीसे) भी मुझे अजीवपना आजायेगा। मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही स्व है और उसीका मैं स्वामी हूँ; इसलिये मुझे अजीवपना न हो; मैं तो ज्ञाता ही

रहूँगा; परद्रव्यका परिग्रहण नहीं करूंगा। (—समयसार गाथा २०८ टीका।)

आठ वर्षकी बालिका भी यदि सम्यक्त्व प्राप्त करले तो वह भी अपने आत्माको ऐसा ही जानती है। फिर बड़ी होने पर उसका विवाह हो तब भी अपने अंतर् अभिप्रायमें अपने ज्ञायक स्वभावी आत्माके सिवा अन्य किसीको वह अपना स्वामी नहीं मानती। और यदि पति धर्मात्मा हो तो वह भी ऐसा नहीं मानता कि "मैं इस स्त्रीका स्वामी हूँ"; मै तो अपने ज्ञानका ही स्वामी हूँ—ऐसा धर्मी जानता है। पति–पत्नीके रूपमें एक दूसरेके प्रति जो राग है उसे वे अपने दोषरूप मानते हैं और ज्ञायक–स्वभावमें उस रागका स्वामित्व भी स्वीकार नहीं करते। हमारे ज्ञायक स्वभावके आश्रयसे जो सम्यग्दर्शनादि भाव प्रगट हुए हैं वही हमारा "स्व" है और उसीके हम स्वामी हैं;—इसप्रकार मात्र अपने स्वभावमें ही स्व–स्वामिपना जानते हैं। इसके अतिरिक्त शरीर या रागादिके साथ स्व–स्वामिपना नहीं मानते।

आचार्यदेवने तो कहा है कि–यदि तू अजीवको अपना मानकर उस अजीवका स्वामी बनेगा तो तू अजीव हो जायेगा! अर्थात् तेरी श्रद्धामें जीवतत्त्व नहीं रहेगा। इसलिये हे भाई! यदि तू अपनी श्रद्धामें अपने जीवतत्त्वको जीवित रखना चाहता हो तो अपने आत्माको ज्ञायकस्वभावी जानकर उसीका स्वामी बन, और अन्यका स्वामित्व छोड़।

प्रश्न—मुनियोंने तो धन-मकान-स्त्री-वस्त्रादिका त्याग कर दिया है इसलिये वे तो उनके स्वामी नहीं हैं; किन्तु हम गृहस्थोंके तो वह सब होता है इसलिये हम तो उसके स्वामी हैं न?

उत्तर—अरे भाई! क्या मुनिका और तेरा आत्मा भिन्न-भिन्न प्रकारके हैं? यहाँ आत्माके स्वभावकी बात है; जगतका कोई

भी आत्मा परद्रव्यका स्वामी तो है ही नहीं। सिद्धभगवान या संसारी मूढ़ प्राणी; केवली भगवान या अज्ञानी; मुनि या गृहस्थ—किसीका भी आत्मा परद्रव्यका स्वामी नहीं है। अब, चूंकि मुनियोंको तो स्त्री–वस्त्रादिका राग छूट गया है और तुझे वह राग नहीं छूटा; इसलिये पहले निर्णय तो कर कि राग होने पर भी आत्माका स्वभाव ज्ञायकमूर्ति है; रागका स्वामित्व मेरे ज्ञायकस्वभावमें नहीं है। धर्मीको राग होने पर भी उनके अभिप्रायमें "राग सो मैं"—ऐसी रागकी पकड़ नहीं होती; किंतु "ज्ञायकस्वभाव सो मैं"—ऐसी स्वभावकी पकड़ होती है। चैतन्य स्वभावको चूककर देहादि परका स्वामित्व मानना वह तो मिथ्यात्व है ही; और शुभाशुभ परिणामोंका स्वामित्व भी मिथ्यात्व ही है।

प्रश्न—शुभाशुभ परिणामोंका स्वामी आत्मा नहीं तो कौन है ?

उत्तर—शुभाशुभ परिणाम आत्माकी पर्यायमें होते हैं उस अपेक्षासे तो आत्मा ही उनका स्वामी है। परन्तु यहाँ तो आत्माके स्वभावका–आत्माकी शक्तिका वर्णन चल रहा है। शुभाशुभ परिणाम वह आत्माका स्वभाव नहीं है; आत्मा तो ज्ञायक स्वभावी है; उस ज्ञायकस्वभावके आश्रयसे शुभाशुभ भावरूप परिणमन होता ही नहीं; इसलिये ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिवाले धर्मात्मा शुभाशुभ परिणामके स्वामी नहीं होते। ज्ञायकस्वभावके आश्रयसे जो सम्यग्दर्शनादि वीतरागी परिणाम हुए उन्हींके स्वामी होते हैं। अज्ञानीको ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि नहीं है, इसलिये वही शुभाशुभपरिणामका स्वामी होकर उनमें एकत्वबुद्धिसे मिथ्यात्वरूप परिणमित होता है।

धर्मी जानता है कि मैं तो अपने ज्ञान-आनन्दादि अनंत गुणोंका स्वामी हूँ और वे ही मेरे स्व-भाव हैं। मेरा स्वरूप ऐसा नहीं है कि मैं विकारका स्वामी होऊँ। विकारका स्वामी तो विकार होता है, मेरा शुद्धभाव विकारका स्वामी कैसे होगा ? मेरे ज्ञायकस्वभावके

साथ एकत्व हुआ जो निर्मल भाव (सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र) वही मेरा स्व है और मैं उसका स्वामी हूँ। अपने इस स्व–धनको मैं कभी नहीं छोड़ता। जो मेरा स्व हो वह मुझमें पृथक् कैसे होगा ? स्वभावमें एकाग्र होने पर रागादि तो मुझसे पृथक् हो जाते हैं इसलिये वह मेरा स्व नहीं है।

जो जिसे अपना मानता है वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। जो रागको अपना स्व मानता है वह रागको छोड़ना नहीं चाहता, इसलिये वह रागको अपने स्वभावसे पृथक् नहीं जानता; इसलिये वह तो मिथ्यादृष्टि ही है। जो ऐसा जाने कि मैं तो ज्ञायकस्वभाव हूँ, राग मेरे स्वभावसे भिन्न भाव है;—ऐसा जानकर ज्ञायक स्वभावके आश्रयसे सम्यग्दर्शनादि भाव प्रगट करे, तो फिर उसे जो अल्पराग रहता है वह अस्थिरता जितना चारित्र दोष कहा जाता है। उसे श्रद्धामें ज्ञायकभावका ही स्वामित्व वर्तता है, रागका स्वामित्व नहीं वर्तता, इसलिये श्रद्धाका दोष उसे छूट गया है। परन्तु जो जीव ज्ञायकस्वभावको ही अपना जानकर उसकी सन्मुखता पूर्वक सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित नहीं होता और परके तथा रागके ही स्वामित्वरूपसे परिणमित होता है उसे तो श्रद्धा ही मिथ्या है और श्रद्धाका दोष अनंत संसारका कारण है।

प्रश्न—यह आत्मा परका स्वामी नहीं है, किंतु ईश्वरने आत्माको बनाया है, इसलिये वे तो इस आत्माके स्वामी हैं न ?

उत्तर—यह तो महान मूढ़ता हुई। इस आत्माको किसीने बनाया नहीं है; आत्मा स्वयं सिद्ध वस्तु है; इसका कोई निर्माता नहीं है। ईश्वरका स्वरूप भी ऐसा नहीं है कि वह किसीको बनाए। जिसप्रकार यह आत्मा परका स्वामी या कर्ता होनेसे मिथ्यादृष्टि है, उसीप्रकार ईश्वर भी यदि परका कर्ता हो तो वह मिथ्यादृष्टि ही हो जाये,—उसका ईश्वरपना न रहे। मैं तो ज्ञायकस्वरूप हूँ; परका कर्ता या स्वामी मैं नहीं हूँ—ऐसा आत्मभान करके फिर उसमें एकाग्रता द्वारा

जिस जीवने पूर्ण ज्ञान–आनन्द प्रगट किया उसे ईश्वर कहा जाता है; और अनन्त जीव इसप्रकार अपना शुद्ध स्वरूप प्रगट कर–करके ईश्वर होगये हैं—अर्थात् उन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया है। ऐसे अनन्त जीव इस समय सिद्धालयमें देह रहित ईश्वररूपसे विराजमान हैं वे कभी पुनः देह धारण नहीं करते। यह आत्मा भी अपने ज्ञायक स्वभावको जानकर उसमें लीनता द्वारा ऐसे ईश्वर पदको प्राप्त कर सकता है। किंतु जो ईश्वरको जगतका कर्ता मानते हैं वे ईश्वरके शुद्ध स्वरूपका अनादर करते हैं; वे सचमुच ईश्वरको मानते ही नहीं; इसलिये वे तो नास्तिक जैसे—मिथ्यादृष्टि हैं।

प्रश्न—यह सच है कि कोई ईश्वर इस जीवका कर्ता या स्वामी नहीं है; किंतु जगतके अकर्ता और पूर्ण ज्ञानानन्द स्वरूप ऐसे सिद्धभगवान तथा अरिहंतभगवान तो इस आत्माके स्वामी हैं न ?

उत्तर—भगवानकी और गुरुकी भक्तिमें भले ही ऐसा कहा जाता है कि हे नाथ ! हे जिनेन्द्रदेव ! आप ही हमारे स्वामी हैं। किंतु वास्तवमें तो भगवानका आत्मा उनके केवलज्ञान और आनन्दका ही स्वामी है; वह आत्मा कहीं इस आत्माका स्वामी नहीं है; इस आत्माके भावका स्वामी यह आत्मा स्वयं ही है; अन्य कोई इस आत्माका स्वामी नहीं है। यदि ऐसा न जाने और सचमुच भगवानको ही अपना स्वामी मान ले, तो उसने अपने आत्माको पराधीन माना है, अपनी भाँति समस्त आत्माओंको भी पराधीन स्वभावी माना है, इसलिये भगवानके आत्माको भी उसने पराधीन माना है...उसने न तो भगवानको पहिचाना है और न उनकी भक्ति करना ही जानता है।

भगवानकी सच्ची भक्ति करनेवाला जीव तो जो कुछ भगवानने किया वही स्वयं करना चाहता है। हे भगवान सर्वज्ञदेव ! आपने अपने आत्माको ज्ञायकस्वभावी जानकर परका ममत्व छोड़ दिया और परमात्मा हुए......मेरा आत्मा भी आप जैसा ज्ञायकस्वभावी ही है—

इसप्रकार जो जीव भगवान जैसे अपने आत्माको पहिचाने वही भगवानका सच्चा भक्त है; उसीने भगवानको पहिचानकर उनकी भक्ति की है। ऐसी परमार्थ भक्ति सहित भगवानके बहुमानका उल्लास आने पर कहता है कि "हे नाथ ! आप ही मेरे स्वामी हैं; आपने ही मुझे आत्मा दिया है......" धर्मी ऐसा बोलते हैं वह कहीं मिथ्यात्व नहीं है, किन्तु यथार्थ विनयका व्यवहार है। धर्मात्माके अंतर अभिप्रायको न समझकर अकेली भाषाको पकड़े तो वह बाह्यदृष्टि जीव धर्मात्माको जानता ही नहीं; वह जड़ भाषाको तथा शरीरको जानता है किन्तु ज्ञानीके चैतन्यभावको नहीं जानता।

देखो, श्री रामचन्द्रजी ज्ञानी—धर्मात्मा थे; उसी भवमें मोक्षगामी थे। रामचन्द्रजी बलदेव थे और लक्ष्मणजी वासुदेव। दोनों भाइयोंमें परस्पर इतना अपार प्रेम था कि "रामचन्द्रजीका स्वर्गवास होगया;"—इतनेसे शब्द कानोंमें पड़ते ही "हाय रा...म !" कहते हुए लक्ष्मणके प्राण उड़ गये ! फिर रामचन्द्रजी लक्ष्मणजीके मृत शरीरको लेकर छह-छह महीने तक फिरते रहे...अनेक प्रकारकी चेष्टायें और प्रलाप करते थे कि—भाई ! तुम बोलते क्यों नहीं ? तुम क्यों मुझसे रूठ गये ? भोजनके समय उनके मुँहमें कौर रखकर खिलानेकी चेष्टा करते थे...रातको अपने पास सुलाते थे और उनके कानमें कहते-थे कि भैया, अब तो बोलो ! इससमय तो हम और तुम अकेले ही हैं...तुम्हारे मनमें जो कुछ हो वह कह दो...! सबेरा होनेपर उनके मृत शरीरको स्नान कराते हैं और कहते हैं कि भाई ! कबतक सोते रहोगे ? अब तो उठो; सबेरा होगया है.....जिनेन्द्र भगवानकी पूजाका समय जारहा है.....जल्दी उठो !—इसप्रकार अनेक चेष्टाऐं करते हैं और लक्ष्मणजीके शरीरको कन्धे पर रखकर घूमते हैं.....तथापि हराम है जो रामचन्द्रजी उनके साथ किंचित्‌भी सम्बन्ध मानते हों तो ! स्वभावके साथ स्व-स्वामि सम्बन्धके अतिरिक्त अन्य किसीके साथ अंश मात्र भी सम्बन्ध नहीं मानते थे। किन्तु बाहरसे देखनेवाले अज्ञानी जीव

धर्मात्माकी ऐसी अन्तर्दृष्टिका माप कहाँसे निकाल सकते हैं ? छह-छह महीने तक उपरोक्तानुसार चेष्टाएँ करते हैं, तथापि उस समय भी लक्ष्मणजीके साथ या उनकी ओरके रागके साथ रामचन्द्रजी स्व-स्वामि सम्बन्ध नहीं मानते; उस-समय भी अपने ज्ञायक स्वभावके आश्रयसे जो सम्यग्दर्शनादि वर्तते हैं उन्हींके स्वामिरूपसे परिणमित होते हैं। धर्मात्माके हृदयकी थाह लेना अज्ञानीके लिये कठिन है।

प्रश्न—यदि रामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ किंचित् सम्बन्ध न मानते हों, तो छह महिने तक उनके मृतशरीरको लेकर क्यों फिरते रहे ?

उत्तर—अरे भैया ! ज्ञानी निरंतर अन्तरंगमें विवेक सहित है तू रामचन्द्रजीके आत्माको नहीं देखता इसीलिये तुझे ऐसा लगता है कि रामचन्द्रजी छह महीने तक मृत शरीरको लेकर घूमते रहे। किन्तु ज्ञानी तो कहते हैं कि रामचन्द्रजीने अपने आत्मामें रागको या लक्ष्मणजीको एक क्षण मात्र भी नहीं उठाया है; चिदानन्द स्वभावका स्वामित्व छोड़कर एकक्षण भी रागके या परके स्वामी नहीं हुए हैं। अपने इस शरीरका स्वामी भी वे स्वयंको नहीं मानते। कंधे पर मुर्दा रखा है उससमयभी आत्मामें तो सम्यक्दर्शनादि निर्मलभावोंको ही उठाया है—उन्हींका स्वामित्व वर्तता है। वर्तमान कुछ दोष है वह श्रद्धा-ज्ञानका दोष नहीं है चारित्रकी कमजोरीका दोष है उसे हटाना चाहता है अतः वह दोष गौण है।

देखो, वेदान्त ऐसा कहता है कि "करे तथापि अकर्ता रहता है (—अनासक्तिभावसे करता है)" ऐसी यह बात नहीं है; उसमें और इस बातमें तो आकाश पातालका अन्तर है। करना फिर भी अकर्ता रहना यह बात ही परस्पर विरुद्ध है। जो करता है वह कर्ता ही है; रागादिका कर्ता भी हो और ज्ञाता भी रहे—ऐसा नहीं हो सकता। यहाँ तो ऐसी अन्तर्दृष्टि की अपूर्व बात है कि मुझे अपने ज्ञायकस्वभावके साथ ही स्व-स्वामित्व सम्बन्ध है; परके साथ मुझे सम्बन्ध है ही

नहीं—ऐसा जानकर ज्ञायकस्वभावके आश्रयसे परिणमित होनेवाला जीव सम्यग्दर्शनादि निर्मल भावोंके साथ ही एकत्वरूपसे परिणमित होता है; रागादिके साथ एकत्वरूपसे कर्ता होकर परिणमित नहीं होता; इसलिये वह अकर्ता है। जो आत्माके ऐसे स्वभावको पहिचाने उस धर्मात्माको देव–गुरु–शास्त्रका तथा अपने गुण–दोष आदिका यथार्थ विवेक हो जाये; उसे कहीं स्वच्छन्दता या उलझन न हो। धर्मात्माकी दशा ही बदल जाती है! बाहरसे देखनेवाले जीव उसे नहीं जान सकते।

देखो, जब रावण सीताका हरण करके ले जाता है और रामचन्द्रजी उनकी खोजमें निकलते हैं उस समय वे वृक्षों और पर्वतोंसे भी पूछते हैं कि हे वृक्ष! तुमने मेरी सीताको देखा है? हे पर्वत! तुमने कहीं जानकी देखी है? देखी हो तो मुझसे कहो। और उस समय अपने ही शब्दोंकी प्रतिध्वनिसे उन्हें ऐसा लगता है कि पर्वतने उत्तर दिया है। ऐसी दशाके समय भी रामचन्द्रजी ज्ञानी–विवेकी–धर्मात्मा हैं; अंतर्दृष्टिमें सीताका या सीताके प्रति रागका स्वामित्व नहीं मानते, किन्तु ज्ञानके ही स्वामीरूपसे परिणमित होते हैं। और ऐसे उपयोग निरन्तर नहीं रहते किन्तु ऐसा परिणमन तो निरन्तर है ही।

मेरे आत्माकी सम्बन्ध शक्ति ऐसी है कि निर्मलभाव ही मेरा स्व है और उसका मैं स्वामी हूँ; किन्तु सीता मेरा स्व और मैं उसका स्वामी ऐसा सम्बन्ध मेरे स्वभावमें नहीं है—ऐसा वे जानते हैं। अज्ञानीको स्त्री आदिका वियोग होनेपर कदाचित् वह खेद न करे और शुभरागसे सहन करले, किन्तु उसके अभिप्रायमें ऐसा है कि "यह राग मेरा स्व और मैं उसका स्वामी;" अथवा "स्त्री मेरी थी और वह चली गई फिर भी मैंने सहन कर लिया;"—इसप्रकार उसका अभिप्राय ही मिथ्या है; उसके अभिप्रायमें अनन्त राग और स्त्रीका अनन्त स्वामित्व पड़ा है। ज्ञानीको शोक परिणाम हों उस समय भी "मैं ज्ञायक हूँ"—ऐसी दृष्टि नहीं छूटती, इसलिये सारे जगतका और विकारका स्वा-

मित्व उसे छूट गया है। स्वभावके आश्रयसे जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई वह "स्व" और आत्मा स्वयं उसका स्वामी;—इसप्रकार अन्तिम सम्बन्ध शक्तिमें द्रव्य–पर्यायकी एकता बतलाकर आचार्यदेवने ४७ शक्तियाँ पूर्णकी हैं। स्वयं अपने स्वभावके साथ सम्बन्ध रखकर स्वभावके साथ एकतारूपसे परिणमित हो ऐसा आत्माका स्वभाव है, और उसीमें आत्माकी शोभा है। आत्मा स्वयं अपने स्वभावमें एकता करके सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूपसे परिणमित हो उसमें आत्माकी शोभा है; परन्तु परके सम्बन्धसे आत्माको बतलाना उसमें आत्माकी शोभा नहीं है। इसलिये हे जीव! परका सम्बन्ध तोड़कर अपने ज्ञायकस्वभावमें ही एकत्व कर। ज्ञायक स्वभावमें एकता करके जो सम्यग्दर्शन–ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए वह तेरा स्व–स्वभाव है और तू ही उसका स्वामी है। इसके अलावा अन्य किसीके साथ तुझे स्व-स्वामि सम्बन्ध नहीं है।

—इसप्रकार यह सम्बन्ध शक्ति अपने स्वभावके साथ ही सम्बन्ध (—एकता) कराके परके साथका सम्बन्ध छुड़वाती है; और स्वभावके साथ एकता करके परके साथका सम्बन्ध तोड़ने पर विकारके साथका सम्बन्ध भी छूट जाता है। इसप्रकार अकेले शुद्धभावके साथ ही स्व–स्वामिपना है, विकारके साथ भी स्व-स्वामिपना नहीं है। स्वभावोन्मुख होकर एकाग्र हुआ वहाँ आत्मा स्वयं ही अपने शुद्धभावका ही स्वामी है। अपने स्वभावके साथ एकतारूप सम्बन्ध करके जीवने उसका स्वामित्व कभी नहीं किया है और परका स्वामित्व माना है। यदि इस "स्वभाव मात्र स्व-स्वामित्वरूप सम्बन्धशक्ति" को जानले तो परके साथका सम्बन्ध तोड़ दे और स्वभावमें एकतारूप स्व–स्वामित्व सम्बन्ध बनाये इसलिये साधकदशा हो।

आत्माको मात्र अपने स्वभावके साथ ही स्व-स्वामित्वका सम्बन्ध है। यदि ऐसा न हो और परके साथभी सम्बन्ध हो, तो परके साथका सम्बन्ध तोड़कर, स्वभावमें एकता करके शान्तिका अनुभव नहीं हो सकता—परसे पृथक् होकर अपने स्वरूपमें लीन नहीं हो

सकता। परन्तु परसे विभक्त और स्वरूपमें एकत्व होकर आत्मा अपनेमें ही अपनी शान्तिका वेदन कर सकता है, क्योंकि उसे अपने साथ ही स्व-स्वामिपनेका सम्बन्ध है। अपनी शान्तिके वेदनके लिये आत्माको परका सम्बन्ध नहीं करना पड़ता। नित्य स्वशक्तिके बलसे, परके सम्बन्ध बिना मात्र स्वमें ही एकता द्वारा आत्मा अपनी शांतिका अनुभव करता है।

स्वमें एकत्व और परसे विभक्त ऐसा आत्माका स्वभाव है; छह कारक और एक संबंध—इन सातों विभक्तियों द्वारा आचार्यदेवने आत्माको परसे विभक्त बतलाया है। सम्बन्ध शक्तिभी आत्माका परके साथ संबंध नहीं बतलाती किन्तु अपनेमें ही स्व-स्वामिसम्बन्ध बतलाकर परके साथका सम्बन्ध तुड़वाती है;—इसप्रकार परसे भिन्न आत्माको बतलाती है। जिसने सबसे विभक्त आत्माको जाना उसने समस्त विभक्तियोंको जान लिया।

परके सम्बन्धसे जाननेपर आत्माका यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जाता। करोड़पति, लक्ष्मीपति, पृथ्वीपति, भूपति, स्त्रीका पति—इत्यादि कहे जाते हैं, किन्तु वास्तवमें आत्मा उस लक्ष्मी, पृथ्वी या स्त्री आदिका स्वामी नहीं है; इस शरीरका स्वामीभी आत्मा नहीं है; आत्मा तो ज्ञान-दर्शन-आनन्दरूप स्व-भावोंका ही स्वामी है, और वही आत्माका "स्व" है। स्व तो उसे कहा जाता है जो सदैव साथ रहे, कभी अपनेसे पृथक् न हो। शरीर पृथक् हो जाता है, राग पृथक् हो जाता है किन्तु ज्ञान-दर्शन-आनन्द आत्मासे पृथक् नहीं होते इसलिये उनके साथ ही आत्माको स्व-स्वामि सम्बन्ध है।

जिसप्रकार—यदि आत्मामें जीवनशक्ति न हो तो दस जड़ प्राणोंके संयोगके बिना वह जी नहीं सकेगा; परन्तु आत्मामें जीवन शक्ति नित्य होनेसे सिद्धभगवन्त उन दस प्राणोंके बिना ही मात्र चैतन्य प्राणसे जीते हैं, और ऐसी ही जीवन शक्ति समस्त आत्माओंमें है।

उसीप्रकार आत्माकी सम्बन्ध शक्तिसे यदि मात्र अपने ही साथ स्व-स्वामित्वसम्बन्ध न हो और परके साथ भी स्व-स्वामित्वसम्बन्ध हो तो आत्मा परके सम्बन्ध बिना नहीं रह सकता; किन्तु देह-रागादि परके सम्बन्ध बिना मात्र अपने अपने चैतन्य स्वभावमें ही स्व-स्वामित्व संबंधसे अनन्त सिद्धभगवन्त शोभायमान हैं; समस्त आत्माओंका ऐसा ही स्वभाव है। परके सम्बन्धसे जीवन बतलानेमें आत्माकी शोभा नहीं है। पंचेन्द्रिय जीव, रागी जीव, कर्मबन्धन युक्त जीव,—इसप्रकार परके सम्बन्धसे भगवान आत्माको बतलाना वह उसकी महत्ताको लांछन लगाना है, अर्थात् इसप्रकार परके सम्बन्धसे भगवान आत्माके यथार्थ स्वरूपकी पहिचान नहीं होती। आत्मा तो अपने ज्ञायकस्वभावका ही स्वामी है और वही उसका स्व है; उस ज्ञायक स्वभावसे आत्माको जाननेमें ही उसकी शोभा है।

इन्द्रियादि परके साथका सम्बन्ध तोड़कर ऐसे आत्माका अनुभव करे, तब उसे सर्वज्ञ भगवानकी निश्चय स्तुति कही जाती है। सर्वज्ञ भगवानकी निश्चय स्तुतिका संबंध सर्वज्ञके साथ नहीं है, किंतु अपने आत्मस्वभावके साथ ही है। जब तक सर्वज्ञ पर ही लक्ष रहे और अपने आत्मस्वभावमें लक्ष न करे तब तक सर्वज्ञ भगवानकी निश्चयस्तुति नहीं होती। अपना आत्मा ही सर्वज्ञशक्तिसे परिपूर्ण है-ऐसा प्रतीतिमें लेकर स्वभावके साथ जितनी एकता करे उतनी सर्वज्ञ भगवानकी निश्चय स्तुति है; और सर्वज्ञकी ओरके बहुमानका भाव रहे वह व्यवहार स्तुति है।

जिसप्रकार पुत्रका माताके साथ सम्बन्ध है, स्त्रीका पतिके साथ सम्बन्ध है, उसीप्रकार धर्मका सम्बन्ध किसीके साथ है ?-धर्मका सम्बन्ध किसी अन्यके साथ नहीं, किन्तु धर्मी ऐसे अपने आत्माके साथ ही धर्मका सम्बन्ध है।

—क्या भगवानके आत्माके साथ इस आत्माके धर्मका सम्बन्ध है ?—नहीं।

—क्या महाविदेह आदि क्षेत्रोंके साथ इस आत्माके धर्मका सम्बन्ध है ?— नहीं।

—क्या चौथा काल आदि कालोंके साथ इस आत्माके धर्मका सम्बन्ध है ?—नहीं।

—क्या रागादि भावोंके साथ इस आत्माके धर्मका सम्बन्ध है ?—नहीं।

किसीभी परद्रव्य परक्षेत्र–परकाल और परभावोंके साथ इस आत्माके धर्मका सम्बन्ध नहीं है; वे कोई इस आत्माका स्व नहीं हैं और न यह आत्मा उनका स्वामी है। इस आत्माके धर्मका सम्बन्ध अपने स्व द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावके साथ ही है। अनन्त–शक्तिके पिण्ड-रूप शुद्धचैतन्य द्रव्यके साथ ही धर्मकी एकता है; असंख्य प्रदेशी चैतन्यक्षेत्र ही धर्मका क्षेत्र है; स्वभावमें अभेद हुई स्व–परिणति ही धर्मका काल है; और ज्ञान–दर्शन–आनन्द आदि अनन्त गुण ही आत्माके धर्मका भाव है।—ऐसे स्वद्रव्य–क्षेत्र–काल–भावके साथ ही आत्माके धर्मका सम्बन्ध है और उसीके साथ आत्माका स्व-स्वामिपना है।

प्रश्न—आत्माका सम्बन्ध अन्य पदार्थोंके साथ भले ही न हो, किन्तु कर्मके साथ तो निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है न ?

उत्तर—नहीं; अपने स्वभावके साथ ही स्व–स्वामित्व संबंध जानकर, उसीमें एकतारूपसे जो परिणमित हुआ उसे कर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिक संबंध छूट गया है। जो जीव असंयोगी स्वभावकी ओर दृष्टि नहीं करता और कर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धकी दृष्टि नहीं छोड़ता वह मिथ्यादृष्टि है। आत्माको एकान्तसे कर्मके साथ सम्बन्धवाला ही जाने तो वह जीव आत्माके शुद्धस्वरूपको नहीं जानता। जहाँ मात्र अपने स्वभावके साथ ही एकता करके मात्र अपने

स्व-भावके साथ ही स्व-स्वामि सम्बन्धरूपसे परिणमित होता है वहाँ कर्मके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी कहाँ रहा ?—इसप्रकार कर्मके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है। साधकको ज्यों-ज्यों अपने स्वभावमें एकता होती जाये त्यों-त्यों कर्मका संबन्ध टूटता जाता है। इसप्रकार संबन्धशक्ति स्वभावके साथ संबन्ध कराके कर्मके साथका सम्बन्ध तुड़वाती है।

[—यहाँ ४७ वीं सम्बन्धशक्तिका वर्णन पूरा हुआ।]

हे भव्य ! कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण और सम्बन्ध—इन सात विभक्तियोंके वर्णन द्वारा हमने तेरे आत्माको परसे अत्यन्त विभक्त बतलाया; इसलिये अब तू अपने आत्माको सबसे विभक्त तथा अपनी ज्ञानादि अनन्त शक्तियोंके साथ संयुक्त जानकर प्रसन्न हो....स्वभावका ही स्वामी बनकर परके साथ सम्बन्धके मोहको छोड़ !

❀ स्वभावका कर्ता होकर परके साथकी कर्ताबुद्धि छोड़।

❀ स्वभावके ही कर्मरूप होकर दूसरे कर्मकी बुद्धि छोड़।

❀ स्वभावको ही साधन बनाकर अन्य साधनकी आशा छोड़।

❀ स्वभावको ही सम्प्रदान बनाकर अपनेको निर्मलभाव प्रदान कर।

❀ स्वभावको ही अपादान बनाकर उसमेंसे निर्मलता ले।

❀ स्वभावको ही अधिकरण बनाकर परका आश्रय छोड़।

❀ स्वभावका ही स्वामी बनकर उसके साथ एकताका सम्बन्ध कर और परके साथका सम्बन्ध छोड़। "यह मेरा और मैं इसका"—ऐसी परके साथकी एकताबुद्धिका त्याग कर।

—इसप्रकार समस्त परसे विभक्त और निज-स्वभावसे संयुक्त ऐसे अपने आतमरामको जानकर उसके अनुभवसे तू आनन्दित हो...प्रसन्न हो।

—गणधर तुल्य श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव द्वारा श्री समयसारके परिशिष्टमें वर्णित "अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्माकी ४७ शक्तियों" पर, परमपूज्य अध्यात्ममूर्ति श्री कानजीस्वामीके प्रवचनों द्वारा हुआ अद्भुत विवेचन यहाँ समाप्त हुआ......वह भव्य जीवोंको भगवान आत्माकी प्रसिद्धि कराये।

[अब इस लेखमालाका अन्तिम लेख प्रकाशित होगा; और उसमें "ज्ञान लक्षण द्वारा अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्माकी प्रसिद्धि" पूर्वक यह लेखमाला समाप्त की जायेगी।]

★

ज्ञानलक्षणसे प्रसिद्ध अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा

"अनेकान्त मूर्ति भगवान आत्माकी शक्तियों" सम्बन्धी यह अन्तिम लेख है। यह महत्त्वपूर्ण लेख–माला "आत्मधर्म" में करीब सात वर्ष पहले प्रारम्भ हुई थी। समयसारमें "ज्ञानमात्र" कहकर आत्माकी पहिचान कराई है, तथापि उसे अनेकान्तपना किसप्रकार है और ज्ञानलक्षण द्वारा अनेकान्तस्वरूप आत्माका अनुभव किसप्रकार होता है—यह समझाकर फिर ज्ञान लक्षण द्वारा लक्षित अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्माके अनन्त धर्मोंमेंसे ४७ शक्तियोंके रूपमें कुछ धर्मोंका वर्णन किया और अंतमें अनेकान्तस्वरूप आत्माके अनुभवका फल बतलाकर आचार्यदेव इस विषयको पूर्ण करते हैं।

"अनेकान्त" सर्वज्ञ भगवानका ऐसा अलंघ्य शासन है जो किसीसे तोड़ा नहीं जासकता; वह भगवान आत्माको अनंत शक्तिस्वरूपसे प्रसिद्ध करता है। अरे जीव! तेरा आत्मा अनंत शक्तिसे परिपूर्ण है उसकी ओर दृष्टि कर···तुझमें ऐसी कौन-सी अपूर्णता है जो तू बाहर ढूँढ़ता है? संत तेरी आत्मशक्तिकी प्रगट महिमा बतलाते हैं, उसे लक्षमें लेकर एकबार भी अंतरसे उसका बहुमान करे तो तेरा बेड़ा पार होजाये।

अनंत धर्मस्वरूप भगवान आत्माको प्रसिद्ध करनेवाली जिननीति अनेकान्तस्वरूप है; उस अनेकान्तस्वरूप जिननीतिका कभी उल्लंघन न करनेवाले संत परम अमृतमय मोक्षपदको प्राप्त करते हैं।

—यह अनेकान्तका फल है।

"जीवत्व" से प्रारम्भ करके "सम्बन्ध" शक्ति तक आचार्यदेवने ४७ शक्तियोंका वर्णन किया। आत्मामें ऐसी अनंतशक्तियां हैं और अनंत शक्तियां होने पर भी वह ज्ञानमात्र ही है; क्योंकि "ज्ञानमात्र" कहने पर भी उससे कहीं अकेला ज्ञानगुण ही लक्षित नहीं होता किन्तु अनंतशक्तिस्वरूप सम्पूर्ण आत्मा लक्षित होता है, कोई शक्ति पृथक् नहीं रहती। इसलिये ज्ञानलक्षण भी ऐसे अनंतशक्ति सम्पन्न अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्माको ही प्रसिद्ध करता है।

अनंत शक्तियोंमें से ४७ शक्तियोंका वर्णन करके आचार्यदेव २६४ वें कलशमें कहते हैं कि आत्मा ऐसी अनंतशक्तियोंसे युक्त है, तथापि वह ज्ञानमात्रपनेको नहीं छोड़ता। अनेक निजशक्तियोंसे सुनिर्भर होने पर भी आत्मा ज्ञानमय है; आत्माका भाव ज्ञानमयपना नहीं छोड़ता। "ज्ञानमात्र" कहने पर आत्माके समस्त धर्मों सहित सम्पूर्ण चैतन्यवस्तु प्रतीतिमें आजाती है। वह चैतन्यवस्तु द्रव्यपर्यायमय, और क्रमरूप प्रवर्तमान पर्यायों तथा अक्रमरूप प्रवर्तमान गुणोंके परिणमनसे वह अनेकधर्मस्वरूप है। ऐसी चैतन्यवस्तुको "अनेकान्त" प्रसिद्ध करता है। अनेकान्त जिनेन्द्रभगवानका ऐसा अलंघ्य शासन है जो किसीसे तोड़ा नहीं जासकता। समस्त एकान्त मान्यताओंको क्षणमात्रमें तोड़ दे और अनेकान्तस्वरूप भगवान आत्माको प्रसिद्ध करे—ऐसा अरिहंत भगवानका अनेकान्त शासन जयवंत प्रवर्तमान रहता है।

अनंत शक्तिसम्पन्न और असंख्य प्रदेशी ऐसे आत्माको सर्वप्रकारसे प्रत्यक्ष जानकर सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि अरे जीव! तेरा आत्मा असंख्य प्रदेशी एवं अनन्तशक्तिका पिण्ड है, उस स्वभावकी ओर देख····स्वयंसे ही तेरी परिपूर्णता है। तेरे स्वभावमें किंचित् भी न्यूनता नहीं है कि तुझे दूसरोंसे लेना पड़े! तुझमें क्या कमी है जो तू अन्यत्र ढूंढ़ने जाता है? आत्माकी स्वभावशक्तिमें जो पूर्ण ज्ञान—आनन्द—प्रभुताका सामर्थ्य था वही हमने आत्मामें से प्रगट किया है, बाहरसे

कुछ नहीं आया…तेरे आत्मामें भी वैसा सामर्थ्य है; उसे तू जान और उसका विश्वास करके उस ओर उन्मुख हो तो तेरी आत्मशक्तिमेंसे परिपूर्ण ज्ञान–आनन्द–प्रभुता प्रगट हो जायेंगे ।

तेरा आत्मा निजशक्तिसे भली भाँति परिपूर्ण है; विकार या कर्मोंसे वह भरा नहीं है; उनसे तो पृथक् है । निजशक्तिओंसे वह इसप्रकार परिपूर्ण; है कि उनमेंसे एक भी शक्ति कम नहीं होती । आत्मा विकारसे तथा परसे पृथक् रहता है किन्तु अपने ज्ञानमात्रभावको वह कभी नहीं छोड़ता । जिसप्रकार शर्करा मैलको छोड़ती है किन्तु मिठासको नहीं छोड़ती, जिसप्रकार अग्नि धुएँको छोड़ती है किन्तु उष्णताको नहीं छोड़ती, उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा रागादि विकारभावोंको छोड़ता है किन्तु अपने ज्ञानभावको कभी नहीं छोड़ता; इसलिये ज्ञानभाव द्वारा अपने आत्माको लक्षमें लेकर आत्माकी प्रसिद्धि कर...... आत्माका अनुभव कर ।

जिन्होंने ज्ञानलक्षणको अन्तर्मुख करके लक्ष्यरूप आत्माका अनुभव किया, वे साधक धर्मात्मा सदैव ज्ञानभावरूपसे ही वर्तते हैं । ज्ञानभावको कभी छोड़ते नहीं हैं और विकारमय कभी होते नहीं हैं....और ज्ञानमयभावमें "परका करूँ–इस बुद्धिको तो अवकाश ही कहाँ है? "सीताको इसप्रकार ढूँढूं तो मिलेगी…" ऐसा विकल्प ज्ञानी धर्मात्मा (रामचंद्रजी) को आया, तथापि उससमय भी ज्ञानी विकल्पमय होकर परिणमित नहीं हुए हैं; उस समय भी ज्ञानमयभावरूपसे ही परिणमन हो रहा है; विकल्पको ज्ञानभावसे बाहर ही रखा है ।

ज्ञानी जानते हैं कि मेरा आत्मा हो क्रमपर्यायरूप और अक्रमगुणरूप स्वभाववाला है । अनंतगुण एक साथ अक्रमरूप से सहवर्ती हैं...और पर्यायें नियतक्रमरूप हैं । अपने अक्रमवर्ती गुणोंमें तथा क्रमवर्ती पर्यायोंमें मैं ज्ञानमात्रभावरूप ही वर्तता हूँ;—ऐसे निर्णयमें ज्ञातास्वभावका अनंत पुरुषार्थ है…विकारकी ओरके पुरुषार्थ-

का वेग टूट गया है....अल्पराग रहा उसकी निरर्थकताको जाना है....ज्ञानमात्रभावरूपसे ही परिणमित होता हुआ साधक केवलज्ञानकी ओर चला जाता है ।

देखो, यह आत्मशक्तिके साधक संतोंकी दशा ?

ज्ञानी तो अपनी अनंतशक्तिके सम्राट हैं । जगतकी उन्हें चिन्ता नहीं, क्योंकि जगतसे उन्हें कुछ लेना नहीं है...भगवानके दास....जगतसे उदास...ऐसे सम्यक्त्वी जीव सदैव सुखी हैं....आत्मिक आनन्दका अनुभव करते हैं.............चैतन्यके आनंदसमुद्रमें डुबकी मारकर वे अल्पकालमें केवलज्ञानरत्न प्राप्त करते हैं ।

अहो.....चैतन्य सागर ! शांत–आनन्दरससे परिपूर्ण समुद्र....! उसे तो अज्ञानी देखते नहीं हैं और मात्र विकारको ही देखते हैं । जिसप्रकार समुद्रसे अपरिचित व्यक्ति अगाध जलसे भरे हुए समुद्रको तो नहीं देखता और मात्र लहरोंको ही देखता है; उसे ऐसा लगता है कि लहरें उछल रही हैं; किन्तु वास्तवमें लहरें नहीं उछलतीं; भीतर अपार समुद्र अगाध जलसे भरपूर है उस समुद्रकी शक्ति उछलती है । उसीप्रकार जो अगाध–गम्भीर स्वभावोंसे परिपूर्ण इस चैतन्यसमुद्रको नहीं जानता उसे मात्र विकारी पर्याय ही भासित होती है; अनन्तशक्तिसे भरपूर चैतन्य-समुद्र अज्ञानीको दिखाई नहीं देता, इसलिये उसकी पर्यायमें वे शक्तियाँ उल्लसित नहीं होती, विकार ही उल्लसित होता है । ज्ञानी तो अनंतशक्तिसे परिपूर्ण अखंड चैतन्यसमुद्रमें डुबकी लगाकर, उसे विश्वासमें लेकर उसके आधारसे अपनी पर्यायमें निजशक्तियोंको उछालते हैं अर्थात् निर्मलरूपसे परिणमित करते हैं । इसप्रकार ज्ञानी अनंतशक्तिसे उल्लसित अपने अनेकांतमय चैतन्यतत्त्वका अनुभव करते हैं; और ऐसे अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्माका अनुभव करना ही इन शक्तियोंके वर्णनका तात्पर्य है ।

जैसी सर्वज्ञता, जैसी प्रभुता, जैसा अतीन्द्रिय आनन्द तथा जैसा आत्मवीर्य अरिहंत और सिद्ध भगवानमें है, वैसी ही सर्वज्ञता, प्रभुता, आनन्द एवं वीर्यकी शक्ति इस आत्मामें भी सदा विद्यमान है।

भाई ! एकबार हर्ष तो ला....कि अहो ! ऐसा है मेरा आत्मा ! मेरे आत्मामें ज्ञान—आनन्दकी परिपूर्ण शक्ति विद्यमान है; मेरे आत्माकी शक्तिका घात नहीं होगया है। "अरे रे ! मैं दब गया, विकारी होगया....अब कैसे मेरा मस्तक ऊँचा होगा !"—इसप्रकार भयभीत न हो....हताश न हो....एकबार अपने स्वभावका हर्ष ला.... उल्लास प्रगट कर....उसकी महिमा लाकर अपनी शक्तिको उछाल !

अहो ! अपने अंतरमें आनन्दका समुद्र उछल रहा है; उसे तो जीव देखते नहीं हैं और तृणतुल्य विकारको ही देखते हैं। अरे जीवो ! इधर अंतरमें दृष्टि करके आनन्दके समुद्रको देखो....चैतन्यसमुद्रमें डुबकी लगाओ !!

अपने अंतरमें आनन्दका समुद्र उछल रहा है उसे भूलकर अज्ञानी तो बाह्यमें क्षणिक पुण्यका ठाठबाट देखते हैं; उसीमें सुख मानकर मूर्च्छित हो जाते हैं; और जहाँ किंचित् प्रतिकूलता आती है वहाँ दुःखमें मूर्च्छित हो जाते हैं; किन्तु परम महिमावंत अपने आनन्दस्वभावको नहीं देखते। ज्ञानी तो जानते हैं कि मैं स्वयं ही आनन्दस्वभावसे परिपूर्ण हूँ; कहीं बाह्यमें मेरा आनन्द नहीं है अथवा अपने आनन्दके लिये मुझे किसी बाह्य पदार्थकी आवश्यकता नहीं है।—ऐसा भान होनेसे ज्ञानी बाह्यमें पुण्यपापके ठाठमें मूर्च्छित नहीं होते—उलझते नहीं हैं। पुण्यकी सुविधाएँ मिलने पर ज्ञानी कहते हैं कि—अरे पुण्य ! रहने दे...तेरी शोभा हम नहीं देखना चाहते; हमें तो सादि—अनंत अपने आनन्दको ही देखना है...अपने अतीन्द्रिय आत्मानन्दके सिवा इस जगतमें अन्य कुछ हमें प्रिय नहीं है। हमारा आनन्द हमारे आत्मामें ही है। इस पुण्यके ठाठ में कहीं हमारा आनन्द नहीं है। न तो पुण्यकी अनुकूलताएँ हमें आनन्द दे सकती हैं और न प्रतिकूलताओंके झुंड

हमारे आनन्दको लूटनेमें समर्थ हैं !–ऐसी ज्ञानीकी अंतर्दशा होती है। उसे स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे अपने आनन्दका वेदन हुआ है। आत्माका ऐसा अचिंत्यस्वभाव है कि वह स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ही ज्ञात होता है; "स्वयं प्रत्यक्ष" हो ऐसा आत्माका स्वभाव है। स्वयंप्रत्यक्ष स्वभावकी पूर्णतामें परोक्षपना अथवा क्रम रहे ऐसा स्वभाव नहीं है; तथा स्वयं प्रत्यक्ष आत्मामें बीचमें विकल्प–रागविकार या निमित्तकी उपाधि घुस जाये ऐसा भी नहीं है; अर्थात् व्यवहारके अवलम्बनसे आत्माका संवेदन हो ऐसा नहीं होता। परकी तथा रागकी आड़को बीचसे निकाल कर अपने एकाकार स्वभावका ही सीधा स्पर्श करने पर ही आत्माका स्वसंवेदन होता है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपायसे आनन्द स्वरूप भगवान आत्माका वेदन नहीं होता।

अहो ! ऐसा स्वसंवेदनस्वभावी चैतन्यभगवान आत्मा स्वयं विराजमान है; किन्तु अपनी ओर न देखकर विकारकी ओर ही देखता है इसलिये विकारका ही वेदन होता है। यदि अंतरमें दृष्टि करके अपने चिदानन्दस्वरूपको निहारे तो आनन्दका वेदन हो और विकारका वेदन दूर हो जाये।

संतोंने आत्माकी ऐसी प्रगट महिमा बतलाई है; इस अचिन्त्य महिमाको लक्षमें लेकर एकबार भी यदि अंतरसे उछलकर उसका बहुमान करे तो संसारसे बेड़ा पार हो जाये। चैतन्यस्वभावका बहुमान करने पर अल्पकालमें ही उसका स्वसंवेदन होकर मुक्ति हुए बिना नहीं रहती। वस्तुमें परिपूर्ण ज्ञान–आनन्दकी शक्ति विद्यमान है; उसे पहिचानकर उस ओर उन्मुख होकर पर्यायमें उसे प्रगट करना है। अरे जीव ! एकबार अन्य सब भूल जा और अपनी निजशक्तिको सम्हाल ! पर्यायमें संसार है उसे भूलकर अंतःतत्वरूप निजशक्तिकी ओर देखे तो उसमें संसार है ही नहीं। चैतन्य शक्तिमें संसार था ही नहीं, है ही नहीं और होगा भी नहीं।—लो, यह है मोक्ष ! ऐसे स्वभावकी दृष्टिसे आत्मा मुक्त ही है। इसलिये एकबार और सबको लक्षमेंसे

हटाकर ऐसे चिदानन्दस्वभावमें लक्षको एकाग्र करे तो तुझे मोक्षकी शंका न रहे; अल्पकालमें अवश्य ही मुक्ति हो जाये।

आत्मामें इतनी अनंतशक्तियाँ हैं कि रागसे गिनने पर (चिंतवन करनेपर) उनका अंत नहीं आसकता....किन्तु ज्ञानको अन्तरोन्मुख करते पर अनंतशक्तिसहित आत्मा अनुभवमें आजाता है...वे शक्तियाँ निर्मलरूपसे परिणमित हो जाती हैं। इसप्रकार निर्मलरूपसे परिणमित होनेपर जब केवलज्ञान होता है तब अनंतशक्तियोंको तथा असंख्य प्रदेशोंको सर्वप्रकारसे प्रत्यक्ष जानता है; इसलिये हे भाई ! यदि तुझे अपने आत्माका पता लगाना हो.....अपनी अनंत शक्तियोंकी ऋद्धिको साक्षात् देखना हो तो अपने ज्ञानको रागसे पृथक् करके अंतर्‌स्वभावकी ओर एकाग्र कर !

"सर्वार्थ सिद्धि" उत्कृष्ट देवलोक है; वहाँ असंख्य देव हैं, वे सब सम्यग्दृष्टि हैं और उनकी आयु ३३ सागरोपम (असंख्य अरब वर्ष की) है। वे समस्त देव मिलकर असंख्य वर्षों तक अखण्डरूपसे गिनते रहें तब भी आत्माकी शक्तिका पार नहीं आसकता—ऐसी अनंतशक्तिका स्वामी यह प्रत्येक आत्मा है। उन सम्यग्दृष्टि देवोंने स्वसंवेदनसे अनंत शक्तिसम्पन्न आत्माका स्वाद चख लिया है। ज्ञानको अंतरमें लीन करने पर क्षणमात्रमें आत्माकी सर्वशक्तियोंका पार पाया जासकता है। शक्तियोंको क्रमशः जानने जाये तो कभी पूरा नहीं पड़ सकता। किन्तु अक्रम–अभेदस्वभावमें लीन होकर जाननेसे समस्त शक्तियाँ एकसाथ अक्रमरूपसे ज्ञात हो जाती हैं। आत्मा एकसाथ अनंतशक्तियोंसे प्रतिष्ठित है; उसमें राग प्रतिष्ठाको प्राप्त नहीं होता।

प्र०:—हम अनंत शक्तियोंको जानें या एक आत्माको ?

उत्तरः—अनंतशक्तियोंसे अभेदरूप ऐसे एक आत्माको जानना चाहिये। आत्मा कहीं अनंतशक्तियोंसे पृथक् नहीं है; इसलिये शक्तिको बराबर जानते हुए भी शक्तिमान ऐसा आत्मा ही लक्षमें आता है; और एक आत्माको लक्षमें लेने पर भी वह अपनी अनंतशक्तियों सहित ही

अनुभवमें आता है। यदि आत्माको पृथक् रखकर उसकी शक्तियोंको जानना चाहे, अथवा शक्तियोंको लक्षमें लिये बिना आत्माको जानना चाहे तो उसे नहीं जाना जा सकता; क्योंकि उसने गुण गुणीको पृथक् नहीं माना इसलिये अनेकांत स्वरूप नहीं जाना; और अनेकांतके बिना भगवान आत्माकी प्रसिद्धि नहीं होती। अनेकान्त ही भगवान आत्माको यथार्थ स्वरूपसे प्रसिद्ध करता है.... वह "अनेकान्त" सर्वज्ञ भगवानका अलंघ्य–किसीसे न तोड़ा जा सके ऐसा—शासन है। एकान्त मान्यताओंको तोड़कर अनेकान्त स्वरूपसे भगवान आत्माको प्रसिद्ध करनेवाला वह अनेकान्तशासन जयवंत वर्तता है।

जो इस अनेकान्तस्वरूप आत्मवस्तुको जानते हैं, श्रद्धा करते हैं और अनुभव करते हैं वे ज्ञानस्वरूप होते हैं;—ऐसा कहकर (२६५ वें कलशमें) आचार्यदेवने अनेकान्तका फल बतलाया है। इसप्रकार फल बतलाकर यह अनेकान्त अधिकार समाप्त करते हैं।

जिसप्रकार अनेकांतमय वस्तुस्वरूप कहा तदनुसार वस्तुतत्त्वकी व्यवस्थाको अनेकांत–संगतदृष्टि द्वारा ज्ञानी सत्पुरुष स्वयमेव देखते हैं....और इसप्रकार स्याद्वादकी अत्यन्त शुद्धि जानकर, जिननीतिका उल्लंघन न करते हुए वे संत ज्ञानस्वरूप होते हैं।

देखो, यह ज्ञानस्वरूप होना सो अनेकांतका फल है तथा वही जिननीति है; वही जिनेश्वरदेवका मार्ग है। इससे विरुद्ध वस्तुस्वरूपको मानना वह जिननीति नहीं किंतु अनीति है। जो जिननीतिका उल्लंघन करता है वह मिथ्यादृष्टि होता है और घोर संसारमें परिभ्रमण करता है। अनेकांतस्वरूप पावन जिननीतिका संत कभी उल्लंघन नहीं करते इसलिये वे परम अमृतमय मोक्षपदको प्राप्त होते हैं।

यह अनेकांतका फल है।

—इसप्रकार ज्ञानलक्षणसे प्रसिद्ध होनेवाले अनेकांतमूर्ति भगवान आत्माका वर्णन समाप्त हुआ।

अनेकान्तस्वरूप भगवान आत्माकी प्रसिद्धि करने वाले साधक संतोंको नमस्कार हो!

इस लेखमाला सम्बन्धी अंतिम निवेदन

“अनेकान्त” द्वारा अनंतधर्मस्वरूप भगवान आत्माको प्रसिद्ध करनेवाली यह महान लेखमाला समाप्त हो रही है; इस प्रसंग पर आचार्य भगवन्तोंको तथा पूज्य गुरुदेवको भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं कि जिन्होंने आत्मप्रसिद्धिका रहस्य प्रगट किया है।

समयसारके परिशिष्ट पर पूज्य गुरुदेवके प्रवचन कई बार हुए हैं। उनमें आठवींबारके प्रवचन खूब विस्तृत एवं चैतन्यकी मस्तीसे भरपूर थे। उन प्रवचनोंको मुख्यरूपसे लेकर उन्हींमें छठवीं, सातवीं तथा नववीं–दसवीं बारके प्रवचनोंका मुख्य सार भी मिश्रित कर दिया गया है।—इसप्रकार इस विषय पर गुरुदेवके पाँच बारके प्रवचनोंके आधारसे यह लेखमाला तैयार हुई है।

आत्मस्वरूपको प्रगट करनेवाली यह लेखमाला अद्भुत है। जैन शासनके अनेक रहस्योंका—मुख्यतः आत्मानुभवके उपाय का—गुरुदेवने इन प्रवचनोंमें पुनः पुनः इसप्रकार मंथन किया है कि शांत चित्तसे स्वाध्याय करने पर मानों चैतन्यपरिणति आत्मस्वभावके आसपास घूम रही हो...ऐसा अनुभव होता है। शुद्धचैतन्यकी महिमा तो संपूर्ण लेखमालामें अखण्डरूपसे भरी है...चैतन्यमहिमारूपी डोरीके आधारसे ही यह लेखमाला गुँथी हुई है...

इसलिये उसकी अखण्ड स्वाध्याय करते-करते मुमुक्षु—आत्मार्थी जीवोंको ऐसी चैतन्यमहिमा जागृत होती है कि मानों तत्काल उसमें उतर कर उसका साक्षात् अनुभव करलें...अनेक जिज्ञासु इस आत्मसन्मुखताप्रेरक लेखमाला की पुनः पुनः स्वाध्याय करते हैं। वास्तवमें इस लेखमाला द्वारा पूज्य गुरुदेवने आत्मार्थी जीवों पर महान उपकार किया है।

—ऐसी महत्त्वपूर्ण एवं विस्तृत लेखमाला पूज्य गुरुदेवके सान्निध्यके प्रतापसे ही पूर्ण हुई है...इस लेखमालाके लेखनमें, उसमें दर्शाई हुई चैतन्यमहिमाका पुनः पुनः मंथन होनेसे मेरी आत्मरुचिको खूब पोषण प्राप्त हुआ है; वह रुचि आगे बढ़कर भगवान आत्माकी प्रसिद्धिके मेरे पुरुषार्थ को शीघ्र सफल बनाए—ऐसी पूज्य गुरुदेवके चरणोंमें विनम्र प्रार्थना है।

—ब्र० हरिलाल जैन

आत्मधर्म मासिक पत्र में क्रमानुसार ४७ शक्तियों पर छपे

लेखों की सूची

⁂

समयसारमें श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने ४७ शक्तिका वर्णन किया है यह लेखमाला एक हजार पृष्ठमें पूर्ण हुई है, किसी जिज्ञासु को उसकी स्वाध्याय करनी हो तो उसके लिये उसके लेख 'आत्मधर्म' में कहां से कहां तक छपे हैं उसकी नंबरवार सूची यहाँ दी जा रही है।

	अंक नं०
ज्ञानलक्षण से प्रसिद्ध होनेवाला अनंत धर्म स्वरूप अनेकान्तमूर्त्ति आत्मा	८६
आत्माके ज्ञानमोक्षभावमें उछलती अनन्त शक्तियाँ	८८
अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्माकी कुछ शक्तियाँ—	
(१) जीवत्व शक्ति	८९
(२) चिति ”	९०
(३) दृशि ”	९२
(४) ज्ञान ”	९३
(५) सुख ”	९४
(६) वीर्य ”	९५
(७) प्रभुत्व ”	९७
(८) विभुत्व ”	९९
(९) सर्वदर्शित्व ”	१००
(१०) सर्वज्ञत्व ”	१०४
(११) स्वच्छत्व ”	१०५

(१२) प्रकाशत्व " १०७
" " १०८
(१३) असंकुचित विकासत्वशक्ति, विशेषांक
(१४) अकार्यकारणत्व शक्ति ११३
(१५) परिणम्य परिणामकत्व " ११३
(१६) त्यागोपादानशून्यत्व " १२७
(१७) अगुरुलघुत्व " १२९
(१८) उत्पाद व्यय ध्रुवत्व " १३०
" " १३८
(१९) परिणाम " १४८
" " १४९
(२०) अमूर्तत्व " १५०
(२१) अकर्तृत्व " "
(२२) अभोक्तृत्व " १५२
(२३) निष्क्रियत्व " १५३
(२४) नियतप्रदेशत्व " १५४
(२५) स्वधर्म व्यापकत्व " १५५
(२६) साधारण-असाधारण साधारणासाधारणधर्मत्व १५६
(२७) अनंतधर्मत्व " १५७
(२८) विरुद्धधर्मत्व " १५८
(२९-३०) तत्व, अतत्व " १५९
(३१-३२) एकत्व, अनेकत्व " १६०
(३३-३४) भावशक्ति अभावशक्ति १६१
(३५-३६) भावअभावशक्ति, अभावभावशक्ति, १६२
(३७-३८) भावभावशक्ति अभावअभावशक्ति १६३
(३९) भाव शक्ति १६४

(४०) क्रिया " १६५
(४१) कर्म " १६६
(४२) कर्तृत्व " १६७
(४३) करण " १६९
(४४) संप्रदान " १७१
(४५) अपादान " १७४
(४६) अधिकरण " १७५
(४७) सम्बन्ध " १७६
ज्ञानलक्षण से लक्षित हुआ अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा १७७

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
७	२४	करे उसे	करे तो उसे
१२	१६	प्रसिद्धि	सिद्धि
११२	२	एवत्व	एकत्व
१२०	अन्तिम	कहालाती	कहलाती
१८२	७	बाह्य मुहूर्त	ब्राह्म मुहूर्त
२२३	५	काम	क्रम
२२३	७	बुद्धि	वृद्धि
२२५	१७	ही महिमा	की महिमा
२३५	२७	रखकर	रुककर
२५८	७	काहियें	कहिये
२७४	९	सहन शीलता	सहनशीलता
२९७	९	निवृत्ति	निवृत्त
३०१	२६	शक्तिभावसे	शक्ति, भावसे
३३५	२६	श्चय	निश्चय
३३९	१	शक्तिमें	शक्तिमेंसे
३४०	अन्तिम	सवाप चसौ	सवा पाँचसौ
३६२	१२	मुक्ति	युक्ति
३६६	१७	अत्मा	आत्मा
४०२	७	रहनरूप	रहनेरूप
४२१	१९	अन्तमुख	अन्तर्मुख
४३२	७	स्वभावका	स्वभावमें
,,	१९	मिथ्यात्वका भाव	मिथ्यात्वका अभाव
४४४	९	आत्म	आत्मा
,,	१६	व	×
४८१	१६	सन्तोंके	सन्तोंने
४९६	५	स्वभाव नहीं है।	स्वभाव है।
५६३	७	उपाय	अपाय
५९३	३	मुझमें	मुझसे
६०६	६	परिपूर्ण; है	परिपूर्ण है;
६११	४	नहीं माना	माना

कृपया इस ग्रन्थको निम्नांकित तिथि पर या उसके पूर्व
लौटा दें। विलम्बसे लौटानेपर ५ पैसे
प्रतिदिन दण्ड देना होगा।
